द्यौः शान्तिः



विश्वेदेवाः शान्तिः

अन्तरिक्षं शान्तिः

॥ दशशान्तयः ॥

स्वः शान्तिः

ब्रह्म शान्तिः

शान्तिरेव शान्तिः

आपः शान्तिः

वनस्पतयः शान्तिः

पृथिवी शान्तिः

ओषधयः शान्तिः

द्वादशदर्शनाचार्य - महामण्डलेश्वर अनन्त श्री स्वामी काशिकानन्दगिरिजी महाराज

दशशान्ति मन्त्र

द्वादशदर्शनपञ्चानन आचार्यश्री

महामण्डलेश्वर स्वामी काशिकानन्दगिरिजी महाराज

दशशान्ति मन्त्र

द्वादशदर्शनपञ्चानन आचार्यश्री

महामण्डलेश्वर स्वामी काशिकानन्दगिरिजी महाराज

प्रकाशकः-

आनन्दवन अध्यात्म विद्याप्रकाशन ट्रस्ट

आनन्दवन आश्रम,

स्वामी विवेकानन्द मार्ग,

कांदिवली (प.), मुम्बई-४०० ०६७

टे. नं. २८०५२८५९

प्रथमावृत्तिः १,०००

दिसम्बर २०१०

मूल्यः

प्राप्तिस्थानः-

(१) आनन्दवन आश्रम
एस. वी. रोड,
कांदिवली (प.),
मुंबई-४०० ०६७

(२) आनन्दवन आश्रम
दक्षेश्वर मार्ग
जगजीतपुर, कनखल
हरिद्वार - उत्तरांचल

मुद्रक :

प्रिंटोग्राफी सिस्टम्स् (इं.) प्रा. लि.

२८, मुंबई समाचार मार्ग,

पहली मंज़ील, राजा बहादूर बिल्डिंग,

फोर्ट, मुंबई - ४०० ०२३.

टे. नं.: ९१-२२-४०७८५६५६

फैक्स : ९१-२२-४०७८५६००

ई-मेल : info@printography.com

टाईप सेटींग :

करण क्रियेटीव्स

बी/१२, राजरत्न,

एक्सर रोड, बोरीवली (प.),

मुंबई - ४०० ०९१

टे. नं. २८३३७४४१

अनुक्रमणिका

॥ दशशान्तयः ॥



द्वादशदर्शनाचार्य

महामण्डलेश्वर अनन्त श्री स्वामी काशिकानन्दगिरिजी महाराज



।। मातृ देवो भव ।।



स्व. कमला रेवाशंकर ओझा

सौजन्य

श्री माधव ओझा
श्री नचिकेता ओझा

भूमिका

पद्मपुराण में शान्ति की व्याख्या इस प्रकार की है:

यत्किंचिद्वस्तु संप्राप्य स्वरूपं यदि वा परम्।
या तुष्टिर्जायते चित्ते शान्तिः सा कथ्यते बुधैः॥

'कामक्रोधादिचित्ततरङ्गशमनं शान्तिः' ऐसी अन्यत्र व्याख्या है। **'उपसर्गशमनं शान्तिः'** एसी तृतीय व्याख्या है। अन्य भी व्याख्यायें विद्वानों ने की है? ऐसी शान्ति के साधन को भी शान्ति बताया है। जैसे प्रस्तूयमान दस शान्ति मन्त्र है। **'शान्तिं पठति'** कहने पर मन्त्रपाठ ही उपस्थित होता है। व्याख्या भी अर्थज्ञानप्रयोजक होने से शान्ति है। **शान्तिमध्यापयति** बोलने पर व्याख्या भी आ जाती है। मन्त्रात्मक शान्ति तो **शं नो मित्रः** इत्यादि है।

'योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा'

अर्थवेत्ता को पूरा भद्र (शुभ) प्राप्त होता है इस कथन से अर्थज्ञान पूर्ण भद्र प्रापक सिद्ध होता है। पूर्ण फल प्रयोजक होने से शान्ति स्वरूप ही है। सकलं भद्रं कथन से केवल पाठ से भी कुछ भद्र प्राप्त होता ही है यह सूचित होता है। परंतु **'स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थं'** इस निन्दाश्रुति से अर्थज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है यह निश्चित होता है। अतः अर्थज्ञान प्रयोजक कार्य भी शान्तिरूप ही है पूर्णशान्ति प्रयोजक है यह सिद्ध होता है। उपनिषदादि पर प्रवचन करते समय हम प्रथम प्रायः शान्ति मन्त्रों पर भी प्रवचन करते थे। उन में जो उक्त अनुक्त दुरुक्त अर्थ आ जाते थे उस का भी चिन्तन बाद में किया करते थे। अतएव प्रस्तूयमान व्याख्या का नाम **प्रवचनवार्त्तिक** रखा गया। इस से काफी रहस्यार्थ खुल जायेगा एसी उमीद है।

उपसर्ग शमनं शान्तिः। इस तृतीय व्याख्या में उपसर्ग क्या है इस का उत्तर शास्त्रों में है-

अतिलोभादसत्याद्वा नास्तिक्यादप्यधर्मतः।
नरापराधान्नियत - मुपसर्गः प्रवर्तते॥

अन्य कार्यों में अनेकविध जो बाधायें आती हैं वे उपसर्ग हैं यह सामान्य व्याख्या है।

अतिलोभात्। अति लोभ से कुछ गलत काम कर बैठते हैं उस से उत्पन्न दोष एक उपसर्ग है।

अतिलोभो न कर्तव्यो लोभं नैव परित्यजेत्।
अतिलोभाभिभूतस्य चक्रं भ्रमति मस्तके॥

ऐसा नीतिवचन है। अति लोभ न करो। हाँ सर्वथा लोभत्याग भी न करो साधनावस्था में। लोभ सर्वथा छोडेंगे तो धनाभाव में पुण्यकर्म कैसे करेंगे। तीर्थाटन, दान, पूजा आदि कैसे कर पायेंगे? यह सब धनसाध्य है। यादृच्छिक संत प्रायः तीर्थस्थानों में उपलब्ध होते हैं।

शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य वासुदेवकथारुचिः।
स्यान्मनहत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात्॥

इत्यादि शास्त्रों में आया है। अतः लोभ का सर्वथा त्याग अभीष्ट नहीं। अति लोभ त्यागो। अति लोभ में, असत्य से, अधर्म से और नास्तिकता से पाप, एवं तत्प्रयुक्त नानाविध बाधायें उपस्थित होती हैं। ये सब उपसर्ग हैं। सब से बडा उपसर्ग है-नरापराध। नरापराध माने मनुष्य जीवन बर्बाद करनेवाला कार्य। किसी का हाथ-पांव तोडा, जहर खिलाकर बुद्धिनाश किया इत्यादि नरापचार हैं। क्योंकि मनुष्य जीवन में ही सर्व पुरुषार्थ सिद्धि संभव है। परम पुरुषार्थ प्राप्ति तो मानव जीवन में ही होती है। अतः नरापराध घोर पाप है। उस से भारी उपसर्ग (सन्मार्ग में घोर बाधा) होती है। संत तपस्वी आदियों पर अपचार तो अधम गति दिलानेवाला है।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

यही भगवान ने कहा। उन के लिये उपचार कुछ नहीं है। अतः नरापचार से बचे हुए लोगों के उपसर्ग निवृत्ति का उपचार चिन्तन सार्थक है। इस विषय में शास्त्रकारों का यह वचन है-

यथा शस्त्रप्रहाराणां कवचं विनिवारकम्।
तथा दैवोपघातानां शान्तिर्भवति वारणम्॥

जैसे योद्धाओं के लिये शत्रुकृत शस्त्रप्रहार से बचने का साधन कवच होता है वैसे पूर्वजन्मकृत नरापराधादि प्रयुक्त दैवोपघात से बचने का साधन कवच शान्ति ही है। उपसर्गनिवृत्ति ही शान्ति है तब शान्ति का साधन शान्ति है। यह आत्मश्रय दोषयुक्त वाक्य है। नहीं। उपघातनिवृत्ति शान्ति है। उस की साधनात्मक शान्ति-यही दश शान्ति मन्त्र है ऐसी व्याख्या होने से आत्माश्रय दोष नहीं है। ये दश शान्ति एवं अन्य भी शान्तिमन्त्र समान हैं। तथापि संप्रदायानुयायी इन्हीं शान्ति मन्त्रों को विघ्नादिनिवारणार्थ, विशेषतः वेदान्ताध्ययन में आनेवाले नाना उपसर्गों के निवृत्यर्थ पढते हैं, विशेष रूप से अध्ययन-अध्यापन में आनेवाले उपघातादि हानार्थ विद्यार्थी तथा आचार्य इन्हीं शान्ति मन्त्रों को यथायोग्य बोलते हैं अर्थात् उपनिषत् के निर्देशानुसार नियम रूप से पढते हैं (उपनिषत् निर्देश अनुपद ही हम दिखायेंगे)।

शान्ति मन्त्र पाठ करने से शान्ति प्राप्त होती है ऐसी विद्वानों की मान्यता है। यह शान्ति क्या चीज है? जो शान्तिपाठ से प्राप्त होती है। कुछ लोग मानते है-विघ्नध्वंस शान्ति है। अन्य विद्वान कहते हैं-आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक त्रिविध ताप नाश शान्ति है। परंतु ध्वंस या नाश कोई सद् वस्तु है नहीं जो प्राप्त किया जाये। पद्मपुराण मे बताया है-

यत्किंचिद्वस्तु संप्राप्य स्वरूपं यदि वा परम्।
या तुष्टिर्जायते चित्ते शान्तिः सा गद्यते बुधैः॥

किसी महत्त्वपूर्ण वस्तु पाकर या उत्तम कोई स्वीय स्वरूप पाकर चित्त में जो तुष्टि-प्रसन्नता होती है वही शान्ति है।

अन्य मनीषियों की मान्यता है-कामक्रोधादि चित्तगत उग्र तरंगो का शमन शान्तता है। शान्ति है। जैसे पक्षान्त में समुद्र में भयंकर तरंगे उठती हैं वह अशान्तता है, उस का शमन होने पर समुद्र प्रशान्त होता है। वैसे चित्त में होनेवाले भयंकर उबाल अशान्तता है जिस में पडने पर जीवन

के लिये खतरा होता है। ऊँची लहरें लीन हो जाती हैं तो समुद्र प्रशान्त कहा जाता है ऐसे चित्त की उग्र लहरों का शमन ही शान्ति है। उग्र लहरों में पडने पर प्राणी सुध-बुध खो बैठते हैं। वैसे कामक्रोधादि लहरों की थपेडों से मनुष्य विवेकहीन हो जाता है। उस का प्रशमन शान्ति है। जो पूर्व में नरापचारादि बताया उस से देवता अपचारकारी का अपवर्जन करते हैं। देवता ऐसे व्यक्तियों को दूरतः त्यागते हैं यही अपवर्जन है। यद्यपि अपवर्ग मोक्ष का भी नाम है तथापि मोक्ष में भी पूरे संसार का बाधात्मक वर्जन होने से उसे अपवर्ग कहते हैं। अपवृज्यते सकलं द्वैतमित्यपवर्गः। वैसे देवता नरापचारादिकारी को अपने से बहुत दूर छोडते हैं, निराधार बनाते हैं। देवतानुग्रह से देवतासांनिध्य से मानव कल्याण होता है। देवता यदि छोड दें तो मानव कल्याण क्या संभावित है? अतः जब तक विद्याध्ययन करते हैं तब तक शान्तिपाठ करना ही है। बाद में स्वयं मनन करते समय एवं ब्रह्मस्मरण करते हुए भी प्रथम वाचिक या मानस शान्तिपाठ करना ही चाहिये। यही शिष्टाचार भी है। बडे बडे विद्वान भी उपनिषत् पाठादि करते समय पूर्व शान्तिपाठ कर के ही उपनिषत्पाठादि प्रारंभ करते हैं।

तीन प्रकार के उपसर्ग माने जाते हैं। उपसर्ग माने विघ्नबाधायें जो आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक तीन हैं। आध्यात्मिक दो प्रकार का है। शारीरिक तथा मानसिक। वातपित्तकफ के वैषम्य से शरीर में जो ज्वर पीडा आदि होते हैं वे आध्यात्मिक उपसर्ग हैं। सर्प-दंश-मशक-सिंह-व्याघ्रादि विषैले प्राणियों से एवं क्लेशकारक तत्त्वों से जो पीडा होती है वह आधिभौतिक है। सात्विक, राजस, तामस देवताओं से जो क्लेश होता है वह आधिदैविक है। क्या देवताओं से भी क्लेश होते हैं? उत्तर है-हाँ। ये मनुष्य देवताओं के पशु हैं। सेवा करो तो देवता प्रसन्न होकर अन्न जल आदि प्रदान करते हैं। अन्यथा अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि से क्लेश भी देते हैं। बृहदारण्यक में बताया हैं कि ये मनुष्य तो देवताओं से ऊपर चले जाते हैं तो देवसेवा वे नहीं करते इत्यादि। इन सब उपसर्गों

की निवृत्ति के लिये शान्ति मन्त्र पाठ प्रतिदिन करना आवश्यक है। तत्त्वज्ञानोपसर्ग निवारणार्थ ज्ञानप्रयोजक वेदशास्त्राध्येताओं के लिये, जिज्ञासुओं के लिये नियमतः मन्त्र पाठ परम आवश्यक है।

वेदान्त के अध्ययन तथा अध्यापन में आदि और अन्त में शान्तिपाठ करने की प्रथा अति प्राचीन काल से चली आ रही है। उस का प्रयोजन अधीति-बोध-आचरण-प्रचार में आनेवाले उपसर्गों का शमन एवं अध्ययनादि में उत्कर्ष मुख्य हैं। नैयायिकों ने इसे शिष्टाचारानुमित श्रुतिबोधितकर्तव्यता माना है। अर्थात् व्यास वसिष्ठादि शिष्ट पुरुषों ने मंगलाचरण रूप में प्रायः लौकिक शब्दो में ही मंगलाचरण किया उस से भी श्रुति का अनुमान होता ही है। अतएव सफल एवं कर्त्तव्य सिद्ध होता है। यद्यपि शिष्टाचार से स्मृति का अनुमान होता है। तथापि स्मृति से श्रुत्यनुमान भी हो जाता है। अतएव प्रामाणिकता में संदेह के लिये अवसर नहीं है। दूसरी बात यह है कि लौकिक शिष्टाचार से भी अनुमान के द्वारा सफलत्व सिद्ध होता है तो श्रुति स्वयं मङ्गलरूप में शान्ति मन्त्र पढ रही है तो सफलकार्यता असंदिग्ध है।

शंकरदिग्विजय में श्रीमद्विद्यारण्यस्वामी ने लिखा है कि आचार्य शंकरभगवत्पाद के एक शिष्य तोटक नाम के आचार्य हुए। नित्य गुरुसेवापरायण थे। आचार्य भगवान तो '**स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यं**' के अनुसार विचरणकाल में भी स्वाध्याय एवं प्रवचन करते ही रहे। तोटकजी तो आचार्य सेवा को ही लक्ष्य का साधन समझकर सेवा में अधिक ध्यान देते थे। आचार्य की वस्त्रप्रक्षालनादि सेवा नियमित वे ही करते थे। एक दिन वस्त्रप्रक्षालन में थोडा समय ज्यादा लगा। यहां स्वाध्यायं का समय हो चुका था। तो पद्मपादादि मुख्य शिष्य शान्ति पाठ शुरू करने के लिये आचार्य से अनुरोध करने लगे। आचार्य ने कहा तोटक को आने दो। पद्मपादजी दीवार पर हाथ रखकर सूचित करने लगे कि तोटकजी को सुनाना और दीवार को सुनाना बराबर है। इसलिये तोटकजी का प्रतिनिधि विद्यमान है। सब को आश्चर्य तब हुआ जब श्री

तोटकजी वेदान्त रहस्य का स्वकृत श्लोकों में निबद्ध कर उन्हें बोलते हुए आ रहे थे।

इस का प्रकृत विचार से सम्बन्ध यही है कि मङ्गलाचरण शान्तिपाठादि परम्परा अनादि शिष्टाचार सिद्ध है। और जिस उपनिषदादि में जो पठित है वहां अध्ययनविधि सिद्ध है किन्तु अध्ययनादि में स्वतः सिद्ध नहीं, वचन सिद्ध है। वचन यही जो आगे हम दिखाते हैं। अर्थात् मुक्तिकोपनिषत् में जैसा बताया है।

अथ हैनं श्री रामचन्द्रं मारुतिः पप्रच्छ ऋग्वेदादिविभागेन पृथक् शान्तिमनुब्रूहीति स होवाच॥ सर्वोपनिषदां मध्ये सारमष्टोत्तरं शतम्। सकृच्छ्रवणमात्रेण सर्वाघौघनिकृन्तनम्॥ मयोपदिष्टं शिष्याय तुभ्यं पवननन्दन। इदं शास्त्रं मयादिष्टं गुह्यमष्टोत्तरं शतम्॥ ज्ञानतोऽज्ञानतो वापि पठतां बन्धमोचकम्। राज्यं देयं धनं देयं याचतः कामपूरणम्॥ इदमष्टोत्तरशतं न देयं यस्य कस्यचित्॥ नास्तिकाय कृतघ्नाय दुराचाररताय वै॥ मद्भक्तिविमुखायापि[१] शास्त्रगर्तेषु मुह्यते। गुरुभक्तिविहीनाय दातव्यं न कदाचन॥ सेवापराय शिष्याय हितपुत्राय मारुते। मद्भक्ताय सुशीलाय कुलीनाय सुमेधसे॥ सम्यक् परीक्ष्य दातव्यमेवमष्टोत्तरं शतम्। यः पठेच्छृणुयाद्वापि स मामेति न संशयः। तदेतदृचाभ्युक्तम्। विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मां शेवधिष्टेऽहमस्मि। असूयकायानृजवे शठाय मा मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्। यमेव विद्याश्रुतमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्। तस्मा इमामुपसन्नाय सम्यक् परीक्ष्य दद्याद्वैष्णवीमात्मनिष्ठाम्॥ इति॥ अथ हैनं श्रीरामचन्द्रं मारुतिः पप्रच्छ ऋग्वेदादिविभागेन पृथक् शान्तिमनुब्रूहीति। स होवाच श्रीरामः। ऐतरेयकौषीतकिनादबिन्द्वात्म-प्रबोधनिर्वाणमुद्गलाक्षमालिकात्रिपुरासौभाग्यबह्वृचानामृग्वेदगतानां दशसंख्याकानामुपनिषदां वाङ्मे मनसीति शान्तिः॥ ईशावास्यबृहदारण्यकजाबालहंसपरमहंससुबालमन्त्रिकानिरालम्ब-त्रिशिखीब्राह्मणमण्डलब्राह्मणाद्वयतारकपैङ्गलभिक्षुतुरीयातीता-

ध्यात्मतारसारयाज्ञवल्क्यशाट्यायनीमुक्तिकानां शुक्लयजुर्वेदगताना-मेकोनविंशतिसंख्याकानामुपनिषदां पूर्णमद इति शान्तिः ॥ कठवल्लीतैत्तिरीयकब्रह्मकैवल्यश्वेताश्वतरगर्भनारायणामृतबिन्द्वमृत-नादकालाग्निरुद्रक्षुरिकासर्वसारशुकरहस्यतेजोबिन्दुध्यानबिन्दुब्रह्मविद्या-योगतत्त्वदक्षिणामूर्तिस्कन्दशारीरकयोगशिखैकाक्षराक्ष्यवधूतकठरुद्र-हृदययोगकुण्डलिनीपञ्चब्रह्मप्राणाग्निहोत्रवराहकलिसंत[२]रणसरस्वती-रहस्यानां कृष्णयजुर्वेदगतानां द्वात्रिंशत्संख्याकानामुपनिषदां सह नाववत्विति शान्तिः ॥ केनच्छान्दोग्यारुणिमैत्रायणिमैत्रेयीवज्र-सूचिकायोगचूडामणिवासुदेवमहत्संन्यासाव्यक्तकुण्डिकासावित्री-रुद्राक्षजाबालदर्शनजाबालीनां सामवेदगतानां षोडशसंख्याकाना-मुपनिषदामाप्यायन्त्विति शान्तिः ॥ प्रश्नमुण्डकमाण्डूक्याथर्वशिरो-ऽथर्वशिखाबृहज्जाबालनृसिंहतापनीनारदपरिव्राजकसीताशरभमहा-नारायणरामरहस्यरामतापनीशाण्डिल्यपरमहंसपरिव्राजकान्नपूर्णा-सूर्यात्मपाशुपतपरब्रह्मत्रिपुरातपनदेवीभावनाब्रह्मजाबालगणपति-महावाक्यगोपालतपनकृष्णहयग्रीवदत्तात्रेयगारुडानामथर्ववेदगताना-मेकत्रिंशत्संख्याकानामुपनिषदां भद्रं कर्णेभिरिति शान्तिः ॥ ५॥ मुमुक्षवः पुरुषाः साधनचतुष्टयसंपन्नाः श्रद्धावन्तः सुकुलभवं श्रोत्रियं शास्त्रवात्सल्यगुणवन्तमकुटिलं सर्वभूतहिते रतं दयासमुद्रं सद्गुरुं विधिवदुपसंगम्योपहारपाणयोऽष्टोत्तरशतोपनिषदं विधिवदधीत्य श्रवणमनननिदिध्यासनानि नैरन्तर्येण कृत्वा प्रारब्धक्षयाद्देहत्रयभङ्गं प्राप्योपाधिविनिर्मुक्तघटाकाशवत्परिपूर्णता विदेहमुक्तिः । सैव कैवल्यमुक्तिरिति । अतएव ब्रह्मलोकस्था अपि ब्रह्ममुखाद्वेदान्त-श्रवणादि कृत्वा तेन सह कैवल्यं लभन्ते । अतः सर्वेषां कैवल्यमुक्तिर्ज्ञानमा[१]त्रेणोक्ता । न कर्मसांख्ययोगोपासनादिभि-रित्युपनिषत् ॥

वाजसनेयसंहिता में - 'द्यौः शान्तिरन्तरिक्षंः शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्म

शान्तिः सर्वं॑ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि' इस मन्त्र में दस शान्तियों की या दसों की शान्ति पठित है। दश संख्या सामान्यतः उन का प्रचलित दश शान्तियों के साथ कोई सम्बन्ध है या नहीं यह एक विचारणीय विषय है। दिव्यलोकस्थित मित्र वरुणादि है। अन्तरिक्ष अन्तर्दर्शनप्रधान गुरुशिष्य है। उन का मुख्य मन्त्र छन्दसामृषभ ॐकार है। उस के सहारे संशयवृक्षछेदन सुगम है। उस का अन्तिम स्वरूप पूर्णता है। तत्प्राप्त्यर्थ शरीर-वाणी-एवं मन का आप्यायन आवश्यक है। उस के लिये **मनस्येकं वचस्येकं** इत्यादि परमावश्यक है। और मन को भद्र परमात्मा की ओर निरन्तर प्रेरित करना भी अत्यन्त आवश्यक है। उस के परिपोषणार्थ श्रोत्र नेत्रादि को भद्र की ओर ही ले जाना आवश्यक है। उस के लिये देव, यजत्र, इन्द्रादि की भी सहायता पाना जरूरी है। अन्त में सर्वार्थ परमात्म शरणागति ही परम साधन है। **'शान्तं शिवं'** यह शान्ति ही शान्तिदायी है। इस प्रकार दश मन्त्र एवं दश शान्ति की संगति स्पष्ट दिखती है।

यद्यपि शान्तिपाठ मात्र कर्तव्यतया श्रुतिप्रोक्त है और शिष्टाचार से अवगत है। तथापि-**स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।** इस प्रकार अर्थज्ञान के विना पाठ मात्र करनेवालों को स्थाणु (ठूंठ) कहकर निन्दा करने से अर्थज्ञान सहित पाठ करना ठीक है यह ज्ञात होता है। **योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते** इत्यादि स्तुति भी है। अतः अर्थज्ञान प्राप्त करना परम आवश्यक ज्ञात होता है। **'यः स्तूयते स विधीयते'** यह मीमांसक सिद्धान्त है।

पचीस-तीस वर्षों से अधिक समय पंजाब, गुजरात एवं बम्बई आदि में हम प्रवचन करते रहे। अठारहों अध्याय गीता एवं भागवतादि पर इन स्थानों में प्रवचन करते रहे। विशेषरूप से बम्बई में ही अधिक प्रवचन किया। उपनिषदों पर प्रवचन करते समय इन शान्ति मन्त्रों पर भी प्रवचन करते थे? उन प्रवचनों में जो विशेष न्यूनता दिखती रही उन की पूर्त्ति दुबारा प्रवचन करते समय की। उन्हीं प्रवचनों में उक्तानुक्त दुरुक्तार्थ ठीक किया वही श्लोकबद्ध किया। इसलिये इसका नाम प्रवचनवार्त्तिक रखा।

और साधारण जन भी अर्थ समझ सकें एतदर्थ उन श्लोकों का भी हिन्दी अनुवाद किया।

मुक्तिकोपनिषत् के अनुसार (१) **वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता** यह मन्त्र **ऋग्वेदीय** है। **'पूर्णमदः पूर्णमिदं'** यह **शुक्लयजुर्वेदीय** मन्त्र है। **'सहनाववतु॰'** यह **कृष्णयजुर्वेदीय** शान्ति मन्त्र है। **'आप्यायन्तु ममाङ्गनि॰'** यह **सामवेदीय** शान्ति मन्त्र है। और **'भद्रंकर्णेभिः॰'** यह **अथर्ववेदीय** शान्ति मन्त्र है।

'शं नो मित्रः॰' इत्यादि शान्ति मन्त्र तैत्तिरीय शाखा का है अर्थात् यजुर्वेदीय ही है। **'शं नो मित्रः'** इत्यादि **'यच्छन्दसामृषभो'** इत्यादि तथा **'अहं वृक्षस्य रेरिवा'** इत्यादि **तैत्तिरीयोपनिषत्** में ही पढी गयी है। अतः तैत्तिरीय शाखागत है। **'भद्रं नो अपिवातय मनः'** यह ऋग्वेद में दशम मण्डल में आया हुआ मन्त्र है।

'यो ब्रह्मणं विदधाति पूर्वं' इत्यादि **श्वेताश्वतरोपनिषत्** में आया हुआ है। 'श्वेताश्वतराणां मन्त्रोपनिषदि' ऐसा भाष्यकार जगह जगह लिखते हैं। अतः ब्राह्मणोपनिषत् शायद अलग हो। जिस की व्यावृत्ति के लिये मन्त्रोपनिषत् बताया हो ऐसी संभावना है। मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदः ऐसा मीमांसकों ने मन्त्र एवं ब्राह्मण दोनों को वेदस्वरूप ही बताया। अतः न्यूनाधिक भाव का विचार करने की जरूरत नहीं है।

वेदाध्ययनादि में इन सभी मन्त्रों का पाठ करना ही चाहिये एसा नियम नहीं है। मुक्तिकोपनिषत् में जिस शाखा का जो शान्तिमन्त्र पाठ बताया उतना पर्याप्त है। किन्तु अधिक का पाठ करे तो कोई हानि भी नहीं है। लाभ ही होगा। क्योंकि वेद मन्त्रोच्चारणमात्र भी पुण्यकारी है।

पंजाब, गुजरात आदि स्थानों में विशेषरूप से बम्बई में उपनिषत्, गीता, भागवतादि विशिष्ट ग्रन्थों पर हम जब प्रवचन करते थे और विशेष रूप से उपनिषदों पर प्रवचन करते थे तो प्रथम शान्ति मन्त्र पर ही कुछ दिनों तक प्रवचन चलता रहता था। ईशावास्य में **पूर्णमदः मन्त्र** पर तैत्तिरीय में **शं नो मित्र** पर तैत्तिरीय में ही **'यच्छन्दसां' 'अहं वृक्षस्य'** आदि

पर एवं अन्यान्य उपनिषदों में भिन्न भिन्न शान्ति मन्त्रों पर प्रवचन करता रहा उन्हीं प्रवचनों को सुरक्षित करने के लिये सब को श्लोकबद्ध किया। धीरे धीरे दसों मन्त्रों पर प्रवचनों का कम बेसी संग्रह हो गया।

मैंने तो अपने ही स्मरणार्थ यह लिखा था। क्योंकि अन्यत्र इन मन्त्रों पर प्रवचन करने का अवसर आ जाये तो पूर्व स्मरण करने की तकलीफ न हो। किन्तु संतो ने इसे यथासंभव पूरा लिखकर छपवाने का आग्रह किया। विशेष आग्रह ब्रह्मलीन **श्रीमत् चित्कलानन्दगिरि** का था। ग्रंथ संशोधन में श्रीमती रंगनाबहन महेता एवं अन्य साधकों का सहयोग रहा। जो भी जैसा भी हो यह एक पुण्यकार्य तो है ही कि वेदार्थ ज्ञान संपादन स्वार्थ हो या परार्थ महान पुण्यकारी है ऐसा संत पुरुष मानते हैं। अतएव अर्थज्ञान संपादनोपयोगी यह प्रयत्न निष्फल नहीं ही होगा यही अस्मदवधारणा है। बल्कि **'अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाधमाः'** ऐसा अर्थज्ञानहीन पाठकों को पाठकाधम अर्थात् कनिष्ठ पाठक बताया है। अतः पाठकों को येनकेनचित् प्रकारेण अर्थज्ञान संपादन करना परम आवश्यक है।

यद्यपि बहुत साल पहले (चालीस-पचास वर्ष पूर्व) मैंने सान्वय शब्दार्थ मात्र किया था। उतने से भावार्थ स्पष्ट नहीं हो पा रहा था। अतएव यह विस्तृत व्याख्या लिखने में परेच्छया या स्वेच्छया प्रवृत्त हुआ। संभव है इस में भी न्यूनता हो, तथापि विद्वद्धौरेय महामहिम श्रीमन्मधुसूदन सरस्वतीजीने जो अपने लिये या शिष्यशिक्षार्थ लिखाः-

'मम तु श्रम एष नूनमात्मंभरितां भावयितुं भविष्यतीह'

मेरे लिये भी वही उपयुक्त धारणा होगी।

ले. द्वादशदर्शनाचार्य स्वामी काशिकानन्दगिरि

दश शान्तिमन्त्राः

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा।
शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः।
नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि।
त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि।
ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु।
तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

मित्रः=प्राणवृत्ति और दिन का अधिष्ठातृ- देवता मित्र (प्राणवृत्ति का पोषणकर)
नः=हमारे लिये
शं=मङ्गलमय
भवतु=हो
वरुणः=अपानवृत्ति तथा रात्रि का अधिष्ठातृ देवता वरुण (अपानवृत्ति का पोषणकर)
नः शं भवतुः=हमारे लिये सुखकारी हो
अर्यमा=चक्षु और सूर्यमण्डल का अधिष्ठातृ देवता सूर्य (नेत्रशक्ति प्रदान कर)
नः शं भवतु=हमारे लिये आनन्दकारी हो
उरुक्रमः=विस्तीर्णपादवाले
विष्णुः=पादाधिष्ठातृ देवता विष्णु (पादों में शक्तिवर्धन कर)

नः शं भवतु=हमारे लिये मङ्गलकारक हो
ब्रह्मणे=ज्ञानशक्तिप्रधांन हिरण्यगर्भ को
नमः=मैं नमस्कार करता हूं।
वायो=क्रियाशक्तिप्रधान प्राणस्वरूप हे वायो!
ते=तुम को
नमः=मैं नमस्कार करता हूं। हे प्राणस्वरूप वायो!
त्वम् एव=तुम ही प्रत्यक्षं ब्रह्म
असि=प्रत्यक्ष ब्रह्म हो।
त्वाम् एव=तुम्हें ही
प्रत्यक्षं ब्रह्म=प्रत्यक्ष ब्रह्म
वदिष्यामि=कहूंगा (मैं)
ऋतं=बुद्धिस्थ सत्य
वदिष्यामि=कहूंगा।
सत्यं वदिष्यामि=सत्य कहूंगा।
तत्=वह वायु स्वरूप ब्रह्म

(विद्यासंयोजन द्वारा)
माम्=मुझ विद्यार्थी को
अवतु=रक्षा करे।
तत्=वही ब्रह्म
वक्तारम्=आचार्य की
अवतु=रक्षा करे।
अवतु माम्=मेरी रक्षा करे।
अवतु वक्तारम्=आचार्य की
रक्षा करे।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

विद्या में विघ्नस्वरूप आध्यात्मिक, आधिभौतिक और
आधिदैविक क्लेशों की शान्ति हो।

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

सः=वह
ह=सर्ववेदशास्त्रप्रसिद्ध
(परमात्मा)
नौ=हम (शिष्य और आचार्य)
दोनों की
सह=एक साथ (विद्यास्वरूप
प्रकाशन द्वारा)
अवतु=रक्षा करे (तथा)
नौ=हम दोनों की
सह=एक साथ (विद्याफल
प्रकाशन द्वारा)
भुनक्तु=पालन करे (हम दोनों)
सह=एक साथ
वीर्यं=विद्या सामर्थ्य
करवावहै=निष्पन्न करें।
नौ=हमारा
अधीतम्=अध्ययन
तेजस्वि=वीर्ययुक्त-फलप्रदानसमर्थ
अस्तु=हो। (हम दोनों प्रमाद
आदि के कारण परस्पर)
मा विद्विषावहै=विद्वेष न करें।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक त्रिविध क्लेश की शान्ति हो।

ॐ यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः। छन्दोभ्योऽध्यमृतात्संबभूव।
स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु। अमृतस्य देवधारणो भूयासम्।
शरीरं मे विचर्षणम्। जिह्वा मे मधुमत्तमा।
कर्णाभ्यां भूरिविश्रुवम्। ब्रह्मणः कोशोऽसि
मेधया पिहितः। श्रुतं मे गोपाय।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

यः=जो (ओंकार)
छन्दसाम्=वेदों में
ऋषभः=सर्वश्रेष्ठ है,
विश्वरूपः=विश्व जिसका स्वरूप है, (जो)
छन्दोभ्यः=वेदरूपी
अमृतात्=अमृत से
अधिसंबभूव=अधिकरूप से प्रगट हुआ,
सः=वह (ॐकाररूपी)
इन्द्र=सर्व कामप्रदानसमर्थ परमेश्वर
मा=मुझे
मेधया=प्रज्ञा प्रदान करे
स्पृणोतु= प्रीतियुक्त व बलयुक्त करे (प्रज्ञाबल दे) (मैं)
अमृतस्य=मोक्ष हेतु ब्रह्म ज्ञान का
धारणः=धारण करनेवाला
भूयासं=होऊं।
मे=मेरा
शरीरं=शरीर
विचर्षणं=क्रियासमर्थ हो।
मे जिह्वा=मेरी जिह्वा
मधुमत्तमा=मधुरभाषिणी हो।
कर्णाभ्यां=कर्ण द्वारा (मैं)
भूरि=बहुत
विश्रुवम्=श्रवण करूं-(हे ओंकार! तुम)
ब्रह्मणः=ब्रह्म का
कोशः=कोश के समान उपलब्धि के स्थान हो।
मेधया=लौकिक बुद्धि से
पिहितः=ढके हुए हो अर्थात् लौकिक ज्ञानवालों के लिये अज्ञेय है।
मे श्रुतं=मेरे श्रवण से प्राप्त ज्ञान की
गोपाय=रक्षा करो। विस्मृति आदि न हो

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक तापत्रय की शान्ति हो।

ॐ अहं वृक्षस्य रेरिवा। कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव।
ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि।
द्रविणँ सवर्चसम्। सुमेधा अमृतोऽक्षितः
इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम्॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

अहं=मैं (अन्तर्यामि रूप से)
वृक्षस्य=संसारवृक्ष का
रेरिवा=प्रेरक हूँ। (मेरी)
कीर्ति=कीर्ति
गिरेः=पर्वत के
पृष्ठम् इव=शिखर के समान
(उच्चतम है।)
ऊर्ध्वपवित्र=शुद्ध ब्रह्म मेरा
कारण है।
वाजिनी=सूर्य में स्थित
(श्रुतिस्मृति प्रसिद्ध
आत्मतत्त्व के)
इव=समान
सु-अमृतम्=विशुद्ध
आत्मतत्त्वरूपी अमृत
अस्मि=मैं हूं। (मैं)
सवर्चसं=स्वयं प्रकाश
द्रविणं=धन स्वरूप आत्मा हूं,
सुमेधा=सर्वज्ञ
अमृतः=मृत्युरहित
अक्षितः=अव्यय हूं।
(अमृत-उक्षितः=अमृत सिक्त हूं)
इति=इस प्रकार
त्रिशङ्कोः=त्रिशङ्कु ऋषि का
वेदानुवचनम्=ब्रह्मज्ञानोत्तर
कृतकृत्यताज्ञापक वचन है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥
आध्यात्मिकादि तापत्रय का शमन हो।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

अदः=वह कारण ब्रह्म
पूर्णं=पूर्ण है-परिच्छेदशून्य है।
इदं=यह जगत् रूपी कार्यब्रह्म भी
(उस कारण ब्रह्म की पूर्णता से)
पूर्णं=पूर्ण है (क्योंकि)
पूर्णात्=पूर्ण कारण ब्रह्म से

पूर्ण=यह पूर्ण कार्यजगत्
उदच्यते=प्रकट होता है
पूर्णस्य=पूर्ण इस कार्य जगत की
पूर्णम्=पूर्णता को (जो कि कारण ब्रह्म की है)
आदाय=लेकर (पृथक कर लेने पर)
पूर्णम् एव=पूर्ण कारण ब्रह्म ही
अवशिष्यते=शेष रह जाता है, (जगत् का अस्तित्व नहीं रहता है।)

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥
त्रिविध ताप का शमन हो।

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो
बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि। सर्वं ब्रह्मौपनिषदं।
माहं ब्रह्म निराकुर्याम्।
मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु।
तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

मम=मेरे
अङ्गानि=अङ्ग (हाथ पैर आदि)
आप्यायन्तु=परिपुष्ट हों-
विद्याग्रहणोपयोगी हों
अथो=तथा
वाक्, प्राणः, चक्षुः=वाणी, प्राण, नेत्र
श्रोत्रं, बलम्=कान, बल-शक्ति (एवं)
सर्वाणि=समस्त
इन्द्रियाणि=इन्द्रियां
च=भी
आप्यायन्तु=परिपुष्ट हो
सर्वं=सभी
औपनिषदं=उपनिषत्प्रतिपाद्य
विशुद्ध
ब्रह्म=ब्रह्म स्वरूप हैं।
अहं=मैं
ब्रह्म=ब्रह्म का
मा निराकुर्यां=निराकरण न करूं
अर्थात् मैं ब्रह्म से विमुख न बनूं।
ब्रह्म=ब्रह्म
मा=मेरा भी
मा निराकुर्यात्=निराकरण न करे,

त्याग न करे-मेरे सामने ओझल न हो।
अनिराकरणम् अस्तु=ब्रह्म का निराकरण न हो।
मे अनिराकरणम् अस्तु=मेरा भी निराकरण न हो।
तदात्मनि=उपनिषत् प्रसिद्ध आत्मा में अर्थात् उस आत्मा के ज्ञान में
निरते=नित्य तत्परता से लगे
मयि=मुझ में
उपनिषत्सु=उपनिषत् प्रतिपादित
ये=जो
धर्माः=धर्म-शमदमादि हैं
ते=वे
सन्तु=हो, आविर्भूत हो।
ते=वे उपनिषत् प्रतिपादित धर्म
मयि=आत्मनिरत मुझ में
सन्तु=आविर्भूत हो

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥
त्रिविध ताप का नाश हो।

ॐ वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता। मनो मे वाचि प्रतिष्ठितम्। आविरावीर्म एधि। वेदस्य म आणीस्थः। श्रुतं मे मा प्रहासीरनेनाधीतेनाहोरात्रान् संदधाम्यृतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतुवक्तारमवतु वक्तारम्॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

मे वाक्=मेरी वाणी
मनसि=मन में
प्रतिष्ठिता=स्थित हो।
मे मनः=मेरा मन
वाचि=वाणी में
प्रतिष्ठितम्=स्थित हो अर्थात् 'मनस्यन्यद् वचस्यन्यद्' के अनुसार मन और वाणी में विरोध न हो।
आविः=वह अपरोक्ष ब्रह्म
मे=मेरे लिये
आविः एधि=आविर्भूत हो।
वेदस्य=वेद (रूपी शकट) की
आणी=(मनन निदिध्यासन रूपी) दो कीलें
मे स्थः=हो। मेरे पास हो
मे श्रुतं=मेरा श्रवण किया हुआ (मुझे)

मा प्रहासीः=त्याग न करें अर्थात् विस्मृत न हो।
अनेन=इस
अधीतेन=अध्यनन के द्वारा
अहोरात्रान्=दिन और रात को
संदधामि=जोडता हूं। अर्थात् निरन्तर अध्ययन करता हूं।
ऋतं वदिष्यामि=व्यावहारिक सत्य कहूंगा।
सत्यं वदिष्यामि=पारमार्थिक सत्य कहूँगा।
तत्=वह सत्य ब्रह्म
माम् अवतु=मेरी रक्षा करें।
तत्=वह ब्रह्म
वक्तारम् अवतु=आचार्य की रक्षा करें।
अवतु माम्=मेरी रक्षा करें
अवतु वक्तारं=आचार्य की रक्षा करें।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

विविध ताप क्लेशनिवारण हो।

ॐ भद्रं नो अपिवातय मनः।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(हे परमेश्वर)
नः=हमारे
मनः=मन को
भद्रं=मङ्गल की ओर
अपिवातय=प्रेरित करो।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

आध्यात्मिकादि तापत्रय शान्ति हो।

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः। स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः। स्वस्ति नास्ताक्ष्यों अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

देवाः=हे देवगण! (आप हम पर ऐसा अनुग्रह करें कि जिस से हम)
कर्णेभिः=कानों से

भद्रं=मङ्गलमय (वचन)
श्रृणुयाम=श्रवण करें।
यजत्राः=यज्ञ करते हुए (हम)
अक्षभिः=नेत्रों से
भद्रं=मङ्गलमय (वस्तु)
पश्येम=देखें
स्थिरैः=स्थिर-स्वस्थ
अङ्गैः=अङ्गों से (और)
तनूभिः=शरीरों से (युक्त होकर)
तुष्टुवांसः=भगवत्स्तुति परायण हुए हम (वैसी)
आयुः=आयु का
व्यशेम=उपभोग करें
यत् आयुः=जो आयु
देवहितम्=देवताओं को हित हो अर्थात् सत्कर्म करते हुए बितावें।
वृद्धश्रवाः=परम यशस्वी
इन्द्रः=सर्वैश्वर्यसम्पन्न इन्द्र देवता
नः=हमारा (यश ऐश्वर्यादिप्रदान द्वारा)
स्वस्ति=मङ्गल
दधातु=करे।
विश्ववेदाः=सर्वज्ञ
पूषा=सर्व पोषणकर्ता सूर्यदेव (ज्ञान प्रदान कर)
नः स्वस्ति दधातु=हमारा कल्याण करे।
अरिष्टनेमिः=अरिष्टों के-दुःखो के लिये सुदर्शनचक्रस्वरूप
तार्क्ष्यः=गरुड भगवान (समस्त क्लेश हरणकर)
नः स्वस्ति दधातु=हमें सुख प्रदान करे
बृहस्पतिः=बृहस्पति (सुबुद्धि देकर)
नः स्वस्ति=हमारा कुशल
दधातु=करे।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥
तीनों क्लेशों का शमन करें।

ॐ यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै तँ ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

यो=जो
पूर्वं=सर्वप्रथम
ब्रह्माणं=ब्रह्मा को
विदधाति=उत्पन्न करता है

च=और
यो वै=वही जो
तस्मै=उस ब्रह्मा के लिये
वेदान्=वेदों को
प्रहिणोति=प्रेरित करता है अर्थात् ब्रह्मा के हृदय में प्रकाशित करता है,
आत्म बुद्धि प्रकाशं=आत्मा (मन) और बुद्धि को प्रकाशित करनेवाले
तं देवं=उस प्रकाश स्वरूप देव की-परमात्मा की
वै=केवल
मुमुक्षुः=मुमुक्षु होकर
शरणं=शरण
प्रपद्ये=ग्रहण करताहूं-लेता हूं।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥
त्रिविध तापशान्ति हो।





मंगलाचरण

सच्चिदानन्दरूपाय जगज्जन्मादितायिने।
सकृद्विभातमानाय नमोऽस्तु परमात्मने॥ १॥

सत् चित् आनन्द जिसका स्वरूपलक्षण है, जगत की उत्पत्ति स्थिति एवं लय करना जिसका तटस्थ लक्षण है, सकृद्विभात ('सकृत् सहैकवारे च' अम।) प्रकाश्य सबके साथ प्रकाशमानता या सदा भासमानता (भाष्यानुसार) ही जिसमें प्रमाण है ऐसे लक्षण प्रमाण सिद्ध परमात्माको हम प्रणाम करते हैं।

सिध्यन्ति कार्याणि चिकीर्षितानि
यस्मिन् प्रसन्ने पुनरप्रसन्ने।
विहन्यते तन्वपि तन्यमानं
तस्मै द्विपास्याय नमः परस्मै॥ २॥

श्री गणेशजी को हम प्रणाम करते हैं, जिनके प्रसन्न होने पर नाना कार्य भले वर्तमान में चिकीर्षित हो। (करने की इच्छा मात्र हुई हो) फिर भी समझ लो कार्य सिद्ध हो गये, और 'यदि अप्रसन्न हो' तो एक ही कार्य हो, और छोटा भी हो, भारी प्रयत्न से, विस्तार से किया भी जा रहा हो फिर भी बीच में विघ्नित होकर अधूरा रह जाता है। यही तो गणेशजी की द्विरूपता है। 'नीचे मानव सा शरीर ऊपर हाथी का मुख'। पिये भी द्विरूपता से सूंड से भी मुख से भी। रक्षा भी दो प्रकार से अल्प यत्न से पुण्य द्वारा और बहुयत्न से विघ्नात्मक पापहरण द्वारा।

संसारग्रीष्मतापैर्निरुषितवपुषां श्यामलाम्भोदपाली
नानायोनिष्वभीक्ष्णभ्रमणदुतपदां कल्पसालप्रतोली।
अज्ञानध्वान्तमन्दीकृतनयनरुचां ज्ञानदीप्तिप्रणाली
सैषाऽध्यास्तां पुरस्तान्नृहरिपदनख प्रस्फुरज्ज्योतिराली॥ ३॥

संसाररूपी गर्मी के भयानक ताप से जिनका शरीर जल रहा हो उनके लिये जो श्यामल मेघपङ्क्ति हो, नाना दुःखयोनियों में भ्रमण बार-बार करने

से जिनके पाँव में जखम-जखम हो गया हो, उनके लिये कल्पवृक्षच्छायामयी राजमार्ग जो हो, अज्ञानान्धकार से जिनकी आंखों की रोशनी मन्द पड गयी उनके लिये ज्ञान प्रकाशप्रसार का जो परम साधन हो ऐसे श्री नृसिंह भगवान के चरण स्फुरित ज्योतिपुञ्ज हमारे सामने प्रकाशमान हो।

भजेऽहं श्रीविद्यामयवपुषमीशं परशिवं ।
भजे च श्रीविद्यां परशिवमयीमैन्दवकलाम्॥ ४ ॥
उभाभ्यां याभ्यां सज्जनकजननीकं त्रिभुवनं।
यदीयापाङ्गाभ्यां स्फुरति परमं धाम सुधियाम्॥५॥

आनन्दात्मक परम शिव ज्ञानशक्तिमय ज्ञानस्वरूप है। तथा चितिशक्तिरूप ज्ञान भी आनन्दैकरस है। 'आनन्दाद्ध्येव' श्रुत्यनुसार आनन्दजनक एवं 'तदैक्षत बहुस्यां' के अनुसार ईक्षणचिति जननी है उन्हीं से स्थूलसूक्ष्मकारणरूप त्रिभुवन मातापितृमान है उन्हीं के कृपा कटाक्ष से परम धाम सत्तत्त्व मेरे लिये स्फुरित हो।

व्याख्यानं शान्तिमन्त्रेषु यदकारि पुरा मया।
उक्तानुक्तदुरुक्तार्थान् समीकर्तुं प्रयत्यते॥ ६ ॥

शान्तिमन्त्रों पर जो प्रथम हमने व्याख्यान किया उसी में उक्त अनुक्त एवं दुरुक्त अर्थ का समीकरणार्थ (परिष्करार्थ) यह प्रयत्न है।

उपसर्गोपशान्त्यर्थ - मात्मशुद्ध्यर्थमेव च।
क्वचित्फलविशेषार्थं पौष्कल्यार्थं च कर्मणाम्॥७॥
क्रियते शान्तिपाठोऽय-मधीत्यादिषु कर्मसु ।
विशुद्धबोधसिद्धिर्हि यतीनां जायते यतः॥८॥

शान्ति पाठ क्यों करना चाहिये? विघ्नबाधाशमन के लिये, आत्मशुद्धि के लिये (मन के दोषों की निवृत्ति के लिये, मन की पावनता के लिये) कहीं-कहीं फल विशेष की प्राप्ति के लिये (जो शान्तिमन्त्र में अभिहित है) और पौष्कल्य के लिये। अध्ययनादि भी कर्म है। उसमें भी पुष्कलता की आवश्यकता है। सर्वाङ्ग सहित अध्ययनादि करते हैं तो उससे यतियों

को विशुद्ध बोधरूपी फल प्राप्त होता है।

रमते विषयेष्वेव षट्शास्त्रज्ञोऽपि काकवत्।
निर्वीर्यत्वाद्धिय इति प्रथितं लोकवेदयोः॥ ९॥

शान्तिपाठादि अङ्गरहित होने पर अध्ययनादि जन्य ज्ञान निर्वीर्य हो जाता है। और षट्शास्त्रज्ञ पण्डित होते हुए भी विषयों में ही फंसे रहते हैं यह बात लोक में प्रत्यक्ष ही है। वेद में भी प्रसिद्ध है। 'रमन्ति काका इव पण्डिता अपि' इत्यादि वचन प्रसिद्ध है।

विद्यया श्रद्धया चोपनिषदा च करोति यत्।
तद्वीर्यवत्तरं कार्यं भवतीति श्रुतिर्जगौ॥ १०॥
फलं चेत् साधनं तर्हि फलं स्याद्वीर्यवत्तरम्।
भवेद् यतस्तु परम-फलसम्पत्तिरञ्जसा॥ ११॥

विद्या से, श्रद्धा से और उपनिषत से जो कर्म किया जाता है वही वीर्यवत्तर होता है। यही 'यदेव विद्यया' इत्यादि श्रुति कहती है। जहां कर्म का फल स्वयं साधन है वहां कर्म वीर्यवत्तर होने से फलात्मक साधन वीर्यवत्तर होता है जिससे परम फल सुलभ हो जाता है।

अधीतिरङ्गपौष्कल्ये जायते वीर्यवत्तरा।
ज्ञानं च तत्फलं तस्मात् संभवेद्वीर्यवत्तरम्॥ १२॥

अध्ययन अङ्ग के पौष्कल्य से वीर्यवत्तर होगा। उस से होनेवाला ज्ञान भी वीर्यवत्तर होगा।

अद्वैतसिद्धिर्भवति द्वैतमिथ्यात्वसिद्धितः।
सिद्धिर्ज्ञानं सवीर्यं चेत् स्याद्भोगविरतिर्नृणाम्॥ १३॥

अद्वैतसिद्धि द्वैतमिथ्यात्व सिद्धि से होती है। सिद्धि माने ज्ञान। वह सवीर्य हो तो ही मनुष्य में भोगविरति होगी।

भाष्येऽवगतिपर्यन्तं ज्ञानं संपाद्यमीरितम्।
तच्चाऽपराधविगमात्सर्वज्ञात्ममुनिर्जगौ॥ १४॥

भाष्य में अवगति पर्यन्त ज्ञान संपादनीय सूचित किया। 'अवगति-पर्यन्तं ज्ञानं सन्वाच्याया इच्छायाः कर्म' ऐसी प्रथम सूत्रभाष्यपङ्क्ति है।

अवगति का अर्थ यदि ज्ञान ही हो तो ज्ञानपर्यन्त ज्ञान कहने का कोई मतलब नहीं है। इसलिये अवगति का अर्थ है वीर्यवत्तर ज्ञान। वह क्या है? इस पर सर्वज्ञात्म मुनि का कहना है: पुरुषापराधरहित साक्षात्कारात्मक ज्ञान।

सा भोगवासना किं वा स्याद् द्वैतदृढभावना।
मिथ्यात्वज्ञानदार्ढ्येन साधकानां निवर्तते॥ १५॥

वह पुरुषापराध क्या है? भोगवासना, या द्वैतदृढभावना। उसकी निवृत्ति दृढमिथ्यात्व ज्ञान से होगी।

वीर्यवत्तरमिथ्यात्वधीस्तादृक् श्रवणादितः ।
श्रद्धादिसहिताच्छान्ति-पाठादिसहितात्तथा॥ १६॥

- वीर्यवत्तर द्वैतमिथ्यात्व बुद्धि वीर्यवत्तर श्रवणादि से होगी। वीर्यवत्तर श्रवण माने श्रद्धादि सहित एवं शान्तिपाठादि सहित श्रवण।

तत्त्वमस्यादिवाक्यैर्धीः साक्षात्कारात्मिका भवेत्।
सा चापराधविगमे पुंसां मोक्षाय कल्पते॥ १७॥

तत्त्वमसि आदि वाक्यों से साक्षात्कारात्मक ही आत्मज्ञान होता है। क्योंकि आत्मा स्वयं अपरोक्षरूप है। वही पुरुषापराधरहित होने पर मोक्षफल में समर्थ होता है।

ये त्वाहुः श्रावणाज्ज्ञानं परोक्षं प्रथमं भवेत्।
साक्षात्कारस्तु तस्मात्स्यान्मननध्यानसंयुतात्॥ १८॥
तत्रापि श्रवणं श्रद्धाशान्तिपाठादिसंयुतम्।
वीर्यवत्तरमन्ते हि साक्षात्कारप्रयोजकम्॥ १९॥

जो विद्वान यह मानते हैं तत्त्वमस्यादि वाक्य से भी प्रथम परोक्ष ज्ञान ही होता है। मनन और निदिध्यासन से युक्त होने पर ही तत्त्वमस्यादि वाक्य भी साक्षात्कारकारी होता है। (उनके मत में यद्यपि मनन और निदिध्यासन से ही श्रवण सवीर्य होकर साक्षात्कारकारी हो सकता है तथापि हम यही समझते हैं कि मननादि सहित श्रवण वीर्यवान जरूर होगा, किन्तु वीर्यवत्तर तो श्रद्धादि एवं शान्तिपाठादि सहित ही होगा और

मोक्षफलदायी होगा।)

श्रुतेः सापेक्षतैवं स्यात् प्रामाण्यं परतस्तदा।
मैवं ज्ञानाऽऽपरोक्ष्ये हि भवत्येतत्प्रयोजकम्॥ २०॥

इस प्रकार शान्तिपाठादि सापेक्ष होने से श्रुति में परतः प्रामाण्य होगा। नहीं। अपरोक्षता मात्र में मननादि तथा शान्तिपाठ प्रयोजक है। प्रामाण्य में नहीं।

मानं शान्तिविधिस्त्वत्र मुक्तिकोपनिषत्कृतः।
लिङाद्यभावेऽप्यामिक्षा वैश्वदेवीतिवद् भवेत्॥ २१॥

इसमें प्रमाण मुक्तिकोपनिषत् में कही शान्ति विधि ही है। लिङादि के न होने पर भी 'वैश्वादेव्यामिक्षा' में जैसे विधि मानी है वैसे यहां पर भी है। ईशावास्यादि उन्नीस उपनिषदों की पूर्णमदः यह शान्ति है इत्यादि कथन विधिरूप ही है।

निदिध्यासनतः साक्षात्कृतिं वाचस्पतिर्जगौ।
तत्र साक्षात्कृतौ नास्ति शान्तिपाठप्रयोजनम्॥ २२॥
शान्तिपाठी निदिध्यासे-दिति नैवेक्ष्यते विधिः।
निदिध्यासोः शान्तिपाठ-शिष्टाचारोऽपि नेक्ष्यते॥ २३॥

आचार्य वाचस्पति के मत में निदिध्यासन से साक्षात्कार होता है। इस मत में साक्षात्कार में शान्तिपाठ का प्रयोजन नहीं है। शान्तिपाठवाला निदिध्यासन करे ऐसी कोई विधि नहीं है। वैसा कोई शिष्टाचार भी नहीं है।

द्वैतमिथ्यात्वधीकारि-श्रवणेऽपि न तत्तथा।
अनुमानादपि द्वैतमिथ्यात्वं बोध्यते बुधैः॥ २४॥
द्वैतं सर्वं भवेन्मिथ्या दृश्यत्वाच्छुक्तिरूप्यवत्।
इत्यत्रानुमितौ किंनु शान्तिपाठः करिष्यति॥ २५॥

द्वैतमिथ्यात्व बोधक 'नेह नानास्ति किंचन' इतदि वाक्यश्रवण में शान्तिपाठ का उपयोग मानें ऐसी बात नहीं है। क्योंकि अनुमान से भी मिथ्यात्व ज्ञान होता है। 'द्वैतं मिथ्या दृश्यत्वात् शुक्तिरूप्यवत्' इस अनुमान में शान्तिपाठ क्या करेगा। वहां तो अनुकूल तर्कादि काम आ

सकता है।

न चानुमित्या मिथ्यात्व-साक्षात्त्वं नेति भण्यताम्।
तत् किं श्रवणतो मिथ्या-साक्षात्त्वं मन्यते भवान् ॥ २६ ॥
यद्येवं ब्रह्मसाक्षात्त्वं श्रवणात् किं न मन्यताम्।
तस्मान्मिथ्यात्वबोधे न शान्तिपाठः प्रयोजकः ॥ २७ ॥

यह कहें कि अनुमान से मिथ्यात्व का बोधमात्र होगा। साक्षात्कार नहीं होगा। मिथ्यात्व बोध मात्र अकिंचित्कर है तो हम पूछेंगे 'नेह नानास्ति किंचन' इस श्रुति श्रवण से क्या मिथ्यात्व साक्षात्कार हो जायेगा? यदि होगा तो 'तत्त्वमसि' वाक्य श्रवण से ब्रह्म साक्षात्कार मानने में भी क्या तकलीफ है? इसलिये मिथ्यात्व बोध में शान्तिपाठ की उपयोगिता नहीं हो सकती।

अत्रोच्यते वेदपुण्यं वेदाध्ययनजन्मवत्।
तदनास्कन्दनायादा-वन्ते शान्तिः प्रपठ्यते ॥ २८ ॥

शान्तिपाठ वेदपुण्यक्षरणवारणार्थ उपयुक्त है। जैसे भोजन के पहले और बाद में आचमन वासोऽर्थ होता है।

शान्तिश्च वेद एवेति तत् पुण्यं च भवेत् पृथक्।
कुर्याद् वेदोत्थमिथ्यात्व-बोधं तद् वीर्यवत्तरम् ॥ २९ ॥

शान्तिमन्त्र भी वेद ही तो है, अतः शान्ति पुण्य भी पृथक् होगा। वह 'नेह नानास्ति किंचन' इत्यादि वेदोत्पन्न मिथ्यात्वज्ञान को वीर्यवत्तर बनायेगा।

तादृङ् मिथ्यात्वबोधेन वैराग्यादि दृढं भवेत्।
मननाद्युद्भवं ज्ञानमपि स्यात् सुस्थिरं ततः ॥ ३० ॥

वैसे वीर्यवत्तर मिथ्यात्व बोध से दृढ वैराग्यादि होगा और श्रवणोत्तर मननादि ज्ञान भी सुस्थिर होगा, पानी की लकीर के समान नहीं।

वैराग्यं च मुमुक्षुत्वं तीव्रं यस्य तु विद्यते।
तस्यैव ह्यर्थवन्तः स्युः फलवन्तः शमादयः ॥ ३१ ॥

वैराग्य और मुमुक्षुत्व जिसका तीव्र हो उसीके शमदमादि सार्थक

होंगे, फलवान होंगे। द्वैतमिथ्यात्व ज्ञान से वैराग्य सुदृढ होकर सफल होगा और मननोत्तर तीव्र मुमुक्षुता होगी जो निदिध्यासन को तीव्र बनायेगी।

आत्मदर्शनमेवैषां शमादीनां फलं मतम्।
शान्तो दान्त इति श्रुत्यां तथैव फलकीर्तनात्॥ ३२॥

शम दमादि का फल क्या है? आत्मदर्शन ही है। 'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धावित्तो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति' ऐसी श्रुति है।

स्याद्वेदाध्ययनाद् दृष्टं फलं नन्वर्थबोधनम्।
दृष्टे फले संभवति नादृष्टपरिकल्पना॥ ३३॥
मैवं स्वर्गादि न फलमदृष्टं दृष्टसंभवे।
पुण्यं पुनर्भवत्येव नियमादृष्टवर्णनात्॥ ३४॥

पू. - वेदाध्ययन से दृष्टफल अर्थावबोध होता है। जहां दृष्ट फल होता है वहां अदृष्ट फल की कल्पना नहीं की जाती है। ऐसा न्याय है। उ. - उस न्याय का मतलब इतना ही है कि भोग्य स्वर्गादिरूप अदृष्ट फल नहीं होगा जहां दृष्ट फल संभव है। पुण्य तो होगा ही। अतएव स्वाध्यायोऽध्येतव्य इत्यादि में नियमादृष्ट मीमांसकों ने भी माना है।

पुण्यपापे अदृष्टे स्ता-मपूर्वपदसंज्ञिते।
वन्ध्यं तृतीयं नैवेदं नियमादृष्टशब्दितम्॥ ३५॥

पुण्य और पाप ही अदृष्ट है जिनको अपूर्व भी कहते है। तृतीय कोई वन्ध्य-निष्फल अदृष्ट नहीं है जिसका नियमादृष्ट माना हो।

तद्युक्तार्थावबोधश्च स्वीकृतो वीर्यवत्तरः।
ततो विशेषवैराग्यप्रभृतिः स्यात्फले पटुः॥ ३६॥

वैसे पुण्य से युक्त अर्थावबोध वीर्यवत्तर होगा। उससे विशेष वैराग्यादि होगा जो फलोत्पादन में पटु होता है।

वेदपाठोत्थपुण्यं वा वेदपुण्यमुदीर्यताम्।
मनुना यस्य निर्देशो गायत्रीजपिनां कृतः॥ ३७॥

एतदक्षरमेतां च जपन् व्याहृतिपूर्विकाम्।
सन्ध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ॥ ३८ ॥

यदि स्वाध्यायाध्ययन से पुण्य मानने में आपको संकोच होता हो तो वेदपाठजन्य पुण्य वेदपुण्य मान लीजिये जिसका निर्देश मनुस्मृति में है। एतदक्षरं... इस ॐकार अक्षर को और इस गायत्री को व्याहृतित्रयपूर्वक जो वेदवेत्ता विप्र दोनों संध्याओं में जपता है वह संपूर्ण वेदपाठ करने का पुण्य प्राप्त करता है।

वेदादिपाठमात्रस्याप्यस्ति पुण्यं महाफलम्।
पुण्यकामैः शिष्टजनैस्तदाचरणदर्शनात् ॥ ३९ ॥

वेद पाठ मात्र का भी पुण्य फल होता है। क्योंकि पुण्यार्थ बड़े-बड़े शिष्ट पुरुष भी वेद पाठ गीतापाठादि करते हैं। शिष्टाचार भी तो प्रमाण है।

अर्थज्ञः सकलं भद्रमश्नुते वेदपाठकृत्।
इतिश्रुतेरर्थबोध-युक्तोऽधिकफलप्रदः ॥ ४० ॥

'योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते' इस श्रुति से अर्थज्ञान भी हो तो अधिक भद्र फल प्राप्त होगा। यहां नियमादृष्ट नहीं, साक्षात् भद्रफल प्राप्ति फल बताया है। अतएव अधीत्य वेदान् यहां वेदपाठ मात्र विवक्षित है। 'स्थाणुर्वा' यह निन्दा अर्थज्ञानस्तुत्यर्थ है, न कि निन्दार्थ। पूरा मन्त्र इस प्रकार है।

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा।

पहले समय में घर के अंदर स्वतः उत्पन्न या लगाया हुए ठूंठ रहता था जिसकी सूखी टहनियां रहती थीं या खूंटे लगाये जाते थे। बाहर से आदमी आये तो अपना सामान उस पर टांग देते थे। वह केवल सामान लटकाने मात्र के लिये हो सकता है। उस पर पत्ते, फूल, फल आदि उगते नहीं। ऐसा ही वह पुरुष केवल वेदपोथियों का भार उठानेवाला मात्र होता है जो वेदाध्ययन कर अर्थ नहीं जानता, उत्तर फलादि वह प्राप्त नहीं करता। इसके विपरीत जो कृतवेदाध्ययन होकर अर्थज्ञ भी है वह सर्व

मंगल पाता है। वह स्वर्ग या मोक्ष प्राप्त होता है जो वेदार्थज्ञान से पापरहित हो गया है। यहां अर्थज्ञानशून्य वेदाध्ययन की निन्दा के लिये यह वचन नहीं है। किन्तु अर्थज्ञानस्तुत्यर्थ है। अन्यथा एक तो ऐसे वेदाध्ययन की व्यर्थता होगी और 'यो निन्द्यते स निषिध्यते' के अनुसार उपर से अनर्थ प्राप्ति भी होगी। ऐसा कौनसा नौकर होगा जो बिना वेतन भार भी ढोयें ऊपर से डंडा भी खायें। अर्थज्ञान से रहित वेदाध्ययन से कोई स्वर्गादि फल भी नहीं ऊपर से नरक भी जाना पड़े तो ऐसा काम कोई महामूर्ख भी नहीं करेगा। यहां 'अधीत्य न विजानाति योऽर्थं' इस कथन से अध्ययन का अर्थज्ञान पर्यन्त वेदपाठ अर्थ नहीं है। ऐसा हो तो वदतोव्याघात होगा। अतः अक्षरज्ञान मात्र अर्थ है। मीमांसकों का 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' की व्याख्या में बताया हुआ अर्थज्ञान पर्यन्त वेदग्रहण अर्थ होता है यह भी सिद्ध है। शिष्टाचार से उसका फल भी है। अतएव सकलं यह विशेषण है। सकलं भद्रं नाश्नुते अल्पमश्नुते ऐसा ध्वन्यार्थ है। 'इत्' का अपि अर्थ है। सकलमपि ऐसा अन्वय है। अथ वा योऽर्थज्ञोऽपि भवति वेदमधीते च=जो वेद भी पढ़े, अर्थ भी जाने तो उसको सर्व फल प्राप्ति होती है ऐसा अन्वय है।

तेनोभौ कर्म कुरुतो यश्चार्थं वेद यश्च न।
विद्यया कुरुते यद्धि तद्धि स्याद्वीर्यवत्तरम्॥ ४१॥

ओंकार से (ओंकार सहित मन्त्र से) दोनों कर्म करते हैं। जो अर्थ जानता है वह भी करता है जो अर्थ नहीं जानता वह भी करता है। उनमें अर्थज्ञानपूर्वक जो किया जाता है वह वीर्यवत्तर होता है ऐसा छान्दोग्य में कहा है।

वेदपाठोऽपि कर्मैव ज्ञात्वाऽज्ञात्वापि वाऽर्थतः।
उभयं वीर्यवत् किन्तु ज्ञातार्थं वीर्यवत्तरम्॥ ४२॥

वेद पाठ शान्ति पाठादि भी वाचिक कर्म है। कोई अर्थ जानकर करता है, कोई बिना जाने भी करता है। दोनों वीर्यवाले हैं। किन्तु जान कर जो किया जाता है वह वीर्यवत्तर होता है।

श्रद्धया चोपनिषदा कृतं स्याद्वीर्यवत्तरम्।
तत्रोपनिषदेत्यस्य योगेनेत्याह भाष्यकृत्॥ ४३ ॥

'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं' में उपनिषदा का योगेन ऐसा अर्थ भाष्य में किया है।

ध्यानयोगवदन्याङ्गयोगोऽप्यत्र विवक्षितः।
तथा च शान्तिपाठादियोगः प्रकृत इष्यताम्॥ ४४॥

योग का ध्यानयोगवत् शान्तिपाठादि अङ्गयोग भी प्रकृतानुसार ग्राह्य है।

अङ्गाधिक्यात् फलाधिक्यं पूजादाववलोक्यते।
शान्तिपाठाङ्गयुक्श्रुत्या विशिष्टावगतिस्तथा॥ ४५ ॥

पूजा आदि में पञ्चोपचार षोडशोपचारादि देखने में आता है। अङ्गअधिक होने से फलाधिक्य निश्चित है। अन्यथा अधिक प्रयत्न कौन करेगा? वैसा केवलोपनिषत्-अध्ययन की अपेक्षा शान्तिपाठयुक्त उपनिषत् अध्ययन का फल अधिक होना ही चाहिये। उससे ब्रह्मावगति या मिथ्यात्वावगति विशिष्ट या बलवत्तर होती है।

वाचस्पतिमते चोपनिषदध्ययनं ध्रुवम्।
तत्रैव शान्तिपाठस्य सार्थक्यं नैव वार्यते॥ ४६ ॥

वाचस्पति मत में तत्त्वमस्यादि वाक्य से ब्रह्म साक्षात्कार हो या न हो इससे क्या? उपनिषदध्ययनकर्तव्यता उनके मत में भी निश्चित है। उस अध्ययन का जो भी फल हो उसमें अङ्गरूपेण कृत शान्तिपाठ से वीर्यवत्तरता होगी ही

इत्युपक्रमः



ॐ

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा।
शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः।
नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि।
त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि।
ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु।
तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

मित्रः=मित्र देवता, नः=हमारे लिये शं (भवतु)=मङ्गलकारी हो। वरुणः=वरुण देवता, नः शं भवतु=हमारे लिये मंगलकारी हो। अर्यमा=अर्यमा देवता ,नः शं भवतु=हमारे लिये मंगलकारी हो। इन्द्रः बृहस्पतिः=इन्द्र और बृहस्पति शं नः (भवतां) हमारे लिये मंगलकारी हो। उरुक्रमः=विशाल पग वाले विष्णुः=विष्णुदेवता नः शं भवतु=हमारे लिये मंगलकारी हो। ब्रह्मणे=ब्रह्म को नमः=हम नमस्कार करते हैं। वायो=हे वायुदेवता! ते नमः=आपको मैं प्रणाम करता हूं। हे वायो! त्वमेव=आप ही प्रत्यक्षं ब्रह्म असि=प्रत्यक्ष ब्रह्म हैं। त्वाम् एव=आपको ही प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि=प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूंगा। ऋतं=यथार्थ वदिष्यामि=कहूंगा। सत्यं वदिष्यामि=सत्य कहूंगा। तत्=वह वायु स्वरूप ब्रह्म माम् अवतु=मेरी रक्षा करे। तत्=वही ब्रह्म वक्तारम् अवतु=वक्ता आचार्य की रक्षा करे। अवतु माम्=मेरी रक्षा करे। अवतु वक्तारम्=वक्ता आचार्य की रक्षा करे। ॐ=ओंकाररूपी हे परमात्मन् शान्तिः शान्तिः शान्तिः=आधिदैविक आध्यात्मिक एवं आधिभौतिक हमारी त्रिविध बाधाओं की शान्ति हो।

मित्रादयो हि देवा नः सन्तु कल्याणकारिणः।
नमामि वायुं यो ब्रह्म मामवेद् गुरुमेव च॥ १॥

मित्रादि देवता हमारे लिये कल्याणकारी हो। प्रत्यक्ष वायुदेवता को मैं प्रणाम करता हूं जो प्रत्यक्ष ब्रह्मस्वरूप वायु है वह मेरी रक्षा करें और,

आचार्य की भी रक्षा करें।

प्रसादाद्देवतानां स्यात् कार्यसिद्धिः सुखावहा।
अप्रसादाच्च नैतेषां नानाविघ्नाभिघाततः ॥ २ ॥

देवताओं की प्रसन्नता से सरलता से कार्यसिद्धि होती है। और उनकी अप्रसन्नता से कार्यसिद्धि दुष्कर होती है। क्योंकि वे नाना विघ्नकारी भी होते हैं।

प्रारम्भाः फलिनो यस्य प्रसादादफलोऽन्यथा।
उद्यमो ब्रह्मणोऽपि स्यादिति वेदविदां वचः ॥ ३ ॥

'प्रारम्भाः फलिनः प्रसन्नहृदयो यश्चेत्' इत्यादि वचनों से वेदवेत्ताओं ने बताया है श्री गणेश की प्रसन्नता से साधारण व्यक्तियों की भी कार्यसिद्धि होती है। अन्यथा ब्रह्माजी का उद्यम भी विफल होता है। अतएव देवता सात्त्विक होने से दूसरों के कार्य में क्यों रुकावट डालें ऐसा प्रश्न नहीं उठता। अन्य देवताओं में भी यही बात है। क्योंकि देवता अत्यन्त निर्दोष नहीं होते।

निग्रहेऽनुग्रहे चैताः प्रभवन्ति हि देवताः।
पूर्वजन्मकृतानेको - पासनालब्धशक्तयः ॥ ४ ॥

देवता निग्रह और अनुग्रह करने में समर्थ होते हैं। वे पूर्वजन्म में किये अनेक उपासनादि से शक्तिप्रास होते हैं।

ननु चानादयो वेदाः कथं ब्रूयुः सजन्मनः।
मैवं हिरण्यगर्भादि-पारम्पर्यमनादितः ॥ ५ ॥

पूर्वजन्म परजन्म मानेंगे तो देवता सादि होंगे। अनादि वेद उनका प्रतिपादन कैसे करेगे? सुनो। हिरण्यगर्भ भी पूर्वकृतोपासनावाले हैं जिनका वर्णन वेद में बहुधा है। अनादि परम्परा से हिरण्यगर्भादि नाना हैं। परम्परा एक ही है। वैसी ही अन्य पित्रादि देवताओं की भी बात है।

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
इत्युक्तं यज्ञविषये, पूजनादौ च तत्समम् ॥ ६ ॥

गीता में यज्ञ को लेकर कहा-इस यज्ञ से देवताओं को प्रसन्न करो। वे

देवता तुम्हें भी सुखी रखेंगे। पूजा प्रार्थना आदि में भी यह बात लागू है।

यद्वा सहायकाः स्युस्ते लक्ष्यमार्गावलम्बिनाम्।
लक्ष्येप्सूनां क्वचिच्चैते मार्गदर्शनकारिणः ॥ ७ ॥

अथवा ये देवता प्रसन्न होने पर विघ्न नहीं करते इतना ही नहीं। लक्ष्य मार्ग में चलनेवालों के लिये सहायक भी होते हैं, और मार्ग ही जिनको नहीं मिल रहा है उनका कहीं मार्गदर्शन भी कराते हैं।

श्रीरामदर्शनाध्वानं तुलसीदाससंज्ञिने ।
प्रसन्नो दर्शयामास पिशाचोऽपि पुरा महान् ॥ ८ ॥

गोस्वामी तुलसीदासजी को श्रीरामदर्शन पाने का रास्ता एक महान पिशाच ने ही तो बताया था।

दधुरिष्टं क्वचित् साक्षात् पारम्पर्येण च क्वचित्।
प्रायः सर्वविदो देवाः स्मरणाद्यभिपूजिताः ॥ ९ ॥

स्मरण नमस्कारादि से पूजित ये देवता कहीं साक्षात् अभीष्ट फलदायी होते हैं, कहीं परम्परया फल प्रास कराते हैं। ये देवता प्रायः सर्वज्ञकल्प होते हैं।

केचितु सात्त्विका देवा राजसास्तामसाः परे।
यजन्ते सात्त्विका देवानित्यादौ तच्च सूच्यते ॥ १० ॥

कोई देवता सात्त्विक, कोई राजस और कोई तामस होते हैं यह बात 'यजन्ते सात्त्विका देवान्' इत्यादि गीता श्लोक में सूचित होती है।

विद्याधरोऽप्सरोयक्ष - रक्षोगन्धर्वकिंनराः ।
पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः ॥ ११ ॥

गीता में यक्षरक्षंसि राजसाः यहां राजसत्व कर्तृविशेषण है। राजसादि देवता ही नहीं यक्षरक्षादि हैं इस पूर्व पक्ष का उत्तर है विद्याधर अप्सरा यक्ष रक्ष आदि देवयोनि है ऐसा विद्वानों ने बताया है।

किंचित्पापवशादेते पिशाचाद्यास्तु देवताः ।
घोरा भवन्ति किंन्त्वेषां ज्ञानमस्ति हि धूमितम् ॥ १२ ॥

पापविशेष से पिशाचादि देवता घोर होते हैं। फिर भी देवता होने से स्पष्ट

प्रकाश इनका रहता ही है। विशेषता यह है कि उनकी ज्ञानाग्नि धूमित होने से स्पष्ट प्रकाशकारक नहीं होती। ब्रह्मज्ञानादि तो सर्वथा आवृत रहता है।

किं च देवाय यजनं यस्मै कस्मैचिदेव तु।
परमेश्वरमाप्नोति स एव च फलप्रदः॥ १३॥

दूसरी बात यह है कि किसी भी देवता का पूजास्तंवनादि करो वह परमेश्वर को ही प्राप्त होता है। परमेश्वर ही फलप्रद है।

आकाशात् पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम्।
सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति॥ १४॥

आकाश से गिरा सभी पानी नदी द्वारा समुद्र में जाता है। वैसे सर्व देव नमस्कार केशव को ही प्राप्त होता है।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥ १५॥

अन्य देवपूजक भी अविधि मेरी ही पूजा करते हैं यह गीतावचन भी है।

लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्।
व्यासोऽप्यूचे फलमत उपपत्तेरितीश्वरः॥ १६॥

भगवत्-दत्त फल ही वे पाते हैं (गीता)। फलमत उपपत्तेः इस सूत्र में भी यही बात कही।

नह्युपास्त्याद्यसम्बन्धे फलदः स्यान्महेश्वरः।
अतः सर्वनमस्कारो गच्छत्येव महेश्वरम्॥ १७॥

उपासना परमेश्वर तक न पहुंचे तो परमेश्वर फलदायी कैसे हो? अतः सर्व देव नमस्कार भगवान के पास ही पहुंचता है।

अन्तवत्तु फलं तेषां शान्तेश्चापीति चेन्न तत्।
वेदान्तेन मिलित्वैषा परमार्थाय कल्पते॥ १८॥

'देवान् देवयजो यान्ति' 'अन्तवतु फलं तेषां' इत्यादि गीतावचन से देवपूजकों का देवप्राप्तिफल अन्तवान होगा वैसे शान्तिपाठ में भी मित्रवरुणादि प्राप्तिफल अन्तवान होगा। नहीं। शान्तिपाठदृष्ट वेदान्त से

मिलकर परमार्थ परब्रह्म प्राप्तिफल पर्यवसायी ही होगा।

उपास्यतां ननु तदा साक्षादेव महेश्वरः।
कस्माद्देवानुपासीरन्नानारूपान्मुधेति चेत्॥ १९॥

यदि ऐसी ही बात है तो साक्षात् परमात्मा का ही यजन क्यों न करें, शं नो मित्र इत्यादि नानारूप देवोपासना क्यों करें? यह तो व्यर्थ हुआ।

तन्नेशरूपं दुर्बोध-मुपास्याऽस्य कथं भवेत्।
किं च तत्रापि कुर्वीरन् विघ्नान् नानैव देवताः॥ २०॥

ऐसी बात नहीं है। परमेश्वर का स्वरूपज्ञान ही प्रथम दुःसाध्य है। उसकी उपासना पहले ही कैसे करेंगे। दूसरी बात-उस उपासना में भी ये देवता विघ्न डालेंगे तो क्या करोगे?

दुष्प्रसादश्च भवति यज्ञाद्यैः परमेश्वरः।
तत्तत्कार्यनियुक्तास्तु सुप्रसादाश्च देवताः॥ २१॥

तीसरी बात-परमेश्वर को प्रसन्न करना अति कठिन है। तत्तत् कार्य में नियुक्त देवताओं को प्रसन्न करना आसान है।

पिपीलिकापनीत्यर्थ-मुद्यच्छेत् को नु तोमरम्।
तस्माद् विघ्नाद्यपास्त्यर्थं शान्तिपाठो हि सुग्रहः॥ २२॥

चींटी को हटाने के लिये एटमबम कौन डालेगा। इसलिये विघ्नादि परिहारार्थ शं नो मित्र इत्यादि शान्तिपाठ करना ही उचित है।

नृणां गम्यस्त्वमेवासि पयसामर्णवो यथा।
इत्याह पुष्पदन्तोऽपि गन्धर्वः परमार्थवित्॥ २३॥
वेदान्तेन मिलित्वैवं शान्तिपाठोऽपि सुश्रयः।
नयति ब्रह्म परमं तस्मादाश्रीयते बुधैः॥ २४॥

'आकाशादि पतित जल नदी आदि के द्वारा समुद्र ही पहुंचता है' इस पुष्पदन्तवचन से शान्तिपाठ पुण्य भी वेदान्त से मिलकर परमेश्वर को प्राप्त करायेगा। यह सुगम मार्ग है। अतएव विशिष्ट जन शान्तिपाठ का ही आश्रयण करते हैं।

शान्तिश्रुतिप्रमाणाच्च मुक्तिकावचनादपि।
लिङ्गादेस्तत्र तत्रैव तत्तच्छान्तिः प्रपठ्यते॥ २५॥

इसमें शान्ति श्रुति स्वयं प्रमाण है। अन्यथा अननुष्ठापकत्व लक्षण अप्रामाण्य शान्ति श्रुति में आ जाता जो सर्व वेद प्रामाण्य स्वीकर्ताओं के लिये सह्य नहीं होता। मुक्तिकोपनिषद् वचन भी इसमें प्रमाण है। (विधिपूर्वक दर्शित है) अतः लिङ्गादि से और मुक्तिका वचन से तत्तत् शान्ति मन्त्र तत्तत् उपनिषत् अध्ययन से पूर्व और पश्चात् पाठ सिद्ध होता है।

सवीर्या अर्थबोधात् स्युर्व्याख्येयास्तत एव ताः।
ततो वयं यथाबुद्धि व्याख्यानं प्रवितन्महे॥ २६॥

अर्थ बोधपूर्वक होने पर शान्ति (शान्तिपाठ) सवीर्य होगी। अतः ये व्याख्यानयोग्य हैं। अतएव

हम यथामति व्याख्याविस्तार करते हैं।

शं नो मित्रः

मेदनात् स्नेहनान्मित्रः प्राणाधिष्ठानदेवता।
दिनाभिमानिनी चापि देवतात्रेति भाष्यकृत्॥ २७॥

मिद धातु का स्नेहन अर्थ है। प्राण के अधिष्ठाता देवता मित्र है। दिनाभिमानी देवता भी मित्र है।

प्राणः प्रियो हि सर्वेषां तं विना को नु जीवतु।
मिद्यते स्निह्यते सर्वैरिति मित्रस्य मित्रता॥ २८॥

प्राण सबका प्रिय है। उसके बिना कोई जिंदा नहीं रहता। अतः परम स्नेह विषय होने से वह मित्र है।

प्रियं तथैव च दिनं सर्वकार्यवहत्त्वतः।
निद्रामात्रार्थतो रात्रिः प्रियेव तमसावृता॥ २९॥

क्यों कि उस में सब कार्य होते हैं इसलिये दिन भी प्रिय है। यह कहें कि रात्रि भी तो प्रिय है। हां, सोने के लिये। अन्धकारावृत रात्रि अन्यार्थ प्रिय नहीं है। सोते रहना कोई पुरुषार्थ नहीं है।

नात्र मित्रपदः सूर्यः यतोऽग्रे वक्ष्यतेऽर्यमा।
पितृराजोऽर्यमा स्याच्चेन्नाऽप्रत्यक्षफलत्वतः॥ ३०॥

यहां मित्र का सूर्य अर्थ नहीं है। क्योंकि आगे अर्यमा को कहना है। अर्यमा का सूर्य अर्थ है। अर्यमा से पितृपति क्यों न लिया जाये? क्योंकि प्रत्यक्षतः हमें उससे कोई फल नहीं मिलता।

अन्ये तु मित्रः सूर्योऽपि अर्यमा पितृदेवता।
प्रसन्नाः पितरो यस्माद् रक्षन्ति कुलसंभवान्॥ ३१॥

कुछ लोगों का कहना है-मित्र से सूर्य को भी लेना चाहिये। अर्यमा पितृदेवता है। पितर प्रसन्न होने पर वे स्वकुलोत्पन्नों की रक्षा करते हैं। यही उनकी शंरूपता है।

पितृलोकपतिः शास्त्रेष्वर्यमेति निगद्यते।
सोऽस्मत्कुलादिपुरुष इति न प्रमिमीमहे॥ ३२॥

शास्त्रों में केवल पिता या पितर को अर्यमा नहीं कहते। पितृलोक का पति अर्यमा है। वह एक है। क्या वह हम सबका आदि पुरुष है? इसमें हमें कोई प्रमाण नहीं मिलता। किसी-किसी का वह आदि पुरुष भले हो, किन्तु व्यक्तिगत रूप से मेरे आदि पुरुष होने में प्रमाण न होने से हम उनके कुल संभव न होने पर वह हमारी रक्षा करने में क्यों दिलचस्पी रखेगा?

कर्मणा पितृलोकः स्यात्तत्पतिः कर्मवृद्धिकृत्।
इत्यर्थोऽपि मुमुक्षूणा - मप्रियत्वादुपेक्षितः॥ ३३॥

'कर्मणा पितृलोकः' यह श्रुति है। पितृलोकपति अवश्य कर्म वृद्धिकारी होगा। अतः शं भवतु प्रार्थना ठीक है ऐसी व्याख्या मुमुक्षुओं के लिये प्रिय न होने से उपेक्षित किया। क्यों कि पितृलोक में आयें इस आशय से पितृलोकपति कर्मवृद्धि करेगा। मुमुक्षु पितृलोक क्यों चाहेगा? अतः ऐसा अर्थ भी भाष्यकार ने छोडा।

प्राणवृत्तेरधिष्ठाता दीर्घायुष्यप्रदो भवेत्।
दीर्घजीवनसंसिद्धो यतो ज्ञानाय कल्पते॥ ३४॥

प्राणवृत्ति के अधिष्ठाता मित्र दीर्घायुष्यदायी होगा। दीर्घ जीवन संपादित दृढ प्रयत्न ज्ञानोत्पादन समर्थ होता है।

अनेकजन्मसंसिद्धो ननु याति परां गतिम्।
तत्र दीर्घायुरिच्छैषा व्यर्था स्यादिति चेन्न तत्॥ ३५॥
भवत्यल्पायुषां बोधो दुर्घटोऽसंख्यजन्मभिः।
कष्टं हि यौवनं नाना-वासनोद्भवदर्शनात्॥ ३६॥

गीता में कहा है-'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परं गतिम्'। अनेक जन्मों में संसिद्धि मिलती हैं। उसमें दीर्घायु की क्या आवश्यकता? नहीं। अल्पायु वालों को अनेक जन्म क्या, असंख्य जन्म लेने पर भी बोध होना दुष्कर है। क्योंकि यौवन नानाविध वासनाओं को उद्भूत करनेवाला कष्टदायी होता है।

दीर्घायुष्ट्वे यौवनान्ते बहुश्रवणबोधतः।
वासनायाश्च शैथिल्याद्विज्ञानं सुलभं भवेत्॥ ३७॥

दीर्घायु हो तो यौवन समाप्ति तक बहुत-बहुत श्रवणादि संभव है। वासनायें भी तब तक शिथिल पड जायेंगी फलतः ज्ञान सुलभ होगा।

कष्टं च खलु मूर्खत्वं कष्टं च खलु यौवनम्।
बाल्यं च यौवनं चैवं कष्टत्वान्न सुबोधकृत्॥ ३८॥

अनुभवियों का कहना है-मूर्खता भी कष्टदायी है, यौवन भी कष्टदायी है। मतलब बाल्य में समझदारी बराबर न होने से मूर्खता रहने से और वह कष्टदायी होने से बोधप्रद नहीं होता। यौवन में कामक्रोधादि दोषोद्भव से वह भी कष्टदायी होने से सम्यक् बोधप्रद नहीं है। उसके बाद की अवस्था ही स्थिर एवं शान्त होने से सुबोध प्राप्ति का अच्छा अवसर है।

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धके मुनिवृत्तीनामित्यादि कविराडपि॥ ३९॥

महा कवि कालिदासजी भी कहते हैं-बचपन में विद्याभ्यास होता है, यौवन में विषयैषणा होती है। उसके बाद मुनिवृत्ति होती है। विद्याभ्यास का मतलब है उस समय विद्वान नहीं ही होते। असली विद्या प्राप्त हुई

होती तो फिर यौवन में विषयैषणा ही क्यों होती? वार्धक का अर्थ है- विषयैषणा कुछ शान्त होना तब मुनिवृत्ति बन पाती है।

वामदेवादयस्तु स्युरपवादविधा इह ।
वृद्धा अप्येषणावन्तस्तथैव विबुधा अपि ॥ ४० ॥

इस पर प्रश्न होगा कि वामादेवादि अल्प ऊमर में ही ज्ञानी हो गये। वह कैसे? और जीवनभर विद्यार्जनादि तत्पर रहे वृद्ध भी विषयैषणा वाले होते हैं वह कैसे? उत्तर यही है यह सब अपवादमात्र है।

मुमुक्षवोऽभ्यासशीला लभन्ते दीर्घजीवनाः ।
परमं ज्ञानमित्येत - दुत्सर्गादुपलभ्यते ॥ ४१ ॥

मुमुक्षु हैं अभ्यासशील भी हैं तो लंबी आयु पाने पर कष्ट अवस्था के उत्तर परम ज्ञान प्राप्त होते हैं ऐसा उत्सर्ग देखने में आता है।

प्राणवृत्तेरधिष्ठातृ - देवताप्रार्थनं. ततः ।
दीर्घायुष्ट्वाय शं नोऽस्त्वित्येषा वै युज्यतेतराम् ॥ ४२ ॥

इसलिये दीर्घायु के लिये प्राण वृत्ति के अधिष्ठाता को प्रार्थना करना युक्त ही है।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि शतवर्षं जिजीविषेत् ।
मानसान्यपि कर्माणि ध्यानादीन्याह हि श्रुतिः ॥ ४३ ॥

इसी कारण शत वर्ष जीने की इच्छा श्रुति भी 'कुर्वन्नेव' इस मन्त्र में कहती है। ध्यानादि मानसकर्म भी अन्ततः करते रहना चाहिये।

प्रयत्नाद् यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ४४ ॥
दीर्घायुषा कृतोऽभ्यासः शमयेद् बहुकिल्बिषम् ।
जन्मान्तरे च तस्यात्मवासना संप्रजायते ॥ ४५ ॥
दृढीभवन्त्यां सद्ब्रह्मवासनायां च जन्मसु ।
संसिद्धिः प्रभवेद्दीर्घजीवित्वं तेन चेष्यते ॥ ४६ ॥

गीता में 'प्रयत्नाद् यतमानस्तु' इत्यादि श्लोक द्रष्टव्य है। अल्प प्रयत्न से नहीं होगा। दीर्घ प्रयत्न आवश्यक है। अतएव प्रयत्न से यत्न करना ऐसे 'यत'

धातु का आवर्तन है। मतलब दीर्घ आयु तक किया गया अभ्यास अन्त में प्रभावशाली बन जाता है। वह किल्बिषों (पापों) को शान्त करेगा। दूसरे जन्म में उसी प्रकार के प्रयत्न से जगद्वासनाविरोधी अध्यात्म वासना अच्छी तरह अपनी धाक जमायेगी। अनेक जन्म में इसी प्रकार के अभ्यास से वह ब्रह्मवासना दृढ होगी तब संसिद्धि होगी। अतः दीर्घजीवित्व आवश्यक है।

शतं पश्येम शरदो जीवेम शरदः शतम्।
इत्यादावपि तुल्यं तद् अग्रे व्याख्यास्यते स्फुटम्॥४७॥

'पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतं' इत्यादि में भी दीर्घायु प्रार्थना तुल्य है। आगे उसकी व्याख्या होगी।

चिरायुः कृपया शम्भो-र्मार्कण्डेयस्तपस्व्यभूत्।
मित्रस्य कृपया स्याम वयं दीर्घतपस्विनः॥४८॥

शंकर कृपा से मार्कण्डेय चिरतपस्वी हुए, मित्र (सूर्य) कृपा से हम भी दीर्घ तपस्वी बनें।

निवारयतु पापात् स हितेऽसौ योजयत्वपि।
निगूहयतु गुह्यं स गुणान् प्रकटयत्वपि॥४९॥
जहात्वापद्गतं नैव काले योग्यं ददातु च।
यथा मित्रं तथा मित्रः प्राणाधिष्ठातृदेवता॥५०॥

मित्र शब्द से मित्र (सखा) जिस प्रकार मित्र का कल्याण करता है वैसे प्राणाधिष्ठातृ देव हमारा कल्याण करे ऐसा ध्वन्यार्थ भी है। 'पापान्निवारयति योजयते हिताय' इत्यादि रीति कल्याणकारित्व मित्र में प्रसिद्ध है।

शंता वा सैव मित्रस्य यत्कल्याणप्रयोक्तृता।
प्रार्थ्यते परमात्माऽत्र मित्र एवं भवेदिति॥५१॥

कल्याणप्रयोक्तृत्व शंत्व=मङ्गलत्व है। तदर्थ परमात्मा से यह प्रार्थना है-ऐसा मित्र बने।

दीर्घं जीवन् खलः पापं कुर्याद् मित्रोऽशमस्य तु।
शंरूपस्तु भवेन्नोऽसौ पुण्यं कुर्यास्म येन हि॥५२॥

अथवा ऐसा अर्थ लगाओः- जिसका मित्र अशं-अमङ्गल रूप से पेश होता है वह पाप करता है। हमारे लिये मङ्गल रूप से मित्र पेश आये जिससे हम पुण्यकारी बने।

भवत्यहर्मानिनी च देवता मित्रशब्दिता।
सा च शं कुरुताद् वेदाधीतिस्थान् नः प्रकुर्वती॥५३॥

मित्र का प्राणाधिष्ठातृ देवता अर्थ लेकर यहां तक बताया। अब दिनाधिष्ठात्री देवता मित्र शब्द का अर्थ लेकर आगे अर्थ करते हैं-दिनाधिष्ठातृ देवता हमें दिनभर वेदाध्ययन तत्पर बनाकर हमारा कल्याण करें।

भो काऽहर्देवता नाम? मित्र इत्यभृणोन्न किम्?
को मित्र इति चेदुक्ता सैषाहर्देवताऽधुना॥५४॥

यह अहर्देवता कौन है महाराज! अरे सुना नहीं-वह मित्र नामक देवता है। भगवन! मित्र किसको कहते हैं? अभी तो बताया अहर्देवता-दिनाधिष्ठातृ देवता है।

उभयोरप्यदृष्टत्वादन्योन्याश्रयताधुना ।
तत्किमिन्द्रादयो दृष्टा त्वया हस्तादिदेवता॥५५॥

दोनों अपरिचित होने से अन्योन्याश्रय दोष है। तो हस्तादि देवता इन्द्रादि कैसे जानोगे।

इन्द्रो देवाधिराजश्चेद् देवाः किं वीक्षितास्त्वया।
व्यावृत्त्य वेद्मि चेदत्रा-प्येवं व्यावृत्त्य बुध्यताम्॥५६॥

इन्द्र देवाधिराज है यह मैं जानता हूं बोलो तो क्या देवों को तुमने देखा है? यदि कहो व्यावृत्ति करके जान लेता हूं तो यहां भी व्यावृत्ति करके जानो।

यथा संवत्सराख्यानाः स्युः प्रजापतयस्तथा।
प्रजापतय एवेमेऽप्यहरादिपदाभिधाः॥५७॥

'शाश्वतीभ्यः समाभ्यः' इस श्रुति की व्याख्या में भाष्यकार ने संवत्सराख्येभ्यः प्रजापतिभ्यः ऐसे अनेक प्रजापतियों को बताया। वैसे अहर् आदि नामवाले भी अनेक प्रजापति हैं।

न ह्येकवत्सरादूर्ध्वं म्रियते स प्रजापतिः।
शाश्वतीभ्य इति प्रोक्तं श्रुतौ तन्नित्यता यतः॥५८॥

एक-एक संवत्सर का एक-एक प्रजापति अधिष्ठाता है। न कि सभी प्रजापति एक-एक संवत्सर के अधिष्ठाता। फिर भी एक वर्ष के बाद उसका अधिष्ठाता मरता नहीं है। क्योंकि श्रुति में ही 'शाश्वतीभ्यः' यह विशेषण है।

चतुःषष्टिस्तु संख्याताः पञ्चाङ्गादिषु दर्शिताः।
चित्रभान्वादिनामानो वत्सराः शालिवाहने॥५९॥
चतुःषष्ट्युत्तरं पश्चादावर्तन्ते त एव हि।
कल्पपर्यन्तमेतेऽधि-ष्ठातार इति चिन्त्यताम्॥६०॥

पंचांगादि में चौंसठ संवत्सर प्रजापति बताये हैं। वर्तमान में चित्रभानु नाम का प्रजापति शालिवाहन में लिखा है। चौंसठ पूरे होने पर इन्हीं की आवृत्ति होती रहेगी। ऐसे कल्पपर्यन्त चलता है इसलिये इनको शाश्वती बताया।

प्रत्यहं परिवर्तन्ते तथाऽहर्देवता अपि।
ताश्चाहर्देवताः आहुः षष्ट्युत्तरशतत्रयम्॥६१॥
शक्तिपादांशुरूपास्ता इति शाक्ताः प्रचख्यिरे।
त्रिंशत्त्वेवांशव इति ता अन्ये प्रतिपेदिरे॥६२॥

ये अहर्देवता प्रतिदिन बदलते हैं। वे तीनसौ साठ देवी चरण किरणरूप हैं ऐसे शाक्त लोग मानते हैं। वे तीस ही हैं ऐसा दूसरों का कहना है।

अग्निर्ज्योतिरहः श्लोके प्रोक्ता तादृग्घि देवता।
तन्नित्यत्वान्निशि मृतोऽप्येति योगी परं पदम्॥६३॥

'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्ल' इस श्लोक में ऐसी ही देवता अग्नि ज्योति अहर् आदि से बताये हैं। वे नित्य हैं। इसलिये उपासक रात्रि में भी मरे तो भी कोई हानि नहीं होती।

नन्वहर्देवता रात्रौ नाधितिष्ठति किंचन।
ततोऽहःशब्दतश्चाहर्देवता गृह्यतां कथम्॥६४॥

पू. अहर्देवता रात्रि में किसी की अधिष्ठात्री नहीं है तो

अहर् शब्द से देवता का ग्रहण ही कैसे होगा। रात्रि के लिये तो वरुण देवता है।

त्यागोद्देश्या तत्तदधि-ष्ठात्री वा देवतोच्यते।
अतद्विधाहरादेर्न देवतात्वं हि युज्यते॥ ६५॥

यज्ञादि में त्यागोद्देश्य देवता है। चक्षु आदि में अधिष्ठात्री देवता है। रात्रि में अहर् दोनों प्रकार से नहीं, अतः उसको देवता मानना उचित नहीं है।

यदि वा देवता भूत-पूर्वगत्येति मन्यते।
एकैवाहर्देवताऽस्तु किं नानात्वविचारतः॥ ६६॥

यदि भूतपूर्व गति से देवता मानते हैं तो एक ही अहर्देवता हो, अलग-अलग मानने की क्या जरूरत।

संवत्सरेऽपि तुल्यं स्यादिति चेत्तन्न युज्यते।
श्रुतं समाभ्य इत्येवं बहुत्वं हि यतः श्रुतौ॥ ६७॥

फिर संवत्सर भी नाना क्यों मानना? इसलिये कि श्रुति में 'समाभ्यः' ऐसा बहुत्व कथन स्पष्ट है।

अहानि शं भवन्त्वत्र बहुत्वोक्तिस्तदा समा।
आहाऽहानि च रात्रीश्च देवता हि महीधरः॥ ६८॥

वाजसनेय शाखा में शं नो मित्रः इत्यादि के साथ 'अहानि शं भवन्तु नः शं रात्रीः' ऐसा बहुत्व वचन समान है। आचार्य महीधर ने अहानि और रात्रीः दोनों को देवता बोधक बताया है।

व्यापाराणां बहुत्वेन बहुत्वोक्तिं तु सायणः।
तन्मतेऽहःपदं तत्र न भवेद्देवतास्पदम्॥ ६९॥

आचार्य सायण ने दिन में व्यापार बहुत्व होने से, बहुवचन प्रयोग माना। उनके मत में अहर् और रात्रि वहां देवतावाचक नहीं है।

दिनादिदेवता मित्र-वरुणाभ्यां हि लभ्यते।
पुनस्तात्कथनं व्यर्थमिति स्यात् सायणाशयः॥ ७०॥

दिन और रात्रि के देवता शं नो मित्रः, शं वरुणः से ही प्राप्त हो जायेगा।

अतः अहानि इत्यादि से पुनः कथन व्यर्थ होगा ऐसा सायणाचार्य का आशय हो सकता है। यद्यपि सायणाचार्य ने शं नो मित्रः इत्यादि का दिनाद्यधिष्ठाता देवता अर्थ नहीं किया है। तथापि भगवत्पादोक्त होने से अर्थान्तर मात्र दिखाया।

मित्रादिदेवतामध्येऽहानि रात्रीर्यतोऽपठत् ।
देवतावाचकं तस्माद्युक्तं मेने महीधरः ॥ ७१ ॥

शं नो मित्र इत्यादि देवताओं के मध्य में पठित होने से अहानि और रात्रीः में भी देवतावाचक उचित है ऐसा महीधराचार्य का मानना है (महीधर भगवत्पादानुयायी न होने से भगवत्पादोक्ति से गतार्थता उनके लिये नहीं है।)

अधिकारेऽस्थितापि स्याद् वचनाद्देवता निशि।
अतो विवदितव्यं ना-ऽहरादिविषये बुधैः ॥ ७२ ॥

अहरादि देवता अधिकारस्थित न हो तो भी वचन से ही रात में अहर्देवता, कृष्ण पक्ष में शुक्लपक्षदेवता आदि का आश्रयत्वादि विवादविषय नहीं है।

जात्येकवचनत्वेन मित्र इत्यस्तु कीर्तनम् ।
सर्वथाप्येव सैषा हि जायते कालदेवता ॥ ७३ ॥

यदि अहानि से अहर्देवता में बहुत्व अभिमत है तो मित्रः ऐसा एकवचन प्रयोग कैसा इस शंका का उत्तर है जात्येकवचन प्रयोग है। सर्वथापि मित्र एक कालदेवता है।

प्रकाशकारिणी चैषा दिनपापप्रणाशिनी ।
तथाभूता च शंरूपा प्रार्थ्यते तत्फलाप्तये ॥ ७४ ॥

वह मित्र देवता प्रकाशकारी और दिवसकृत पापनाशी है। इस प्रकार वह मंगलरूप है। उसी फल की अर्थात् प्रकाश की और पापनाश की सिद्धि के लिये शं नो मित्रः यह प्रार्थना है।

एतेन सहिताऽधीतिः श्रुतेः स्याद्वीर्यवत्तरा ।
ततश्च प्रार्थ्यते श्रुत्या शं नो मित्रो भवत्विति ॥ ७५ ॥

इस के साथ किया हुआ श्रुति-अध्ययन वीर्यवत्तर होगा।

शं वरुणः

अपानवृत्त्यधिष्ठात्री देवता वरुणाह्वया ।
साहचर्यादितः प्रोक्ता किंच रात्र्यभिमानिनी ॥ ७६ ॥

मित्र साहचर्यात् वरुण अपान वृत्ति का अधिष्ठाता देवता है और रात्रि के अभिमानी देवता भी है।

पृथक् प्राणादपानाच्च व्यानः कस्मान्न भण्यते ।
अहोरात्राद्यधिष्ठाता प्रजापतितया श्रुतः ॥ ७७ ॥

पू. प्राणवृत्ति और अपानवृत्ति के देवता के साथ व्यानवृत्ति देवता की प्रार्थना क्यों नहीं की। व्यान व्यापक है अहोरात्रात्मक पूर्णदिवसाधिष्ठाता व्यानवृत्ति का देवता हो सकता है। 'अहोरात्रे वै सवत्सरः' ऐसा उसे भी संवत्सर प्रजापति बताया है।

मैवं विशिष्टौ शास्त्रेषु प्राणापानावुदीरितौ ।
न वा चोद्यं श्रुतिष्वद्धाऽपौरुषेयीषु किंचन ॥७८॥

उ. - यह पूर्व पक्ष उचित नहीं है। शास्त्रों में प्राण और अपान की विशिष्टता बतायी है। दूसरी बात अपौरुषेय वेदों में आक्षेप नहीं होता। मित्र और वरुण के बाद यहां तृतीय किसी कालदेवता को नहीं बताया है जो दिन रात दोनों का अधिष्ठाता हो।

बहिरुत्सृजतो वायुं प्राणवृत्तिः प्रवर्तते।
अन्तरानयतः कोष्ठेऽपानवृत्तिः प्रवर्तते॥७९॥

वायु को कोष्ठ के बाहर छोडते समय प्राणवृत्ति काम करती है। और अंदर लाते समय अपानवृत्ति काम करती है।

प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ।
इत्येवं हरिणा चोक्ता नासिकावृत्तितोभयोः॥८०॥

प्राण और अपान नासिकावर्ती हैं। ऐसा भगवान का कहना है।

हंकारेण बहिर्याति सःकारेण विशेत् पुनः ।
हंसेति परमं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा॥८१॥

हंस मन्त्र की व्याख्या में बताया है 'हं' से वायु बाहर आता है। सः से अन्दर जाता है। इसे जीव हमेशा जपता रहता है।

हंसावृत्तौ विलोमे तु सोहं रुत्वोत्वतो भवेत्।
सोकारोऽन्तर्विशन् दीर्घो ह्रस्वोहं स्वपतां स्फुटम्॥८२॥

हंसः हंसः इसकी आवृत्ति में विसर्ग पूर्व रुत्व और उत्व होने पर हंसो हंसो होगा। विलोम सोहं सोहं हो जायेगा। सोनेवाला खराटा मारता है 'सो' दीर्घ फिर 'हं' ह्रस्व स्पष्ट सुनायी पडता है। अतः हंकार से बहिर्यान और सःकार से पुनः प्रवेश समझ में आ सकता है।

महीयस्त्वमतः प्राणापानयोर्मन्त्रजापिनोः।
स्पष्टमेवेति तद्वृत्तिदेवते इह कीर्त्तिते॥८३॥

इस प्रकार महामन्त्र (सोहं) जप करनेवालों की प्राण और अपान की वृत्ति श्रेष्ठ होने से उनके ही देवताओं को यहां कहा व्यानादि के नहीं।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथाऽपरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥८४॥
अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः॥८५॥
प्राणायामोऽपि यज्ञोऽयं कल्मषक्षयकारणम्।
प्रक्षीणकल्मषस्यैव श्रुत्यर्थः संप्रकाशते॥८६॥

अपान में प्राण की आहुति प्राण में अपान की आहुति बताकर उसे यज्ञ सूचित करते हुए भगवान ने ऐसे यज्ञ से कल्मष नाश बताया। कल्मषक्षय से ही तो वेदान्तार्थ सम्यक् प्रकाशित होता है।

नासान्तं हृदयात् प्राणोऽपानो नाभेरधो मतः।
योगिनां तेऽपि चापानं प्राणायामे नियुञ्जते॥८७॥

हृदय से नासिका तक प्राण और नाभि से नीचे तक अपान योगीयों का सम्मत है। योगी भी प्राणायाम में अपान को मूलबंधादि में नियुक्त करते हैं।

अह्ना रात्र्या च याञ्जन्तून् हिनस्त्यज्ञानतो यतिः।
तेषां स्नात्वा विशुद्ध्यर्थं प्राणायामान् षडाचरेत्॥८८॥
प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत् कृताः।
व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमं तपः॥८९॥

वैसा प्राणायाम भी पाप विशोधक है, परम तप है। अतः प्राण अपान महिमा स्पष्ट है।

अत एवात्र वरुणो नादृतो जलदेवता।
यत् प्राणायामघटकाऽपानवृत्तिर्विशिष्यते॥९०॥

इसलिये शं वरुणः यहां जलदेवता वरुण का ग्रहण भाष्यकारादि ने नहीं किया। क्योंकि प्राणायाम घटक अपानवृत्ति अध्ययनार्थियों के लिये अधिक महत्त्व रखती है।

भक्तानां वरणादेषा पापानां वारणादपि।
ईप्सार्थतो वरयते-रीप्सितार्थप्रदत्वतः॥९१॥

वरुण क्यों कहा जाता है। भक्तों का वरण करता है। अपनाता है और ऊपर ले जाता है। पापों से वारण करता है। (अन्तर्भावितणिजर्थ शब्द है। अतएव यास्क ने वरुण और व्रत की व्याख्या में निवृत्तिकर्म वारयतीति ततः बताया। वर इप्सायां ऐसा चुरादिधातुपाठ है। अभीप्सितार्थ प्रदाता होने से भी वरुण है।

किं चात्र देवता रात्रेरपीष्टा वरुणाभिधा।
सा च संतनुतात् शं नो विद्यासंतननी सती॥९२॥

और भी - रात्रि के अधिष्ठाता देवता भी वरुण है। वह भी हमारा मंगलकर मंगल स्वरूप हो। क्या मंगल करे? रात्रि में भी विद्याविस्तार कर मंगल करें।

अधीतेन ह्यहोरात्रान् संदधामीति हि श्रुतम्।
रात्रौ चाध्ययनं शक्यं कार्यमित्य.भ्युपेयते॥९३॥

श्रुति में कहा है इस अध्ययन से मैं दिन और रात को जोड दूं। रात को भी अध्ययन करना शक्य है ऐसा इस श्रुति से अवगत होता है। सार्थक

पाठ करना भी अध्ययन ही है।

यद्वा मित्रोऽनुगृह्णातु वेदार्थश्रवणाय माम्।
वरुणः स्मरणायास्य मननायापि नित्यशः ॥ ९४ ॥

अथवा ऐसी व्याख्या कर लो दिनाधिष्ठाता मित्र देवता वेदश्रवण एवं उसका अर्थश्रवण करने के लिये अनुग्रह करे, शंरूप बने। और रात्र्यधिष्ठाता श्रुतार्थ स्मरण एवं उसके मनन के लिये हमेशा अनुग्रह करें शंरूप बने।

शं नो भवत्वर्यमा

अर्यमा नाम चक्षुःस्था कथिता सूर्यदेवता।
सूर्यश्चात्मास्य जगतस्तस्थुषश्चक्षुरप्यसौ ॥ ९५ ॥

अर्यमा चक्षु में स्थित सूर्यदेवता को कहते हैं। 'तच्चक्षुर्देवहितं' 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' इत्यादि श्रुति है।

यत्तच्चक्षुर्देवहितं, पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्।
देवेभ्यो हि हितं शुभ्रमुदयत्युच्चरत् पुरः ॥ ९६ ॥

जो देवहित चक्षु है वह सामने पूर्व में उच्चरत् उदय हो रहा है। देवताओं के लिये हितरूप होने से देवहित है। शुक्र का अर्थ है शुभ्र। उत्-चरत् माने उदय हो रहा है। उत् अय-उत्चर दोनों बराबर अर्थ वाले हैं।

देवा इन्द्रादयो देवास्तथोक्ता इन्द्रियाण्यपि।
इज्यन्तेऽर्कोदये देवा वर्तन्ते खानि कर्मसु ॥ ९७ ॥

सूर्योदय के समय देवताओं का यजन होता है। निद्रोत्थित होने से इन्द्रियां अपने कामों में लग जाती हैं। देव इन्द्रादि हैं और इन्द्रियां भी देव हैं।

माण्डव्यशप्ते मृतये पत्यौ सूर्योदये सती।
न्यरुन्धार्कोदयं तत्र बिभ्युः सर्वाश्च देवताः ॥ ९८ ॥

एक सती अपने रुग्ण पति को कंधे पर लेकर जा रही थी। पति का पैर माण्डव्य ऋषि पर जो शूलारोहित थे, लगा उन्हों ने श्राप दिया। सूर्योदय होते ही यह मर जाये। सती ने कहा कि मैं सूर्योदय ही होने नहीं दूंगी।

अपनी सतीत्वशक्ति से उसने सूर्योदय को रोका तो सभी देवता यज्ञ हवि के अभाव में भयभीत हो गये ऐसी कथा आती है। इससे सिद्ध होता है कि सूर्य अपने उदय से देवहितकारी होता है।

श्यावोऽभ्यवहरत्यस्याऽऽहुतिमर्कोदिते हुताम्।
इत्यादिश्रवणाद्धोमोऽनुदितेऽपीति चेन्न तत्॥ ९९॥
आसन्नोदयकालो हि तत्रानुदयशब्दितः।
न त्वर्धरात्रकालादिः संकल्पाविषयत्वतः॥ १००॥
उदयस्यैव संरोधे आसन्नोदयता कथम्।
होमलोपस्ततः प्राप्तोऽबिभयुर्देवता यतः॥ १०१॥

'श्यावोऽस्याहुतिमभ्यवहरति यउदिते जुहोति शवलोऽस्याहुतिमभ्यवहरति योऽनुदिते जुहोति' इत्यादि अर्थवाद श्रुति से संकल्पित समय में ही हवन करना चाहिये यह अर्थ निकलता है। तब संकल्पानुसार अनुदय में भी हवन होता है, क्यों देवता डरें? सुनो। अनुदिते का आसन्नोदय अर्थ है, न कि अर्ध रात्रि आदि। क्योंकि अन्य काल संकल्प विषय नहीं है, तब सूर्य का उदय ही न हो तो आसन्नोदयता भी कैसे संभव है? फलतः होमाभाव ही प्राप्त होता है। अतः देवताओं का भय स्थाने है।

इन्द्रियेभ्योऽपि देवेभ्यो हितं कुर्वन् शमात्मकः।
अस्माकं स्यादर्यमाऽयं परमा सूर्यदेवता॥ १०२॥

इन्द्रादि देव के बारे में बताया। इन्द्रियात्मक देवों का हित करता हुआ भी अर्यमा सूर्यदेवता हमारे लिये मङ्गलमय हो।

शतं पश्येम शरदो भगवत्तनुरूपिणाम्।
सतां दर्शनतस्तत्र प्रेरयन् शं भवत्वसौ॥ १०३॥
शतं जीवेम शरद इज्याध्ययनकर्मभिः।
तथा जीवन् नरो भद्रशतानि किल पश्यति॥ १०४॥
शृणुयामापि शरदः शतं च श्रोत्रपोषणात्।
श्रुतिश्रवणतस्तत्र प्रेरयन् नः शमस्त्वसौ॥ १०५॥

प्रब्रवामापि शरदः शतं वेदार्थकोविदाः।
तत्रैव स्वीरयन् सूर्यः शं नो भवतु नित्यशः॥१०६॥

'दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनां' के अनुसार सत्पुरुष दर्शन करते हुए सौ वर्ष हम जिये तदर्थ प्रेरणा देकर सूर्य हमारे लिये मंगलरूप हो। यज्ञाध्ययनादि से हम सौ वर्ष जिये, जीवित रहने पर मनुष्य सैकडों मंगल देख पायेगा ही। सौ वर्ष वेदादिश्रवण से श्रोत्र पोषण कर सूर्यदेव हमारे लिये मंगलरूप हो। सौ वर्ष तक वेदार्थ का हम प्रवचन करें तदर्थ सु ईरणा कर सूर्य शंरूप हो।

न स्वाध्यायात् प्रमादस्तु नैव प्रवचनादपि।
कर्तव्यो भवतीत्येतत् स्पष्टमाचष्ट तित्तिरिः॥१०७॥

स्वाध्याय से और प्रवचन से प्रमाद न करना चाहिये ऐसा तैत्तिरीय में स्पष्ट आदेश भी हैं। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्।

अध्यापनादितः कीर्त्तिः सेवादिश्चोपलभ्यते।
ब्रह्मचारिण आयान्तु मामित्येवं श्रुतीरणात्॥१०८॥

प्रवचन अध्यापन ही है। उससे कीर्त्ति एवं छात्र कृत सेवा आदि प्रत्यक्ष फल है। आ मा यन्तु ब्रह्म चारिण इस प्रकार श्रुति में जो बताया वह प्रत्यक्ष फलार्थ ही है।

किं च विव्रियते तेन रहस्यं बहुधा स्वयम्।
अध्यापयितुरप्येव तदानुभविकं सताम्॥१०९॥

कीर्त्ति सेवादि की अपेक्षा न हो तो भी अन्य लाभ भी है। अध्यापन से शास्त्ररहस्य विशेषरूप से आचार्य के संमुख भी खुलता है यह आनुभविक है।

गुरुमध्यापयामीति विद्यार्थी प्रथमं जगौ।
भूत्वाचार्यो ब्रवीत्येष समधीयेऽधुनेति च॥११०॥

कहावत प्रसिद्ध है, जब विद्यार्थी था तो बाप को बताता था कि मैं आचार्य को पढाता हूं। वही विद्यार्थी फिर आचार्य हुआ तो कहने लगा मैं पढता हूं।

विद्यादानं महत् पुण्यं विद्या सर्वधनोत्तमा।
तस्मात् प्रमदितव्यं न भवत्यध्यापनादितः॥१११॥

और भी बात है-विद्यादान महापुण्य है क्योंकि विद्याधनं सर्व धनप्रधानं बताया है। इसलिये प्रवचनान्न प्रमदितव्यं ऐसा बताया।

प्रथितः सविता चैव संप्रचोदयिता धियः।
ततः शं नो भवतु स इत्येवमिह दर्शितम्॥११२॥

इस के लिये शं नो भवत्वर्यमा ऐसा सूर्य को बुद्धि का प्रेरयिता बताया है। बुद्धि प्रेरित होगी तभी तो अध्ययनादि होगा।

द्वादशादित्यमध्येऽयमर्यमाऽन्यतमः स्मृतः।
तथापि सूर्यसामान्यवाची कोशेषु दर्शितः॥११३॥

यद्यपि द्वादश आदित्यों में एक अर्यमा है ऐसा भारतादि में बताया है। तथापि कोशों में 'सूरसूर्यार्यमादित्यः' ऐसे आदित्य नामों में है।

गतिप्रापणयोरर्तेः श्वन्नृक्षन्नित्युणादिषु।
मनिनो युटि सिद्धः स्यादर्यमेति निपातनात्॥११४॥
एक एवर्षतीत्येष एकर्षिः कथितः श्रुतौ।
प्रापयेद् ब्रह्मलोकादीत्यतश्चोदीरितोऽर्यमा॥११५॥

शब्दार्थ-विचार से भी अर्यमा पूर्ण सूर्य है। 'ऋ गतिप्रापणयोः' इस धातु से मनिन प्रत्यय और युट् का आगम कर अर्यमा शब्द बना है। ईशावास्य में एक एव सन्नृषति गच्छति ऐसा एकगति बताया है। यह गति अर्थ पक्ष में है। प्रापण अर्थ में ब्रह्मलोकादि प्राप्त करानेवाला है अतः अर्यमा है।

केचिदर्यमणं प्राहुः पितृणां प्रवरं बुधाः।
आशिषं प्रददत्येते पितरो जीविता मृताः॥११६॥
पितॄणामर्यमा चास्मीत्याह स्म भगवान् हरिः।
पातार एव पितरस्तर्पिता आगसां चयात्॥११७॥

कुछ लोग पितरों में प्रधान का नाम अर्यमा होने से यह कहते हैं कि पितर जीवित हो या मृत हो आशीर्वाद अवरजों को देते ही हैं। 'पितॄणामर्यमा चास्मि' ऐसा गीता में अर्यमा को पितरों में श्रेष्ठ बताया भी

है। पातीति पिता रक्षा करनेवाला पिता है 'नसृनेष्टृ०' इत्यादि उणादि साधित है। पितरों को तृप्त करो तो वे अपराधों से बचाते हैं।

अर्यमा प्रार्थितः सर्वान् शंतत्यै संदिशेत् पितॄन्।
ततः शं तन्वते ते च स्वसुतेभ्यः प्रभावतः॥११८॥

अर्यमा की संतति हम है नहीं, तो अर्यमा की प्रार्थना से क्या होगा। ऐसी शंका न करे। क्योंकि आखिर अर्यमा पितरों के राजा तो है ही। अर्यमा की प्रार्थना करने पर प्रधान अपनी मण्डली के अन्तर्गत पितरों को संदेशा दे सकते हैं कि अपने पुत्रों का स्वप्रभाव से कल्याण करो।

शं न इन्द्रो...

इन्द्रश्च शं नो भवतु योऽभिमानी बलस्य नः।
नैवात्मा बलहीनेन लभ्य इत्यब्रवीच्छ्रुतिः॥११९॥

इन्द्र हमारे लिये कल्याण स्वरूप हो। जो बल के अभिमानी देवता है। बलहीन को आत्मा की प्राप्ति नहीं होती, ऐसा श्रुति का वचन है।

धर्मानुष्ठानसामर्थ्यं बलं केचिदिहोचिरे।
देहेन्द्रियादिविधृतिसामर्थ्यमिति चापरे॥१२०॥

धर्मानुष्ठान सामर्थ्य बल है ऐसा कुछ लोग कहते हैं। देह एवं इन्द्रियादि का स्वेच्छानुरूप विधारण करने का सामर्थ्य बल है ऐसा अन्य लोग कहते हैं।

सर्वप्रवर्तनादौ हि समर्थं धारणे तथा।
यदूर्जस्तद्बलं नामेत्यपरे प्रतिपेदिरे॥१२१॥

सबको प्रवर्त्तित करने आदि में और धारण करने में समर्थ जो ऊर्जा है वह बल है ऐसा भी मानते हैं।

सर्वशब्देन भण्येते स्थूलसूक्ष्मे यथायथम्।
विद्युदादौ किल स्थूलं शकटादिप्रवर्तने॥१२२॥
आदिशब्दादुभे बोध्ये प्रवर्तननिवर्तने।
धारणे त्याजने चैव समर्थमिति बुध्यताम्॥१२३॥

सर्व माने स्थूल सूक्ष्म दोनों। विद्युत आदि स्थूल शकटादि को चलाते हैं। प्रवर्तन निवर्तन धारण निवारण सब में समर्थ विवक्षित है।

प्रवर्तयेदिन्द्रियाणि मनश्चोभे निवर्तयेत्।
प्रवर्तयेत् प्रवर्त्येषु निवर्त्येभ्यो निवर्तयेत्॥१२४॥

इन्द्रिय एवं मन को प्रवर्तनीय में प्रवर्तित करे निवर्तनीय से निवृत्त करे ऐसी शक्ति बल है।

न प्रवर्त्तयितुं शक्ता लोका ब्रह्मणि निर्मले।
न निवर्तयितुं चोभे काम्येभ्यः किल कामिनः॥१२५॥

लोग मन एवं इन्द्रियों को शुद्ध ब्रह्म में नहीं लगा पाते और कामी काम्य विषयों से हटा भी नहीं पाते।

प्रवर्तनेऽशकत् प्राङ् न वाल्मीकी रामनामनि।
जिह्वायास्तेन तस्यासीन्नोर्जस्तत्रेति गम्यते॥१२६॥

प्रथम रत्नाकर (वाल्मीकि) रामनाम बोलने में समर्थ नहीं हुए। अर्थात् उनकी जिह्वा में ऊर्जा नहीं थी।

अजामिलो न च प्राभू-न्निवर्तयितुमक्षिणी।
वृषलीलग्नहृदयो महान् पातो यतोऽभवत्॥१२७॥

अजामिल अपनी आंखों को वृषली से नहीं हटा सका जिससे उसका महान पतन हुआ।

अधारयन्मनो रामे तुलसी दारवाक्यतः।
चिन्तामणेर्वाक्यतश्च श्रीकृष्णे बिल्वमङ्गलः॥१२८॥

अपनी पत्नी के वाक्यमात्र से तुलसीदासजी का मन राम में लग गया। चिन्तामणि के वाक्य से बिल्वमंगल का कृष्ण में मन लगा। इन्द्र की ही कृपा है जिससे बल प्राप्त हुआ।

नन्विन्द्रः स्वमपाक्रष्टुं नाहल्यातो ह्यभूत्प्रभुः।
स कथं बलमस्मभ्यं प्रयच्छेदिति चेन्न तत्॥१२९॥

पू. - इन्द्र स्वयं अपने को (मन को) गौतम पत्नी अहल्या से हटाने में समर्थ नहीं हुआ। वह हमको मन काबू में रखने के लिये कैसे बल

प्रदान करेगा?

यत इन्द्रोऽपरः सोऽयं स्वर्गराज्यपतिर्भवेत्।
उर्वश्यादिषु वेश्यासु रममाणः शतक्रतुः॥१३०॥

उ. - वह इन्द्र कोई दूसरा है जो स्वर्ग राज्य के अधिष्ठाता है, उर्वशी आदि स्वर्गवेश्याओं में रमण करनेवाला है। सौ अश्वमेध यज्ञ कर के जो इन्द्र बना है।

रात्रेरपानवृत्तेश्चा-ऽधिष्ठाता वरुणो यथा।
पृथगेव पृथक् चैव वरुणो यादसां पतिः॥१३१॥

जैसे रात्रि और अपानवृत्ति का अधिष्ठाता वरुण पृथक् है। और जलाधिष्ठाता यादसां पति अलग है वैसे इन्द्र भी है।

अहल्याजारवृत्तान्तो दर्शितो वान्यथा मतः।
शिष्टाकोपाधिकरणे भट्टाचार्यैः स्फुटीकृतः॥१३२॥
लीयतेऽहनि साहल्या रात्रिस्तां जरयन् रविः।
अहल्याजार इत्युक्तोऽपररात्रिमुपागतः॥ १३३ ॥

अथवा अहल्याजारवृत्तान्त श्रुत्यादि अन्यथा दिखाया है। जिसे कुमारिल भट्टाचार्य ने शिष्टाकोपाधिकरण में स्पष्ट किया है। अहनि लीयते इस विग्रह में नैरुक्त प्रक्रिया से अहल्या शब्द है। दिन होते ही लीन होनेवाली रात्रि है। उस रात्रि को जरण करनेवाला सूर्य है। अपर रात्रि अर्थात् तृतीय याम में ही रात्रि का जरण शुरु होता है। जरण करनेवाला ही जार है। रात्रि का जरण सूर्यदेव करता है।

इन्दतिः परमैश्वर्ये प्राहार्थे पाणिनिर्मुनिः।
यस्तु कर्तुमकर्तुं वा समर्थः स किलेश्वरः॥१३४॥

इन्द धातु का परम ऐश्वर्य अर्थ पाणिनि ने बताया है। कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थ ही ईश्वर है अर्थात् परम सामर्थ्यवान् इन्द्र शब्द का अर्थ है 'धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां' ऐसा अन्यत्र बताया है। उस ऐश्वर्य को इन्द्र की अहल्याजारपरता से दिखाया है ऐसा भी कुछ लोग मानते हैं। उसका यहां

विशेष उपयोग न होने से सामर्थ्यप्राप्त्युपायकथनार्थ यहां यह कथन है।

तस्माद्बलप्रदाताऽयं बलवानिन्द्र ईरितः।
स्वप्रयत्नोऽपि तत्रैव कर्त्तव्योऽन्यत्र तद्यथा॥१३५॥

अतः बल प्रदाता बलवान इन्द्र यहां बताया है। तदर्थ स्वप्रयत्न भी आवश्यक है। जैसे धनदाता ईश्वर होने पर भी स्वप्रयत्न व्यापारादि करते हैं।

अन्नमूर्जस्करं लोके दत्त्वोर्जस्वी भवेन्नरः।
इत्युक्तं भारते व्यासेनानुशासनपर्वणि॥१३६॥
ऊर्जस्वि दत्तं भुक्तं च कुर्यादूर्जस्वलं मनः।
मनो ह्यन्नमयं यस्माच्छ्रुतिरप्याह शाश्वती॥१३७॥

ऊर्जकारी अन्न देनेवाला ऊर्जस्वी बनता है ऐसा महाभारत में कहा है। ऊर्जवाला अन्न दो भी, खाओ भी। मन अन्नमय है तुम्हारा मन ऊर्जस्वी बनेगा।

अन्नं हि सात्त्विकं भुक्तमूर्जस्वि गमयेन्मनः।
तत्रेन्द्रः प्रार्थितः सम्यगिष्टं सम्पादयेत् प्रभुः॥१३८॥

सारांश यह है-'आयुःसत्त्वबलारोग्य' इत्यादि में बताया सात्त्विक भोजन करो तो मन ऊर्जस्वी हो जायेगा। उस पर इन्द्र की भी प्रार्थना करो तो वह इन्द्र तुम्हारा इष्ट सम्पादन करेगा।

(शं नो) बृहस्पतिः

बृहस्पतिरधिष्ठाता बुद्धेर्देवगुरुः स्मृतः।
बुद्धिं प्रयच्छति प्रीतो ब्रह्मविद्याविधारणीम्॥१३९॥

बुद्धि के अधिष्ठाता बृहस्पति है जो देवताओं के गुरु हैं। प्रसन्न होने पर वे ब्रह्मविद्या को धारण करनेवाली बुद्धि प्रदान करते हैं।

बुद्धिश्च परमा शुद्धा परमार्थविधारिणी।
तल्लब्धये तत्स्थितये प्रार्थ्यतेऽत्र बृहस्पतिः॥१४०॥

परम शुद्ध ज्ञानरूपी बुद्धि परमार्थ तत्त्व को ग्रहण करती है। उसकी प्राप्ति के लिये और उसकी स्थिति के लिये बृहस्पति की यहां प्रार्थना है।

निरुपद्रवभूतार्थस्वभावस्य विपर्ययैः।
न बाधोऽयत्नवत्त्वेऽपि बुद्धेस्तत्पक्षपाततः॥ १४१॥

अप्रामाण्यानास्कन्दित परमार्थविषयक विज्ञान का अनादि वासना-परम्पराजन्य विपर्यय ज्ञान से बाध नहीं होता, भले विशेष यत्न न किया जा रहा हो। क्योंकि बुद्धि परमार्थपक्षपातिनी होती है। ऐसी बुद्धि प्राप्त हो एतदर्थ तदधिष्ठाता बृहस्पति की प्रार्थना है।

भवेद् वाग् बृहती तस्याः पतिरुक्तो बृहस्पतिः।
वेदे स एव लोके च वाचस्पतिरुदीरितः॥ १४२॥
ज्ञानानुकूलव्यापारं वच आहुर्मनीषिणः।
सा बुद्धिघटिता तस्माद् बुद्धिमत्त्वं बृहस्पतेः॥ १४३॥

'वाग्वै बृहती तस्या एष पतिः' ऐसा श्रुति में कहा। लोक में वाचस्पति कहा जाता है ज्ञानानुकूल व्यापार ही वचन वाक् है। वह बुद्धि घटित होने से बृहस्पति में बुद्धिमत्त्व सिद्ध है।

यन्मेऽस्ति मनसश्छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य च।
तृण्णं ह्यतिदधात्वेतद् बृहस्पतिरिति श्रुतिः॥ १४४॥

जो मेरे मन का छिद्र है, चक्षु और हृदय का तृण्ण (छिद्र) है उसे बृहस्पति पूरे।

अत्रोक्तमखिलं ग्राह्यं भाष्यमस्तूपलक्षणम्।
बुद्ध्यर्थकं तु हृदयं विवृण्वन्त्युव्वटादयः॥ १४५॥

इस श्रुति में कथित मनश्छिद्रपूरण, चक्षुछिद्रपूरण और हृदयछिद्रपूरण तीनों ही 'शं' से ग्राह्य है। भाष्य उपलक्षण हो जायेगा। हृदय का बुद्धि अर्थ उवटादि वेदभाष्यकारों ने किया है।

अभद्रार्थदिदृक्षादिश्चक्षुषश्छिद्रमुच्यते।
यद्वेश्वरवपुःसाधुदर्शनादावुदग्रता ॥ १४६॥

अभद्र वस्तु, व्यक्ति आदि से प्रेम होने से उनकी दिदृक्षा (दर्शनार्थ व्याकुलता) चक्षु का छिद्र है। अथवा भगवत्तनु-साधुसत्पुरुष दर्शन में उग्रता, चिडचिडापन, एलर्जी जिसको कहते है

यह चक्षु का छिद्र है।

चक्षुषो देवता पूर्वमर्यमादिरपीरितः।
तथाप्यदेवताप्येषा चक्षुःशंद इहोच्यते ॥ १४७ ॥
न च व्यर्थं यतो रक्षाधिक्यं स्याद्रक्षकेऽधिके।
अतितृण्णमतिच्छिद्र-मित्यन्वित्याप्यपेक्षितम् ॥ १४८ ॥

यद्यपि चक्षुदेवता अर्यमा से मंगल प्रार्थना पहले हो गयी है। तथापि चक्षु के अदेवता बृहस्पति की यह प्रार्थना है। यह कहें कि व्यर्थ है। नहीं। अधिक रक्षक होने पर अधिक रक्षा स्वभाव सिद्ध है। अतिछिद्रं अति तृण्णं ऐसा अन्वय करने पर अधिक रक्षाकारियों की आवश्यकता भी जाहिर होती है।

सर्वेन्द्रियाणां नयनं प्रधानमिति लौकिकम्।
तस्मात्तच्छिद्रपूर्त्त्यर्थं यत्नाधिक्यमपेक्षितम् ॥ १४९ ॥

'सर्वेन्द्रियाणां नयनं प्रधानं' यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है। अतएव केवल चक्षु के लिये क्यों श्रोत्रादि के लिये भी विशेष रक्षाचिन्ता क्यों नहीं इत्यादि प्रश्न नहीं उठता।

बुद्ध्यादिच्छिद्रसंधानाच्छंरूपोऽस्तु बृहस्पतिः।
बुद्धेर्मान्द्यमसद्वस्तुग्रहादि च्छिद्रमुच्यते ॥ १५० ॥
प्रज्ञामान्द्यं कुतर्कश्च विपर्ययदुराग्रहः।
विषयासक्तिकार्पण्ये विज्ञानप्रतिबन्धकाः ॥ १५१ ॥

बुद्धि आदि का च्छिद्र पूरणकर बृहस्पति हमारे लिये मंगलरूप हो। बुद्धि की मन्दता असदर्थग्रहण आदि च्छिद्र है। वेदान्तवेत्ताओं ने कहा है- प्रज्ञा-मान्द्य, कुतर्क, विपर्यय-दुराग्रह, विषयासक्ति और कार्पण्य ज्ञान के प्रतिबन्धक हैं।

चाञ्चल्यमसमाधानमश्रद्धाऽधैर्यसंशयाः ।
कामक्रोधभयाद्याश्च छिद्राणि मनसो मतेः ॥ १५२ ॥

चञ्चलता, समाधिराहित्य, अश्रद्धा, अधैर्य, संशय, काम, क्रोध, भय इत्यादि सभी मन के छिद्र हैं।

शं नो विष्णुरुरुक्रमः

पादयोरभिमानी तु देवो विष्णुरुदीरितः।
शंरूपः सोऽपि भवतु सदास्माकमुरुक्रमः॥१५३॥

पाद के अभिमानी देवता विष्णु है। उरुक्रम विष्णु हमारे लिये मंगलरूप हो।

विस्तीर्णपादविक्षेप उरुक्रम इतीर्यते।
पदेनैकेन चक्राम कृत्स्नां पृथ्वीं हि वामनः॥१५४॥

उरुक्रम का अर्थ है विस्तीर्ण पादविक्षेपवाला। वामन भगवान ने एक पग में पूरी पृथिवी को नाप लिया था।

नन्वेवं पादमाङ्गल्यात् किमस्माकं भविष्यति।
तीर्थेषु गमनान्नूनं पुण्यं भूरि भविष्यति॥१५५॥
भवेच्च बहुलं पुण्यं गुरुपादोपसर्पणे।
जायते परमं श्रेयो देवागारपरिक्रमे॥१५६॥

पांव की मंगलता से क्या लाभ होगा? तीर्थाटन कर सकते हैं जिससे बहुत पुण्य मिलेगा। गुरुचरण उपगमन पुण्य होगा, मंदिर में भगवान की परिक्रमा करने से पुण्य होगा।

सत्सङ्गश्रवणौत्सुक्यमनसो गन्तुमुद्यतः।
वाजपेयफलं शश्वज्जायतेऽस्य पदे पदे॥१५७॥

सत्संग श्रवण की उत्सुकता से उठकर चलने लगता है तो पद पद में शतशत वाजपेययज्ञफल मिलता है।

ननूपकारी कुत्रांशे विष्णुरध्ययनादिषु।
सामान्यपुण्यमात्रं न प्रार्थनायां प्रयोजकम्॥१५८॥

यह सामान्य पुण्य की बात छोडिये। उपनिषत अध्ययन में किस अंश में विष्णु उपकारी है। यहां प्रार्थना में वही प्रयोजक हो सकता है।

शृणु स्मृत्यादयो यस्य तपोयज्ञक्रियादिषु।
न्यूनं संपूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतम्॥१५९॥

यस्य स्मरणमात्रेण जन्मसंसारबन्धनात्।
विमुच्यते नमस्तस्मै विष्णवे प्रभविष्णवे॥ १६०॥
तस्य हि स्मरणं कुर्वन् प्रार्थयेत् स्वस्य यस्तु शम्।
परिपूर्णं तस्य भवेदाम्नायाध्ययनादिकम्॥ १६१॥

'यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या' इत्यादि प्रमाणानुसार तप यज्ञादि को विष्णु स्मरण पूर्ण बनाता है। ज्ञान फल जन्म संसार से छुटकारा आराम से होगा।

ननु विष्णुः पृथगयं पादाधिष्ठातृदेवता।
पृथक् पौराणिकानां च वामनाख्यस्त्रिविक्रमः॥ १६२॥
मैवमत्रैकतायां न हानिः काचन दृश्यते।
इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्॥ १६३॥

पू. - यह पादाधिष्ठातृदेवता विष्णु पृथक् होना चाहिये। और तीन पग से जगत को नापनेवाला पौराणिक वामन पृथक् होना चाहिये। उ. - ऐसा नहीं, एकता में कोई दोष नहीं दिखता है। क्योंकि इतिहास और पुराण से वेदार्थोपबृंहणं अभीष्ट है।

त्रिभिः पादैः क्रमैर्वापि जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिभिः।
यः स्थूलसूक्ष्मबीजैर्वा व्याप्नोति सकलं जगत्॥ १६४॥
मायोपहितचैतन्यं स विष्णुरिति कीर्त्यते।
अधितिष्ठत्ययं पाद-त्रयं तत्प्रार्थनाऽस्त्वियम्॥ १६५॥

तीन पादों से या पादक्रम से अर्थात् जाग्रत् स्वप्न सुषुप्तियों से या स्थूल सूक्ष्म कारण शरीरों से या विश्व तैज़स प्राज्ञ से जो जगत में व्याप्त होकर रहता है ऐसा मायोपहित चैतन्य विष्णु है। वह तीनों पादों का अधिष्ठाता है उस की यह प्रार्थना है।

मायोपहितचैतन्यं ननु यन्नाभिमानि तत्।
मायावच्छिन्नचैतन्यं सुषुप्तेरेव नान्ययोः॥ १६६॥

पू. - मायोपहित चैतन्य साक्षी है वह अभिमानी देवता नहीं हो सकता। मायावच्छिन्न चैतन्य कहते हैं तो वह समष्टिकारण शरीराभिमानी

है। जाग्रत स्वप्राभिमानी नहीं है।

सत्यं तत्त्रिसमष्टिस्तु त्र्यधिष्ठाता परो भवेत्।
ततो युक्तं त्र्यधिपतिरित्यादि च विशेषणम्॥ १६७॥

उ. - बात सत्य है। यहां जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति इन तीन की समष्टि का अधिष्ठाता विवक्षित है। इसलिये त्र्यधिपति ऐसा विशेषण आता है। वेद स्तुति में 'इति तव सूरयस्त्र्यधिपते' ऐसा प्रयोग किया है। 'स्वसृष्टमिदमापीय शयानं सह शक्तिभिः' ऐसे उपक्रम में स्थूल सूक्ष्मादि समस्त का स्रष्टा और सृष्टकर, पानकर, निगलकर शयन करनेवाला बताया गया है। अतएव केवल सुषुप्त्यधिष्ठाता नहीं किन्तु सृष्ट, स्थूल, सूक्ष्म का भी अधिष्ठाता सिद्ध होता है। वेवेष्टि व्याप्नोति सर्वमिति विष्णुः यह व्युत्पत्ति भी त्र्यधिष्ठातृत्व को ही पुष्ट करती है।

ननु भाष्ये द्विवचनं पादयोरिति तत्कथम्।
कार्यत्वकारणत्वाभ्यां द्वित्वसंख्योपपत्तितः॥ १६८॥

पू. - भाष्य में विष्णुः पादयोरभिमानी ऐसा द्विवचन लिखा है। पूर्वव्याख्यानुसार तीन पाद हो जाते हैं। उन में सुषुप्त कारण है, जागृत और स्वप्न कार्य है। कार्यत्व कारणत्व को लेकर द्विवचन हो जायेगा।

स्वप्नजागरिते स्थानं ह्येकमाहुर्मनीषिणः।
इत्यस्त्याचार्यवचनं ततो द्वित्वं समञ्जसम्॥ १६९॥

श्री गौडपादकारिका में स्वप्न और जागरित को एक बताया है। अतः पादद्वय कथन उपपन्न है।

एवं चात्रैव विहित उक्तानुक्तार्थसंग्रहः।
सर्वं विष्णुमयं यस्मादुरुक्रमविशेषणात्॥ १७०॥

इस प्रकार इस पञ्चक्रम प्रार्थना में उक्तानुक्त सकलार्थ संग्रह हो जाता है। उरुक्रम विशेषण से सभी विष्णुमय विष्णुरूप सूचित होता है।

नमो ब्रह्मणे

हिरण्यगर्भरूपाय ब्रह्मणे तनुमो नमः।
ज्ञानप्रधानरूपाय यो ह्यग्रे समवर्तत॥ १७१॥

हिरण्यगर्भ नामवाले ब्रह्मा को हम नमस्कार करते हैं। प्रथमज का यह ज्ञान प्रधानरूप है। यही प्रथम उत्पन्न हुआ। 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे' इस मन्त्र में इसी हिरण्यगर्भ नाम से ब्रह्मा का ग्रहण है।

हर्यतेर्गतिकान्त्यर्थाद् हिरण्यं ज्योतिरादिकम्।
उणादौ हर्यतेः कन्यन् हिर चेति हि सूत्रितम्॥१७२॥

हर्य गतिकान्त्योः धातु से कन्यन् प्रत्यय और हर्य को हिर आदेशकर हिरण्यरूप बनाया है। उसका ज्योति आदि अर्थ है।

गतिर्ज्ञानं च भवति कान्तिरिच्छा च कीर्त्तिता।
हिरण्यगर्भ ईक्षित्वा स्रष्टुं कामयते प्रभुः॥१७३॥

गति का ज्ञान भी अर्थ है और कान्ति का इच्छा भी अर्थ है। हिरण्यगर्भ ने ईक्षण (सृष्टिविषयक मानसज्ञान) कर सृष्टि की कामना की। 'प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपस्तप्त्वा'। ऐसी प्रश्नश्रुति है। तप का ज्ञान अर्थ है। काम का कामना।

पूर्वकल्पीयसृष्टिं च नृणां च ज्ञानकर्मणी।
स्मृत्वा सर्वं जगद् धाता यथापूर्वमकल्पयत्॥१७४॥

पूर्वकल्पीय सृष्टि को और मानवों की उपासना एवं कर्म को यादकर विधाता हिरण्यगर्भ ने पूर्व कल्पानुसार ही सृष्टि की।

ज्ञानप्रधानताहेतोः सर्वलोकनमस्कृतः।
हिरण्यगर्भो नन्तव्यः प्रार्थ्यश्च ज्ञानमीप्सुभिः॥१७५॥

सर्वलोक नमस्कृत हिरण्यगर्भ ज्ञानप्रधान होने से ज्ञानेच्छुओं के लिये नमनीय एवं प्रार्थनीय है।

ब्रह्मात्मभूः सूरज्येष्ठः परमेष्ठी पितामहः।
हिरण्यगर्भो लोकेशः स धाता विश्वसृड् विधिः॥१७६॥

ब्रह्मा आत्मभूः इत्यादि विशेष अर्थों को द्योतित करनेवाले पर्याय शब्द हैं।

विशुद्धसत्त्वावच्छिन्नमायोपाधिक ईश्वरः।
सृष्ट्याद्यर्थं बहिर्धत्ते रजःसत्त्वतमांस्यपि॥१७७॥

विशुद्धसत्त्वावच्छिन्न प्रकृति माया है। उसे उपाधिरूप से ग्रहण किये हुए चैतन्य ईश्वर है। वही फिर सृष्टि स्थिति एवं संहार के लिये रजोगुण सत्त्वगुण एवं तमोगुणों को बाहर से अर्थात् साधनरूप से ग्रहण करते हैं।

ते ब्रह्मविष्णुरुद्राः स्युः मायायुक्ताः स्वरूपतः।
न रजस्तमसी तेषां स्वरूपान्तर्गते किल॥१७८॥

बाहर साधनरूप से रजोगुणादि धारण करते हैं। न कि ब्रह्मा आदि के रजोगुणादि स्वरूपान्तर्गत है।

हिरण्यगर्भः प्रागुक्तो ज्ञानकर्मसमुच्चयी।
समष्टिसूक्ष्मदेहाभि-मानी ह्यस्मात्पृथङ्मतः॥१७९॥

पूर्वोक्त हिरण्यगर्भ ज्ञानकर्मसमुच्चयवाला जीवात्मा ही समष्टि सूक्ष्मशरीराभिमानी होकर उत्पन्न होनेवाला ब्रह्मा है।

ईशस्वरूपो ब्रह्मा वा प्रकृते ब्रह्मशब्दितः।
सरस्वती तस्य शक्तिर्या हि ज्ञानप्रदा स्मृता॥१८०॥

ईश्वरस्वरूप ब्रह्माजी भी यहां ब्रह्म शब्द का अर्थ हो सकता है। ब्रह्मा की शक्ति सरस्वती ज्ञानप्रदा है।

ब्रह्मा बभूव देवानां विश्वकर्ता च रक्षिता।
ब्रह्मविद्यामुपादिक्षत् सोऽथर्वायेति च श्रुतिः॥१८१॥

ब्रह्मा ब्रह्मविद्यासंप्रदायकर्ता है। ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता। स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय-ज्येष्ठपुत्राय प्राह। ऐसा श्रुतिवचन है।

यो ब्रह्माणं व्यधात् पूर्वं तस्मै वेदांश्च प्राहिणोत्।
इति श्रुतौ संप्रदायश्रितो ब्रह्माऽनुदेशितः॥१८२॥

जो ब्रह्मा को प्रथम उत्पन्न करता है और वेदों का उपदेश करता है इस श्रुति में ब्रह्माजी संप्रदायगत बताया है।

प्रहिणोति स्फुरयति न तूपदिशतीत्यतः।
न परं ब्रह्म भवति संप्रदायप्रवर्तकम्॥१८३॥

यो वै वेदांश्च प्रहिणोति बताया। उपदिशति नहीं। अतः गुरूपदेशात्मक

संप्रदायप्रवर्तन परब्रह्म ने नहीं किया। प्रहिणोति का भेजना या हृदय में स्फुरित करना इतना ही अर्थ है।

स्याद्वंशब्राह्मणात्तत्त्वं सनगः परमेष्ठिनः।
परमेष्ठी ब्रह्मणश्च प्रोक्तो वंशप्रवर्तकः॥१८४॥
न च ब्रह्मा ब्रह्मशब्दः-पृथक्त्वात् परमेष्ठिनः।
ब्रह्म स्वयंभ्विति क्लीब-प्रयोगाच्च पृथक्त्वतः॥१८५॥
सत्यं तथापि च ब्रह्मा देवानां प्रथमः श्रुतः।
गुरुरस्त्येव तस्येह ग्रहणं विष्णुवद्भवेत्॥१८६॥

पू. - वंशब्राह्मण में ब्रह्म से वंश परम्परा बतायी है। 'सनगः परमेष्ठिनः परमेष्ठी ब्रह्मणः' ऐसे वहां अन्त में बताया है। 'वंशो द्विधा विद्यया जन्मना च' ऐसा कहा है। उपनिषत् में जन्म परम्परा बताने की अपेक्षा विद्यावंश परम्परा बताना अधिक संगत होगा। यह कहें कि वहां भी ब्रह्म शब्द का ब्रह्मा अर्थ है। नहीं। परमेष्ठी ब्रह्मणः ऐसे ब्रह्म से परमेष्ठी को अलग किया है। 'ब्रह्मात्मभूः सुरज्येष्ठः परमेष्ठी पितामहः' ऐसे कोश वचन से परमेष्ठी का ब्रह्मा अर्थ है। वह ब्रह्मा ब्रह्म से हुआ। अतः ब्रह्मा से भिन्न ब्रह्म है। दूसरी बात 'ब्रह्म स्वयंभु' ऐसा नपुंसक लिङ्ग प्रयोग किया है।

उ. - यह बात सत्य है तथापि 'ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव' इत्यादि भी श्रुत्युक्त होने से ब्रह्मा गुरु है ही। उनका यहां ग्रहण-शं नो विष्णुरुरुक्रमः यहां जैसे विष्णु का ग्रहण किया है वैसे ब्रह्मा का भी ग्रहण करना संगत है।

कार्यमध्ये न दुर्बोधि-ब्रह्मोपादानमाञ्जसम्।
नमस्ते वायविति तद्वायुत्वोक्तेश्च कार्यता॥१८७॥

मित्रवरुणादि कार्यदेवताओं के प्रसंग में शुद्ध ब्रह्म का ग्रहण परमसंगत नहीं दिखता (जैसे तैसे संगति बैठाना अलग बात है) एक तो विद्याप्रेप्सु के लिये वह दुर्बोध है। फलदृष्ट्या देखा जाये तो वह संप्लुतोदक स्थानीय होने के कारण अन्य ग्रहण व्यर्थ सा होगा। फिर

कहना ही था तो मुख्यत्वात् प्रथम या उपसंहार रूपत्वात् अन्त में कहना था। मध्य में क्यों कहा। ब्रह्माजी का प्रणाम सीमित प्रयोजन से करते हैं। सरस्वती मध्यशक्तिर्या हि ज्ञानप्रदा स्मृता यह हम पहले ही दिखा चुके है।

नमस्ते वायो

वायुर्लिङ्गवपुः सूत्रं समष्टिव्यष्टिलक्षणम्।
बाह्यभेदास्तु तस्योक्ताः सप्त सप्त मरुद्गणाः॥१८८॥

वायु से यहां सूत्रात्मा समष्टिव्यष्टिरूप लिङ्ग शरीर अर्थ लिया जाता है। उनचास मरुद्गण बाह्य भेद हैं। समष्टि सूत्रात्मा प्रकृत में अर्थ है।

विष्टम्भकः पृथिव्यादेः शरीरस्य च स स्मृतः।
स एव कथितः कर्म-वासनासमवाय्यपि॥१८९॥

पृथिवी आदि का एवं शरीर का भी वही विष्टम्भक (विधारक) है। वही कर्म एवं वासनाओं का आश्रय है। इत्यादि भाष्य में व्याख्यात है।

हिरण्यगर्भो नन्वेष प्रागुक्तो ब्रह्मशब्दतः।
तथा च पुनरुक्तिः स्यादिति चेत्तन्न युज्यते॥१९०॥
हिरण्यगर्भः स ज्ञान-शक्तिप्राधान्यतो भवेत्।
क्रियाशक्तिप्राधनत्वात्सूत्रात्मा वायुरुच्यते॥१९१॥

ब्रह्म शब्द से पूर्वोक्त हिरण्यगर्भ ही सूत्रात्मा भी है इत्यादि वेदान्त में बताया है। तब नमस्ते वायो वह पुनरुक्ति मात्र होगी। नहीं। हिरण्यगर्भ ज्ञानशक्तिप्रधान है सूत्रात्मा क्रियाशक्तिप्रधान है।

हिरण्यगर्भः प्रणतो ज्ञानप्राप्तिप्रयोजकः।
सूत्रात्मा प्रणतो वायुः क्रियाशक्तिप्रदायकः॥१९२॥

प्रार्थित प्रणत हिरण्यगर्भ ज्ञान प्राप्ति में प्रयोजक होगा। प्रणत वायुरूप सूत्रात्मा क्रियाशक्ति प्रदायक होगा।

राजा त्वं धनदोऽसीति स्तुतो यच्छति सद्धनम्।
महांस्त्वं रिपुहन्तेति स्तुतो हन्ति रिपून् यथा॥१९३॥

आप महान राजा है, दारिद्रहर्ता धनद कुबेर है, ऐसी स्तुति करने पर राजा धन देता है। हे राजन् आप महान धार्मिक शत्रुनाशक है ऐसी स्तुति करने पर वह शत्रुओं को नष्ट करता है, यह लौकिक है।

क्रियाशक्तिं विना किंचि-दपि कार्यं न जायते।
प्रणिपातपरिप्रश्न - सेवाद्यैर्ज्ञानलाभतः॥१९४॥

क्रियाशक्ति के बिना कोई कार्य सिद्ध नहीं होता। ज्ञानलाभ भी प्रणिपात परिप्रश्न सेवादि से प्राप्त होता है।

विद्याप्राप्त्युत्तरमपि शान्तिरेषा प्रपठ्यते।
ननु तत्र क्रियाशक्ते-रुपयोगो न दृश्यते॥१९५॥
सत्यं कृतज्ञतार्थं तु तत्र वायुः प्रणम्यते।
तन्मामावीदिति यथा भूतार्थस्तत्र कथ्यते॥१९६॥

परंतु उपनिषत् अध्ययन के अन्त में क्यों पढना चाहिये। वहां क्रियाशक्ति का उपयोग नहीं है। बात सही है। किन्तु कृतज्ञताज्ञापनार्थ वहां वायु को प्रणाम है। अत एव 'तन्मामावीत्' इत्यादि भूतार्थ प्रयोग है।

ज्ञानदार्ढ्यार्थमप्यस्ति क्रियाशक्त्युपयोगिता।
लोकसंग्रहणार्थं च तत्तां सन्तो हि मन्वते॥१९७॥
यदा भवति पूर्णत्वं कार्यं किंचिन्न शिष्यते।
निस्तुतिर्निर्नमस्कारः कृतार्थः सोऽवतिष्ठते॥१९८॥

ज्ञान की दृढता के लिये निदिध्यासनादि कार्यार्थ क्रियाशक्ति की उपयोगिता है ही। लोकसंग्रहार्थ भी क्रियाशक्ति की आवश्यकता संत लोग मानते हैं। हां पूर्णता होने पर फिर क्रियाशक्ति की आवश्यकता नहीं रहती। वहां फिर 'निस्तुतिर्निर्नमस्कार' होने से नमस्ते वायो आदि नमस्कार भी नहीं होगा। वह कृतार्थ रहेगा।

नैतावदत्र चिन्त्यं वा न भूते प्रत्ययोऽत्र हि।
तन्मामवत्विति यतः प्रार्थनात्रेक्ष्यते स्फुटम्॥१९९॥

एक वस्तुस्थितिकथनमात्र यह है। यहां तक सोचने की यहां आवश्यकता नहीं है। क्योंकि यह 'तन्मामावीत्' इत्यादि रीति भूत में प्रत्यय

नहीं है यहां तन्मामवतु ऐसी प्रार्थना विद्यार्थी की है। विद्यार्थी के लिये पूर्ण साक्षात्कार के पूर्व तक क्रियाशक्ति तो चाहिये ही।

ज्ञानयुक्ता क्रियाशक्तिः सर्वकार्यप्रसाधिनी।
तस्माद् ब्रह्म च वायुश्च नम्येते स्वार्थसिद्धये॥२००॥

ज्ञानयुक्त क्रियाशक्ति ही सभी विधेय कार्य के साधक हैं। अतः अपने परमार्थ की प्राप्ति के लिये दोनों को प्रणाम करते हैं।

ननु वायुरपि ब्रह्मेत्येतदग्रे निवेद्यते।
एकोक्त्यैवोभयोर्लाभस्ततः स्यादितिचेच्छ्रुणु॥२०१॥

वायु को ब्रह्म आगे बताना है। तो नमो ब्रह्मणे इस एकोक्ति से ही हिरण्यगर्भ और सूत्रात्मा दोनों का ग्रहण हो जायेगा। पृथक् कथन क्यों है? सुनो।

त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि

प्राणरूपेण स मयि प्रत्यक्षं ब्रह्म राजति।
आशु विद्याप्तये सोऽयमुपास्यस्तप्यता तपः॥२०२॥

अन्य सब प्रत्यक्ष नहीं है। यह वायुदेवता मुझ में प्राणरूप में प्रत्यक्ष ब्रह्म विराजमान है। अतः शीघ्र विद्याप्राप्ति के लिये संसारतापसंतप्त तपःपरायण साधक को उस प्राणरूपी ब्रह्म की उपासना करनी चाहिये।

अहंश्रेयसि संचक्रु-र्विवादं चक्षुरादयः।
एकैकशः परीक्षार्थं देहादुच्चक्रमुः क्रमात्॥२०३॥
यदोच्चिक्रमिषन् प्राणः सर्वोप्युदखिदन्नमी।
श्रेष्ठत्वं च ततः सिद्धं मुख्यप्राणस्य सर्वतः॥२०४॥

चक्षुः श्रोत्रादि प्राण अपनी-अपनी श्रेष्ठता के लिये झगडने लगे। प्रजापति ने कहा तुम में से जिसके निकलने पर देह अस्पृश्य होगा वही श्रेष्ठ है। परीक्षा के लिये चक्षु आदि क्रमशः एक-एक कर के देह से निकले। किन्तु जब मुख्य प्राण के निकलने की बारी आयी तो सबके

सब उखडने लगे। तब मुख्य प्राण की श्रेष्ठता सर्वाधिक सिद्ध हुई।

ज्येष्ठं श्रेष्ठं च यो वेद प्राणं तादृग्भवेदसौ।
चक्षुरादिषु हि ज्येष्ठः श्रेष्ठश्च प्राण इष्यते॥ २०५॥

प्राण को जो ज्येष्ठ और श्रेष्ठ समझता है-उपासना करता है वह उपासिता स्वयं ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हो जाता है। चक्षु आदि के बीच में प्राण ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है।

प्राणो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यन्यत्रापि निरूपितम्।
निष्कामोपास्तितश्चित्त-शुद्ध्या ब्रह्माप्नुयान्नरः॥ २०६॥

'प्राणो ब्रह्मेत्युपासीत' ऐसा अन्यत्र भी कहा है। निष्कामोपासना से चित्तशुद्धि द्वारा मनुष्य ब्रह्म को प्राप्त होता है।

नन्वक्ष्णा नेक्ष्यते प्राणः कथं प्रत्यक्षमुच्यते।
त्वाचप्रत्यक्षता स्पर्शे न तु स्पर्शाश्रये तथा॥ २०७॥
घ्राणप्रत्यक्षता गन्धे लेढिप्रत्यक्षता रसे।
श्रोत्रप्रत्यक्षता शब्दे न पुष्पे न घृते न खे॥ २०८॥

पूर्वपक्षः- आंखों से प्राणों को देखते नहीं है। तब 'प्रत्यक्षं ब्रह्म' कैसे बता रहे हैं। त्वाच प्रत्यक्ष कहें तो वह भी स्पर्श में होता है स्पर्शाश्रय वायु में नहीं। जैसे घ्राण प्रत्यक्षता गन्ध में है, पुष्प में नहीं। रसना प्रत्यक्षता मधुरादि रस में है, घृतादि में नहीं, श्रोत्र प्रत्यक्षता शब्द में है, शब्दाश्रय आकाश में नहीं है।

सत्यं प्रत्यक्षता वायोः साक्षिप्रत्यक्षतावशात्।
नानुमानं पुनस्तस्य धृतिकम्पाद्यनीक्षणात्॥ २०९॥
प्राणं चलन्तं प्रत्यक्षं निजं ह्यनुभवाम्यहम्।
इति नैवानुमानादि लिङ्गादीनामभावतः॥ २१०॥

उ. - भले त्वाच प्रत्यक्षता आप न मानो। किन्तु साक्षिप्रत्यक्षता है ही। मैं प्रत्यक्ष अनुभव कर रहा हूं, मेरे प्राण चल रहे हैं ऐसा सब को अनुभव होता है। यह अनुमान नहीं है क्योंकि धृतिकम्पादि लिङ्ग नहीं है।

साक्षिवेद्यतयाऽऽध्यक्ष्य-माध्यक्ष्यानुभवे भवेत्।
नीलं पश्यामि नभ इ-त्याध्याक्ष्यानुभवाद्धि खे॥ २११॥

क्या इस प्रकार पूरा जगत साक्षिवेद्य होने से प्रत्यक्ष माना जायेगा? नहीं। जहां प्रत्यक्षानुभव होता है वह साक्षिप्रत्यक्षविषय है। जैसे मैं नील गगन को देखता हूं ऐसा प्रत्यक्षतानुभव होने से आकाश साक्षिवेद्य है साक्षिप्रत्यक्षविषय है।

अप्रत्यक्षेऽपि नभसि ह्यध्यस्यन्ति तलादिकम्।
साक्षिवेद्यत्वमात्रेण भाष्यटीकादिषूदितम्॥ २१२॥

अप्रत्यक्षेऽप्याकाशे बालास्तलमलिताद्यध्यस्यन्ति ऐसा भाष्य में कहा किन्तु आधार का प्रत्यक्ष न हो तो अध्यास कैसे? यह प्रश्न उठाकर पंचपादिका विवरणादि में साक्षिवेद्यत्व कहकर समाधान किया।

साक्षिवेद्यत्वसामान्या-दध्यासो यदि वेष्यते।
नभसीव जगत्येव नैल्याद्यध्यास आपतेत्॥ २१३॥

साक्षिवेद्यत्व सामान्य को लेकर यदि अध्यास मानेंगे तो जैसे साक्षिवेद्य आकाश में नीलिमाध्यास है वैसे पूरा जगत साक्षिवेद्य होने से सर्वत्र नीलिमादि का अध्यास होने लगेगा।

व्यर्थश्च साक्षिवेद्यत्व-संपादनपरिश्रमः।
व्यावर्त्यविरहात् साक्षिवेद्यत्वात्सर्ववस्तुनः॥ २१४॥

और साक्षिवेद्यत्व सम्पादन के लिये आकाश में जो माथा-पच्ची है वह व्यर्थ होगी। क्योंकि साक्षिवेद्यत्व से व्यावर्त्य कुछ नहीं। क्योंकि पूरा जगत साक्षिवेद्य है।

परमाण्वादिके नास्ति साक्षिप्रत्यक्षयोग्यता।
वस्तुस्वभावभेदोऽत्र शरणं सर्ववादिनाम्॥ २१५॥
योग्यताऽयोग्यता वापि कल्प्या फलबलाद् बलात्।
धर्मादौ च सुखादौ च कल्प्येते ते यथा बुधैः॥ २१६॥

साक्षिवेद्यत्वसामान्य से अध्यास नहीं हो सकता का मतलब है साक्षिवेद्यत्व विशेष चाहिये। अर्थात् साक्षिप्रत्यक्ष योग्यत्व चाहिये। भले।

वही समस्त जगत में क्यों नहीं है? इस में वस्तुस्वभावविशेष ही सबके लिये शरण है। आकाशादि में साक्षिप्रत्यक्षयोग्यता है परमाण्वादि में नहीं है। क्योंकि ऐसा ही उन वस्तुओं का स्वभाव है। स्वभाव फलबलकल्प्य होता है। जैसे धर्माधर्मादि एवं सुखदुखादि न्याय मत में आत्मा के गुण है। उन में सुखादि का प्रत्यक्ष होता है। धर्मादि का क्यों नहीं।? वेदान्त मत में ये अन्तःकरण के धर्म हैं। वहां भी वही प्रश्न है। वस्तुस्वभावविशेष उत्तर है।

ये तु नैयायिकाः केचित् प्रत्यक्षं वायुमब्रुवन्।
तन्मतग्रहणे त्वत्र न विवादोऽस्ति कश्चन॥२१७॥

कुछ नैयायिक वायु को प्रत्यक्ष मानते हैं। उनका मत स्वीकार करो तो यहां कोई विवाद नहीं है।

वाय्वाध्यक्ष्ये श्रुतिर्मान-मेषैवेति तु नैव सत्।
उपचारो भवेद् यद्वत् पिता प्रत्यक्ष ईश्वरः॥२१८॥

त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि श्रुति ही वायु प्रत्यक्षता में प्रमाण क्यों नहीं? नहीं। यह औपचारिक प्रयोग हो जायेगा। जैसे बोले-पिता प्रत्यक्ष ईश्वर है।

बृहत्त्वाद् बृंहणत्वाद्वा आत्मा ब्रह्मेति गीयते।
समानं तत्पुनः प्राणे ब्रह्मत्वं तेन तस्य च॥२१९॥

बृहत् (ब्रह्म) होने से और बृहत्वकारी होने से आत्मा को ब्रह्म कहते हैं। ये दो बातें प्राण में और ब्रह्म में समान है। (वा=वै)

सूत्रेणैक्याद् बृहन्नेष देहाङ्गानि स बृंहयेत्।
निःसृते देहतः प्राणे शुष्यन्त्यङ्गानि देहिनाम्॥२२०॥

बृहत् कैसे? सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ के साथ ऐक्य होने से प्राण बृहत् है। बृंहणकारी कैसे? प्राण शरीर से निकल जाये तो हाथ-पांव आदि शरीर के अंग सूख जाते हैं। प्राण के रहने से ही शरीरादि बढते हैं।

शाखां जहाति जीवश्चेदेकां शुष्यति सा द्रुतम्।
सर्वं जहाति चेत् सर्वं शुष्यतीत्यब्रवीच्छ्रुतिः॥२२१॥

उक्तार्थ में - 'अस्य यदेकां शाखां जहाति अथ सा शुष्यति' इत्यादि श्रुति प्रमाण है।

वदन्ति शब्दतत्त्वज्ञा जीवतिं प्राणधारणे।
जहाति याति च प्राणः स उपाधिः सदात्मनः॥२२२॥

शंका होगी कि उक्त श्रुति में 'जीवो जहाति' लिखा है। 'प्राणो जहाति' नहीं। उत्तर है-'जीव प्राणधारणे' ऐसा धात्वर्थ निर्देश होने से प्राणगमन अर्थ सिद्ध है। प्राण आत्मा का उपाधि है।

स्वर्गादीन् गच्छतीवात्मा प्राणे गच्छति तानयम्।
देहादौ तिष्ठतीत्याहुः प्राणे वपुषि तिष्ठति॥२२३॥

आत्मा स्वर्गादि जाता है जब कि प्राण ही स्वर्गादि जाता है। मुख्य क्रिया तो प्राण में ही है। देहादि में जीव स्थित है बोलते है जब प्राण शरीर में रहता है।

त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि

परोक्षमाहुर्ब्रह्मैकेऽपरोक्षमपरे जगुः।
यथा तथा वा भवतु न तत्र विवदामहे॥२२४॥
बृहत्पुमर्थदायित्वाद् ब्रह्मेति विविदुर्बुधाः।
वायो त्वामेव वक्ष्यामि प्रत्यक्षं ब्रह्म मोक्षदम्॥२२५॥
उपास्यमानस्त्वं दत्से मोक्षान्तं सकलं फलम्।
तस्मात्त्वां हि वदिष्यामि प्रत्यक्षं ब्रह्म भक्तितः॥२२६॥

कुछ लोग कहते हैं ब्रह्म ईश्वर है, वह परोक्ष है। दूसरे कहते हैं ब्रह्म अपरोक्ष है, आत्मस्वरूप ही है। खैर, वह जैसा भी हो हम तो यही समझते हैं कि बृहत् पुरुषार्थदायी होने से ब्रह्म कहा जाता है। वह वायु है। वह मोक्षदायी है। अतः प्रत्यक्ष ब्रह्म है। उपासना करनेवालों को वह मोक्ष पर्यन्त सकल फल देता है।

प्राणो ब्रह्मेत्युपासीतेत्याह स्म श्रुतिरेव च।
वायुर्हि हृदयान्नासापर्यन्तः प्राण उच्यते॥२२७॥

श्रुति भी कहती है 'प्राणो ब्रह्मेत्युपासीत'। हृदय से नासिका पर्यन्त

वायु ही तो प्राण है।

प्राणस्य प्राणमितिवत् चक्षुषश्चक्षुरित्यपि।
चक्षुरादिकमप्येवं ब्रह्म कस्मान्न भण्यताम्॥ २२८॥
मनोऽपि ब्रह्म कस्मान्न मनसो मन इत्यतः।
मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्येवं च श्रुतिदर्शनात्॥ २२९॥

पू. - प्राण साक्षात् ब्रह्म नहीं है। अतएव 'प्राणस्य प्राणं' ऐसा श्रुति में आया है। उस के बराबर 'चक्षुषश्चक्षुः' इत्यादि भी है। तो चक्षु को भी ब्रह्म क्यों नहीं कहते? अथवा मनसो मनः कहा है। तो मन को क्यों ब्रह्म नहीं कहते? 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' ऐसी श्रुति भी है।

सत्यं प्राणोऽव्यवहितः यतोऽस्माद् ब्रह्मणो मतः।
चक्षुरादि व्यवहितं बाह्यत्वाद् ब्रह्म नोच्यते॥ २३०॥
मनोऽपि बहिरेवेद - मनुमेयं यतो मतम्।
प्राणस्तु साक्षिवेद्यत्वात् स्यादव्यवहितं सतः॥ २३१॥

उ. - बात सत्य है। किन्तु विशेषता कुछ है। प्राण ब्रह्म से अव्यवहित है। बाह्य होने से चक्षु व्यवहित है। मन भी अनुमेय होने से बाह्य ही है। प्राण साक्षिवेद्य होने से अव्यवहित है।

सुखात्मना परिणतं साक्षिवेद्यं भवेन्मनः।
ततोऽव्यवहितं नूनं स्यान्मनोऽपीति चेन्न तत्॥ २३२॥
सुखाद्याकारवृत्त्या हि ब्रह्मतो व्यवधीयते।
सा वृत्तिरभ्युपेयाहं-कारवृत्तिवदेव हि॥ २३३॥

प्र. - सुखादिरूप से परिणत मन भी तो साक्षिवेद्य है। अतः मन भी अव्यवहित है।

उ. - सुखाद्याकार वृत्ति से सुखादि भी व्यवहित है। अहंकार वृत्ति के समान सुखाद्याकार वृत्ति भी स्वीकृत है।

सा वृत्तिरव्यवहिता मनः परिणतिर्भवेत्।
वृत्तेर्वृत्त्यन्तरोक्तौ स्यादनवस्था दुरुद्धरा॥ २३४॥

पू. - माना कि सुखादि वृत्तिव्यवहित है। परंतु स्वयं वृत्ति तो ब्रह्म

से व्यवहित नहीं है। वृत्ति के प्रकाशनार्थ वृत्यन्तर मानेंगे तो अनवस्था होगी।

सत्यं वृत्तिर्हि नोपास्या तादृशश्रुत्यभावतः।
वायुः पुनः स च ब्रह्मेत्याचक्षत इति श्रुतेः॥ २३५॥

वायु में ऐसी बात नहीं है। यद्यपि वृत्ति बाह्य नहीं है साक्षाद् ब्रह्मभास्य है। किन्तु वृत्ति उपास्य नहीं है। वैसी कोई श्रुति नहीं है। वायु की बात अलग है। वह बिना व्यवधान ब्रह्मसाक्षिभास्य है। और उपास्य भी है।

कादाचित्का च सा वृत्तिर्न बृहत्वादियोगयुक्।
अन्यथा साक्षिभास्यत्वेऽज्ञानं तत्स्वीकृतं भवेत्॥ २३६॥

सुखादि वृत्ति कादाचित्क है। अतः ब्रह्म का बृहत्त्वादि किसी भी प्रकार उसमें नहीं ला सकते। एक अज्ञान ही अनादि है जड है साक्षिभास्य है। तब यह अज्ञान की उपासना होगी। सुषुप्ति में अज्ञानात्मक वृत्ति से ही सुखभान होता है।

द्वारपाल इव प्राणो हृदयाम्बुजवेश्मनः।
दहरं पुण्डरीकं तद्वेश्मेति श्रुतिदर्शनात्॥ २३७॥

प्राण तो द्वारपाल के समान हार्द ब्रह्म से अव्यवहित है। हृदय पुण्डरीक ही तो ब्रह्म का घर है।

प्रसादनीया नूनं स्यु-र्द्वारपालादयः किल।
वाचा मधुरया ब्रह्म-वेश्म तत् प्रविविक्षुभिः॥ २३८॥

द्वरपालादि को प्रसन्न करना आवश्यक है जो ब्रह्मवेश्म प्रवेश करना चाहते हैं। तदर्थ मधुर वाणी सुन्दर उपाय है।

त्वमेव ब्रह्म राजाऽसि मां प्रवेशयितुं क्षमः।
एतदाह वदिष्यामि त्वामेव ब्रह्म संमुखम्॥ २३९॥

तुम ही हृदयवेश्म का राजा ब्रह्म हो। तुम ही मुझे ब्रह्मवेश्म में प्रवेश करा सकते हो यह कहते हैं। संमुख प्रत्यक्ष ब्रह्म मैं तुम को ही कहूंगा।

स्वप्रकाशं परं ब्रह्म ब्रूयुः कामं महाधियः।
प्रत्यक्षं ब्रह्म वक्ष्यामि वायो त्वामेव मोक्षदम्॥ २४०॥

महाज्ञानी पुरुष भले स्वप्रकाश परतत्त्व को ब्रह्म कहें। पर हे वायो! मैं तो तुम को ही प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूंगा।

वर्त्तमानादिषु च लृट् विशेषार्थे प्रयुज्यते।
यथा प्रायुङ्क्तलपरं वक्ष्यामीत्यादि भाष्यकृत्॥ २४१॥

कहूंगा, ठीक। अब तो नहीं कह रहे हो। नहीं। वर्तमानादि में भी लृट (भविष्यार्थक) का प्रयोग होता है। जैसे महाभाष्य में 'लपरं वक्ष्यामि' इत्यादि प्रयोग किया।

व्याख्यास्यामः सिद्धशब्दं नित्यपर्यायवाचिनम्।
इत्यादि च तथैवात्र चोत्तरत्र च बोध्यताम्॥ २४२॥

'सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे' यहां सिद्ध शब्द नित्य पर्यायवाची है ऐसी हम व्याख्या करेंगे ऐसा कहा। करेंगे क्या, कर चुके। यहां लृट् का प्रयोग जैसा है वैसे त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि में भी और आगे ऋतं वदिष्यामि आदि में भी समझ लेना चाहिये।

ऋतं वदिष्यामि

शास्त्रेषु निश्चितो योऽर्थः स्वमनस्यवतारितः।
कर्तव्यरूपतः सोऽयमृतशब्देन कथ्यते॥ २४३॥

शास्त्रों में जो अर्थ निश्चित हुआ है और यह मुझे करना है ऐसा मन में उतारा है उसको ऋत कहते हैं।

मुमुक्षोः श्रवणं कार्यमिति शास्त्रविनिश्चयः।
अतो मया तत्कर्तव्य-मेषोऽर्थ ऋतशब्दितः॥ २४४॥

मुमुक्षु को श्रुत श्रवण करना चाहिये अतः मुझे श्रवण करना है ऐसा निश्चित अर्थ ऋत है। वायु की उपासना शास्त्रविहित है। अतः मुझे उपासना करना है।

ननु ब्रह्म न कर्तव्य-मृतशब्दं कथं भवेत्।
श्रोतव्यत्वश्रुतत्वादि-रूपेणास्तु तथाविधम्॥ २४५॥

शंका होगी कि ब्रह्म कर्तव्य पदार्थ नहीं है तब ऋत कैसे होगा?

श्रोतव्यत्व रूप से श्रवणविषयत्व रूप से कर्तव्य हो जायेगा। वायु उपासनीयत्वादिरूपेण कर्तव्य होगा।

श्रवणोपासनादीनां वाय्वधीनत्वहेतुना।
ऋतमाह श्रुतौ वायुमिति भाष्ये निरूपितम्॥ २४६॥

कर्तव्य अग्निहोत्रादि एवं उपासनादि प्राणाधीन होने से वायु को ऋत कहूंगा ऐसा श्रुति में कहा ऐसी व्याख्या भाष्य में स्थित है।

ननु सर्वाणि कर्माणि वाय्वधीनानि सन्त्यतः।
ऋतमेव कथं वायु-रनृतोऽप्येष वर्तते॥ २४७॥
सत्यं कुतस्तु वक्तव्यमनृतत्वं महात्मनः।
ऋतार्थे प्रेरणार्थे तु तदुक्तिः सप्रयोजना॥ २४८॥

पू. - सभी कर्म प्राणाधीन है चाहे ऋत हो चाहे अनृत। उ. - बात सत्य है। किन्तु अनृत कहना क्यों है। ऋत में प्रेरित करने के लिये ऋतं वादिष्यामि यह स्तुति या ऋतत्व कथन सार्थक है। जैसे 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव' के समान त्वमेव हन्ता च रिपुस्त्वमेव क्यों नहीं बोलते, ऐसा कोई नहीं कहता।

पूर्वकल्पे तथाभूत-मर्थं सम्पाद्य यत्नतः।
सूत्रात्माऽभूदतो वाऽस्य वायोः स्यादृतशब्दता॥ २४९॥

पूर्वकल्प में शास्त्रनिश्चित कर्तव्य अर्थ का सम्पादन करने से सूत्रात्मा बना। इसलिये भी वायु के लिये ऋत शब्द उचित है।

स हि त्वं प्राणरूपेण मयि संप्रति वर्तसे।
त्वदीयकृपयैवैत-द्वर्ततां मम मानसे॥ २५०॥

वही सूत्रात्मा प्राणरूप से मुझ में रहते हो। तुम्हारी कृपा से मेरे भी मन में वह शास्त्रीयार्थ प्रकाशमान रहे।

सत्यं वदिष्यामि

शास्त्रेषु निश्चितो योऽर्थश्चित्ते यः प्रथमं स्थितः।
कार्यात्मना परिणतः सोऽर्थः सत्यमितीर्यते॥ २५१॥

शास्त्रनिश्चित अर्थ प्रथम जो मन में स्थित हुआ जिसे ऋत बताया वही बाहर कार्यरूप से परिणत होने पर सत्य कहलाता है।

श्रोतव्योपास्यकर्तव्या-वस्थोऽर्थो हृत्स्थितो ह्यृतम्।
स श्रुतोपासितकृता-वस्थः सत्यं भवेद्बहिः॥ २५२॥

श्रोतव्यरूप से जो ब्रह्म मन में स्थित है, तथा उपास्यरूप से जो हिरण्यगर्भादि है एवं कर्तव्यरूप से जो कर्म मन में स्थित है वही श्रुत होने पर, उपासित होने पर और कृत होने पर सत्य कहलाता है।

चिन्तितं कथितं चार्थं बहिः सत्यापयत्यसौ।
इत्येवं किल लोकेऽपि सत्यशब्दं प्रयुञ्जते॥ २५३॥
सत्यं विधातुं भगवान् निजभृत्यस्य भाषितम्।
स्तम्भादाविर्बभूवेति शास्त्रेऽप्येवं विलोक्यते॥ २५४॥

इस महापुरुष ने जो सोचा और जो कहा उसे बाहर सच्चा करके दिखाया। इस प्रकार लोक में बाहर अर्थ करके दिखाने पर सत्य शब्द का प्रयोग करते हैं। 'सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितं' ऐसा शास्त्र में भी प्रयोग आया है।

किंनु तत् शास्त्रनिर्णीतं मनस्यप्यवतारितम्।
क्रियापरिणतं चात्र सत्यशब्देन दर्शितम्॥ २५५॥
उच्यते मानसे तावद् विद्याविद्ये समुच्चिते।
ऋतं, सत्यं तु ते एव सहैवानुष्ठिते उभे॥ २५६॥

प्रकृत में शास्त्रनिर्णीत मन में अवतरित क्रियापरिणत सत्य क्या है जो सत्य शब्द से सूचित किया? मन में विद्या और अविद्या (उपासना) का समुच्चय और कार्यरूप में बाहर दोनों का अनुष्ठान।

ततो हिरण्यगर्भोऽभूद् ऋतं सत्यं च तेन सः।
ततो ह्यृतं च सत्यं च त्वां वदिष्याम्यहं प्रभो॥ २५७॥

इसी अनुष्ठान से हिरण्यगर्भ सूत्रात्मा प्राण हुआ। अतः वह ऋत और सत्य हुआ। अतएव हे प्रभो मैं आप को ऋत और सत्य कहूंगा।

त्वदधीनं ममापि स्या-दृतं सत्यं च मत्प्रभो।
अतश्चर्तं च सत्यं च त्वां वदिष्यामि नित्यशः॥ २५८॥

आप के अधीन ही मेरा भी यह ऋत और सत्य है। अतः मदीय ऋत सत्य हेतु होने से भी आपको मैं ऋत और सत्य कहता रहूंगा।

ननु सत्यफलत्वेन सत्यत्वं कर्मणो भवेत्।
निष्कामत्वे फलं नास्ति श्रौतं सत्यं कथं भवेत्॥ २५९॥

पू. - खाली सोचे हुए अर्थ के करके दिखाने मात्र से वह सत्य नहीं होगा। सत्य फल भी होना चाहिये। निष्काम को फल नहीं मिलता।

मृत्युं तीर्त्वाऽमृतप्राप्तिः फलं संसारलक्षणम्।
समुच्चयफलं प्रोक्तं मुमुक्षोर्नैव तन्मतम्॥ २६०॥

अवद्यिया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते यह संसाररूपी फल मुमुक्षु को अभिमत है। उसकी कामना मुमुक्षु को नहीं है।

न, संयोगपृथक्त्वेन वित्तिर्विविदिषैव वा।
फलं श्रौतं भवेत्तेन तस्य सत्यत्वमक्षतम्॥ २६१॥

उ. - नहीं। संयोगपृथक्त्वन्याय से वेदन (ब्रह्मवेदन) या विविदिषा समुच्चयोपासना का फल मुमुक्षु को भी अभिमत है। अतः समुच्चयोपासना में सत्यत्व निश्चित है।

सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरित्यभिधानतः।
कर्त्तव्यत्वं कर्मता चाप्यृतसत्याभिधे मते॥ २६२॥
श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्य इति श्रुतेः।
श्रोतव्यत्वं श्रुतत्वं चाप्यृतसत्याह्वये इह॥ २६३॥

सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेः के अनुसार कर्म भी वित्ति और विविदिषा में प्रयोजक होने से मुमुक्षु के लिये भी अभिमत फल प्रदाता है इसलिये मन में निश्चितकर्तव्यताक एवं संपादित यज्ञादि कर्म भी ऋत सत्य शब्दित हैं। श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः ऐसा श्रुति में कहा है अतः श्रोतव्यत्वेन निश्चितार्थ तथा श्रुतार्थ भी ऋत सत्य शब्दार्थ है।

उपास्त्या श्रवणं लभ्यमत्र कः प्रत्ययो वद।
न हि श्रवणकामस्योपास्तिः क्वापि विधीयते॥ २६४॥

पू. - उपासना से श्रवण प्राप्त होता है इस में क्या प्रत्यय है।

'श्रवणकाम उपास्तिं कुर्यात्' ऐसा कोई विधिवाक्य नहीं है। और 'श्रवणाय बहुभिर्यो न लभ्यः' यह दिखाया जा चुका है।

मैवं विविदिषन्त्येतं तपसा ब्राह्मणा इति।
उपास्तेश्च तपस्त्वेन वेदनं तत्फलं भवेत्॥२६५॥
विना च श्रवणं नैव वेदनं संभवत्यतः।
अर्थाच्च सद्गुरुप्राप्तिः श्रवणं चापि लभ्यते॥२६६॥

उ. - विविदिषन्ति तपसा इस श्रुति से उपासना से वेदन प्राप्ति सिद्ध होती है। परंतु श्रवण के बिना वेदन संभव नहीं है, अतः अर्थापत्त्या श्रवण तथा सद्गुरु प्राप्ति दोनों भी प्राप्त होते हैं।

आचार्यवान् हि पुरुषो वेदेत्येवं श्रुतौ श्रुतम्।
आचार्यस्ते गतिं वक्तेत्युक्तेः सद्गुरुतापि च॥२६७॥

'आचार्यवान् पुरुषो वेद' इस श्रुति से आचार्य से ही वेदन निश्चित होता है। वृषभ मद्गु आदि उपदेश मात्र से गुरु होने पर भी फिर आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता इस कथन से आचार्य से सद्गुरु विवक्षित होता है।

तथा च श्रुतिराश्चर्यो वक्तेत्याश्चर्यतां गुरोः।
श्रोत्रियो दृष्टतत्त्वो हि सद्गुरुस्तादृशो भुवि॥२६८॥

इसीलिये श्रुति में आश्चर्यो वक्ता कहा। श्रोत्रिय ब्रह्मदर्शी सद्गुरु वक्ता जगत में दुर्लभ है।

वेदनं चात्मविज्ञानं संपत्तिफलकीर्तनात्।
ज्ञानमात्रं त्वन्यतोऽपि सिद्धं प्रत्यक्षतो यतः॥२६९॥

वेदन से आत्मविज्ञान ही ग्राह्य है क्योंकि 'अथ संपत्स्ये' यह ब्रह्म-सम्पत्ति फल उसीसे संभव है। ज्ञानसामान्य तो सद्गुरु के विनापि दूसरों से भी प्राप्त होता है यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। अतः विविदिषन्ति में भी आत्मविज्ञानकामता ही विवक्षित है।

येषां विविदिषामात्रं तपआदेः फलं मतम्।
सद्गुरुश्रवणादीनां दौर्लभ्यं तन्मते भवेत्॥२७०॥

भामतीकार एवं संक्षेपशारीरककारादिने विविदिषन्ति यज्ञेन इत्यादि श्रुति में यज्ञ तप आदि का फल विविदिषा बताया है उन के मत में सद्गुरु प्राप्ति श्रवण प्राप्ति आदि का साधन दुर्लभ होगा।

अपुमर्था विविदिषा शेषं कल्पयतीति चेत्।
अपुमर्थोऽपि पुत्रादि पुत्रकामेष्टितो न किम्?॥ २७१॥
पुत्रो हि चित्रकेत्वादि-र्दुःखायैव किलाजनि।
किंचित्सुखं विविदिषाजन्ममात्रेण संभवेत्॥ २७२॥

पू. - विविदिषा सुखादिरूप न होने से श्रुति प्रोक्त वह मोक्ष पर्यन्त की कल्पना करायेगी, ऐसी युक्ति नहीं चलेगी। क्योंकि श्रुतमात्र ही फल होता है। जैसे पुत्र स्वतः सुखादिरूप न होने पर भी पुत्रकामेष्टि आदि याग का फल होता है। चित्रकेतु का पुत्र दुःख का कारण हो गया था जब कि तदर्थ त्वाष्ट्र यज्ञ किया था। यदि कहें कि पुत्रोत्पत्ति मात्र से जो खुशी होगी वह भी पुरुषार्थ मानी जा सकेगी। जैसे अजीर्ण रोगी को बुभुक्षा (भूख) उत्पन्न होने मात्र से खुशी होती है।

अजीर्णरोगरुग्णस्यबुभुक्षा सुखदौषधात्।
न पुनर्मोदकं दद्याद् मिष्टं लवणभास्करः॥ २७३॥

पूर्वदर्शित अर्थ।

नन्वेवं वेदनं न स्यात्तन्मतेनेति चेन्न तत्।
भक्त्या मामभिजानातीत्यस्ति हेत्वन्तरं यतः ॥ २७४॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥ २७५॥

इस प्रकार फिर वाचस्पत्यादि मत में न ज्ञान होगा और न मोक्ष ही होगा। नहीं। भगवद्भक्ति से भी ज्ञानादि हो सकता है। 'भक्त्या मामभिजानाति ददामि बुद्धियोगं तं' इत्यादि गीतावचन इस में प्रमाण है।

ननु साकारभक्त्या स्यात् सालोक्यादीति चेन्न तत्।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वे-त्यूर्ध्वं मोक्षान्तवर्णनात्॥ २७६॥

पू. - साकार भक्ति से श्रीकृष्णादि दर्शन तथा सालोक्यादि मुक्ति ही होगी। नहीं। 'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरं' ऐसा बाद में स्पष्टतः तत्त्वज्ञान और मोक्ष बताया है।

अत्रापि तत्त्वतो ज्ञात्वेत्यन्यथानुपपत्तितः।
श्रवणं तत्र चाचार्यप्राप्तिरप्येव लभ्यते॥ २७७॥

यहां भी तत्त्वतो ज्ञात्वा इसकी अन्यथानुपपत्ति से सद्गुरु प्राप्ति तथा श्रवण प्राप्ति भी सिद्ध हो जायेगी।

एषैव प्रक्रिया तर्हि वेदनेनान्वयः कुतः।
यथा जिगमिषत्यश्वे-नेत्यत्र गमनेऽन्वयः॥ २७८॥

यही प्रक्रिया अपनाना है तो यज्ञेन विविदिषन्ति यहां भी वेदन में यज्ञादिकरणकत्व क्यों न मानें। जैसे अश्वेन जिगमिषति यहां अन्यथाकरणकत्व अन्वय गमन में होता है।

ऋतं च सूनृता वाणी सत्यं च समदर्शनम्।
इति भागवतोक्तार्थं योजयन्त्यत्र केचन॥ २७९॥

भागवत में ऋत का सूनृत वाणी अर्थ बताया है (सूनृतं मङ्गलेऽपि स्यात् प्रियसत्ये वचस्यपि) और सत्य का समदर्शन। उसी को यहां पर कुछ लोग ग्रहण करते हैं। समदर्शन प्रयोजक वचन समदर्शन का अर्थ करना पडेगा।

ऋतं तु व्यवहारेषु यथार्थे साधु भण्यते।
सत्यं च सति साधु स्यात् परमार्थ इतीतरे॥ २८०॥

ऋत माने व्यवहार में जो यथार्थ है उसको कहते हैं। परमार्थ में जो साधु है वह सत्य है ऐसी दूसरों की व्याख्या है।

ऋतसत्ये वदिष्यामि तादार्थ्येन यथायथम्।
ऋतं सत्यस्य गमकं सत्यं संप्राप्तिसाधनम्॥ २८१॥

ऋत एवं सत्य क्यों बोलना? ऋत और सत्य की प्राप्ति के लिये। सत्य सत्य को जानने और पाने के लिये और सत्य सत् परमात्मा की प्राप्ति के लिये बोलना है ऐसी भी योजना है।

तन्मामवतु

ऋतसत्यपरिप्राप्तिः वेदनस्य प्रयोजनम्।
याभ्यां गतिर्मुमुक्षूणां भवेदध्यात्मवर्त्मनि॥ २८२॥

ऋत कथन और सत्य कथन से ऋत और सत्य की प्राप्ति होगी। उससे अध्यात्म मार्ग में गति प्राप्त होगी।

इदं प्रयोजनं साक्षान्मुख्यत्वेन श्रुतौ स्वयम्।
प्रार्थ्यते प्रस्तुतं ब्रह्म तन्मामवतु साधकम्॥ २८३॥

इसी मुख्य प्रयोजन को श्रुति प्रार्थनारूप में प्रस्तुत करती है-तन्मामवतु।

मृत्योः स मृत्युमाप्नोती-त्याह संसारलक्षणम्।
महाभयं सकृन्मृत्युरेषा मृत्युपरम्परा॥ २८४॥

एक बार मरना ही महा भय है। यहां तो मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होते रहने से मृत्यु परम्परा है। वह कितना महा भय होगा यह कहना ही मुश्किल है।

तद्ब्रह्मावतु मां देवः सूत्रात्मा वायुलक्षणः।
मृत्योः परम्परारूपात् कारुण्याब्धिर्महाभयात्॥ २८५॥

वह ब्रह्म जो सूत्रात्मा वायुरूपी दैव है दयालु है मृत्यु परम्परारूपी महा भय से मेरी रक्षा करे।

ननु रक्षतु सूत्रात्मा कथं मृत्युभयादसौ।
ज्ञानित्वेऽस्य कथं जन्म नाज्ञानी रक्षणक्षमः॥ २८६॥
मैवं प्रजापतिः पूर्वं ज्ञानमिन्द्राय संददौ।
तस्माज्ज्ञान्येव सूत्रात्मा प्रजापतिपदो महान्॥ २८७॥

पू. - सूत्रात्मा मृत्युभय से कैसे रक्षा करेंगे? यदि वह ज्ञानी होते तो प्रजापतिरूप से जन्म ही क्यों होता? अज्ञानी तो मृत्यु से रक्षण करने में असमर्थ है।

उ. - नहीं। प्रजापति ने ही तो इन्द्र को ज्ञान दिया अतः सूत्रात्मा ज्ञानी होते हैं।

प्रजापतित्वकामः स पूर्वकल्पेऽकरोत्तपः।
तेन च प्रतिबन्धेन जन्मास्य ज्ञानिनोऽप्यभूत्॥ २८८॥

प्रजापतित्वकामना से पूर्व कल्प में उन्हों ने तप किया। वही सकाम कर्म मोक्ष में प्रतिबन्धक हुआ। और ज्ञान होने पर भी जन्म हुआ।

तस्माज्ज्ञानप्रदानेन तस्यास्त्यवनयोग्यता।
इति युक्तैव रक्षार्थं प्रार्थना मृत्युभीतितः॥ २८९॥

इसलिये ज्ञान प्रदान कर रक्षा करने में उनमें योग्यता है। अतः मृत्यु भय से रक्षार्थ प्रार्थना युक्त ही है।

ननु ज्ञानोपदेशं न कुर्युर्मर्त्याय देवताः।
आचार्यस्तु गतिं वक्ता स च मर्त्यो न देवता॥ २९०॥
इन्द्रो विरोचनश्चैव देवयोनी मतावुभौ।
तेन ताभ्यामुपादिक्षद् ब्रह्मज्ञानं प्रजापतिः॥ २९१॥

देवता मनुष्यों को ज्ञानोपदेश नहीं करते ऐसा कोई उदाहरण नहीं है। आचार्य गति बतायेंगे ऐसा श्रुति कहती है। आचार्य मनुष्य ही होता है। इन्द्र और विरोचन को प्रजापति ने ज्ञानोपदेश जरूर किया। किन्तु दोनों देवयोनि है। 'पूर्वदेवाः सुरद्विषः' के अनुसार पहले असुर देवता ही थे। धृष्टता से ही वे असुर हुए ऐसी व्याख्या दीक्षितजी ने की है।

मैवं विष्णुर्ध्रुवं भक्तं ज्ञानेनायूयुजत् पुरा।
ज्ञानेन योजयत्वेवं सूत्रात्माप्यत्र का क्षतिः॥ २९२॥
आचार्याद्देव विदिता साधिष्ठं प्रापदित्यपि।
स्यादाचार्याभिगमनं पश्चात् कृत्वापि सार्थकम्॥ २९३॥
इन्द्रः प्रतर्दनायाह ज्ञानमात्मैक्यलक्षणम्।
शब्दमात्रं तदिति चेल्लिङ्गं तद्धि तथापि च॥ २९४॥

उ. - विष्णु भगवान ने मर्त्य भी भक्त ध्रुव को ज्ञानयुक्त किया था। यह कहें कि ज्ञानयुक्त किया अपनी शक्ति से। उपदेश तो नहीं किया था। भले उतना ही सही। सूत्रात्मा हमें ज्ञान से युक्त करें उतने से भी राहत मिलेगी।

आचार्य से प्राप्त विद्या ही साधिष्ठ होती है इस श्रुति में इष्ठन् प्रत्यय से परम सुन्दर ज्ञान आचार्य से प्राप्त होने पर ही होगा। किन्तु साधु (सुन्दर) ज्ञान तो अन्य से भी हो सकता है। उसे साधिष्ठ करने के लिये पश्चात् भी आचार्य के पास जा सकते हैं। इन्द्र प्रतर्दन संवाद भी एतदर्थपोषक है।

शान्तिपाठोत्तरं ज्ञानं श्रोष्यत्येवैष सद्गुरोः।
साधिष्ठता भवेत्तेन क्रमिकत्वादतीव सा॥२९५॥

प्रकृत में भी शान्तिपाठोत्तर फिर सद्गुरु से श्रवण करना ही है। तब पूर्व ज्ञानार्थ प्रार्थना क्यों है? इसलिये कि क्रमशः उत्कर्ष होता है। जैसे आवृत्ति से उत्तरोत्तर उत्कर्ष होता है।

अथ वा कुशलो लब्धेत्येवं श्रुतिषु कीर्तनात्।
कुशलत्वप्रदानेन सूत्रात्मावतु मां प्रभुः॥२९६॥

अथ वा इतना आगे मत जाओ। श्रुति में आश्चर्यो वक्ता के बाद कुशलोऽस्य लब्धा बताया है। ज्ञानलाभ प्रयोजक कुशलता प्रदान कर मेरी रक्षा करें, मेरी रक्षा की नींव डाले ऐसा सुगम अर्थ हो जायेगा।

अवतु वक्तारम्

वक्तारमपि वक्तृत्वशक्तिसंयोजनेन तत्।
आचार्यमवतु ब्रह्म स्तुतं वाय्वात्मकं महत्॥२९७॥

वक्तृत्वशक्तिप्रदान कर वक्ता आचार्य की भी वायुरूप ब्रह्म रक्षा करे।

साक्षात्कृतपरब्रह्म प्रब्रूते ब्रह्म निर्मलम्।
ननु तस्य कथं विघ्नः पापप्रक्षयकारणात्॥२९८॥

पू. - वक्ता आचार्य वही है जिसने निरुपाधिक ब्रह्म का साक्षात्कार किया हो। उसके पाप नष्ट होते हैं, अतः विघ्नसंभावना है नहीं तो क्यों प्रार्थना है?

न च प्रारब्धनाशोऽयं भोगादेव न वेदनात्।
इति वाच्यं तदा किंनु भवेत् प्रार्थनयापि भोः॥२९९॥

यह कहें कि ज्ञान से संचित पापप्रक्षय ही होता है, प्रारब्धनाश नहीं, अतः विघ्न हो सकता है। यदि ऐसी बात है तो तद्वक्तारमवतु इस प्रार्थना से भी क्या होगा? प्रारब्ध भोगना ही है।

उच्यते प्रार्थना नाम विघ्नजालप्रभञ्जिनी।
प्रारब्धमेव विघ्नाख्यं पापं तन्निर्दलिनी मता॥ ३००॥

उ. - उत्तर सुनो। प्रार्थना नानाविध विघ्ननाशन करती है। विघ्न एक प्रकार का पाप है। वह प्रारब्ध कर्म ही होता है। उसको प्रार्थना नष्ट करती है।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते परम्।
प्रारब्धभिन्नान्येवेति शास्त्रकारैर्निरूपितम्॥ ३०१॥

ज्ञानाग्नि समस्त कर्मों को जला देती है ऐसा भगवान ने कहा है। किन्तु प्रारब्ध भिन्न समस्त कर्मों को जलाती है ऐसा अर्थ शास्त्रकारों ने माना है।

सद्यः शरीरपातः स्यादन्यथा ज्ञानिनो ध्रुवम्।
तथा च नोपदेष्टा स्यात् स्वीकर्तुं तन्न युज्यते॥ ३०२॥

यदि ज्ञान से सर्व कर्म नाश होगा तो ज्ञान होते ही शरीर पातः हो जायेगा। तब उपदेश कौन करेगा? क्या अज्ञानी। यह स्वीकार नहीं किया जा सकता।

प्रारब्धनाशो भोगेनेत्ययं न नियमो मतः।
मृत्युञ्जयजपाद्यैश्च तन्नाशोपगमाद्बुधैः॥ ३०३॥

भोग से ही प्रारब्ध नाश होता है ऐसा नियम मान्य नहीं है। मृत्युंजय जपादि से प्रारब्धात्मक रोगप्रयोजक कर्म नष्ट होता है यह विद्वानों ने माना है।

प्रारब्धमस्ति चेद् व्याधेः किं जपेन भविष्यति।
प्रारब्धं नास्ति चेद् व्याधेः किं जपेन भविष्यति॥ ३०४॥

व्याधि का प्रारब्ध है तो भोगना पडेगा, जप से क्या होगा? व्याधि का प्रारब्ध नहीं है तो जप से क्या होगा?

न च संचितनाशः स्याज्जपेनेत्यपि सांप्रतम्।
किं तेन वर्तमानायाः पीडाया जायते शमः॥ ३०५॥

मृत्युंजय जप से संचित किंचित् पाप नाश मानेंगे तो उससे वर्तमान पीडा का शमन नहीं हो सकता। यह तो प्रारब्ध का फल है।

एतेन क्रियमाणस्य नाशवार्ता पराहता।
कालान्तरफलस्यास्य नाशात् संप्रति किंरुजः॥ ३०६॥

इसी से मृत्युञ्जय जप से क्रियमाण कर्मनाश पक्ष भी पराहत है। क्रियमाण कर्म के कालान्तरभाविफलाभाव से वर्तमान रोग पीडा का क्या होगा।

तस्मात् पीडाप्रशमनं नाशात् प्रारब्धकर्मणः।
वक्तुः प्रारब्धविघ्नानां नाशः प्रार्थनया तथा॥ ३०७॥

अतः वर्तमान रोग पीडा प्रशमन मृत्युंजयजन्य प्रारब्धनाश से ही कहना होगा। वक्ता का प्रारब्ध कर्मनाश भी श्रोता की प्रार्थना से होगा।

मन्दप्रारब्धनाशश्च भवत्येवौषधादिना।
अन्यथा नौषधं रोगी भुञ्जीताऽऽमयशान्तये॥ ३०८॥
तस्माद्युज्यत एवेदं तद्वक्तारमवत्विति।
आदरार्थे श्रुतावेतदुभयावर्तनं कृतम्॥ ३०९॥

मन्द प्रारब्धनाश औषधसेवनादि से भी होगा। अन्यथा औषध सेवन व्यर्थ होगा। इसलिये तद्वक्तारमवतु यह उचित ही है। अवतुमाम् अवतुवक्तारं यह आवृत्ति आदरार्थ है।

परे तु विघ्नबाहुल्ये प्रार्थनावर्तनं यथा।
अन्यत्र तद्वदत्रापीत्याशयानां श्रुतिं जगुः॥ ३१०॥

दूसरों का मत है कि अधिक विघ्न कष्ट आदि होने पर जो बार-बार प्रार्थनादि करते हैं वैसे यहां भी करो इस आशय से श्रुति ने आवर्तन किया।

उपसर्गप्रशमनहेतौ शान्तिः प्रपठ्यते।
आध्यात्मिकादिभेदेन चोपसर्गास्त्रिधास्थिताः॥ ३११॥

अध्ययनादि में आनेवाले उपसर्गों के शमन के लिये शान्तिपाठ होता

है। आध्यात्मिकादि भेद से उपसर्ग त्रिविध है।

आध्यात्मिकाः शरीरस्थाः मानसाश्चेति ते द्विधा।
ज्वरादयः स्युः शारीरा द्वेषाद्या मानसा मताः ॥ ३१२ ॥

शारीरिक मानसिक भेद से अध्यात्मिक उपसर्ग दो हैं। ज्वरादि शारीरिक है जो धातुवैषम्य से होता है। द्वेषादि मानसिक है जो संस्कारादिजन्य है।

भुजङ्गदंशमशकव्याघ्रचौरादिसंभवाः ।
प्रहारभीतिसंत्रासप्रमुखा आधिभौतिकाः ॥ ३१३ ॥

सांप-बिच्छू-मच्छर-मक्खी, बाघ, चोर आदि से जो भयादि है आघात है वह आधिभौतिक है। (बाह्यभूतजन्य है देहान्तर्गत धातुवैषम्यादि जन्य नहीं है।)

अतिवृष्टिरनावृष्टिरुल्कापातादिकास्तथा ।
उपसर्गा निगद्यन्ते पण्डितैराधिदैविकाः ॥ ३१४ ॥

अतिवृष्टि, अनावृष्टि, उल्कापातादि जो दैवी प्रकोपजन्य है वे आधिदैविक है।

ॐस्वरूपोंप्रतीकात्मन्नोमर्थ परमेश्वर।
शान्तिरस्तूपसर्गाणां त्वदीयकृपया विभो ॥ ३१५ ॥

ॐ से अभिन्न, ओं प्रतीक, ओमर्थ है आत्मन्! हे परमेश्वर! आपकी कृपा से सर्वोपसर्ग शान्ति हो।

इति श्रीकाशिकानन्दयतिना कृतिना कृतम्।
प्रथमं कृष्णयजुषः शान्तिव्याख्यानवार्तिकम् ॥ ३१६ ॥

उपनिषदों पर व्याख्यान (प्रवचन) करते समय शान्ति व्याख्यान जो किया उसी का शोधनार्थ यह कृष्णयजुर्वेद शान्ति व्याख्यान पर वार्त्तिक पूर्ण हुआ।

ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः॥



ॐ

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

निःश्रेयसकरं ज्ञानं निःश्रेयसमितीर्यते।
निश्चितं श्रेय इत्यर्थे ह्यजन्तोऽयं निपात्यते॥ १॥
श्रेयांसि बहुविघ्नानि किं नु निःश्रेयसं तदा।
देवानामपि तन्नेष्टं भूत्यभूत्यप्रभुत्वकृत्॥ २॥

निःश्रेयस मोक्ष का कारण होने से ज्ञान को भी निःश्रेयस कहते हैं। निश्चितं श्रेयः निःश्रेयसं ऐसी उसकी व्युत्पत्ति है। अच्छे कार्य में विघ्न बहुत होते हैं। निःश्रेयस में फिर बात ही क्या। यह मोक्षकारी ब्रह्मज्ञान मनुष्यों को हो यह देवताओं को भी इष्ट नहीं है। क्योंकि ज्ञानी की भूति या अभूति कुछ भी करने में वे असमर्थ हो जाते हैं।

अभूत्यै नेशते देवा आभूत्यै वा विमोक्षिणः।
नातः प्रियं तद्देवानां मनुष्या विद्युरित्यदः॥ ३॥

मोक्ष पानेवाले ज्ञानियों की न तो देवता अभूति कर सकते हैं और न आभूति ही। अतः मनुष्य ब्रह्म को जाने यह देवताओं को प्रिय नहीं है।

अभूतिं प्रापयन्त्येते स्वाननर्चयतो जनान्।
आभूतिं चापयन्त्येते स्वान् समर्चयतो जनान्॥ ४॥

देवता अपनी अर्चना न करनेवालों को अभूति=परम अनैश्वर्य प्राप्त कराते हैं और अपनी सम्यक् अर्चना करनेवालों को आभूति=परम ऐश्वर्य प्राप्त कराते हैं।

प्रारम्भाः फलिनो नूनं प्रसन्नश्चेद् गणेश्वरः।
नो चेद्विफलतां यान्ति यत्ना विश्वसृजोऽप्यलम्॥ ५॥

प्रारम्भाः फलिनः प्रसन्नहृदयो यश्चेत्तिरश्चामपि इत्यादि श्लोक में संक्षेप शारीरककारों ने यह बात स्पष्ट कही है।

अन्येषां खलु देवानां का वार्ता तत्र वर्तताम्।
निग्रहानुग्रहकराः प्रसिद्धा देवतादयः॥ ६॥

गणेशजी की ऐसी बात है तो अन्य देवताओं की बात क्या है। देवता आदि निग्रह एवं अनुग्रह करनेवाले हैं यह प्रसिद्ध है।

अभूत्याऽऽभूत्यभावार्थं नञ्द्वयं तु श्रुतौ श्रुतम्।
अप्यर्थं चन शब्दं तु भाष्यकारा विवव्रिरे॥ ७॥

तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते (१.४.१०) इस बृहदारण्यक वाक्य में ब्रह्मज्ञानी के-प्रति देवता कुछ करने में असमर्थ बताया है। वहां दो नञ् हैं अतः अभूति अनैश्वर्य में और आभूति ऐश्वर्य करने में असमर्थ हैं ऐसा अर्थ किया। भाष्यकारों ने 'चन' अलग शब्द है अपि अर्थ में है ऐसा बताया।

मुग्धबोधे तु किंशब्दाच्चनप्रत्यय ईरितः।
वेदे स्वप्रश्चनेत्यादिरप्यर्थेऽन्यत्र चेक्ष्यते॥ ८॥

मुग्ध बोध व्याकरण में किं शब्द से चित् और चन दो प्रत्यय विभक्त्यलोपादि बताया। कश्चन केनचन किंचन कश्चित् किंचित् इत्यादि उदाहरण है। परंतु वेद में अन्य शब्दों के बाद में चन शब्द अपि अर्थ में आया जैसे स्वपश्चन पितरश्चन इत्यादि।

अधिकार्थाऽऽप्तिलोभेन नञ्द्वयं क्लेशतोऽप्यहम्।
अयोजयमिति ज्ञेयं नातोऽसूया विधीयताम्॥ ९॥

अधिकार्थ लोभ से दो नञ् मानकर सक्लेश योजना हम की। अतः गुण में दोषाविष्करण न करो।

पित्रादयो रुदन्त्येव प्रव्रजत्यात्मजादिके।
हा गतः शासनीयो मे हा शुश्रूषुरयादिति॥ १०॥

अधिकार्थ लाभ कैसे? जैसे बालक प्रव्रजन करे संन्यासी बने तो पिता आदि रोते हैं। अब हम किस पर शासन करेंगे? कभी हम उसको डांटते भी थे। अब कौन हमारी शुश्रूषा करेगा?

दण्डितोऽविनये बालो रोदने चानुरञ्जितः।
दण्डयेऽद्य कमन्यं तु लालये वेतरं नु कम्॥ ११॥

अविनय करने पर हम दण्डित करते थे। रोने पर खुश करते थे। आज वह दण्डनीय भी नहीं रहा रञ्जनीय भी न रहा।

मदतिक्रमणाद् दुःखी जातः शुश्रूषया सुखी।
वर्चस्वितामभीप्सन्ति स्वीयामेवं हि प्रायशः॥ १२॥

मेरा अतिक्रमण (अनादरादि) का फल उसने पाया। दुःख भोगना पडा। मेरी शुश्रूषा का फल है, उसने सुख पाया; इस प्रकार प्रायः सभी लोग अपना वर्चस्व दूसरों पर जमाना चाहते हैं।

आ समन्ताद् भवन्ती हि भूतिरैश्वर्यलक्षणा।
व्याप्त्यर्थः सायणीये त्वाभुवदूतीरिहोदितः॥ १३॥

'कया न श्चित्र आभुवदूतीः' इस मन्त्र की व्याख्या में सायणाचार्य ने आभुवत् व्याप्नुयात् अर्थ किया है प्रभावादि से दूसरे पर छा जाना आभूति है।

गुरवो व्याप्नुवन्त्येव पुत्रादेः किल जीवनम्।
शासनाद् रक्षणाद् प्रेम्णाऽऽशिषा चाभूतिरेव सा॥ १४॥

बडे लोग (पिता आदि) पुत्रादि के जीवन पर व्याप्त रहते हैं। कहीं शासन से, कहीं रक्षण से, कहीं प्रेम से और कहीं आशीर्वाद से। सभी आभूति ही है।

शृङ्गादिघाते ताड्यन्ते पूज्यन्ते क्षीरलाभतः।
धनं गवादयस्तेषां वियोगो न प्रियं नृणाम्॥ १५॥

सींग मारे तो ताडन करते हैं, दूध दे तो पूजा करते हैं। अतः गाय आदि धन है। उन का वियोग मनुष्यों को अप्रिय होता है।

नैव दण्ड्यो भवेन्मुक्तो नैव पाल्यश्च कस्यचित्।
मोक्षदं नैव देवानां ब्रह्मज्ञानं प्रियं ततः॥ १६॥

मुक्त को न दण्ड दिया जा सकता और वह पालनीय भी नहीं होता। अतः मोक्षदायी ब्रह्मज्ञान मनुष्य को प्राप्त हो, यह देवता नहीं चाहते।

विघ्नन्ति देवा अप्येवं ब्रह्मज्ञानप्रवर्तने।
शान्तिपाठे न देवोत्थो विघ्नः कार्याय कल्पते॥ १७॥

इस प्रकार ब्रह्मज्ञान के प्रवर्तन में देवता भी विघ्न डालते हैं। शान्तिपाठ करने पर देवकृत विघ्न कामयाब नहीं हो पाता।

मन्त्रेण प्रर्थ्यमानं च लभ्यते फलमुत्तमम्।
ज्ञानप्राप्त्यादिके यद्धि भवेदावश्यकं सताम्॥ १८॥

सह नाववतु इत्यादि मन्त्र से प्रार्थना करने पर उत्तम फल मिलता है। ज्ञान प्रासि आदि के लिये जो अत्यन्त आवश्यक है।

अन्ते च पाठः तज्ज्ञान-रक्षाप्रवचनादिके।
कारणं तेन चान्तेऽपि शान्तिपाठो विधीयते॥ १९॥

अन्त में पाठ ब्रह्मज्ञानरक्षा एवं प्रवचन प्रचयादि में कारण है। अतः अन्त में भी शान्तिपाठ किया जाता है।

ॐ सह नाववतु

प्रणवाद्याः स्मृता मन्त्राश्चतुर्वर्गफलप्रदाः।
तस्माच्च निःसृताः सर्वे प्रलीयन्ते च तत्र वै॥ २०॥

ॐकार को प्रथम बोलकर पठित मन्त्र धर्मादि चतुर्वर्ग फलदायी होते हैं। प्रणव से ही सभी वेदमन्त्र निकले हैं उसी में लीन भी होते हैं।

स हेति द्विपदं क्वापि क्वापि चैकपदं भवेत्।
स देवोऽसंनिकृष्टो ह प्रसिद्धः परमेश्वरः॥ २१॥

सह यह दो पद रूप में भी है और एक पदरूप में भी है। दो पद में सः माने असंनिकृष्ट ह माने शास्त्रादिप्रसिद्ध परमेश्वर।

ननु नो विप्रकृष्टोऽयं व्यापकः परमेश्वरः।
तथा च संनिकृष्टः स्यान्न सम्बन्धनिषेधनात्॥ २२॥

परमेश्वर व्यापक है विप्रकृष्ट नहीं है, संनिकृष्ट भी नहीं। चक्षु आदि के सम्बन्धरूपी संनिकर्षरहित विवक्षित है।

समीपे निकटाऽऽसन्नसंनिकृष्टेति कोशतः।
असमीपार्थता मैवं तद्वन्तिक इति श्रुतेः॥ २३॥

असंनिकृष्ट का असमीप अर्थ विवक्षित हो तो भी 'तद्वन्तिके' इस

श्रुति से विरोध होगा।

तच्छब्दः स्यात्परोक्षेऽर्थ इत्यप्येव न युज्यते।
यत्साक्षादपरोक्षात् तद्ब्रह्मेत्याह यतः श्रुतिः॥२४॥

'इदमस्तु संनिकृष्टे समीपतरतस्तथैतदो रूपम् अदसस्तु विप्रकृष्टे तदितिपरोक्षे विजानीयात्' ऐसी कहीं की कारिका है। इदं का रूप समीप वस्तु में प्रयुक्त होता है। समीपतर वस्तु में एतत् का रूप प्रयुक्त होता है। विप्रकृष्ट अर्थ में अदस् का रूप प्रयुक्त होता है। तदिति=तदित्यस्य रूपं। तत् का रूप परोक्ष अर्थ में प्रयुक्त होता है ऐसा जानो। परंतु यह सः का परोक्ष अर्थ उचित नहीं है। 'यत् साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' ऐसी श्रुति है।

भाष्ये स एवोपनिषत्-प्रकाशित इतीरितम्।
काठके तत्र पूर्वोक्तपरामर्शी स इत्ययम्॥२५॥

कठोपनिषत् के अन्त में। सह नाववतु 'कः अवतु' के उत्तर में कहा 'स एव परमेश्वरः उपनिषत्प्रकाशितः'। अतः वहां 'स' शब्द पूर्वोक्त परामर्शी हो जायेगा।

यत्र पूर्वं तु नो कश्चिदर्थस्तावत् प्रकाशितः।
बुद्धिस्थस्य परामर्शस्तत्र बोध्यो मनीषिभिः॥२६॥

परंतु जहां पूर्व कुछ प्रकाशित न हुआ हो वहां क्या होगा? वहां बुद्धिस्थ का परामर्श समझना चाहिये।

सोऽपरोक्षोऽपि च परः स्थितोऽस्माकं परोक्षवत्।
तस्मादपि स इत्येवं परोक्षविधयेरितः॥२७॥

भले वह परमात्मा अपरोक्ष हो, पर हमारे लिये आवरण के कारण परोक्षवत् हो गया। इसलिये भी परोक्ष के समान 'सः' से कहा गया।

आवर्त्यं पादयोरेतत् सहेत्यर्थद्वयाप्तये।
यद्वानुवृत्त्याऽऽकृष्ट्या च तल्लाभ उपपाद्यताम्॥२८॥

सह का वह प्रसिद्ध परमेश्वर अर्थ भी है और 'साथ-साथ' यह अर्थ भी है। अतः सह की आवृत्ति करनी पडेगी। अथवा पूर्वपादस्थ सह की उत्तर पाद में अनुवृत्ति और उत्तरपादस्थ 'सह' की पूर्वत्र आकृष्टि कर लो।

स देवो ह किल श्रीलः प्रसिद्धः परमेश्वरः।
सहैव सार्धं नौ शिष्या-ऽचार्याववतु रक्षतु॥२९॥

वह देव जो ब्रह्मविद्यारूपी श्रीविषय होने से प्रकाशरूप प्रसिद्ध है परमेश्वर है, हम शिष्य और आचार्य की एक साथ रक्षा करे।

मन्त्रेषु प्रथमं प्राय ॐकारः पठ्यते बुधैः।
ॐरूपः परमात्माऽसा-ववत्वित्यन्वयो भवेत्॥३०॥

मन्त्रों का प्रायः प्रणवपूर्वक पाठ करते हैं। ॐकाररूप सः वह परमात्मा हमारी रक्षा करे ऐसा अन्वय होगा।

प्रणवाद्याः स्मृता मन्त्राश्चतुर्वर्गफलप्रदाः।
तस्माच्च निःसृताः सर्वे प्रलीयन्ते च तत्र वै॥३१॥

अन्यत्र वचन है-मन्त्र प्रणवादिक होते हैं या प्रणवपूर्वक स्मृत होने पर वे चतुर्वर्गफलदायी होते हैं उसीसे सभी उत्पन्न हुए उसी में लीन होते हैं।

अवतेर्मनि वस्योठि गुणे चोमिति सिध्यति।
अवेद् रक्षेज्जगदिदं धारणात्तेन चोमिति॥३२॥

अवधातु मन् प्रत्यय। व को ऊठ् आदेश होने पर ॐ होता है। जगत को धारण कर रक्षा करता है। अतः ओं कहा जाता है।

यथा पर्णं पलाशस्य शङ्कुनैव विधार्यते।
तथा जगदिदं सर्वमोंकारेणैव धार्यते॥३३॥

जैसे पत्ते रेशे से धारित होते हैं वैसे यह जगत ॐकार से धारित होता है।

वैयाकरणरीत्यैव - मोमित्येतन्निरूपितम्।
स्मृत्यादिषु यथा प्रोक्तं किंचित्तच्च प्रदर्श्यते॥३४॥

व्याकरणरीति से ॐकारार्थ बताया। अब स्मृति के अनुसार थोडा दिखाते हैं।

अकारो विष्णुरुद्दिष्ट उकारस्तु महेश्वरः।
मकारेणोच्यते ब्रह्मा प्रणवेन त्रयो मताः॥३५॥

अ=विष्णु, उ=शंकर, म=ब्रह्मा।

त्रिदेवात्मा त्रिशक्त्यात्मा व्यापकः सर्वधारणः।
सर्वरक्षाकरो देवः स नाववतु रक्षतु॥ ३६॥

त्रिदेवस्वरूप त्रिशक्तिस्वरूप सर्वरक्षक भगवान् हमारी रक्षा करे।

को नु हन्ता यतो रक्षा प्रार्थ्यतेऽत्रेति चेच्छृणु।
स्वयमज्ञः स्वहन्तोक्तः स्वयं च ज्ञः स्वरक्षकः॥ ३७॥

कौन है मारनेवाला जिससे बचाने की प्रार्थना की जा रही है। सुनो। स्वयं स्व का हनन करता है, स्वयं स्व को बचाता है।

योऽन्यथासन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा॥ ३८॥
नृजन्म दुर्लभं लब्ध्वोपनिषद्ब्रह्मदर्शनम्।
न यतेताऽत्ममुक्त्यै स निहन्ति स्वमसद्ग्रहात्॥ ३९॥

नित्य शुद्धबुद्ध आत्मा को जो अन्यथा समझता है वह आत्मापहारी चोर है। उसने क्या पाप नहीं किया? आत्महत्यारूप महापाप भी उसने किया। औपनिषद ब्रह्मदर्शन योग्य दुर्लभ मनुष्य जन्म पाकर आत्ममोक्षार्थ जो यत्न नहीं करता वह असद्ग्रहण से अपने आप को मारता है।

ननु मृत्युर्हि सर्वेषां जन्मापि व्यावहारिकम्।
सुखदुःखादि यत्तत्र तदपि व्यावहारिकम्॥ ४०॥
अविद्यो वा सविद्यो वा समानं सर्वमीक्ष्यते।
वाञ्छन्ति तन्निवृत्तिं च सर्व एव निरन्तरम्॥ ४१॥
कर्मभिर्वासनाभिश्च यथायथमुपेयते।
जन्मदुःखादि सकलं यथाप्रारब्धमुद्भटम्॥ ४२॥
जगन्मृषावेदिनोऽपि रोगे कर्कटकादिके।
दृश्यन्ते रोदिनस्तत्र का वाऽसद्ग्रहभूमिका॥ ४३॥

पूर्व - मृत्यु और जन्म दोनों व्यावहारिक सत्तावाले हैं। सुखदुःखादि भी सब का व्यवहारिक रूप समान है चाहे ज्ञानी हो चाहे अज्ञानी। और उसी व्यवाहारिक दुःखादि की निवृत्ति भी सब चाहते हैं। कर्म एवं वासना से प्रारब्धानुसार सबको दुःखादि प्राप्त होते हैं। जगत को मिथ्या

समझनेवाले भी कर्कटक आदि रोगों में रोते हुए देखे जाते हैं। इस में असद्ग्रह या सद्ग्रह की क्या भूमिका है।

अत्रोच्यते जरामृत्यू सर्वस्यैव भविष्यतः।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति योऽसन्नानेव पश्यति॥४४॥

उत्तर - जरा मृत्यु आदि सबके समान हैं। नानात्वदर्शी असद्ग्राही मृत्यु के बाद पुनः मृत्यु को प्राप्त होगा। आत्मदर्शी सद्ग्राही नहीं प्राप्त होगा।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः सद्ग्रहेऽपि रुजाद्यपि।
पुनर्जन्म पुनर्मृत्युर्न तस्येति विशिष्यते॥४५॥

जो जन्म ले चुका है वह तत्त्वज्ञानी भले हो फिर भी उसका रोगादि होना और मरना निश्चित है। विशेषता यही है कि उसका पुनर्जन्म तथा पुनर्मृत्यु नहीं होगी।

नन्वदृष्टमिदं तावत् फलं समुपवर्ण्यते।
पुनर्जन्मादिकं सर्वमदृष्टात्मफलं मतम्॥४६॥

पू. - दूसरा जन्म होगा फिर मृत्यु होगी इत्यादि सभी अदृष्टफल वर्णन है उससे मुक्ति तत्त्वज्ञान से होगी यह भी अदृष्ट विषयक ही है।

तथा च श्रुतिरप्याह तददृष्टत्ववादिनी।
को हि तद्वेद यल्लोके ह्यमुष्मिन्नस्ति वा न वा॥४७॥

श्रुति में परलोकादि की बात अदृष्ट बतायी है 'को हि तद्वेद यदमुष्मिँल्लोकेऽस्ति वा न वा'।

शास्त्रदृष्टत्वतो नेदमदृष्टमिति चाप्यसत्।
शास्त्रदृष्टे पुण्यपापे नादृष्टे किं भवन्मते॥४८॥

शास्त्रदृष्ट होने से पुनर्जन्मादि अदृष्ट नहीं हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्या शास्त्रदृष्ट पुण्य पाप आप के मत में अदृष्ट नहीं कहलाते?

मैवमैकान्तिकफलं ज्ञानमाचष्ट भाष्यकृत्।
प्रत्यक्षं ह फलं तस्य विज्ञानस्य महात्मनाम्॥४९॥

उ. - समाधान यह है-ज्ञान का स्वानुभववेद्य प्रत्यक्ष फल है और

ऐकान्तिक (निश्चित अव्यभिचरित) फल है।

यत्तूक्तं ज्ञानिनोऽप्येव रुग्णाः क्लिश्नन्ति भूरिशः।
सत्यं न ज्ञानवेलायां क्लेशोऽस्ति ब्रह्मवेदिनः ॥५०॥

जो बताया ज्ञानी भी रोग से क्लेश पाते हैं, रोते हैं, सो सत्य है। किन्तु ज्ञान समय में कोई क्लेश नहीं होता।

मनसो निग्रहायत्तमभयं सर्वयोगिनाम्।
दुःखक्षयः प्रबोधश्चाप्यक्षया शान्तिरेव च ॥५१॥

मन के निग्रह के अधीन प्रथम अभयात्मक आत्मदर्शन होता है वही परिपक्व होकर प्रबोध होता है। उससे दुःखक्षय एवं अक्षय शान्ति भी प्राप्त होती है जिसे मोक्ष कहते हैं।

इत्याचार्यवरप्रोक्तं श्रुत्यापि च समर्थितम्।
या तमेव विदित्वाति मृत्युमेतीत्यघोषयत् ॥५२॥

गौडपादाचार्योक्त अर्थ का 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति' यह श्रुति समर्थन करती है।

तमेवेत्येवकारोऽन्यविषयत्वं निषेधति।
अखण्डाकारवृत्तिर्हि ततः श्रुत्याऽवबोध्यते ॥५३॥

श्रुति एवकार से ब्रह्मेतर द्रव्यगुणकर्मादिविषयव्यावृत्ति कर अखण्डाकारवृत्ति प्रस्तुत करती है।

तामेवाभ्यस्यतस्तस्य श्रवणाद्यनुतिष्ठतः।
प्रबोधः स्यात्ततो दुःखक्षयोऽतः शान्तिरक्षया ॥५४॥

उसी अखण्डाकार वृत्ति की आवृत्तिरूप अभ्यास जो श्रवणमननादि के साथ करता है उसी को प्रबोध (साक्षात्कार) होगा। उससे सर्वदुःख निवृत्ति और अक्षय शान्ति होगी।

तस्मादत्रैव जनुषि प्राप्यो भवति सद्ग्रहः।
यत्र नान्योऽस्ति विषयः प्रबोधोपि यतो भवेत् ॥५५॥
अन्यथा कर्मवैचित्र्याद् भवेन्मृत्युपरस्परा।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोतीत्येतदेव जगौ श्रुतिः ॥५६॥

इसीलिये इसी जन्म में सन्मात्रवेदन प्राप्त करो जिसमें सदितर विषय नहीं और जिससे आगे जाकर प्रबोध भी होगा। अन्यथा असद्ग्रहवालों की कर्मवैचित्र्य के कारण मृत्युपरम्परा होगी। यही 'मृत्योः स मृत्युं' इत्यादि श्रुति कहती है।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये दुर्गमित्यर्जुनोऽब्रवीत्॥५७॥
अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेयेत्यादि चाऽवोचतार्जुनः॥५८॥
इत्थं च बहु चाञ्चल्यं मनसोऽन्यार्थधावनात्।
जानतोऽनिच्छतोऽप्येव पापवृत्तिश्च गम्यते॥५९॥
तन्निग्रहाय भगवत्प्रार्थना शरणं नृणाम्।
ब्रह्मप्रकाशनेनेशः सह त्वावामवत्विति॥६०॥

'चञ्चलं हि मनः कृष्ण' इस गीता श्लोक में मनोनिग्रह तथा तत्प्रयुक्त प्रबोध दुर्गम बताया। 'अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति' में पाप प्रवृत्ति बतायी। अतः जन्म मरण परम्परा के कगार पर सभी खडे हैं। उस मन के निग्रह के लिये पापोपरति के लिये भगवत्प्रार्थना ही उपाय है। यही 'सह नाववतु' में प्रार्थना है।

ननु सिद्धो गुरुस्तस्य प्रार्थना निष्प्रयोजना।
श्रोत्रियो ब्रह्मनिष्ठो हि श्रुतिषु श्रूयते गुरुः॥६१॥

पू. - गुरु तो सिद्ध ही होता है। गुरु के लिये प्रार्थना व्यर्थ है। 'स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' ऐसी श्रुति है।

सत्यं तथापि पूर्णत्व-विरहेऽपि गुरोः क्वचित्।
विद्या ग्राह्येत्यनेनैव सूच्यते भक्तिरस्ति चेत्॥६२॥

उ. - बात सत्य है। किन्तु इसी से सूचित होता है कि गुरु पूर्ण न हो तो भी उससे विद्या ग्राह्य है। स्वयं में भक्ति होनी चाहिये।

ज्ञानित्वेऽपि ह्यवहितै-र्भवितव्यं मनीषिभिः।
भक्तिश्च प्रार्थना चैव कर्त्तव्यैवाऽप्रमादतः॥६३॥

ज्ञानी को भी सावधान रहना चाहिये, भक्ति और प्रार्थना करनी चाहिये।

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति॥ ६४॥

मार्कण्डेय पुराण में सप्तशती में बताया है महामाया देवी भगवती ज्ञानियों के भी मन को बलात् खींच कर मोह में डालती है।

ननु ज्ञानाग्निविप्लुष्टा नाऽविद्या पुनरुद्भवेत्।
अनादेः कारणं नैवा-ऽविद्या चानादिरिष्यते॥ ६५॥

पू. - ज्ञानाग्नि से अविद्या जल जाती है। अविद्या पुनः उत्पन्न नहीं हो सकती। क्योंकि अविद्या अनादि मानी गयी है। अनादि का कारण नहीं होता। तब नयी अविद्या कैसे पैदा होगी जिससे मोह हो।

नष्टायामप्यविद्यायां तत्संस्कारोऽनुवर्तते।
स एव स्थौल्यमापन्नोऽविद्याभावं प्रपद्यते॥ ६६॥

उ. - अविद्या के नष्ट होने पर भी उसका संस्कार रहता है। वही स्थूलभाव प्राप्त कर अविद्या हो जाती है।

उक्तमानाद् बाधितानु-वृत्तिसंदर्शनादपि।
विद्यावतामप्यविद्या-संस्कारोऽभ्युपगम्यते॥ ६७॥

उक्त मार्कण्डेय पुराणवचन से और बाधितानुवृत्तिदर्शन से विद्वानों में भी अविद्या संस्कार स्वीकार किया है।

मा भूत्तदुद्भव इति प्रार्थना भक्तिभावना।
युक्ताचार्यस्य सह नाववत्वित्यनुगायतः॥ ६८॥

उस संस्कार का प्रकटरूपेण उद्भव न हो एतदर्थ-भक्तिभावना-पूर्वक प्रार्थना उचित है। अतः आचार्य भी सह नाववतु यह मिलकर गाते हैं।

ननु कर्माण्यपि तदा कार्याणि स्युर्महात्मनः।
मैवं कर्तृत्वबाधेन कर्मण्यस्याऽप्रवृत्तितः॥ ६९॥

फिर ज्ञानी कर्म में भी लग जायेगा। नहीं। कर्तृत्वबाध हो गया है।

न कर्तृत्वादिसापेक्षा भक्तिः स्याद्भावनात्मिका।
ध्यायतश्चैकतां याति समाधौ भक्तियोगिनः॥ ७०॥

प्रार्थना भक्ति आदि में कर्तृत्व ब्राह्मणत्वादि की भावना आवश्यक नहीं है। ध्यान में तो परमात्मा के साथ एकता ही हो जाती है।

नन्वेषा मन्त्रपूर्वास्ति प्रार्थना तत्र कारणम्।
ब्राह्मण्यादि ततो नैव बाध्यतेऽत्रेति चेन्न तत्॥ ७१॥

पू. - परंतु यहां 'सह नाववतु' ऐसा मन्त्र बोलकर प्रार्थना करना है। मन्त्राधिकार ब्राह्मणादि को है। अतः ब्राह्मणत्वकर्तृत्वादि बाध नहीं माना जा सकता है। इसका भी निराकरण सुनो।

तदुपर्यपि तत्प्राह संभवाद् बादरायणः।
ब्राह्मणत्वादिबाधेऽपि पूर्वाधीतस्मृतिर्भवेत्॥ ७२॥

'तदुपर्यपि बादरायणः संभवात्' इस प्राकर ज्ञान में देवताओं का अधिकार माना है। देवताओं में ब्राह्मणक्षत्रियादि विभाग नहीं है।

स्वयंप्रभातवेदत्वं देवानां चेदुपेयते।
स्वाधीतस्मृतवेदत्वं तत्त्वज्ञानां न किं भवेत्॥ ७३॥

स्वयं प्रभातवेदत्व देवों का है। तत्त्वज्ञानी का स्वाधीतस्मृतवेदत्व है।

व्यावहारिकविप्रत्वमात्रमत्र प्रयोजकम्।
व्यशेष्यबाधितत्वं न शास्त्रेषु तदसंभवात्॥ ७४॥

व्यावहारिक कर्तृत्व विप्रत्वादि ही प्रयोजक है। अबाधित विप्रत्व कर्तृत्वादि नहीं। ऐसा कहीं बताया नहीं, संभव भी नहीं। क्योंकि ब्रह्म से अतिरिक्त सभी ज्ञानबाध्य है।

नन्वेवं न विरोधः स्यात् कदापि ज्ञानकर्मणोः।
बाधितस्यानुवृत्त्यैव कर्मकर्तृत्वसंभवात्॥ ७५॥

पू. - ऐसे फिर ज्ञान और कर्मका विरोध समाप्त हो जायेगा। बाध होने पर भी बाधितानुवृत्ति से कर्तृत्व द्विजत्वादि ज्ञान के साथ संभव है।

मैवं प्रवर्तते को वा बाधिते किल पाथसि।
मरीचिकायां सहसा वर्तमानेऽम्बुदर्शने॥ ७६॥

उ. - मरुमरीचिका में दृश्यमान जल का बाध होने पर जल दिखने पर भी कोई तदर्थ प्रवृत्त होता है क्या?

अस्त्वप्रवृत्तिः किन्त्वत्र विरोधः को नु दुर्हरः।
भाष्ये विरोधः संप्रोक्तोऽकम्प्यः पर्वतवत् स्थिरः॥७७॥

माना कि बाधोत्तर मरीचिका जल में प्रवृत्ति नहीं होगी। पर ज्ञान कर्म विरोध किस प्रकार। भाष्य में उसे पर्वतवत् अकम्प्य बताया है। जल नहीं है ऐसा बाध होता है फिर भी जल दिखता है। वैसे कर्तृत्व द्विजत्वादि बाध हो, फिर भी दिखेंगे। उतने से कर्म संपन्न होता है। यथार्थ द्विजत्वादि ब्रह्मेतर बाध्य होने से असंभव पहले ही बताया।

शृणु द्विजत्वप्रभृति न प्रत्यक्षोपलम्भनम्।
नरत्वं वीक्षते सर्वः द्विजत्वादि तु शब्दतः॥७८॥

सुनो द्विजत्वादि प्रत्यक्ष नहीं है। मनुष्यत्व जाति आकृति ग्रहण होने से प्रत्यक्ष है। द्विजत्वादि तो शब्द प्रमाण गम्य है। यह ब्राह्मण है कहने से ही मालूम पडेगा।

यत्तु भट्टैः शब्दपूर्वा-दिन्द्रियाद्दर्शनं जगे।
तन्नेन्द्रियास्पदो नात्मा द्विजत्वादि कथं तथा॥७९॥

श्री कुमारिल भट्ट ने सकृत् श्रवण होने पर - यह ब्राह्मण है, सुनने पर तो इन्द्रिय से ब्राह्मणत्वादि प्रत्यक्ष होगा बताया। परंतु आत्मा चक्षुरादिगम्य है नहीं। तो उसमें ब्राह्मणत्वादि दर्शन दूरापास्त है।

न वा शरीरेऽप्यध्यक्षं रक्षस्त्वादिवदेव तत्।
दृढे ज्ञाने बाध्यते चेत्तुल्यमत्रापि तादृशम्॥८०॥

आत्मा में ब्राह्मणत्वादि का प्रत्यक्ष न हो किन्तु शरीर में तो प्रत्यक्ष है। और ब्राह्मणो यजेत का ब्राह्मण शरीरावच्छिन्नो यजेत अर्थ कर लेंगे। नहीं। जैसे चन्द्रादि ग्रहण में राहु राक्षसत्व का प्रत्यक्ष होता है वैसा ही यह है। वस्तुतः द्विजदम्पतिजन्यत्व प्रयुक्त द्विजत्वादि का शाब्दज्ञान एवं आनुमानिक ज्ञान ही है। अभ्यस्त होने से प्रत्यक्षवत् होता है। जैसे क्षत्रिय कुमार में शबर शब्द से वनवासियों को शबरत्व प्रत्यक्ष होता था। दृढतर छायात्व

क्षत्रियत्वादि बुद्धि होने पर बाधित होता है तो प्रकृत में भी तुल्य है।

ब्राह्मण्यां क्षत्रियाज्जातं प्रथमं ब्राह्मणं जगुः।
पश्चाद् यथार्थकथने सूतं ते जगृहुर्जनाः॥८१॥

ब्राह्मणी से क्षत्रिय ने पुत्रोत्पादन किया। प्रथम पता नहीं था। तब ब्राह्मणत्व का प्रत्यक्ष हुआ। पश्चाद् ब्राह्मणी ने ही सत्य घटना बतायी तब ब्राह्मणत्व बाध हो गया। सूतत्व देखने लगे। तात्पर्य यही कि ब्राह्मणत्वादि शब्दादि से प्रत्यक्षवत् होता है। प्रत्यक्ष नहीं। घट को पट कहे, भैंस को गाय कहे तो क्या शब्द सहित इन्द्रिय से पटत्वगोत्वादि का प्रत्यक्ष होता है? अज्ञानियों को प्रथम प्रत्यक्षवत् भले हो, प्रत्यक्ष नहीं है। उस ब्राह्मणी ने न कहा होता तो वह सूत ब्राह्मणी से विवाह करता और अन्ध परम्परा चलती।

नन्वेवं कर्मसंन्यासो न स्यात्कस्यापि चेति चेत्।
न विरक्तस्य संन्यासः शास्त्रेणैवास्ति चोदितः॥८२॥

यदि ज्ञान कर्म विरोध नहीं है तो ज्ञानी पर भी 'अग्निहोत्रंजुहोति' इत्यादि विधि लागू होगी। तब संन्यास कथा ही समाप्त हो जायेगी। नहीं। 'पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यां चरन्ति' इस श्रुति में एवं अन्य सैंकडों स्मृतियों में संन्यास विधान किया है। संन्यास कथा कैसे समाप्त होगी।

तत्र त्वाश्रमकर्म स्याद् विहितत्वात् तथोदितम्।
सूत्रकारेण तज्ज्ञानकर्मणोः क्व विरोधिता॥८३॥

संन्यासी होने पर भी आश्रमकर्म विहित होने से कर्तव्य है। 'विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि' ऐसा सूत्र भी है। तब ज्ञानकर्मविरोध कैसे होगा?

कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वादि-त्युक्ता जीवस्य कर्तृता।
तस्यैव ज्ञानमिति न विरोधो ज्ञानकर्मणोः॥८४॥

'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्' इस सूत्र में जीव को कर्ता बताया। उसी को श्रवणादि से ज्ञान भी होगा। तब ज्ञान कर्म विरोध कहां? शुद्ध ब्रह्म को न श्रवणादि होता है और न ज्ञान ही।

मैवं देहादिसंपृक्तो जीवः कर्तेत्युदीर्यते।
आध्यासिकश्च संपर्कः स्वयं सोऽयं निरञ्जनः ॥८५॥

सिद्धान्तः- देहादितादात्म्यापन्नचैतन्य ही जीव है वही कर्ता है। वह तादात्म्य आध्यासिक है। मिथ्या है। स्वयं चैतन्य निरञ्जन है।

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥८६॥
केवलं शुद्धमित्यर्थो भाष्ये तत्र प्रदर्शितः।
अधिष्ठानाद्यसहितमित्यर्थोक्तिस्तु मूढता॥८७॥
स्वर्गे जन्मान्तरे चैव नैष देशोऽस्ति कस्यचित्।
भिन्नः कर्ता भिन्न एव भोक्तेत्यापद्यते तदा॥८८॥
न कर्तृसहितः कर्ताऽनवस्था दुर्धरा तदा।
करणं किं नु दण्डादि कर्ता दृष्टो घटं प्रति॥८९॥
कर्तुश्च साधकतमं करणं कर्तृसंहतम्।
अन्योन्याश्रयता तत्रानवस्था वा प्रसज्यते॥९०॥
चेष्टायाश्चापि कर्तृत्वं गुरुणा केन पाठितः।
पञ्चैते कारणानीति पञ्च हेतव इत्यपि॥९१॥
उक्तं भगवता नात्र पञ्चकर्त्तार ईरिताः।
हेतुत्वं तु भवत्येव दण्डादिष्वपि लौकिकम्॥९२॥

गीता में अधिष्ठान (शरीर), कर्ता (जीव), करण (इन्द्रियादि) नाना चेष्टा तथा दैव (दिग्वातार्कादि देवता) ये पांच कर्मों में कारण हैं जो शुद्ध आत्मा को कर्ता मानता है वह दुर्मति है। केवलं का शुद्ध अर्थ भाष्य में बताया है। द्वैतवादी आदि कहते हैं-केवल आत्मा नहीं अधिष्ठानादि भी कर्ता है या अधिष्ठानादि सहित आत्मा कर्ता है। परंतु अधिष्ठान-शरीर कर्ता हो तो स्वर्ग में और जन्मान्तर शरीर में यह शरीर नहीं है तो कर्ता अन्य और भोक्ता अन्य हो जायेगा। कर्ता सहित आत्मा कर्ता है तो प्रथमोक्त कर्ता भी कर्ता सहित मानना पडेगा। तब आत्माश्रय या अनवस्था होगी। करण क्या कर्ता होता है यह किस गुरु ने आप को

पढाया? दैव में भी यही बात है। आप के कर्म फल का कुछ हिस्सा आदित्यादि देवता को भी भोगना पडेगा क्या? न्याय्यं वा विपरीतं वा। वस्तुतः गीता में पांच को कारण मात्र बताया। पञ्चैतानि महाबाहो कारणनि, पञ्चैते तस्य हेतवः। न कि पञ्चकर्ता बताये। घट के प्रति दण्ड कारण है। कर्ता नहीं है।

ज्ञानोत्पत्तावुपाधिश्च कर्तृत्वादि च तत्क्षणम्।
बाध्येत न क्षणापेक्षा विरोधस्तेन निश्चितः॥९३॥

ज्ञान उत्पन्न होते तत्क्षण अज्ञान उपाधि एवं कर्तृत्वादि बाधित होंगे। क्षण विलम्ब की जरूरत नहीं है। अतः ज्ञान कर्म विरोध निश्चित है।

अथैवं बाधनान्न स्यात् प्रार्थना सह नाविति।
बाधितस्याप्यपाकृत्यै स्वप्नभूतस्य दृश्यते॥९४॥

द्वैत बाध होने से सह नाववतु प्रार्थना नहीं होनी चाहिये। नहीं। स्वप्न दृष्ट बाधित होने पर भी उसको हटाने की प्रवृत्ति होती है।

मा बाधितानुवृत्त्या भूत् प्रवृत्तिर्मरुपाथसि।
दुःस्वप्नादेरपाकृत्यै प्रवृत्तिर्दृश्यते नृणाम्॥९५॥

मरुजल में बाधितानुवृत्ति से प्रवृत्ति भले न हो दुःस्वप्न भूतादि सच्चा नहीं है जानने पर भी लोग मन्त्रौषधादि प्रयोग करते हैं।

प्रत्यक्षदुःखक्षतये यतन्ते सर्व एव हि।
न वै बुभुक्षा मिथ्येति भिक्षां नाटन्ति भिक्षवः॥९६॥

प्रत्यक्षतः होनेवाला दुःख (चाहे वर्तमान चल रहा हो या कुछ देर में होनेवाला हो) हटाने के लिये सभी प्रयत्न करते हैं। क्या ज्ञानी लोग संन्यासी होने पर भी भूख मिटाने भिक्षाटन नहीं करते?

अदृष्टोपायतोऽदृष्टफलमुद्दिश्य वेदिनः।
न यतन्ते कृतश्चापि न फलाय तु कल्पते॥९७॥

यत्न भी अदृष्टद्वारक है फल भी अदृष्ट (जन्मान्तरभावी आदि) है तो तदर्थ ज्ञानी प्रयत्न नहीं करते। ऐसा कर्म कदाचित् हो भी गया तो वह फलकारी नहीं होगा।

मिथ्यात्वदर्शनादेव न श्रद्धा साध्यसाधने।
परेच्छादिप्रवृत्तस्य नादृष्टं तस्य वै फलम्॥ ९८॥

साध्यसाधनादि को मिथ्या देखनेवाले में कर्मादि श्रद्धा नहीं हो सकती। परेच्छादि से वह प्रवृत्त भी हो, पर अदृष्ट फल नहीं होगा।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥ ९९॥

अश्रद्धा से किया हुआ असत् होता है यह भगवद्वचन है।

श्रद्धाऽभाव इहाश्रद्धा न तु वैरादिलक्षणा।
श्रद्धावद् वैरमप्येव न हि ज्ञानिषु विद्यते॥ १००॥

अश्रद्धा भावपदार्थ वैरादि नहीं। क्योंकि ज्ञानी में वैरादि भी नहीं होते।

अस्तु भावपदार्थोऽत्र न वाक्यान्तरदर्शनात्।
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन॥ १०१॥

अश्रद्धा भावपदार्थ ही क्यों नहीं, अतः नास्तिकादियों के लिये यह वचन होगा। नहीं। नैव तस्य कृतेनार्थ इत्यादि वाक्यान्तर ज्ञानी के लिये आया है। ज्ञानी हो तो भी कृत कर्म का अर्थ क्यों नहीं। ज्ञानी पौधे के नीचे पानी डालता है तो क्या वह बढेगा नहीं? इस शंका निवृत्ति के लिये अश्रद्धया इत्यादि है। श्रद्धा के बिना कोई भी करे-यज्ञदानादि फलदायी नहीं होगा।

सह नाविति तर्ह्येषा व्यर्था स्यात्प्रार्थनेति चेत्।
न, विघ्नहरणादीह प्रत्यक्षं फलमाप्यते॥ १०२॥

तब 'सह नाववतु' यह फिर व्यर्थ हुई। नहीं। अदृष्ट फल स्थल के लिये श्रद्धा चाहिये। विघ्ननाश तत्त्वज्ञानादि तो यहां प्रत्यक्ष फल है।

आद्रियन्ते हि देवाश्च ज्ञानिनो नात्र संशयः।
तस्मात् कुर्युः प्रार्थितं ते ईश्वरोऽपि तथैव हि॥ १०३॥

देवता भी ज्ञानियों का आदर करते है। अतः प्रार्थित कार्य वे करते हैं। भगवान भी ज्ञानियों का आदर करते हैं। 'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः' बताया है।

यद्वाऽदृढं दृढं चेति ज्ञानं द्विविधमिष्यते।
लयविक्षेपकालीनमाद्यमूर्ध्वं दृढं भवेत्॥१०४॥

अथवा अदृढ और दृढ द्विविध ज्ञान है। लय विक्षेपादिकालीन अदृढ है। उससे ऊपर उठने पर दृढ है।

दृढे मा भूत्प्रार्थनादि-रदृढे सा तु युज्यते।
परोक्षं नापरोक्षार्थे इति मत्वेदमीरितम्॥१०५॥
परेषां प्रार्थना युक्ता परोक्षज्ञानिनामिति।
संभवेत् सुगमा व्याख्या ततः सर्वं समञ्जसम्॥१०६॥

लय विक्षेपादिरहति दृढ ज्ञान में प्रार्थना गुरु की न हो, अदृढ ज्ञानवालों के लिये उपयुक्त है। अपरोक्षार्थ (ब्रह्म) में परोक्ष ज्ञान नहीं होता। इस मत के अनुसार यह बताया। ब्रह्म विषयक परोक्ष ज्ञान माननेवालों के लिये सीधी व्याख्या है-गुरु को भी परोक्ष ज्ञानकाल में रुकावट न हो एतदर्थ प्रार्थना संभव है। अतः सब समञ्जस है।

भाष्ये प्रामादिकान्यायदोषा ये गुरुशिष्ययोः।
व्याख्याने ग्रहणे तेषां शान्तये शान्तिरीरिता॥१०७॥
उत्तराऽश्लेषवचनाद्दोषाः सन्तु कथं गुरोः।
इत्याशङ्का तु पूर्वोक्तरीत्यात्रापि निवार्यताम्॥१०८॥

भाष्य में प्रमादकृत जो प्रवचन या ग्रहण में दोष आये या आयेंगे उनके शमन के लिये शान्ति पाठ बताया। 'तदधिगम उत्तर पूर्वाधयोरश्लेषविनाशौ' के अनुसार उत्तर दोषादि गुरु को कैसे? इत्यादि आशंका का वारण पूर्वोक्तरीति से ही कर लेना चाहिये।

सह नौ भुनक्तु

भुजोऽनवन इत्येवं यदशास्यात्मनेपदम्।
परस्मैपद्ययं तस्माद् भुजिः स्यादवनार्थकः॥१०९॥
इत्थं च पुनरुक्तत्वं श्रुतावत्रेति चेन्न तत्।
मनसो ह्यवनं पूर्वं शरीरस्येदमुत्तरम्॥११०॥

'सह नौ भुनक्तु' यहां भुज धातु का खाना आदि अर्थ नहीं, रक्षण ही अर्थ है। 'भुजोऽनवने' ऐसा पाणिनीय सूत्र है। रक्षणातिरिक्त अर्थ में भुज धातु का आत्मनेपदीरूप होता है। अवन (रक्षण) अर्थ में परस्मै पद होगा। यहां परस्मै पद का प्रयोग होने से रक्षणेतर अर्थ नहीं होगा। तब अवतु भुनक्तु यह पुनरुक्ति मात्र होगी। नहीं। प्रथम मन की रक्षा समझ लेना चाहिये। और यहां शरीर की रक्षा समझ लेना चाहिये।

मनसो रक्षणं नाम ज्ञानरक्षणमेव तत्।
मन ज्ञाने मनु अव-बोधने मुनिनोदितः॥ १११॥
आत्मैव नाविति प्रोक्तस्तद्रक्षा ज्ञानरक्षणात्।
अज्ञानादात्महननं ज्ञानात्तद्रक्षणं मतम्॥ ११२॥

मन का रक्षण ज्ञानरक्षण ही है। मन ज्ञाने मनु अवबोधने धातु से मन शब्द होता है। यद्यपि सह नौ में 'नौं' का आत्मा अर्थ है। अस्मत् शब्द का वह रूप है। तथापि ज्ञानरक्षा ही आत्मरक्षा होती है। अज्ञान से आत्महनन एवं ज्ञान से आत्मरक्षण प्रसिद्ध है।

उत्पत्तौ च स्थितौ चैव ये ज्ञानप्रतिबन्धकाः।
तेषां हानौ स्थिरं ज्ञानं यत्तद्धि ज्ञानरक्षणम्॥ ११३॥

ज्ञान की उत्पत्ति में और स्थिति में जो प्रतिबन्धक है उनका निवारण होने पर स्थिर ज्ञान होता है यही ज्ञानरक्षा है।

प्रज्ञामान्द्यं कुतर्कश्च विपर्ययदुराग्रहः।
विषयासक्तिरित्येते ज्ञानस्य प्रतिबन्धकाः॥ ११४॥

बुद्धिमान्द्य, कुतर्क, विपर्यय दुराग्रह, विषयासक्ति आदि प्रतिबन्धक हैं।

केचिद्देवकृतास्तत्र केचित्प्रारब्धभाविताः।
प्रमादजनिताः केचित् इति नानैव ते मताः॥ ११५॥

कहीं देवताकृत, कहीं प्रारब्धकृत, कहीं प्रमादकृत ऐसे प्रतिबन्धक नाना हैं।

श्रवणायापि बहुभिर्लभ्यते न बुभुत्सुभिः।
शृण्वन्तोऽप्येव बहव आत्मानं न परं विदुः॥ ११६॥

प्रतिबन्धकमेवात्र सर्वत्रापि प्रयोजकम्।
तस्यापनयनेनावां रक्षत्विति निवेद्यते॥ ११७॥

'श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः' इत्यादि श्रुति में प्रतिबन्धक को ज्ञानप्राप्तिप्रतिबन्धक कहा। उसे हटाकर हमारी रक्षा करो यह प्रार्थना है।

भुनक्त्वित्यत्र भुज्यर्थो बाह्यरक्षा प्रतीयते।
महीभुजो यथा भूपा महीरक्षणकारणात्॥ ११८॥

भुनक्तु में भुज धातु का अर्थ बाह्य रक्षण प्रतीत होता है। महीभुजः भूभुजः भूपाः इत्यादि समानार्थक है। बाह्य पृथिवी की वे रक्षा करते हैं।

भुजौ बाहू निगद्येते बाह्यरक्षणकारणात्।
बाहुजाः क्षत्रियाः प्रोक्ताः क्षतत्राणपरायणाः॥ ११९॥

बाह्य रक्षा करनेवाले होने से ही हाथों को भुजा कहते हैं। क्षत्रिय विराट् पुरुष की बाहुओं से उत्पन्न है। क्षत्रिय क्षतत्राणकारी होते हैं।

भुनक्तु परमेष्ठ्यावां भुजाभ्यां बलदानतः।
तच्च मन्त्रान्तरेऽप्युक्तं शरीरं मे विचर्षणम्॥ १२०॥

परमेष्ठी परमेश्वर हम दोनों की अपनी भुजाओं में बल देकर रक्षा करे। 'शरीरं मे विचर्षणम्' इस प्रकार अन्य मन्त्र में बाह्य शरीर रक्षा की प्रार्थना की गयी है।

रक्षणं द्विविधं हीष्टं-बाह्यमाभ्यन्तरं तथा।
बाहू इति ततो द्वित्वं किं बाहू इति चोदितम्॥ १२१॥

रक्षा दो प्रकार की होती है। एक बाह्य निमित्तक है। दूसरी आन्तरनिमित्तक। इसलिये-'बाहूराजन्यः' एसा द्विवचन है। रेफलोप और दीर्घ बाहू में मानें? नहीं। प्रश्न में भी द्विवचन है-किं बाहू, कौ बाहू।

भोज्यादेः संविभजनात् चौरादेश्च निकन्दनात्।
महीभुजामपि द्वैधं रक्षणस्यावलोक्यते॥ १२२॥

राजा आदि भी राष्ट्ररक्षा दो प्रकार से करते हैं। प्रजा को भोजन-वस्त्रादि संपादन करा कर भीतर की रक्षा। चोर-डाकू आदि से रक्षा बाहर से।

अवत्विति मनोरक्षा कायरक्षा भुनक्त्विति।
शरीरमाद्यं कविभिः धर्मसाधनमीरितम्॥१२३॥

सह नाववतु में मनरक्षा-ज्ञानादि रक्षा आभ्यन्तर है। शरीर रक्षा बाह्य है। शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनं से शरीर को धर्म साधन कहा है।

रोगैर्नानाविधैर्व्याप्तो वेदनाक्रान्तमानसः।
नाध्येतुं प्रभवेच्छास्त्रं ततस्तेभ्यो भुनक्तु सः॥१२४॥

नानाविध रोगों से शरीर में दर्द होने पर उसका प्रभाव मन पर पडता है। तब शास्त्र का अध्ययन अध्यापनादि नहीं कर पाते। उससे हमारी रक्षा करें।

पथ्याशनाद् व्यायमनाद् ब्रह्मचर्यानुपालनात्।
नरो न रोगी भवति किमर्था प्रार्थनेति चेत्॥१२५॥

पू. - 'पथ्याशी व्यायापी स्त्रीषु जितात्मा नरो नरोगी स्यात्' बताया है प्रार्थना किसलिये है? पथ्य खाओ। व्यायाम करो। ब्रह्मचारी रहो। रक्षा हो जायेगी।

न, प्रारब्धविशेषेण भवेद्रोगो यतेरपि।
तत्प्रारब्धं शिथिलयन् भुनक्त्वेष कलेवरम्॥१२६॥

उ. - ऐसी बात नहीं है। बडे-बडे संयमियों को भी प्रारब्ध विशेष से महारोग होते हैं। उस प्रारब्ध को शिथिल कर रोग विशेष से मुक्त कर शरीर रक्षा करें यह प्रार्थना है।

अकालमृत्युहरणं सर्वव्याधिविनाशनम्।
विष्णुपादोदकं यद्वत् तद्वत्स्यात् प्रार्थनापि हि॥१२७॥

जैसे भगवान का चरणोदक के अकाल मृत्युहारी सर्वव्याधिविनाशक बताया वैसे प्रार्थना भी है।

प्रारब्धं चेद् ध्रुवो रोगो न चेन्नैषोऽनुवर्त्स्यति।
न भुञ्ज्यादौषधं कोऽपि तन्नाशोऽतोऽस्ति यत्नतः॥१२८॥

प्रारब्ध है तो रोग जरूर रहेगा। नहीं तो रोग आगे बढेगा नहीं। ऐसा सोचकर कोई औषधसेवन नहीं करेगा। जीने का प्रारब्ध है तो ट्रेन क्या

करेगी, नही है तो यहां खडा-खडा भी मरूंगा ऐसा सोचकर कौन ट्रैन के आगे कूदेगा? अतः यत्न से प्रारब्ध का भी बहुत नाश होता है।

मृत्युंजयजपादेः स्यादारोग्यं दीर्घजीवनम्।
तथा मन्त्रजपादस्मादारोग्यं दीर्घजीवनम्॥ १२९॥

मृत्युंजय जप से मरणदायी रोग से छुटकारा मिलता है, दीर्घ जीवन मिलता है। वैसे 'सह नौ भुनक्तु'-इस मन्त्रोच्चारण से भी है।

प्राणायामादिभिर्योगी दीर्घमायुष्यमाप्नुयात्।
एतत्प्रार्थनयाप्येवं दीर्घायुष्यमियाज्जनः॥ १३०॥

प्राणायामादि से योगी दीर्घायु प्राप्त होते हैं। अयोगी भी इस प्रार्थना से दीर्घायुष् प्राप्त करेगा।

अभ्यासाद् दीर्घकालीनात् ससत्कारान्निरन्तरात्।
दृढभूमिर्भवेज्ज्ञान-मीशप्रार्थनयापि च॥ १३१॥

'स तु दीर्घकाल-नैरन्तर्य-सत्कारासेवितो दृढभूमिः' होता है। प्रार्थना से भी ज्ञान दृढभूमि होता है। इसलिये भी सह नौ भुनक्तु यह प्रार्थना है।

प्रोवाच तां तत्त्वतः स ब्रह्मविद्यामिति श्रुतौ।
प्रब्रूयादिति विध्यर्थं दर्शयामास भाष्यकृत्॥ १३२॥
आचार्यस्यापि नियमः परं निस्तारणं खलु।
न्यायप्राप्तस्य शिष्यस्येत्येवं तत्रैव दीपिका॥ १३३॥
ततश्च शास्त्रनियमपालनं हि यथा भवेत्।
तथाऽवतु भुनक्त्वीशः शिष्यमाचार्यमेव च॥ १३४॥

'तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्-प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्' इस मन्त्र से प्रोवाच का प्रब्रूयात् ऐसा विधि अर्थ भाष्य में दिखाया है। दीपिका में भी न्यायप्राप्त शिष्य को अविद्या से उभारने का नियम आचार्य के लिये बताया। अतः अवतु भुनक्तु ये दोनों प्रार्थनायें उपपन्न हैं।

भाष्ये समानं विद्यायाः स्वरूपस्य फलस्य च।
प्रकाशनेन रक्षत्वि - त्यविभुज्योरदर्शयत्॥ १३५॥

भाष्य में विद्यास्वरूप प्रकाशनेन अवतु पालयतु तत्फल प्रकाशनेन

भुनक्तु पालयतु इस प्रकार दोनों जगह धातु का समान अर्थ बताया।

ननु विद्यासमुत्पत्तौ स्वयमेव प्रकाशते।
फलं चैकान्तिकत्वेन स्वयमेव प्रकाशते॥१३६॥
किमर्थं प्रार्थना तत्र न चान्यार्थः प्रतीयते।
मैवं ग्रन्थस्थिता विद्या हृदये नौ प्रकाशताम्॥१३७॥
जीवन्मुक्तिसुखं चास्याः फलमन्तः प्रकाशताम्।
पुनर्मोहाऽसमुत्पत्तिः रक्षणं तेन जायते॥१३८॥
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
इत्यादिभिर्भगवता श्लोकैरेतत् स्फुटीकृतम्॥१३९॥

पू. - ज्ञान उत्पन्न हुआ नहीं तो उसका प्रकाशन क्या होगा? उत्पन्न हो गया तो उसका प्रकाशन अपने आप होगा। उसके लिये किसी कृपा की आवश्यकता नहीं। ज्ञान हुआ तो वह ऐकान्तिक फल होने से उसके फल के लिये प्रार्थना करना भी बेकार है।

उ. - उपनिषद् ग्रन्थ स्थित जो विद्या है उसका हृदय में प्रकाशन हो एतदर्थ प्रार्थना है। उसका जीवन्मुक्ति सुख फल ऐकान्तिक नहीं है। उसके प्रकाशन की प्रार्थना भी उचित है। उससे फिर रक्षण क्या होगा? विद्या प्रकाशन से पुनर्मोह की अनुत्पत्ति। जीवन्मुक्ति सुख प्रकाशन होने से क्या रक्षण होगा? विषय राग के लिये गुंजाईश नहीं रहेगा। निश्चितरूप से परम कैवल्य होगा। फिर पुनर्जन्म मरणादि नहीं होगा। यही रक्षा है। इस बात को 'यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि' इत्यादि अनेक वाक्यसंघातरूप श्लोकों से भगवान ने स्पष्ट किया है।

भाष्यं च तत्र यज्ज्ञानं ज्ञात्वेत्येतत्तु पूर्ववत्।
ज्ञानं ग्रन्थस्थितं चित्ते प्रकाश्येत्यनुयोज्यताम्॥१४०॥
यद्वाऽभेदेन सम्बन्धः स्यात्पाकं पचतीतिवत्।
अत्रापि शक्यं व्याख्यातुमिति सर्वं समञ्जसम्॥१४१॥

यज्ज्ञात्वा इस गीतापद की व्याख्या भाष्य में है-यद् ज्ञानं ज्ञात्वा ऐसी पूर्व बतायी रीति से योजना है। ग्रन्थस्थित ज्ञान को हृदय में प्रकाशित कर

यह अर्थ होगा। अथवा अभेद सम्बन्ध से अन्वय होगा। जैसे पाकं पचति। मन्त्र भाष्य में भी 'विद्यास्वरूप प्रकाशनेन' का 'विद्यास्वरूपात्मक प्रकाशन से' ऐसा अर्थ किया जा सकता है। अतः सभी समञ्जस है।

सह वीर्यं करवावहै

विद्याप्रयोजकं वीर्यं सामर्थ्यं करवावहै।
विद्यायाः कार्यभूतं यत्सामर्थ्यं तल्लभावहै॥ १४२॥

विद्या का प्रयोजक वीर्य यानी सामर्थ्य हम उत्पन्न करें। और विद्याजन्य जो सामर्थ्य है उसे भी उत्पन्न करें।

विद्याग्रहणसामर्थ्यं नेक्ष्यते बुद्धिमत्स्वपि।
विद्येति ब्रह्मविद्यात्र सा विद्या या विमुक्तये॥ १४३॥

विद्या प्रयोजक सामर्थ्य बडे-बडे बुद्धिमानों में भी देखने में नहीं आती। विद्या माने ब्रह्मविद्या। 'सा विद्या या विमुक्तये ' इस वचन के अनुसार असली विद्या मोक्ष प्रयोजक ब्रह्मविद्या ही है।

ईश्वरानुग्रहादेव पुंसामद्वैतवासना।
महाभयकृतत्राणा द्वित्राणां यदि जायते॥ १४४॥

विद्या ग्रहण सामर्थ्य क्या है? अद्वैतवासना। वह ईश्वरानुग्रह से ही प्राप्त होती है। महा भय से जो त्राण करनेवाली है, जो 'मनुष्याणां सहस्रेषु' के अनुसार हजारों में दो-चार को ही होती है।

अश्रद्धाऽद्वैतसत्तत्त्वे विपर्ययदुराग्रहः।
प्रतिबन्धक इत्यस्यां तदभावः प्रयोजकः॥ १४५॥

अद्वैत सत् रूपी तत्त्व में अश्रद्धा और विपर्यय में दुराग्रह दोनों ब्रह्मविद्या में प्रतिबन्धक है। इन का अभाव विद्या का प्रयोजक है।

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥ १४६॥

अद्वैत ज्ञानरूपी परम धर्म पर अश्रद्धा करनेवाले मुझे प्राप्त न होकर मृत्युरूप संसार में ही वापिस आते हैं।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न च मत्स्थानि तानि च॥ १४७॥
मृदादिभिर्यथा व्याप्तं तदुत्पन्नं घटादिकम्।
तथा भगवदुत्पन्नं व्याप्तं भगवता जगत्॥ १४८॥
रज्जौ सर्पः स्थितश्चैव न स्थितश्च यथार्थतः।
मिथ्या तत्स्थस्तथा सर्पः जगच्चैव तथेशगम्॥ १४९॥
स्वसमानाधिकरण - विरह - प्रतियोगि हि।
वस्तु मिथ्या ततः सिद्धमद्वैतं पारमार्थिकम्॥ १५०॥
अधिष्ठानं विना नैव कल्पना जायते क्वचित्।
मया ततं सता तेनेत्ययं भगवदाशयः॥ १५१॥

'मया ततं' इत्यादि गीता-श्लोकों में कई बातें बतायी हैं। जगत् भगवान से व्याप्त है। तो दिखते क्यों नहीं? इसलिये कि भगवान इन्द्रियगोचर नहीं है। परमात्मा में जगत् स्थित है और नहीं भी स्थित है। मिट्टी से उत्पन्न घटादि मृत्तिका से व्याप्त होता है वैसे परमेश्वरोत्पन्न जगत् परमेश्वर से व्याप्त है। रज्जु में सर्प स्थित है और नहीं भी स्थित है। अत एव वह मिथ्या है। वैसे जगत् ईश्वर में स्थित भी है नहीं भी है अतः जगत् भी मिथ्या है। मिथ्या का लक्षण है-स्वसमानाधिकरणाभाव प्रतियोगी। स्वयं के साथ स्वयं का अभाव भी हो वह मिथ्या है। भगवान ने जगत् को भी 'मत्स्थ' और 'न च मत्स्थ' बताया तो सर्पवत् जगत भी मिथ्या है। अधिष्ठान के बिना कल्पना नही होती। अतः अधिष्ठान सत् है। ईश्वर सत् है वही जगत् का अधिष्ठान है उसी सत् से जगत् व्याप्त है।

अनादृतश्रुतिगिर इमे बौद्धास्तमस्विनः।
आपेदिरे निरात्मत्वमनुमानैकचक्षुषः॥ १५२॥
द्वैताभावं मन्यमाना यद्यप्यद्वैतवादिनः।
अबुद्धसदधिष्ठाना नैरात्म्यं संप्रपेदिरे॥ १५३॥

श्रुति का अनादर कर केवल अपनी बुद्धि मात्र पर भरोसा रखनेवाले तम आवृत बौद्ध शून्यवादी बन गये। द्वैताभावरूपी अद्वैत को मानने से

अद्वयवादी कहे जाने लगे किन्तु अधिष्ठान सत्तत्त्व न जानने से नैरात्म्य को प्राप्त हुए।

बहुदूरं समं गत्वा वीतरागभयादयः।
जगन्मिथ्याऽवबुद्ध्यापि न तत्त्वं प्रतिपेदिरे॥१५४॥

बौद्ध बहुत दूर तक वेदान्तियों के साथ चले। वीतरागभयादि हुए। जगत को मिथ्या भी समझा। किन्तु परमार्थ तत्त्व को नहीं पा सके।

दुःखरूपमिदं सर्वं ज्ञात्वापि क्षणभङ्गुरम्।
तपस्तप्त्वापि नानन्दं ब्रह्म ते विविदुः परम्॥१५५॥

बहुत दूर तक साथ चलने का मतलब जगत् को दुःखरूप और क्षणिक उन लोगों ने समझा। सर्वं क्षणिकं सर्वं दुःखं समझा। तप भी गुफाओं में रहकर किया। किन्तु पुरुष को प्राप्त नहीं कर सके। आनन्दरूपी ब्रह्म को जाना नहीं, पाया नहीं।

दुराग्रहपरित्यागा - दीश्वरानुग्रहादपि।
श्रद्धया चापि विद्यायां सामर्थ्यमुपजायते॥१५६॥

दुराग्रह त्यागो, ईश्वरानुग्रह प्राप्त करो, श्रद्धा करो तो ही ब्रह्मविद्या की प्राप्ति में सामर्थ्य मिलेगा।

हन्तेमे द्वैतिनः सर्वेऽप्यधीत्यापि श्रुतीर्मुहुः।
नाद्वैततत्त्वविज्ञान-सामर्थ्यं द्वेषतो ययुः॥१५७॥

हमें दया आती है आश्चर्य भी होता है-ये द्वैतवादी श्रुतियों को बार-बार पढते हुए भी अद्वैत तत्त्वबोध पाने का सामर्थ्य प्राप्त नहीं कर सके। क्योंकि अद्वैत से उनका द्वेष रहा। विपर्यय दुराग्रहग्रस्त वे रहे।

श्रुत्यर्थं स्पष्टमप्येव व्याकुर्वन्तोऽन्यथान्यथा।
अद्वैतग्रहणे नैव सामर्थ्यं लेभिरेऽशिवाः॥१५८॥

श्रुति का अर्थ स्पष्ट होने पर भी अन्यथा-अन्यथा व्याख्या करने से अद्वैतग्रहण सामर्थ्य उनमें नहीं रहा। अतिकल्याणरूपमंगलहीन रहे।

तत्त्वमस्यादि वाक्येषु नाद्वैतं बोद्धुमीशिरे।
तस्मात्त्वं तस्य चासि त्वं तस्मिंस्त्वमिति संदधुः॥१५९॥

तत्त्वमसि आदि महावाक्यों से अद्वैत जानने में वे असमर्थ रहे। तस्मात् त्वं, तस्य त्वं, तस्मिन् त्वं इत्यादि विग्रह संघात करने लगे।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
तत्कर्तुं वाङ्मनसयोर्विषयं येतिरे वृथा॥ १६०॥

वाणी और मन जहां तक नहीं पहुँच पाते, वापिस आ जाते, उस तत्त्व को वाणी और मन का विषय बनाने का उनका यह प्रयत्न वृथा प्रयत्न नहीं तो क्या है?

सोऽयमित्यादि वाक्येषु ह्यभेदः स्पष्टमीयते।
स्पष्टं प्रतीयतेऽभेदस्तत्त्वमस्यादिके तथा॥ १६१॥

'सोऽयं' इस वाक्य में बिना शंका कुशंका अभेद स्पष्ट ज्ञात होता है। 'तत्त्वमसि' में तदर्थ और त्वमर्थ का अभेद स्पष्ट प्रतीत होता है। ऐसा नहीं कि सुपां सु सूत्र से तस्य इस षष्ठी का सु आदेश कर तस्यायं अर्थ हो।

य एव लौकिकाः शब्दा अर्थाश्चैव त व एहि।
प्रयोगचोदनाऽभावाद् वैदिका इति शाबरे॥ १६२॥

'प्रयोगचोदनाभावादर्थैकत्वमविभागात्' इस पूर्व मीमांसा सूत्र पर शाबर भाष्य में कहा है कि क्रियाकारक सम्बन्धरूपी प्रयोग के लिये वेद में अलग शास्त्र नहीं है। यदि लौकिक से वैदिक पृथक् हो तो कहीं भी अर्थज्ञान नहीं होगा। अतः लोक में जो शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त होता है उसी अर्थ में वही शब्द वेद में भी मान्य है। विभक्तियों में भी वही बात है यह जैमिनीय न्यायमाला में स्पष्ट कर दिया।

अन्यथानुपपत्त्या तु क्वाचित्कं चोदनान्तरम्।
ङिलोपः परमे व्योमन् सामानाधिकरण्यतः॥ १६३॥

अन्यनोदना अ-+न्यथानुपपत्ति के कारण क्वाचित्क है। जैसे 'परमे व्योमन्' वहां व्योमनि के ङि का लोप। परमे इस सप्तम्यन्त परम शब्द का वहां सामानाधिकरण्य व्योमन् में सप्तमीलोप से ही संभव है।

पूर्वं क्लीबं पुमान् पश्चादभूच्चेदौषधादिना।
तत्त्वमित्युच्यते तत्र लोके कोऽर्थः प्रतीयताम्॥ १६४॥

पहले नपुंसक था औषध शल्यक्रियादि से उसे पुरुष बनाया। या पूर्वजन्म का नपुंसक इस जन्म में पुरुष हो गया। वहां तत्त्वमसि बोलने पर लोक में क्या अर्थ प्रतीत होता है सोचो।

सदेव सोम्योपक्रान्तं तत्त्वमस्यब्रवीत् पिता।
उद्दालकः श्वेतकेतुं प्रयोगे तुल्यता स्फुटा॥१६५॥

प्रकृत में 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' से उपक्रम किया। उसीका परामर्श कर उपसंहार में तत्त्वमसि कहा। लोक वेद दोनों प्रयोग तुल्य है।

न शक्यं मनसाऽगम्येऽनुपपत्तिप्रदर्शनम्।
विशेषणविरोधस्तु सोऽयमित्यादिवत् स्फुटः॥१६६॥

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह के अनुसार मन के अविषय ब्रह्म में कोई अनुपपत्ति आप दिखा नहीं सकते। हाँ तत् और त्वं में विशेषणों में विरोध सोऽयं में जैसे यहां कह सकते हैं।

भागत्यागे तन्निवृत्त्या सिद्धमेव हि सिध्यति।
सिद्धं निवर्त्तकत्वाद्धि जगाद द्रविडो मुनिः॥१६७॥

सोऽयं के समान ही सर्वज्ञत्व-अल्पज्ञत्वादि विशेषण भाग का त्याग किया जाता है। तब स्वप्रकाश स्वयंसिद्ध ही सिद्ध होता है, प्रकाशमान होता है। यही द्रविडाचार्य ने भी कहा-'सिद्धं तु निवर्तकत्वात्'।

तन्निवर्तनसामर्थ्यं विद्यासामर्थ्यमुच्यते।
अत्र च प्रार्थ्यते तद्धि तद्वीर्यं करवावहै॥१६८॥

भागनिवर्त्तन सामर्थ्य ही विद्यासामर्थ्य है। उसी की **वीर्यं करवावहै** प्रार्थना है।

आकाशादिपदाद् यद्वन्निर्विकल्पकधीर्भवेत्।
तथा तत्त्वंपदाभ्यां स्यान्निर्विकल्पकधीद्वयम्॥१६९॥
वाक्यमैक्यावबोधेन परोक्षत्वपरिच्छिदे।
व्यावर्त्याखण्डधीवृत्तिं कुर्यादित्यपरे विदुः॥१७०॥

आकाशादि पद से निर्विकल्पक बुद्धि होती है ऐसे धुरंधर नैयायिक चिन्तामणिकारादि मानते हैं, वैसे यहां पर भी तत्पद और त्वंपद से

लक्षणोत्तर निर्विकल्पद्वय होगा। तब तत्त्वमसि वाक्य तदर्थ और त्वमर्थ का ऐक्य बोधन कराकर तदर्थ की परोक्षता और त्वमर्थ की परिच्छिन्नता को व्यावर्त्तित कर अखण्डाकार वृत्ति उत्पन्न करेगा ऐसा भी मानते हैं।

तथा चाज्ञानतत्कार्यनिवृत्त्या मुच्यते भवात्।
तत्सामर्थ्यं तदाप्त्यै वा सामर्थ्यं प्रार्थ्यते भवम्॥१७१॥

भागत्याग से शुद्ध ब्रह्म प्रकाशमान हुआ तो उसी से अज्ञान तत्कार्य निवृत्ति होकर संसार से पुरुष मुक्त होगा प्रथम पक्ष में। द्वितीय में अखण्डाकार वृत्ति से अज्ञान तत्कार्य निवृत्ति होने से पुरुष मुक्त होगा। वही सामर्थ्य है। अथवा उस सिद्ध स्वरूप प्रकाशन के लिये या अखण्डाकार वृत्ति के लिये जो सामर्थ्य है उस के लिये परमेश्वर की यहां प्रार्थना हो।

तेजस्विनावधीतमस्तु

तेजस्व्यधीतं नावस्तु विद्यासामर्थ्यकारणम्।
अधीतं खलु शास्त्रं यत्तत्तेजस्व्यस्तु हृद्गतम्॥१७२॥

हमारा अधीत तेजस्वी हो विद्या सामर्थ्य का कारण हो-क्या अधीत है? शास्त्र। वह हृदयङ्गम होकर तेजस्वी हो।

अधीतं तु यदा शास्त्रमर्थश्च करबिल्ववत्।
भासते स्पष्टविधया तत्तेजस्वीति कीर्त्यते॥१७३॥

अधीत शास्त्र एवं उसका अर्थ करामलवत् स्पष्ट प्रकाशमान रहता है तब वह तेजस्वी कहलाता है।

सर्वा अद्वैतवादिन्यः प्रत्यक्षा इव सर्वदा।
तिष्ठन्तीवोपनिषदः पुरो यस्य महात्मनः॥१७४॥

सभी अद्वैतवादिनी श्रुतियाँ प्रत्यक्ष सी दिख रही हो, उपनिषदें मानो सामने ही उपस्थित हों यह अधीत शास्त्र की तेजस्विता है। जैसे भाष्यकारादि एक बात कह देते हैं तो प्रमाणरूप में उपनिषदादि वाक्यों को बरसा देते हैं वह तेजस्विता है। उनको कहीं वाक्य ढूंढना नहीं पडता।

अर्थवादात्मिका कैव का तात्पर्यवती तथा।
सर्वासां कुत्र तात्पर्यं किंप्रयोजनकं पुनः॥ १७५॥
संशयस्योत्तरं कुत्र विरुद्धवदुपस्थितौ।
कथं तस्य समाधानमित्येतद् भासते स्फुटम्॥ १७६॥

कौन सा वाक्य अर्थवाद, कौन स्वार्थ तात्पर्यवाला है। सभी उपनिषद वाक्यों का कहाँ तात्पर्य है और वैसा क्यों? विरुद्ध जैसे प्रतीत होनेवाले वाक्यों में जो संशय होता है उसका समाधान कहां पर है उसका समाधान किस प्रकार है इत्यादि स्पष्ट भासें तो वह अधीत तेजस्वी है।

नैवार्थसंशयः क्वापि विपर्यासस्तु दूरतः।
एवं विधमधीतं तु तेजस्वीति निगद्यते॥ १७७॥

कहीं भी अधीत अर्थ में संशय नहीं है, विपरीत अर्थ करना तो दूर, ऐसा जब अधीत अर्थतत्त्व होता है तब वह तेजस्वी कहलाता है।

आचार्यस्याप्यधीतं स्यात्तेजस्व्यध्यापने सति।
अतः प्रवचनाच्चापि न प्रमाद्यमितीर्यते॥ १७८॥

अध्यापन से भी पूर्वाधीत तेजस्वी होता है। इसलिये प्रवचन से प्रमाद न करो बताया।

तेजस्व्यध्ययनं चैव भावे क्तान्तप्रयोगतः।
अधिकारप्रयुक्ता च तत्र तेजस्विता भवेत्॥ १७९॥

अधीत का अध्ययन भी अर्थ है। भाव में क्त प्रत्यय है। उसमें तेजस्विता अधिकार निमित्तक है।

संपादितमहायज्ञयज्ञ - दानतपोद्युतेः।
सभक्त्युपासितब्रह्म परब्रह्मोर्जितात्मनः॥ १८०॥
विवेकिनो विरक्तस्य शमादिगुणसंयुजः।
मुमुक्षोरर्थजिज्ञासोस्तेजस्व्यध्ययनं भवेत्॥ १८१॥

महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः इस मनुवचनानुसार ब्राह्मी अर्थात् ब्रह्म ग्रहण योग्य तनु बना लिया जिसने यज्ञ, दान एवं तप से जो ब्रह्मवर्चस्वी बना, विवेक वैराग्यादि सम्पन्न बना ऐसे उत्कट जिज्ञासु जो

बना उसका अध्ययन तेजस्वी होता है।

द्विविधाः साधकास्तावन्मोक्षशास्त्रमधीयते।
अकृतोपास्तयश्चैव कृतोपास्तय एव च॥१८२॥
लभन्ते तत्र नैवाद्या जीवन्मुक्तिसुखं बुधाः।
द्वितीयास्तु लभन्ते तदिति वेदविदो विदुः॥१८३॥
सयज्ञादि विवेकादि सर्वसामान्यसाधनम्।
जीवन्मुक्तिसुखोद्भावि तेजस्व्यध्ययनं मतम्॥१८४॥

दो प्राकर के साधक मोक्षशास्त्राध्ययन करते हैं। अकृतोपास्ति और कृतोपास्ति (उपास्ति=उपासना) प्रथम को जीवन्मुक्ति सुख प्राप्त नहीं होता, द्वितीय को ही वह प्राप्त होता है ऐसा शास्त्रवेत्ता मानते हैं। यज्ञयागादि विवेक वैराग्यादि सर्वसामान्य आवश्यक साधन हैं ही। उन में जीवन्मुक्तिसुखोद्भावक (अर्थात् कृतोपास्तिकृत) अध्ययन ही तेजस्वी है।

ननु व्यर्था प्रार्थनेयं कृतोपास्तेर्भवेत्तदा।
मुख्यसाधनशून्यत्वाद् व्यर्था चैवानुपासिनः॥१८५॥

पू. - कृतोपास्ति के लिये 'तेजस्विनावधीतमस्तु' यह प्रार्थना व्यर्थ है। क्योंकि प्रार्थना न करे तो भी जीवन्मुक्ति सुखदायी अध्ययन बनेगा। अकृतोपास्ति हो तो मुख्य साधन ही न रहा तो प्रार्थना व्यर्थ होगी।

मैवं न्यौन्येऽंशतो नैव तेजस्व्यध्ययनं भवेत्।
तत्पूर्तये प्रार्थनायाः सार्थक्यं वार्यतां कथम्॥१८६॥

उ. - ऐसी बात नहीं, कृतोपास्ति होने पर भी कहीं कहीं न्यूनता त्रुटि आदि हो सकती है जो तेजस्वी होने नहीं देती। अतः प्रार्थना सार्थक है।

ननु चाध्ययनं नैव गुरोः संप्रति विद्यते।
आचार्याद् विधितः शास्त्रश्रवणं हि तदुच्यते॥१८७॥
यदि चाध्ययनादृष्टमिह तावद्विवक्षितम्।
उत्पन्नपुनरुत्पत्तिर्घटते हि कथं तदा॥१८८॥

पूर्व. - यदि अधीत शब्द का अध्ययन अर्थ है तो गुरु में संप्रति नहीं है। क्योंकि आचार्य से श्रवण करना अध्ययन है। इस समय आचार्य अपने

आचार्य से कहां श्रवण कर रहे हैं? यदि अध्ययन से अध्ययन क्रिया नहीं, अध्ययनादृष्ट विवक्षित है तो वह पहले ही हो चुका है। उत्पन्न की पुनरुत्पत्ति नहीं होती।

प्रार्थनायुगदृष्टं हि नैवादृष्टान्तरप्रसूः।
पश्चात्कृतोपास्तितः स्याज्जीवन्मुक्तिसुखं तदा॥१८९॥

यदि कहें अध्ययनादृष्ट तेजस्विनावधीतमस्तु इस प्रार्थना से सहित होकर अन्य अदृष्ट को पैदा करेगा जो जीवन्मुक्ति सुखकारक है तो वह सही नहीं है। तब कृतोपास्ति अकृतोपास्ति विभाग करना बेकार है। श्रवणादि के बाद उपासना कर लो जीवन्मुक्ति सुख हो जायेगा। अतः पूर्वकृतोपासनावाले का श्रवणादि जन्य ज्ञान जीवन्मुक्ति सुखकारक है, यही सन्त मत है।

न चोतराङ्गवत् पूर्वादृष्टयुक् कारणं भवेत्।
तत्रास्ति कालनियमो नैरन्तर्यादिलक्षणः॥१९०॥
आचार्यो बहुकालात् प्राक् चकाराध्ययनं किल।
तस्योत्तराङ्गं नैवाद्य क्रियमाणा हि प्रार्थना॥१९१॥

जैसे दर्शपूर्णमास में प्रयाजादि पूर्वाङ्ग है अनुयाजादि उत्तराङ्ग है। वहां दर्शपूर्णमास करते ही क्रिया नष्ट होगी उसका अदृष्ट रह जायेगा। उससे सहित अनुयाजादि या तददृष्ट फलदायी होता है जैसे अध्ययनादृष्ट सहित सां प्रतिक प्रार्थना या तददृष्ट जीवन्मुक्ति सुखकरक होगा। नहीं। उत्तराङ्ग में कालनियम रहता है। नैरन्तर्य चाहिये। ऐसा नहीं कि दर्शपूर्ण-मास आज पूरा हुआ और दस-पांच साल बाद अनुयाज किया। यहां अध्यापक ने दस-बीस साल पहले अध्ययन पूरा किया। और आज प्रार्थना करते हैं तो कैसे दोनों मिलकर जीवन्मुक्ति सुख उत्पन्न करेगा? अतः यह प्रार्थना न उत्तराङ्ग है और न उत्तराङ्ग समान है।

विद्यया श्रद्धयाचोप-निषदा क्रियते हि यत्।
स्याद्वीर्यवत्तरं तद्धी-त्येतच्चोक्तं श्रुतौ स्फुटम्॥१९२॥

विद्ययेति तृतीयातः साहित्यमवबुध्यते।
न प्रार्थनाध्ययनयोः गुरौ साहित्यमत्र तु॥१९३॥

'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' इस श्रुति में विद्या (उपासना) आदि से जो कर्म करे वही वीर्यवत्तर होता है बताया। वैसे प्रार्थना भी हो अध्ययन भी हो तब जीवन्मुक्तिजनक वीर्य (वीर्यवत्तर) होगा यह भी पूर्वसमान है। अर्थात् विद्यया इत्यादि सहार्थ तृतीया है। विद्यादि सहित कर्म कहने से कर्म और विद्या का नियत कालत्व प्रतीत होता है। अध्ययन और प्रार्थना समकालिक नहीं है।

परमापूर्वनिष्पत्तावङ्गापूर्वप्रतीक्षणम्।
नियतं समयं कुर्यात् प्रधानापूर्वमुद्गतम्॥१९४॥

प्रधानापूर्व परमापूर्व निष्पत्ति के लिये अङ्गापूर्व की अमुक काल की ही प्रतीक्षा करेगा।

मैवं सर्वाङ्गयुक्तत्वे तेजस्व्यध्ययनं भवत्।
समर्थमुभयत्र स्यात् स्वबोधे परबोधने॥१९५॥
यत्किंचिदङ्गवैकल्ये न भवेद्वीर्यवत्तरम्।
तन्न्यौन्यपरिहाराय प्रार्थनैषा गुरोरपि॥१९६॥

उ. - उत्तर यह है कि केवल उपासना की बात नहीं। पूर्वोक्त अंगों में किसी की भी विषमता होने पर या न्यूनता होने पर अध्ययन तेजस्वी वीर्यवत्तर नहीं होगा। सर्वाङ्गपूर्ण होने पर ही स्वबोध में और परबोधन में अर्थात् जीवन्मुक्ति सुख प्रयोजक स्वबोध एवं वैसे ही पर (शिष्यादि) बोध उत्पन्न करने में समर्थ होगा। वैषम्यादि होने पर तत्परिहारार्थ प्रार्थना है।

नन्वङ्गजनितं पुण्यं तेजस्वित्वे प्रयोजकम्।
न हि प्रार्थनया त स्यात् नान्यत् तेजस्तु किंचन॥१९७॥

पू. - उपासना श्रद्धा आदि अङ्ग से उत्पन्न पुण्य ही तेजस्विता में (वीर्यवत्तरता में) हेतु है। तब अङ्गजनित पुण्य प्रार्थना से कैसे होगा। पुण्य से अतिरिक्त कोई तेज प्रसिद्ध नहीं है।

शृण्वाह भगवान् शुक्रं कर्मच्छिद्रं हि संतनु।
यत्तत् कर्मसु वैषम्यं ब्रह्मदृष्टं समं भवेत्॥ १९८॥

सुनो-भगवान ने शुक्राचार्य को कहा है आचार्य! कर्म में जो छिद्र आ गया उसे सी कर जोड दो। ब्राह्मण दृष्ट होने पर विषम कर्म सम बन जाता है।

ब्राह्मणा ऋत्विजः सर्वे ब्राह्मणः शुक्र एव च।
ब्रह्मदृष्टं स्वतः सिद्धं कोऽर्थस्तस्य भविष्यति॥ १९९॥

यज्ञ में ऋत्विक सभी ब्राह्मण ही थे। शुक्राचार्य भी ब्राह्मण थे। तब ब्रह्मदृष्ट स्वतः सिद्ध है। तब ब्रह्मदृष्ट से कर्मवैषम्य दूर करने का क्या अर्थ है?

तदेव भगवद्वाक्यं व्याचक्षाणो महामतिः।
शुक्राचार्यस्तदा प्राह भगवन्तं त्रिविक्रमम्॥ २००॥
मन्त्रतस्तन्त्रतश्छिद्रं देशकालार्हवस्तुनः।
सर्वं करोति निश्छिद्रं नामसंकीर्तनं तव॥ २०१॥

शुक्राचार्य ने उसी भगवद् वाक्य की व्याख्या करते हुए वामन को कहा-मन्त्र की त्रुटि से तन्त्र (क्रियाक्रम) की त्रुटि से, देश के दोष से, काल के दोष से, ऋत्विगादि में योग्यता की न्यूनता से एवं घृतादि वस्तुओं के दोष से जो छिद्र होता है उससे यज्ञादि कर्मों में जो त्रुटि आती हैं, छिद्र आते हैं सबको निश्छिद्र करने का-सर्वदोषनिवारण का महान उपाय है-नामसंकीर्तन।

नामसंकीर्तनमिति प्रार्थनाद्यपि गृह्यते।
भगवन्तं प्रार्थयतां नामस्मरणमस्ति हि॥ २०२॥

नामसंकीर्तन से प्रार्थनादि सभी गृहीत है। प्रार्थना भी भगवान् से करते हैं तो हृदय में भगवन्नाम भी आयेगा। 'शब्दार्थज्ञानाना-मितरेतरभावात् संकरः' ऐसे पातञ्जल सूत्र है।

हरे कृष्णेत्यादिनापि प्रार्थ्यते परमेश्वरः।
हरिर्हरति पापानि हरत्विति च गम्यते॥ २०३॥

हरे कृष्ण इत्यादि नामसंकीर्तन से पापहरण करनेवाला हरि है। तब हे हरे मम पापानि हर (मेरे पापों को हरो) यह अन्तर्निहित प्रार्थना है।

इदं सर्वं खलु ब्रह्म तज्जलादित्वतो मतम्।
तथा च सर्वा वागेषा भवति ब्रह्मवर्तिनी॥२०४॥
ऋषयोऽतस्त्वयि मनो-वचनाचरितं दधुः।
न भवन्त्ययथा नृणां भुविदत्तपदानि हि॥२०५॥
परं घटः पट इति कीर्त्तनेऽग्निर्यमेति वा।
नोच्यते प्रार्थनीयार्था-नभिव्यञ्जनकारणात्॥ २०६॥

सर्वं खल्विदं ब्रह्म श्रुति है। क्योंकि समस्त जगत ब्रह्म से उत्पन्न हुआ, ब्रह्म में लीन होता है। अत एव सभी वाणी ब्रह्म को ही बोलती है। यही कारण है कि ऋषियों का मन, वाणी एवं कर्म ब्रह्मविषयक ही रहते हैं। परंतु फिर भी-सभी ब्रह्मवचन होने पर भी कीर्त्तन में हे घट, हे पट आदि नहीं बोलते और ना ही अग्नि यम इत्यादि। क्योंकि प्रार्थनीय अर्थ की अभिव्यक्ति उन में नहीं है। हरे कहने पर प्रार्थनीय पापहरण की अभिव्यक्ति होती है।

अर्थज्ञानं विनाप्येव यन्नारायणनामतः।
तताराजामिलस्तत्तु नाममाहात्म्यमिष्यताम्॥ २०७॥

बिना अर्थज्ञान नारायण नाम से अजामिल तर गया वह नाम माहात्म्य है।

प्रकृते पूर्वजातस्या-ऽधीतस्य न्यौन्यपूरणम्।
भवेत्प्रार्थनया तत्रा-ऽनुपपत्तिर्न काचन॥२०८॥

प्रकृत में आचार्य का पूर्वनिष्पन्न अध्ययन की न्यूनतापूर्त्ति सहवीर्यं करवावहै इस प्रार्थना से मानी जा सकती है।

किं चात्रैव सतेजस्त्वप्रार्थनालिङ्गसत्त्वतः।
प्रार्थनैषा भवेन्नूनं न्यूनत्वप्रतिपूरकम्॥२०९॥

दूसरी बात प्रकृत में तेजस्विता की प्रार्थना हो रही है। वह लिङ्ग प्रमाण है जो न्यूनतापूरक सिद्ध करता है। अन्यथा प्रार्थना व्यर्थ होती।

अर्थात् कालान्तर भावी भी प्रार्थना न्यूनतापूरक है।

ननु प्रार्थयतोऽप्येव जीवन्मुक्तिसुखं परम्।
न दृश्यते ततो नैतल्लिङ्गं भवितुमर्हति॥२१०॥
जीवन्मुक्तिसुखं तावन्नैवादृष्टफलं मतम्।
यतोऽप्रकाशमानं न सुखादिं मन्वते बुधाः॥२११॥

पूर्वपक्षः- सह वीर्यं करवावहै आदि प्रार्थना करने पर भी अध्ययन अच्छा होने पर भी जीवन्मुक्ति सुख प्राप्त नहीं होते देखा है। जीवन्मुक्ति सुख कोई अदृष्ट फल नहीं है। वह दृष्ट फल है। अप्रकाशमान सुख अमान्य होने से फल कल्पना भी सार्थक नहीं है।

न चाहितेऽपि न फलं कारीर्यादौ क्वचिद् यदा।
भवान्तरे भवेत् कल्प्यं तथात्रापीति सांप्रतम्॥२१२॥
शुष्यत्सु तरुगुल्मेषु वृष्टिकामस्य जुह्वतः।
भवान्तरे वृष्टिरिति पिपासुः श्रद्दधीत कः॥२१३॥

यदि यह समाधान करे कि वृष्टि आदि के लिये कारीरी आदि याग करते हैं। यदि फल नहीं हुआ तो जन्मान्तर में फल मिलेगा ऐसी कल्पना दृष्टफल में भी होती है। वैसे यहां पर भी जन्मान्तर में फल मिलेगा ऐसी कल्पना हो सकती है। नहीं। पेड पौधै सूख रहे हैं, प्यास से लोग मर रहे है। तब जन्मान्तर में वृष्टि होगी इस आश्वासन पर कौन श्रद्धा करेगा। कारीरी आदि यज्ञ के बिना भी दो एक साल में वृष्टि होना ही है तो जन्मान्तर तक की प्रतीक्षा करना मूढता का ही लक्षण होगा।

कारीर्यादौ ततश्चाङ्गवैकल्यादिर्हि कल्प्यते।
अल्पीयस्यां प्रार्थनायां नाङ्गवैकल्यकल्पना॥२१४॥

इसलिये कारीरी आदि में अंगवैकल्यादि की ही कल्पना हो सकती है। सह वीर्यं करवावहै इतनी प्रार्थना में कौनसा कैसा अङ्गवैकल्य भला!

तस्माद्धेत्वन्तरं वाच्यमिति चेच्छृणु सादरम्।
प्रत्यहं बहुधा शान्तिपाठः शिष्टैर्वितन्यते॥२१५॥

प्रार्थनावृत्तिरेवातः शिष्टाचारेण लभ्यते।
कियदावृत्तिरित्येतत् कल्प्यं फलबलाद्भवेत्॥ २१६॥
छिद्रान्तरं किमिति च गवेष्यं सूक्ष्मदर्शिभिः।
यतस्तीव्रमुमुक्षादिरप्यङ्गं फलजन्मनि॥ २१७॥

इस लिये जीवन्मुक्तिसुख में शान्तिपाठ की कोई भूमिका नहीं है।

उत्तरः - शिष्ट लोग प्रतिदिन शान्तिपाठ की आवृत्ति करते हैं। उपनिषदों में अलग-अलग, ब्रह्मसूत्र में अलग शान्तिपाठ करते हैं। अतः लिङ्ग से प्राप्त प्रार्थना के साथ शान्तिपाठावृत्ति भी आवश्यक सिद्ध होती है। कितनी आवृत्ति करना यह फलबल कल्प्य है। (जैसे उपासनावृत्ति कितनी करें तो देवदर्शन होगा यह फलबल कल्प्य है।) दूसरी बात दूसरा भी कोई छिद्र है कि नहीं इसका अन्वेषण करना चाहिये। 'वैराग्यं च मुमुक्षुत्वं तीव्रं यस्य तु विद्यते। तस्यैव ह्यर्थवन्तः स्युः फलवन्तः शमादयः।' ऐसा आचार्य का कहना है।

शान्तो दान्तः श्रुता-वात्मदर्शनं फलमीरितम्।
तत्र तीव्र मुमुक्षादेराचार्योऽपेक्ष्यतां जगौ॥ २१८॥

शान्तो दान्त उपरतः तितिक्षुः श्रद्धावित्त आत्मन्येवात्मानं पश्यति इस श्रुति ने शमादि सहित को आत्मदर्शन होना बताया है। आचार्य ने तीव्र मुमुक्षादि होने पर ही शमादि की सफलता संभव बताया। अतः तीव्र वैराग्य एवं तीव्र मुमुक्षा मुझ में है या नहीं इस की जांच करना भी आवश्यक है।

तेजस्विनोरस्त्वधीतं स्वधीतमिति भाष्यकृत्।
योजनान्तरमाह स्म विशेषार्थोपलब्धये॥ २१९॥

भाष्य में एक अन्य योजना भी दिखायी जाती है। तेजस्विनौ यह एक ही षष्ठ्यन्त शब्द है। 'तेजस्विनोः' का यह छान्दसरूप है। हम तेजस्वी शिष्याचार्यकृत अध्ययन सुअध्ययन हो। इसमें कुछ अर्थविशेष प्राप्त होता है।

तेजस्वित्व स्वधीतत्वे इष्टे चेत्कर्तृकर्मणोः।
तदा विधेयभेदेन वाक्यभेदः प्रसज्यते॥ २२०॥

पू. - सविशेषणौ हि विधिनिषेधौ विशेषणमुपसंक्रामतः के अनुसार विशेषण तेजस्विता जो कर्तृनिष्ठ है तथा स्वधीतत्व (कर्मनिष्ठ) दोनों विवक्षित है तो विधेयभेद से वाक्यभेद होगा।

यदि तेजस्वितामात्रं विवक्षितमितीर्यते।
तदा स्यात्प्रथमव्याख्याकृतार्थेन गतार्थता॥ २२१॥

यदि तेजस्विता मात्र विवक्षित है स्वधीतत्व उसका परिणाम कथन मात्र है तो पहिली व्याख्या में ही गतार्थता है।

तेजस्विता नैव सुखा-दुःखाऽन्यतरूपिणी।
येन स्वरूपतः सा स्यात्पुरुषार्थात्मिका खलु॥ २२२॥
यदि जीवन्मुक्तिसुखयोग्यत्वं स्याद्विवक्षितम्।
तदा प्रागुक्त एवार्थः कर्तरि प्रार्थितो भवेत्॥ २२३॥

तेजस्विता स्वतः पुरुषार्थ नहीं है। क्योंकि सुख-दुःखभाव में वह कोई नहीं है। जीवन्मुक्ति सुखयोग्यता अर्थ हो, पहली व्याख्या में भी वही है। फरक इतना ही है पहले कर्मनिष्ठ थी अब कर्तृनिष्ठ है।

सत्यं ननु कृतोपास्ते स्तेजस्वित्वं भवेत् कवेः।
तदनूद्योच्यतेऽधीतं स्वधीतं नौ भवत्विति॥ २२४॥
मननध्यानयुक्शास्त्रं स्वधीतमिति कीर्त्यते।
तदैव तत्त्वमस्यादे-र्भवेद्दर्शनयोग्यता॥ २२५॥

बात सत्य है। परंतु कृतोपास्ति हो अन्य अङ्ग भी सम्पन्न हो तो अधीत तेजस्वी भवतु यह प्रार्थना पूर्वोक्तार्थ में उपयोगी नहीं हो सकती। अतः कृतोपास्ति के लिये यह प्रार्थना करने की आवश्यकता नहीं है। ऐसा प्रास होगा। अतः उसके लिये तेजस्विनोः यह अनुवाद होगा। और अधीतं स्वधीतमस्तु यह प्रार्थना विधि होगी। उपासना सहित सविधि अध्ययनमात्र पर्यास नहीं है। मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः इतना अधिक चाहिये। मनन निदिध्यासन सहित तत्त्वमस्यादि श्रवण ही ब्रह्म साक्षात्कार हेतु होगा। अतः मनन निदिध्यासन भी हमारे सम्यग् हो और तत्त्वमसि वाक्य श्रवण ब्रह्मसाक्षात्कारकरी हो यह प्रार्थना है।

नन्वधीतं स्वधीतं स्यादित्यर्थस्तु न शब्दतः।
प्रतीयते तथार्थस्तु शब्दावृत्तिमपेक्षते॥ २२६॥
तज्ज्ञानमिन्द्रियाणां यत् प्रशमं कुरुतेऽत्र हि।
ज्ञानं सुज्ञानमित्यर्थः पदावृत्तिं विनेक्ष्यते॥ २२७॥

प्र. - अधीतं स्वधीतं यह अर्थ पदावृत्ति के बिना नहीं होगा। सु विशेषण भी जोडना पडेगा। नहीं। 'तज्ज्ञानं प्रशमकरं यदिन्द्रियाणां' इत्यादि में इन्द्रिय प्रशमनकारी वैराग्य भी ज्ञान है क्या? अतः ज्ञानं यह पूर्वोक्त ही स्वतः आ जायेगा। नहीं तो भी अर्थतः आ जायेगा। तद् ज्ञानमेव ज्ञानं यत् इन्द्रियप्रशमकरम्। तो दूसरा सब ज्ञान ज्ञान नहीं है। अतः अर्थ होगा- 'तज्ज्ञानं सुज्ञानं'। सह वीर्यं इत्यादि में विद्यासामर्थ्य अर्थ होने से अधीत दिमाग में स्थित है।

परबोधनयोग्यत्वमप्यधीते हि सुष्ठुता।
तथाप्यत्र मुमुक्षूणां दर्शितोर्थोऽधिकप्रियः॥ २२८॥

पदबोधन योग्यत्व भी अधीत में सुष्ठुता है। किन्तु मुमुक्षुओं को पूर्वोक्त अर्थ अधिक प्रिय है।

मा विद्विषावहै

मा विद्विषावहै नैव विद्वेषं करवावहै।
केनचित्कारणेनावां शिष्याचार्यौ परस्परम्॥ २२९॥

मा विद्विषावहै का अर्थ है हम विद्वेष न करें। छान्दस प्रयोग है। किसी भी कारण से हम शिष्य और आचार्य परस्पर विद्वेष न करें।

नन्वद्वैतं चिन्वतोर्हि विद्वेषः प्राप्यते कथम्।
न हि द्वेषादियुक्तस्य ब्रह्मविद्याधिकारिता॥ २३०॥

पूर्वः- अद्वेते समझनेवालों में विद्वैत प्रास होता है कैसे? राग-द्वेषादि से जो युक्त है उसको ब्रह्मविद्या में अधिकार ही नहीं है।

अथ शिष्योऽधुनाध्येतुं विद्यामारभते ततः।
अज्ञस्य द्वेषसंस्काराद् द्वेषसंभवानास्ति चेत्॥ २३१॥

तथापि न स आचार्ये लब्धविद्ये महात्मनि।
तस्मिन्न प्राप्यते द्वेषस्तन्निषेधार्थना कथम् ॥ २३२॥
न शिष्येऽप्यस्ति तत्प्राप्तिः शमादिगुणसंयुतः ।
अधिकार्युच्यतेऽन्यस्तु विद्यामारभतां कथम्॥ २३३ ॥

यह कहें कि शिष्य तो अभी विद्याध्ययन करना शुरु कर रहा है अतः वह अज्ञ है। उसमें द्वेष संस्कार रह सकता है। अतः द्वेष संभावना है। ठीक है इतना मान भी लो तो भी आचार्य तो विद्यावान है। आत्मा को महान समझता है। उसमें द्वेष अप्राप्त है। उसके निवारणार्थ प्रार्थना कैसे संभव है। वस्तुतः शिष्य में भी द्वेष प्राप्ति नहीं है। वह कोई मूर्ख नहीं होता। शमदमादि गुण संपन्न ही अधिकारी है। अनधिकारी विद्यारंभ कैसे करेगा?

नित्यानित्यविवेकी हि ब्रह्मविद्याधिकारवान्।
ब्राह्मणः प्राप्तनिर्वेदो गुरुं गच्छेदिति श्रुतेः ॥ २३४ ॥

'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात् तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्' इस श्रुति से स्पष्ट है विवेक वैराग्यवान ही अधिकारी है।

यत्तु शिष्यो भवेत् कश्चिद् भक्तः सेवापरायणः।
प्रेमाधिक्यं पक्षपातो भवेत्तस्मिन् गुरोरपि॥ २३५ ॥
तस्मै विशेषतो विद्यां यच्छन्तं पश्यतां गुरुम्।
द्वेषस्फुलिङ्गा जायन्ते द्रोणे पार्थस्य ते यथा॥ २३६ ॥
विद्वेष्टि स्मार्जुनो वीरो द्रोणाचार्यं मनस्विनम्।
वनेचरस्य संपश्यन्नेकलव्यस्य कौशलम्॥ २३७ ॥
अङ्गुष्ठं वरयामास द्रोणश्च गुरुदक्षिणाम्।
अर्जुनोद्वेगशान्त्यर्थमेकलव्यस्य हन्त सः॥ २३८ ॥

एक देशी-कुछ लोग यह जवाब देते हैं कि-कोई शिष्य भक्त एवं सेवापरायण होता है। उसके प्रति गुरु का अधिक स्नेह एवं पक्षपात रहता है। उसे देखकर अन्य शिष्यों का गुरु के प्रति द्वेष होने लगता है। जैसे एकलव्य का कौशल देखकर अर्जुन को द्रोणाचार्य के प्रति द्वेष हो गया

था। द्रोणाचार्य ने दक्षिणा रूप में एकलव्य का अंगूठा कटवाकर ले लिया तब अर्जुन को शान्ति हुई थी।

तन्न सत् शस्त्रविद्यासु स्यादेवं द्वेषभावना।
नत्वेतद् ब्रह्मविद्यायां शमाद्यभ्यासयोगिनाम्॥ २३९॥

निराकरणः- यह अच्छा उत्तर नहीं है। मार-काटवाली शस्त्रविद्या में ऐसी द्वेषभावना हो सकती है। पर ब्रह्मविद्या के लिये विवेक वैराग्य एवं शमादि का अभ्यास जो करते हैं उनमें यह बात नहीं हो सकती।

अत्रोच्यते स्वभावो हि जनानां दुरतिक्रमः।
स्वाभाविकी प्रवृत्तिर्हि ज्ञानिनामपि दृश्यते॥ २४०॥
सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥ २४१॥
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्त्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥ २४२॥

उ. - इस पर यही वक्तव्य है कि स्वभाव का अतिक्रमण करना अत्यन्त कठिन है। स्वाभाविक प्रवृत्ति साधारण ज्ञानियों में भी देखी जाती है। उसमें निग्रह कोई काम आनेवाला नहीं है यह 'सदृशं चेष्टते' इत्यादि गीता श्लोक में स्पष्ट है। जिसे हम करना नहीं चाहते स्वभाव प्रकृति के कारण परवश होकर भी उसे करते हैं।

यो गायत्रीमनुद्रष्टा विश्वामित्रो महामुनिः।
महामुनिर्वसिष्ठश्च कृताभ्यासौ मनस्विनौ॥ २४३॥
शप्त्वाऽन्योन्यं मन्युना-ऽऽडिबकौ तौ युद्ध संरतौ।
अभूतां न निवर्तन्ते द्वेषाद्याः सहसा नृणाम्॥ २४४॥

गायत्री मन्त्र द्रष्टा विश्वामित्र मुनि संप्रदाय प्रवर्तक महामुनि वसिष्ठ दोनों परस्पर शाप देने से एक आडि पक्षी दूसरा बगला बनकर हजारों वर्ष युद्ध करते रहे ऐसा देवी भागवत में बताया है। मतलब स्वाभाविक रागद्वेषादि ज्ञानी महामुनियों के भी निवृत्त नहीं हुए तो साधारण मनुष्यों की क्या बात है।

वसिष्ठ भगवन् पूर्वं कच्चित्स्मरति यत् स्वयम्।
आवयोर्वैरशान्त्यर्थं श्रेयसे च महाधियाम्॥२४५॥
निषधाद्रौ मुनीनां च सानौ सरलसंकुले।
उपदिष्टं भगवता ज्ञानं पद्मभुवा बहु॥२४६॥
येन युक्तिमता ब्रह्मन् ज्ञानेनेयं हि वासना।
संसारी नूनमायाति समं श्यामेव भास्वता॥२४७॥

योग वासिष्ठ में महर्षि विश्वामित्र महर्षि वसिष्ठ के प्रति कहते है - भगवन् वसिष्ठ! आप को स्मरण है कि हम दोनों के वैर की शान्ति के लिये और महामेधावियों के श्रेय के लिये निषध पर्वत के शिखर में जहां सरल वृक्षों का जंगल था भगवान् ब्रह्मा ने बहुत बहुत ज्ञान का उपदेश हमें दिया था, युक्ति सहित जिस ज्ञान से यह नानाविध संसार वासना उसी प्रकार शम प्राप्त होती है, लीन होती है जैसे सूर्य से रात्रि (वह ज्ञान इस महान विवेकी राम को आप बता दो।)

अत्र युक्तिमतेत्येवं ज्ञानस्यास्ति विशेषणम्।
युक्तिर्योगो भक्तियोगः प्रार्थनादि समाहृतिः॥२४८॥

पूर्वोक्त विश्वामित्र वचन में वासना शमनकारी ज्ञान का विशेषण युक्तिमत् दिया है। युक्ति=योग=भक्तियोग जो प्रार्थना सेवादि समुदाय है।

अत्र स्यादेष निष्कर्षो निग्रहः कार्य आदितः।
शमादिर्निग्रहात्मा यदधिकारिविशेषणम्॥२४९॥

गीता एवं वासिष्ठादि से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रथम तो निग्रह करना ही चाहिये। क्योंकि शमदमादि निग्रह है, अधिकारी का वह विशेषण है-शान्तोदान्त उपरत... आत्मन्येवात्मानं पश्यति यह श्रुति है। अतः निग्रहः किं करिष्यति यह उसी पर निर्भर रहनेवालों पर आक्षेप है न कि निग्रह का सर्वथा निषेध। उतना अधिकारी विशेषण है ही।

न तु निग्रहमात्रेण सिद्धिर्भवितुमर्हति।
प्राप्य ज्ञानं परंश्रौतं कर्त्तव्या युक्तिरेव च॥२५०॥

निग्रहमात्र अपर्याप्त है, पुनः प्रकृति पर आ जायेंगे-'प्रकृतिं यान्ति

भूतानि' अतः श्रुति श्रवणजन्य ज्ञान तथा युक्ति-योग भी करना चाहिये।

भक्तियोगयुतं ज्ञानं निर्मूलयति वासनाम्।
तेनौपनिषदं ज्ञानं शुद्धं स्यान्मोक्षसाधनम्॥ २५१॥

भक्तियोगयुक्त ज्ञान संसार वासना निर्मूल करेगा, उच्छिन्न करेगा। क्योंकि उससे औपनिषद ज्ञान निर्मल हो जायेगा।

ततश्च कार्या सिद्धस्य स्यात् सिषाधयिषोरपि।
प्रार्थना तत्र लिङ्गं स्या-देषा मा विद्विषावहै॥ २५२॥

अतः सिद्ध (गुरु आदि) एवं साधक (शिष्यादि) सब को निग्रहोत्तर भी भगवद्भक्ति एवं प्रार्थना करनी ही चाहिये। उस में लिङ्ग प्रमाण यही 'मा विद्विषावहै' वाक्य है।

ननु योगो भवेद् ध्यानं निदिध्यासनलक्षणम्।
सा निदिध्यासितव्येति प्रत्यक्षश्रुतिदर्शनात्॥ २५३॥
न त्वत्र प्रार्थनायोगप्रभृतेर्लिङ्गमस्ति तत्।
यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ॥ २५४॥
तस्यैते कथिता ह्यर्था प्रकाशन्ते महात्मनः।
निदिध्यासनमस्त्येव कारणं को निषिध्यति॥ २५५॥

पूर्वः- योगवासिष्ठ में युक्तिमता जो कहा है वहां युक्ति अर्थात् योग ध्यान है। जिसको वेदान्त में निदिध्यासन बताया है। मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः यह स्पष्ट श्रुति है। भक्ति या प्रार्थना आदि का प्रसङ्ग योग वासिष्ठ में साफ नहीं है। उत्तरः नहीं। श्रुति में ही यस्य देवे पराभक्ति इत्यादि से भक्ति करने को बताया है। वह भक्ति प्रार्थनायुक्त होगी इस में लिङ्ग **मा विद्विषावहै** यही है। निदिध्यासन भी कारण है ही उसका निषेध किसने किया? अतएव युक्ति पद से भक्तियोग एवं ध्यानयोग दोनों ही लिये जाने में कोई हानि नहीं है।

स्वभावाद्वा प्रमादाद्वाऽऽगच्छतो ज्ञानवैरिणः।
दोषा नायान्तु नावेत-दाह मा विद्विषावहै॥ २५६॥

स्वीय प्रकृति के कारण या प्रमादादि से आनेवाले जो द्वेषादि दोष हैं

वे हमारे पास न आयें यह कहा जा रहा है मा विद्विषावहै।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

ये नावाध्यात्मिकाश्चाधि-भौतिकाश्चाधिदैविकाः ।
शमं यान्तूपसर्गास्ते ब्रह्मविद्यार्थिनोरिति॥ २५७॥

जो आध्यात्मिक आधिभौतिक एवं आधिदैविक विद्याविघ्नकारी उपसर्ग हैं वे ब्रह्मविद्यार्थी हम शिष्याचार्य के शान्त हों।

इति श्रीकाशिकानन्दयतिना कृतिना कृतम्।
द्वितीयं कृष्णयजुषः शान्तिव्याख्यानवार्त्तिकम्॥ २५८॥



ॐ

ॐ यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः। छन्दोभ्योऽध्यमृतात्संबभूव।
स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु। अमृतस्य देवधारणो भूयासम्।
शरीरं मे विचर्षणम्। जिह्वा मे मधुमत्तमा।
कर्णाभ्यां भूरिविश्रुवम्। ब्रह्मणः कोशोऽसि
मेधया पिहितः। श्रुतं मे गोपाय।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

यः=जो ओंकार, छन्दसां=वेदों मेंः ऋषभः=सर्वश्रेष्ठ है, विश्वरूपः=विश्व जिसका रूप है, जो छन्दोभ्यः=वेदरूपी अमृतात्=अमृत से अधिसंबभूव=अधिकरूप से प्रगट हुआ, सः=वह ॐकाररूपी इन्द्रः=परमेश्वर, मा=मुझे मेधया=प्रज्ञा से-प्रज्ञा प्रदान के द्वारा स्पृणोतु=प्रीतियुक्त व बलयुक्त करे अर्थात् मुझे प्रज्ञाबल दे। जिससे मैं अमृतस्य=मोक्ष हेतु ब्रह्म ज्ञान का धारणः=धारण करनेवाला भूयासं=बनूं। मे=मेरा शरीरं=शरीर विचर्षणं=क्रियासमर्थ हो। मे=मेरी जिह्वा=जीभ मधुमत्तमा=मधुरभाषिणी हो। कर्णाभ्यां=कानों से मैं भूरि=बहुत विश्रुवं श्रवण करूं-बहुश्रुत हो जाऊं। हे ओंकार तुम ब्रह्मणः=ब्रह्म का कोशः=कोश के समान उपलब्धि स्थान असि=हो। मेघया=लौकिक बुद्धि से पिहितः=ढके हुए हो अर्थात् लौकिक ज्ञानवालों के लिये तुम्हारा असली स्वरूप अज्ञेय है। मे=मेरे श्रुतं श्रवणप्राप्त ज्ञान की गोपाय=रक्षा करो। विस्मरणादि से लोप न हो। ॐ शान्तिः=विविध ताप शान्ति हो।

यश्छन्दसामितियजुर्गणेन क्रियते स्तुतिः।
प्रणवस्य प्रार्थना च ब्रह्मज्ञानाभिकामिनः॥ १॥

यश्छन्दसां इत्यादि यजुर्गण से (अनेक यजुर्वाक्यों से) प्रणव की स्मृति एवं प्रार्थना की जा रही है जो ब्रह्मज्ञानार्थी के लिये कर्तव्य है।

जपार्थाः खल्विमे मन्त्रा भवन्त्योंकारसाधने।
तज्जपश्च तदर्थस्य भावनं चैव साधनम्॥ २॥

'यश्छन्दसां' इत्यादि में ॐकारार्थ साधना के लिये जपार्थ मन्त्र है

तथा ॐकार का जप और ॐकारार्थ भावन भी ॐकार साधना के साधन हैं। यश्छन्दसां इत्यादि का जप तृतीय साधन है (इसमें सूचित फल के लिये।)

नन्वत्र न विधिः कश्चित् कस्यचिद्वावलोक्यते।
मन्त्रा एव प्रपठ्यन्ते न मन्त्रास्तु विधायकाः॥ ३॥
प्रयोगसमवेतार्थस्मारका एव ते मताः।
अन्यथाऽनर्थकाः पाठमात्रार्था हुंफडादिवत्॥ ४॥
अथ लिङ्गाज्जपविधिर्मेधाकामस्य कल्प्यते।
अङ्गत्वबोधकं लिङ्गं न प्रधानं विधास्यति॥ ५॥
नोत्पत्तिविधिरस्त्यत्र प्रधानप्राप्यवेक्ष्यते।
अङ्गप्रधानसम्बन्धं विनियोगविधिर्वदेत्॥ ६॥
प्रमाणषट्कं तत्रोक्तं श्रुतिलिङ्गादिकं बुधैः।
प्रधानविरहे लिङ्गं केवलं किं करिष्यति॥ ७॥

पूर्व-यहां कोई विधि नहीं दिख रही हैं। मन्त्रपाठ मात्र है। मन्त्र विधायक नहीं होते। प्रयोग समवेतार्थ स्मारक मात्र मन्त्र हैं वे विधायक नहीं होते। अर्थ न हो तो हुंफट् आदि के समान पाठमात्रार्थ होगा। यदि कहें मेधया स्पृणोतु इत्यादि लिङ्ग से जपविधि है। नहीं। लिङ्ग प्रमाण अंगत्वबोधक होता है प्राधान विधायक नहीं। यहां उत्पत्तिवाक्य है नहीं। अंग किसका? श्रुति लिङ्ग वाक्य प्रकरणादि छः प्रमाण अंग प्राधन सम्बन्ध बोधक है। प्रधान ही नहीं तो खाली लिङ्ग क्या करेगा?

अत्रोच्यत इह श्रुत्या प्रसिद्धवदनूद्यते।
यश्छन्दसामृषभ इत्यन्यत्रोक्तोऽभिधां विना॥ ८॥
पुमर्थपर्यवसितिमिङ्गन्ती सर्वकर्मणाम्।
ब्राह्मणान्ते परं तत्त्वं वदन्त्याहोमिति श्रुतिः॥ ९॥
शाखान्तरे काठकादौ तदुपास्तिविधिः कृतः।
तदनूद्यात्र मेधार्थं जपस्तावद्विधीयते॥ १०॥

उत्तरः- ओंकार का नाम लिये बिना-जो वेदों में श्रेष्ठ इत्यादि

प्रसिद्धवत् 'ओं' का अनुवाद करती है श्रुति। ब्राह्मणान्त में ॐ कहा, एतदालम्बनं श्रेष्ठं ऐसा काठक श्रुति में श्रेष्ठत्व बताया उसका यहां मेधाद्यर्थ और अङ्ग मन्त्र जपार्थ अनुवाद है एवं जपरूप अंग की विधि है।

ओमुपास्तिं तदर्थं च चिन्तयामस्ततोऽधुना।
अङ्गमन्त्रजपं चैवं सार्थकं लक्ष्यलब्धये॥ ११ ॥

अतः लक्ष्यवेधनार्थ ओं की उपासना और अर्थ पर एवं अंग मन्त्र जप पर हम विचार करेंगे।

जप्यमानः किलोंकारो ब्रह्मबोधाय कल्पते।
भाव्यमानस्तदर्थश्च तत्प्रबोधाय कल्पते॥ १२ ॥

ओंकार के जप से ब्रह्मबोध होता है और पादार्थ तथा कृत्स्नार्थ भावन करने से ब्रह्मसाक्षात्कारोपयोगी प्रथम ज्ञान (पादार्थादिविषयक) परोक्षकल्प ज्ञान होता है।

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनोपास्त्या ब्रह्मलोके महीयते॥ १३ ॥

ओंकार आलम्बन अन्य आलम्बनों की अपेक्षा सर्वश्रेष्ठ है। यह परालम्बन तथा अपरालम्बन दोनों है। आलम्बनोपासना मात्र से कामनावालों को ब्रह्मलोक प्राप्ति और वहां महिमा प्राप्ति होती है।

आस्येन मनसा वाऽस्योच्चारणे व्यक्तिमात्रतः।
आलम्बनं भवेदेष घटेतोपासना ततः॥ १४ ॥

मुख से उच्चारण करो या मन से उच्चारण करो, तब जो ओंकाराभिव्यक्ति होती है उस अभिव्यक्त ॐकार को आलम्बन बनाकर परापर ब्रह्म की उपासना होती है।

लिप्या उपास्यतां केचिद् ब्रुवते तन्न शोभनम्।
लिपीनां खलु नानात्वादनैयत्यादशिष्टितः॥ १५ ॥

ॐकार की लिपि को ओंकार मानकर आलम्बन कुछ लोग कहते हैं किन्तु वह बराबर नहीं है। देवनागरी में ही कोई ॐ लिखते हैं कोई ओ३म् लिखते हैं। भिन्न भिन्न भाषावालों की लिपियां अलग अलग होती

हैं। लिपिस्वरूप अनियत है और लिपि को आलम्बन बनाने की कोई विधि भी नहीं है। क्योंकि श्रुति पहले केवल सुनी जाती थी लिखी नहीं जाती थी।

वैश्वानरस्त्वकारार्थ उकारार्थश्च तैजसः।
मकारार्थो भवेत्प्राज्ञस्तुरीयोऽमात्र एव च॥१६॥
इत्यर्थभावनेऽप्येष उच्चार्यो मन आदिना।
तस्मादुच्चार्यमाणं हि स्याज्जपः सार्थभावनः॥१७॥

अकार वैश्वानर, उकार तैजस, मकार प्राज्ञ, अमात्र तुरीय इस अर्थभावना होने पर भी ओंकार उच्चारणीय है। उच्चारित में ही जप और अर्थभावना है।

ननु मात्रा अकाराद्या ओमीत्येतन्न मञ्जुलम्।
पृथग्वर्णः किलोंकार स्ततोऽकारादयः पृथक्॥१८॥
न ह्यकार उकारश्च मिलित्वौकार उद्भवेत्।
अद्रव्यत्वादक्षराणां मिलित्वोत्पत्त्यसंभवात्॥१९॥

पूर्वपक्षः- ॐकार में अकारादि मात्रायें हैं यह सुन्दर बात नहीं है क्योंकि ॐकार अलग वर्ण है। अ उ आदि अलग वर्ण है। अकार और उकार मिलकर ओ बनेगा यह कल्पना भी उचित नहीं है। क्योंकि अकारादि वर्ण शब्द है। द्रव्य नहीं है। वे मिलकर ओंकार की उत्पत्ति असंभव है।

न चाद्गुण इति प्राह तथात्वं पाणिनिर्मुनिः।
इति वाच्यं यतस्तत्त्वं न केनाप्युपगम्यते॥२०॥

यह कहें कि पाणिनि मुनि ने 'आद्गुणः' इस सूत्र से अकार और उकार मिलकर ओकार होगा ऐसा बताया है, तो वह संगत नहीं। क्योंकि किसी भी आचार्य के मत में यह बात स्वीकृत नहीं है।

क्षणिकत्वमते शब्दो न तृतीयक्षणवृत्तिकः।
द्वौ मिलित्वा कथं वर्णौ तृतीयं हि करिष्यतः॥२१॥

नैयायिकादि वर्ण को क्षणिक मानते हैं। प्रथम अ बोल दिया, द्वितीय

क्षण में उ बोल दिया, तृतीय क्षण में प्रथम अकार नष्ट हो गया तो दोनों मिलकर ओ कैसे उत्पन्न होगा?

एकक्षणे हि वर्णौ द्वावुच्चार्येते न केनचित्।
न द्वितीयक्षणे तेन तत्रोंकारः समुद्भवेत्॥ २२॥

प्रथम क्षण में अकार उकार दोनों बोल दिया, द्वितीय क्षण में दोनों मिलकर ओ बन गया यह भी किसी को मान्य नहीं है। एक ही क्षण में अ उ दो का उच्चारण बनता ही नहीं है।

इको यणचि वा सूत्र-माद्गुणो वेत्यनिर्णयात्।
क्रमिकोच्चारणं वाच्यं तच्च नैकक्षणे भवेत्॥ २३॥

एक ही क्षण में अ उ दो उच्चारण मानेंगे तो क्रम न होने से पूर्व पर भेद न होने से 'इको यणचि' से उ को व होना चाहिये या अ उ मिलकर ओ होना चाहिये यह निर्णय नहीं होगा। अतः प्रथम अ बाद में उ इसके लिये क्षणभेद माने बिना ब्रह्माजी भी रास्ता नहीं निकाल सकते। स्वप्रागभावाधिकरणक्षणवर्तित्वं स्वपूर्वत्वं, स्वाधिकरणक्षणध्वंसाधिकरणवृत्तित्वं स्वोत्तरत्वं यह पूर्वत्व और उत्तरत्व लक्षण है।

अ उ वर्णे प्रयोक्तव्ये ओ प्रयोक्तव्य एष हि।
आद्गुणः सूत्रतो बोध्यो भवत्यर्थो न संशयः॥ २४॥

इसलिये 'आद्गुणः' इस सूत्र का अर्थ अ उ दोनों पौर्वापर्येण जहां प्रयोग करना है वहां ओ का प्रयोग करो।

ओकारं न ततो वर्णद्वयं तार्किकसंमतम्।
उत्पत्तिरेव नैवास्ति शब्दनित्यत्ववादिनाम्॥ २५॥

इसलिये ओ में दो वर्ण हैं यह नैयायिकादि को अस्वीकार्य है। शब्दनित्यत्ववादी मीमांसकों के मत में स्थायी अ और उ है। किन्तु उत्पन्न ही नहीं होते तो दो मिलकर तीसरा ओ उत्पन्न होता है यह बिल्कुल ही असंमत बात होगी।

शङ्कां कृत्वा हि प्रकृति-विकृत्योश्चेति जैमिनिः।
आह वर्णान्तरं तस्मादविकार इति स्थिरम्॥ २६॥

महर्षि जैमिनि ने दध्यत्र यहां इ का विकार य होने से वर्ण अनित्य है ऐसी शंका उठाकर सिद्धान्त में कहा-'वर्णान्तरमविकारः' यकार इ से वर्णान्तर है। इ का विकार नहीं है अतएव शब्द अनित्य नहीं है। यही बात ओंकार घटक 'ओ' की भी है।

न विश्वतैजसप्राज्ञा ॐकारार्थस्ततो भवेत्।
ओम्यकारादिविरहादिति चेदत्र वाग्मिनः ॥ २७ ॥

इसलिये विश्व तैजस एवं प्राज्ञ ओंकारार्थ नहीं है। क्योंकि ॐ में अ उ म ऐसी तीन मात्रा हैं ही नहीं।

इस पूर्व पक्ष में कुछ वाणी विशेषज्ञ यह कहते हैं कि

श्रुतिप्रामाण्यतो वाच्या ओमि मात्रा यथोदिताः।
तथा सति तदर्थाश्च विश्वाद्याः संभवन्ति ते॥ २८॥

श्रुति हमारे लिये प्रमाण है। वह कहती है ॐकार में तीन मात्रायें हैं। अतः वह मान्य है। सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोंकारः-'अकार उकारो मकारः' 'मात्राश्च पादाः'।

न श्रुतीनां शतमपि घटं पटयितुं क्षमम्।
इति न्यायत ॐकारे कथं मात्रात्रयं ननु॥ २९ ॥

ओ में जब अ उ दो अक्षर नहीं है श्रुति कैसे असंभव को संभव करेगी? सौ श्रुति भी घट को पट नहीं बना सकती ऐसा न्याय है।

शृणु गङ्त्यिचा हीनं कंचिदर्थं न बोधयेत्।
ओदकं न जलार्थं च ब्रूयाद् गङ्गोदकं कथम्॥ ३० ॥
झटित्येव पदं छित्वा बोधश्चेदभ्युपेयते।
ओमित्यत्र पदच्छेदाद् बोधः कस्मान्न भो भवेत्?॥ ३१ ॥
ततश्च संहितपदादुभयोपस्थितिर्भवेत्।
मात्राऽमात्रं तथोंकारे इति सर्वं समञ्जसम्॥ ३२ ॥

सुनो। 'गङ्गोदकं' कहा। गङ्ग् इस हलन्त शब्द का कोई अर्थ नहीं है। ओदकं यह जलवाचक नहीं है। तब शाब्द बोध कैसे होता है बताओ। यदि कहो कि गङ्गोदकं कहते ही गङ्गा उदकं ऐसा पदच्छेद तुरत उपस्थित

होने से गङ्गाजल अर्थ मालूम हो जायेगा तो 'ओम्' बोलते ही अउम पदच्छेदोपस्थिति क्यों नहीं होगी? मतलब संहित पद तथा छिन्न संधिपद दोनों उपस्थित होंगे। तब अउम ये मात्रायें तथा अमात्र (एकाक्षर) दोनों ॐकार में उपस्थित होने से सर्व सामञ्जस्य है।

अमात्रः कृत्स्न ॐकार इत्येवं गुरवोऽब्रुवन्।
पुष्पदन्तस्तु गन्धर्वस्तुरीयं ध्वनिभिर्जगौ॥ ३३॥

संहित ओंकार ही अमात्र है ऐसा अस्मद्गुरु चरणों ने बताया। गन्धर्वराज पुष्पदन्त ने महिम्नः स्तोत्र में प्लुत ध्वनियों को ही अमात्र बताया। क्योंकि वही तुरीयतत्त्व को उपस्थित करता है।

गुरूपदेशाद् बोद्धव्यं रहस्यमिह दुर्गमम्।
मधुसूदनयोगीन्द्रा अप्येतत्प्रत्यपादयन्॥ ३४॥

गुरूपदेश से ही यहां दुर्गम रहस्य समझना चाहिये। यह बात आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने भी 'तुरीयं ते धाम ध्वनिभिरवरुन्धानमणुभिः' की व्याख्या में बताया है।

अत्र चैकैकमात्रेणो-पास्तिः प्रश्नश्रुतौ श्रुता।
तत्तन्मात्रार्थमननादोंकारस्य तथोदितम्॥ ३५॥

ओंकारोपासना में एक-एक मात्रा की उपासना प्रश्नोपनिषत् में दिखाई है। वहां एक-एक मात्रा का मानस जप को लेकर वैसा कहा गया है।

द्विमात्रेण त्रिमामेत्रेणेत्येवं यत्तत्र कीर्त्तितम्।
द्वितीयादिपरं द्वित्रिपदं भाष्ये हि दर्शितम्॥ ३६॥

एक-एक मात्रा क्यों? वहां द्विमात्रेण त्रिमात्रेण भी बताया है। बताया अवश्य। किन्तु भाष्यकारों ने वहां द्विमात्र का द्वितीय मात्रा और त्रिमात्र का तृतीयमात्रा अर्थ किया है।

अर्थवादात्मना यद्यप्युक्तं तदिति मन्वते।
तथाप्येवार्थयाथात्म्यं शक्यं ज्ञातुं मनीषिभिः॥ ३७॥

यद्यपि ओंकारोपासना की विधि में एकमात्राद्युपासना एवं

तत्फलकथन अर्थवाद मात्र है ऐसा कहा जा सकता है। तथापि भूतार्थवादवत् यथार्थकथन मानने में कोई बाधा नहीं है।

नन्वोंकारः स्तूयते, यः स्तूयते स विधीयते।
जपादिविधिरत्रैवं कथं स्यादिति चेन्न तत्॥ ३८॥

यश्छन्दसामृषभः इत्यादि ॐकार की स्तुति है। जिसकी स्तुति हो उसी की विधि अर्थात् ओंकार विधि यहां मानी जा सकती है। जपविधि आदि कैसे प्राप्त होगी?

प्रणूयमानः प्रणवो गम्यमुच्चारणं ततः।
शब्दो नित्यत्वतो नैव विधेयः स्यात्क्रियादिवत्॥ ३९॥

प्रणूयमान ही प्रणव है अर्थात् उच्चार्यमाण ही ओंकार है। उसमें घटकीभूत उच्चारण विधेय है। शब्द नित्य होने से क्रिया के समान विधेय नहीं बनता।

स्थिते विधिनिषेधौ चेदर्थे स्तां सविशेषणे।
उपसंक्रामतस्तौ हि विशेषणमयं नयः॥ ४०॥

'सविशेषणो हि विधिनिषेधौ विशेषणमुपसंक्रामतः' इस न्याय से प्रणव की स्तुति में विशेषण प्रणुति की विधि होगी।

ननु प्रणवशब्दो ने-त्यर्थो न सविशेषणः।
सत्यं किन्त्वनभिव्यक्तो नैवार्थायोपकल्पते॥ ४१॥

पू. - पर यहां प्रणव शब्द है नहीं अतः सविशेषण न्याय यहां लागू नहीं होगा। उ. - बात सही है। किन्तु अनभिव्यक्त ॐकारादि अर्थसाधन नहीं हो सकता। अतः उच्चार्यमाणता अर्थलभ्य है।

छन्दःशब्देन वा लभ्यस्तदीयोच्चार्यमाणता।
प्रकाशनाऽऽह्लादनाभ्यां छन्दस्त्वं छन्दसां मतम्॥ ४२॥

अथवा यश्छदसामृषभः यहां छन्दस् शब्द से ही उच्चार्यमाणता प्राप्त होती है। जो प्रकाशन करे आह्लादन करे उसी को छन्द कहते हैं।

आह्लादने च दीप्तौ च चदिस्तस्मादसुन् भवेत्।
चन्देरादेश्च छ इति सूत्रमौणादिकं स्थितम्॥ ४३॥

(अथवा छन्दसां इस छन्दस् शब्द से उच्चार्यमाणता का लाभ होगा) 'चदि आह्लादने दीप्तौ च' धातु से असुन् प्रत्यय एवं चकार को छकार करने से छन्दस् शब्द होता है 'चदेरादेश्च छः' ऐसा उणादि सूत्र है।

तत्त्वमस्यादिवद् व्यक्तो हृदयेऽर्थं प्रकाशयेत्।
आनन्दयेच्च प्रणवः श्रुतो हृदि च संधृतः॥४४॥

तत्त्वमसि आदि के समान हृदय में व्यक्त ओंकार सद्ब्रह्म प्रकाशन एवं ब्रह्मानन्दाभिव्यञ्जन करेगा। प्रथम श्रवण फिर हृदय में मानस जपात्मक आवर्तन।

प्रथमश्रवणादेव नात्मसाक्षात्कृतिर्भवेत्।
मननाद्युत्तरे तस्य मानसाऽऽवृत्तितो हि सा॥४५॥

तत्त्वमसि आदि के प्रथम श्रवणमात्र से आत्मसाक्षात्कार नहीं हो जाता। मननादि प्रतिबन्धक निवृत्ति होने पर उसी के मानसावर्तन से आत्मसाक्षात्कार होता है। चरम साक्षात्कार के पूर्व क्षण में सुनाने के लिये प्रायः गुरु उपस्थित नहीं ही होते। प्रायः गुरु अधिक ऊमर के होते है। पहले ही मुक्त होकर ब्रह्मलीन हो गये होंगे। अतः मानस स्मरणपूर्वक आवर्तन ही काम आयेगा। वही मानस जप है।

शब्दार्थप्रत्ययैर्यः स संकीर्णः सविकल्पकः।
तत्र स्यात्तत्त्वमस्यादिशब्दसंकीर्णता स्फुटा॥४६॥
प्रणवश्रवणाद्यूर्ध्वसमाधौ प्रणवः स्फुरेत्।
प्रणवस्य जपः सिद्धो निदिध्यासनकारिणः॥४७॥

समाधि में भी जप चलता है। 'शब्दार्थप्रत्ययैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः' इत्यादि सूत्रों में सविकल्पक समाधि में अर्थ प्रत्यय शब्द सहित बताया है। अतः 'तत्त्वमसि' श्रवणादिवालों का तत्त्वमसि का जप मानस जप चलता है। ॐकार श्रवणमनननिदिध्यासनवालों का समाधि में ॐकार मानस जप चलता है।

ओंकारस्य स्तुतेरेवं तज्जपः सिध्यति स्फुटम्।
अङ्गत्वं चैव मन्त्राणां मेधाकामत्वलिङ्गतः॥४८॥

यश्छन्दसामृषभ इत्यादि ओंकार की स्तुति होने से पूर्वोक्तरीत्या ॐकारादि जप सिद्ध होता है। मेधाकामत्व लिङ्ग से मन्त्रों की ओंकारोपासना में अङ्गता भी सिद्ध है।

स्पृणोतु मेधया मेन्द्र इति लिङ्गात्तदङ्गता।
न चैवं वाक्यभेदः स्याद् भिन्नान्येव यजूंषि यत्॥४९॥

इन्द्र (ओंकार) मुझे मेधा से पूर्ण बनाये इस लिङ्ग से मन्त्रों की अंगता है। तब ओंकारविधान और अङ्गविधान दो होने से वाक्यभेद होगा। हो। भिन्न ही यहां यजुर्वाक्य प्रत्यक्ष है।

किं च लिङ्गादिगम्येषु वाक्यभेदो न विद्यते।
वाक्यभेदो भवेद्वाक्ये न तु लिङ्गे कथंचन॥५०॥

दूसरी बात लिङ्गगम्य में वाक्यभेद नहीं होता। वाक्यभेद वाक्य में होता है न कि लिङ्ग में।

यजुरङ्गसमृद्धेन प्रणवस्य जपादिना।
मेधां संपादयेद् ब्रह्मविद्यासंजननक्षमाम्॥५१॥

यश्छन्दसां इत्यादि यजुर्गणरूपी अंग से समृद्ध प्रणवजपादि से ब्रह्मविद्याजनन योग्य मेधा का संपादन करें ऐसा अर्थ व्यक्त होगा।

यद्वा श्रुत्यन्तरप्राप्तो विधिरोंकारगोचरः।
यजुषामङ्गतामात्रमत्र कामं विधीयताम्॥५२॥

अथवा पूर्व व्याख्यातरीत्या श्रुत्यन्तर प्राप्त ओंकारविधि को लेकर यहां यजुर्गण का अङ्गत्वमात्र विधान मान लीजिये। अतः प्रधानविधि और अङ्गविधि ऐसे दो विधि ही न होने से वाक्यभेद नहीं है।

नन्वाद्यवाक्ययुगले न लिङ्गमवलोक्यते।
स्थानात् प्रकरणाद्वाऽस्तु तयोरिह तदङ्गता॥५३॥

यह शंका उठायें कि प्रथम वाक्यद्वय में कोई लिङ्ग देखने में नहीं आता है भले। प्रकरण से उनकी अंगता हो जायेगी।

इदं विचार्यतां वात्र हुंफडादिः कमाश्रयेत्।
जपार्थत्वं कथं तेषा-मुच्यते विधिमन्तरा॥५४॥

न हि शब्दो विधेयः स्या-न्नित्यत्वाद्विध्यसंभवात्।
न ह्यनुच्चार्यमाणश्च शब्दो ज्ञायेत केनचित्॥५५॥
उच्चारणं ततो नून-माक्षिपेत्तद्विधिस्ततः।
आनर्थक्यप्रहाणार्थ-मिति वेदविदां मतम्॥५६॥
ब्राह्मणान्ते च पठितमोमित्येतत् तदप्यतः।
अविधेयत्वतो व्यर्थमापद्येत न संशयः॥५७॥
नित्यत्वाद्व्यापकत्वाच्चोच्चारणं तु विधित्सितम्।
किन्त्वनर्थकशब्दस्तु महार्थान्ते न युज्यते॥५८॥
अस्ति चार्थस्तदर्थस्य स्मरणं च विधित्सितम्।
स्थाणुरेवायमित्यादि निन्दाश्रवणतोऽपि च॥५९॥
पातञ्जलस्मृतिरपि समर्थयति तज्जपः-।
तदर्थभावनमिति विधित्सत्युभयं किल॥६०॥
विहितोपास्तिविषयः कर्मशुद्धहृदामिह।
यश्छन्दसामिति परामृश्येतोपनिषद्गिरा॥६१॥

यहां यह विचार उपयोगी होगा। हुंफट् आदि अर्थहीन शब्द जपार्थ माना है। पर विधि बिना जपार्थ कैसे हो। शब्द नित्य होने से विधेय नहीं होता। इसलिये आनर्थक्य परिहारार्थ आक्षिप्त उच्चारण की विधि होगी। ब्राह्मण ग्रन्थ के अन्त में 'ॐ' पढा है। वहां भी आनर्थक्य परिहारार्थ ॐकार जप विधि होगी। पर, निरर्थक शब्द महार्थक ब्राह्मण ग्रन्थान्त में पढना योग्य नहीं। और ॐकार का अर्थ प्रसिद्ध है ही, अतः अर्थस्मरण सहित ॐकार जप की यहां विधि होगी। 'स्थाणुरयं भारहारः किलाधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्' इत्यादि निन्दा श्रवण होने से भी अर्थज्ञानविधि सिद्ध है। इसी का समर्थन 'तज्जपस्तदर्थभावनं' यह पातञ्जल स्मृति भी उभय विधान से करती है। इस प्रकार विहित जपविधिविषय ॐकार 'यश्छन्दसां' में यत्पदपरामृश्य है। अतः सर्वोपपत्ति है।

छन्दसां खलु सर्वेषामृषभः प्रणवः स्मृतः।
प्रणवः सर्ववेदेष्वित्यवोचद् भगवान् हरिः॥६२॥

ननूत्तरपदस्यैव श्रैष्ठ्यार्थममरोऽब्रवीत्।
सत्यं तत्प्रायिकतया, कोशेषु प्रतिपादितम्॥६३॥

छन्दसामृषभः-का अर्थ है वेदों में श्रेष्ठ। प्रणव समस्त वेदों में श्रेष्ठ है ऐसा भगवान ने भी बताया है। यद्यपि उत्तरपद ऋषभ शब्द का ही श्रेष्ठ अर्थ अमरकार ने कहा है-'स्युरुत्तरपदे व्याघ्रपुङ्गवर्षभकुञ्जरा सिंहशार्दूल-नागाद्याः पुंसिगाश्रेष्ठार्थगोचराः'। ऐसा अमर कोश है। उत्तरपद समास के चरमावयव में रूढ है। अतएव अयं नराणां व्याघ्रो गच्छति इत्यादि प्रयोग नहीं होता। किन्तु उक्त कोशवचन प्रायिकपर है। प्रायः उत्तरपदरूप से आने पर ही श्रेष्ठार्थक है।

अलुक्समासो वात्रास्तु स विष्णुरिति वैष्णवाः।
शिव इत्यूचिरे शैवा विद्वांसः श्रीकरादयः॥६४॥
वृक्षाणां पर्वतः श्रेष्ठ इति नैव प्रयुज्यते।
यतः षष्ठी सजातीयनिर्धारणपरस्थले॥६५॥

छन्दों में ऋषभ विष्णु है ऐसी वैष्णवों की व्याख्या है। शिव श्रेष्ठ है ऐसी शैवों की व्याख्या है। किन्तु उक्तार्थ में प्रयोग संगत नहीं है। वृक्षों में पर्वत श्रेष्ठ है ऐसा प्रयोग नहीं होता। क्योंकि सजातीय निर्धारण विवक्षा स्थल में ही षष्ठी होती है। वृक्ष का सजातीय पर्वत नहीं है। वैसे वेद शब्द है। उसका सजातीय विष्णु या शिव नहीं है।

गच्छतां कच्छपो मन्दो जवीयान् धावतां हयः।
इत्येकदेशपार्थक्य - विवक्षायां तथेक्ष्यते॥६६॥

चलनेवालों में मंद कछुआ है। दौडनेवालों में वेगवाला घोडा है। यहां एकदेश को पृथक् कर के बताने के लिये षष्ठी आदि है।

अधिपः प्रभुरित्यादिरप्रसिद्धार्थकल्पना।
तस्मात्पूर्वोक्त एवार्थः ओंकारो ब्राह्मणोदितः॥६७॥

ऋषभ का किसी ने अधिपः अर्थ किया है। किसी ने प्रभु किया है। परंतु यह सब अप्रसिद्ध अर्थ की कल्पनामात्र है। इसलिये सीधा सरल अर्थ श्रेष्ठ ही यहां आदृत किया है।

एकाक्षरमनायासं फलं सकलमीप्सितम्।
ऋषभत्वं ततः स्पष्टं यो यदिच्छति तस्य तत्॥६८॥

एकाक्षर मन्त्र है अनायास साधनीय है। फल इष्टाखिलार्थ है, अतः ऋषभता स्पष्ट है। 'यो यदिच्छति तस्य तत्' यही श्रुति कहती है।

अनर्थज्ञोऽप्युपैत्यर्थानालम्बनतया विदन्।
इत्यतोऽपि महीयस्त्वमोंकारस्य न संशयः॥६९॥

अर्थ न जानने पर भी ओंकार को आलम्बन कर उपासना करनेवाला अभीप्सित अर्थों को पाता है। इसलिये भी ऋषभ है।

प्रणवः सर्ववेदेष्वित्युक्तं भगवतापि च।
तस्मादोंकार एवार्थ-श्छन्दसामृषभो मतः॥७०॥

छन्दसाम् ऋषभः और प्रणव सर्ववेदेषु दोनों का समान अर्थ है।

यो वेदादौ स्वरः प्रोक्तो वेदान्ते च प्रतिष्ठितः।
तस्य प्रकृतिलीनस्य यः परः स महेश्वरः॥७१॥
तिसृभ्यस्तस्य मात्राभ्यस्त्रयो वेदा विजज्ञिरे।
परस्तात्पर्यविषयः प्रोक्तस्तस्य महेश्वरः॥७२॥

ॐकार की तीन मात्राओं से तीन वेद प्रकट हुए। उसका तात्पर्य विषय महेश्वर है।

सत्यकाम परं ब्रह्म परं चोंकार इत्यतः।
उद्गीथोऽयं रसतम इत्यादेश्चर्षभो मतः॥७३॥

एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म, रसानां रसतम उद्गीथः इत्यादि श्रुति भी द्रष्टव्य है।

विश्वरूपः

ॐकारो विश्वरूपश्च वाच्यानां वाचकैक्यतः।
ओमित्येतदिदं सर्व-मिति माण्डूक्यवाक्यतः॥७४॥
ॐकारावयवोऽकारोऽकारो वै सकलापि वाक्।
तदभिन्नं जगत्तेन विश्वरूप उदीर्यते॥७५॥

वाच्य-वाचक ऐक्य होने से ॐकार विश्वरूप है। कैसे? ॐकार में अकार है। अकार ही सभी वाक् है। उस वाक् प्रपञ्च से अभिन्न जगत है।

अकारः सलु सर्वा वाक् नैवातोऽर्थोऽतिरिच्यते।
विकारः सकलो वाचारम्भणं नाम केवलम्॥७६॥
ॐकारावयवः सोऽयमकार इति हेतुतः।
ॐकाररूपमखिलं विश्वरूपश्च स स्थितः॥७७॥

'अकारो वै सर्वा वाक्' के अनुसार सभी वाक्प्रपञ्च अकार है। वाक्प्रपञ्च से अर्थप्रपञ्च अतिरिक्त नही है। वह अकार ॐकारावयव है। अतः ॐकाररूप विश्व हुआ। अतएव ॐकार विश्वरूप सिद्ध हुआ।

ननु श्रुत्यन्तरे सर्वं खल्विदं ब्रह्म संजगौ।
भूतानि विष्णुरित्यादौ विष्णुरूपतयाऽखिलम्॥७८॥
वैश्वानरो विश्वरूप इत्याहाऽऽदित्यवर्णने।
विश्वरूपो ह्यकर्तेति व्याचख्यौ शिववर्णने॥७९॥
स विश्वरूपस्त्रिगुण इत्यादिश्चावलोक्यते।
छन्दसामृषभस्यापि स्यादेवं विश्वरूपता॥८०॥
ब्रह्मात्मतामभिप्रेत्य विश्वरूपत्वमीर्यताम्।
शब्दार्थैक्यविवक्षादेः कस्मादानयनं वृथा॥८१॥

पू. - अन्य श्रुति में 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' ऐसे सब को ब्रह्मस्वरूप बताया। उस ब्रह्मस्वरूप दृष्टि को लेकर 'भूतानि विष्णु र्भुवनानिविष्णुः' सबको विष्णुरूप बताया वैश्वानर (आदित्य) के वर्णन में, शिव के वर्णन में एवं अन्यान्य वर्णन सर्वरूप में देवों का निरूपण किया। वैसे ब्रह्मदृष्टि रखकर ॐकार को विश्वरूप बताया इतने से उपपन्न होने से ॐकार में अ आता है। अकार सर्व वाणी है, वाणी अर्थ एक है अतः ॐकार विश्वरूप है इत्यादि वक्रमार्गाश्रयण व्यर्थ है।

मैवं छन्दस्स्वरूपेण ह्योंकारोपक्रमः कृतः।
ब्रहदृष्टिर्न सहसा तत्र स्यादविरोधतः॥८२॥

ततश्च विश्वरूपत्वं भवेद् दर्शितरीतितः।
यथोमित्यक्षरमिदं सर्वमित्यत्र दृश्यते॥८३॥

उत्तरः- यहां ओंकार का उपक्रम छन्द (वेद) के रूप में हुआ है। यश्छन्दसामृषभः में निर्धारणषष्ठी से वेदरूपता या वैदैकदेशरूपता ही ओंकार में प्रथमोपस्थित है। क्योंकि कोई अन्य विरोधी वहां नही है। अतएव ओंकार में ब्रह्मत्वभाव सहसा नहीं हो सकता। अतएव ब्रह्मदृष्टि से ॐकार विश्वरूप है यह व्याख्या करना संभव नहीं। फलतः ॐकार घटक अकाररूप सर्ववाणी होने से विश्वरूपता सिद्ध होती है। जैसे 'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं' में ब्रह्मरूपता को लेकर ॐकार ही जगत है ऐसा अर्थ नहीं है। वैसे यहां भी है।

किं च व्याहृतयः पश्चाद् भूर्भुवः सुवरादयः।
उच्यन्ते तैत्तिरीये तत्-साहचर्यात्तथा ध्रुवः॥८४॥

आगे 'भूर्भुवः सुवः' इत्यादि व्याहृतियां तैत्तिरीय में आती हैं। उनके साहचर्य से जैसे व्याहृति शब्दरूपेण गृहीत है वैसे ओंकार भी शब्दरूपेण गृहीत यहां हो रहा है, न कि ब्रह्मरूप से।

प्रवक्ष्यत्योमिति ब्रह्मेत्योंकारोपासना पुनः।
ज्ञातस्य न विधिर्यत्तद्वेदनं तदुपासनम्॥८५॥

तैत्तिरीय में आगे ओमिति ब्रह्म ऐसी उपासना विधि है। ज्ञात की पुनः विधि नहीं होती। वेदन ही उपासना है।

ननु चोपासनं नाम प्रत्ययावृत्तिरुच्यते।
पुंस्तन्त्रा सा न तु ज्ञानं वस्तुतन्त्रं हि तद्यतः॥८६॥
मैवं ब्रह्मत्वमोंकारे नैव प्रत्यक्षगोचरम्।
उपास्तिविधिना ज्ञेयं ज्ञातोपास्तिरतो ध्रुवा॥८७॥
सर्वं ब्रह्मेति वाक्येन ज्ञातमित्यप्यसद्वचः।
सामानाधिकरण्यं हि बाधे तत्र प्रवर्तते॥८८॥
न बाधश्चेदकामेनाप्युपेयोपास्तिरेव सा।
ओमितीतीतिकारेण शब्दरूपं हि गृह्यते॥८९॥

पू. - उपासना प्रत्ययावृत्ति को कहते हैं। ज्ञान वस्तुतन्त्र है। उ.- किन्तु ओंकार में ब्रह्मत्व प्रत्यक्ष कहां है, जिसे वस्तुतन्त्र कहोगे। उपासना विधि से ही ओंकार सें ब्रह्मत्वज्ञान होगा। नहीं। वहां बाधसामानाधिकरण्य होगा। सर्वं नास्ति ब्रह्मैवास्ति। तब ॐकार में ब्रह्मत्व शब्द से भी कैसे होगा? अतः ब्रह्मत्व का आरोप मात्र कहना होगा। तब वह प्रत्यक्ष नहीं विधिविषय हो गया।

लक्षणावशतो बोधः स्यादित्यपि न युज्यते।
सर्वं ब्रह्मात्र को भागस्त्यज्यते तदुदीर्यताम्॥ ९०॥

यह कहें कि सर्वं ब्रह्म में लक्षणा से बोध होगा। तो भी जमेगा नहीं। जहत्लक्षणा या भागत्यागलक्षणा कौनसी करेंगे? सर्व को छोडते हैं तो ब्रह्म ही बचेगा। तब ॐकार शब्द भी छूटेगा। अजहत् लक्षणा मानेंगे तो सर्वत्वविशिष्ट ब्रह्म नहीं है। वह शुद्ध है। अतः भागत्याग मानना होगा। कौनसा भाग छोडेंगे?

अस्त्यादियोगिनः शब्दान् शाब्दिका मन्वतेऽखिलान्।
वयमर्थांस्तु सद्रूपान् शब्दबोध्यान् प्रचक्ष्महे॥ ९१॥

वैयाकरण कहते हैं घटः पटः आदि के बोलने पर अस्ति भवति आदि शब्द जुड जाते हैं। वेदान्त मत में घटादि के साथ सत्ता जुडकर ही शाब्दबोध विषय मानते हैं। असत् का भान नहीं होता (सत् का बाध नहीं होता) ऐसी वेदान्तोक्ति प्रसिद्ध है।

इत्थं च सर्वशब्देन सर्वं सदुपतिष्ठते।
तत्र सर्वपरित्यागात् सद्ब्रह्मेत्येव धीर्भवेत्॥ ९२॥

तब सर्वं ब्रह्म कहने पर सर्वं सत् ब्रह्म इतनी उपस्थिति होगी। उसमें भाग सर्व होगा। उसका त्याग (ब्रह्म में से ब्रह्मत्वादि का त्याग) कर सद्ब्रह्म ऐसा बोध या अखाण्डाकार बोध होगा।

त्यज्यते शब्दरूपस्तु तत्रोंकारोऽप्यसंशयम्।
ॐकारे ब्रह्मता तस्मादुपास्तावेव कल्पते॥ ९३॥

सर्वं ब्रह्म कहो या ॐ ब्रह्म कहो सर्व को या शब्दात्मक ॐकार को

छोडकर सत् की उपस्थिति ही सिद्ध होगी। अतः ॐकार में ब्रह्मत्व तो उपासना में ही युक्त होगा।

यद्वक्ष्यत्योमिति ब्रह्मे-त्योंकारोपासनां श्रुतिः।
तामुपादाय विज्ञेयं ब्रह्मत्वमिति चेच्छृणु॥ ९४॥
सत्यं तत्तामुपादाय तदङ्गविधयाऽत्र हि।
जपार्थमन्त्रा उच्यन्तां मेधाकामस्य का क्षतिः॥ ९५॥
तामुपादाय नोंकारे ब्रह्मत्वं शक्यवेदनम्।
वाचं धेनुमुपासीतेत्यतः किं वाचि धेनुता॥ ९६॥

अच्छा - ओमिति ब्रह्म ऐसा जो आगे कहेंगे उसी उपासना को लेकर ओंकार में ब्रह्मत्व जान लीजिये। बात यह है कि उस उपासना विधि को लेकर उसके अंगरुप में जपार्थ मन्त्र मेधाकाम के लिए माने तो कोई क्षति नहीं है। किन्तु उससे ॐकार में ब्रह्मत्व सिद्ध नहीं होगा। वाचंधेनुमुपासीत इस उपासनाविधि में, वाणी में धेनुत्व नहीं आयेगा। क्या उससे वाणी दूध देने लगेगी?

एतेनोपास्य ॐकार ऋषभादिपदैः स्तुतिः।
इति भाष्यविरोधः स्यादित्यप्येव समाहितम्॥ ९७॥
धेनुत्वोपास्तिमात्रेण न दुग्धं दोग्धि वाक् क्वचित्।
ब्रह्मत्वारोपमात्रेण कथं स्याद्विश्वरूपता॥ ९८॥

इससे इस पूर्व पक्ष का भी उत्तर हो जाता है कि जो भाष्य में कहा उपास्य ॐकार की स्तुति ऋषभादि पद से हो रही है उससे विरोध होगा ब्रह्मरूप से ॐकारोपासना होने से विश्वरूपता ॐकार की सिद्ध होती है। उत्तर यह है कि ब्रह्मरूप से उपासना करने मात्र से ॐकार ब्रह्म नहीं होगा। तब विश्वरूप भी कैसे होगा।

विश्वरूपत्वतः स्तुत्या ॐब्रह्मोपासनाविधिः।
ॐब्रह्मोपास्तिविधिना विश्वरूपत्वमोमिच॥ ९९॥
अन्योन्याश्रयता चैवं स्पष्टमापततीत्यतः।
स्याद्वाच्यवाचकैक्येन ह्योंकारे विश्वरूपता॥ १००॥

विश्वरूप कहने से विश्वरूप ब्रह्ममात्र होने से इस स्तुति से ॐकार ब्रह्मोपासना सिद्ध होती है। सर्वं ब्रह्म के अनुसार ब्रह्म ही विश्वरूप है अतः ओं को ब्रह्मरूपेण उपासना कहने से ॐकार विश्वरूप है इस प्रकार व्याख्या करने से अन्योन्याश्रय दोष भी स्पष्ट है।

ॐकारोपासनं तस्मादत्र तावद्विधीयते।
तदङ्गविधया मन्त्रा गोपायान्ता जपार्थतः॥१०१॥

इसलिये यहां ओंकारोपासनाविधि है। श्रुतं में गोपाय तक ॐकारोपासनाङ्गतया मन्त्रों का जप विधानार्थ है।

नन्वोंकारोपासनं नाम कीदृगत्र विवक्षितम्।
तज्जपश्च तदीयार्थभावनं च स्मृतीरितम्॥१०२॥

यह ओंकारोपासना का क्या स्वरूप है? सुनो। ॐकार जप और ॐकारार्थ चिन्तन तज्जपस्तदर्थभावनं यही स्मृत्युक्त उपासना है।

तामों ब्रह्मेत्युपास्तिं तु केचिद् व्याचक्षते बुधाः।
एतदालम्बनं श्रेष्ठमित्यादिश्रुतिदर्शनात्॥१०३॥

ॐ ब्रह्म ऐसी प्रत्ययावृत्ति को कुछ विद्वान ॐकारोपासना कहते हैं। 'एतदालम्बनं श्रेष्ठं' इत्यादि श्रुति में भी बताया है।

तदेतत् प्राज्ञवचनं न वयं रोचयामहे।
सा ब्रह्मोपासना तु स्यान्नोंकारोपासना यतः॥१०४॥

पूर्वोक्त पण्डित वचन हमें अच्छा नहीं लगता। ॐ ब्रह्म यह उपासना है। परंतु वह ब्रह्मोपासना है, न कि ॐकारोपासना।

प्रतिमायां यदा विष्णुर्ध्यायते विष्णुभक्तितः।
सा विष्णूपासना नैषा प्रतिमोपासनोच्यते॥१०५॥

प्रतिमा में जब विष्णुभक्ति से विष्णु का ध्यान करते हैं तो वह विष्णूपासना होगी। न कि प्रतिमोपासना या पत्थर की उपासना।

विष्णुचित्रमुपादाय विष्णुश्चेच्चिन्त्यते तदा।
न चित्रोपासनां कश्चित्तामाह स्मसुधीरपि॥१०६॥

विष्णु का चित्र रखकर उसका ध्यान करे तो क्या वह

चित्रोपासना है?

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
इत्यत्र सूत्रकथित एवार्थो हि प्रतीयते॥१०७॥
अत्र व्याह्रियमाणं तु शब्दब्रह्म निगद्यते।
मामित्यत्र परं ब्रह्म पृथगेव समीरितम्॥१०८॥

ओमित्येकाक्षरं इत्यादि गीता श्लोक में सूत्रोक्त अर्थ ही प्रतीत होता है। उच्चारण शब्द ब्रह्म का, अनुस्मरण 'मां' से कथित परब्रह्म का अलग है।

ॐकारमानसजपः प्रयाणसमये भवेत्।
भगवत्स्मरणं चैव तत्कर्तव्यत्वमुच्यते॥१०९॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म परं ब्रह्मेत्यनुस्मरन्।
इत्यालम्बनरूपेण नावर्णि हरिणा यतः॥११०॥

प्रयाणकाल में ॐकार का मानस जप ही संभव है तथा भगवत्स्मरण भी उनकी कर्तव्यता बतायी। ॐ को परब्रह्मरूप से स्मरण करो ऐसा नहीं कहा।

ओमित्येकाक्षरे सम्यग् व्याहृते मामनुस्मरन्।
इति वा नैव भगवानब्रवीदर्जुनं प्रति॥१११॥

ॐ इस एकाक्षर में मेरा स्मरण करे ऐसा भी नहीं कहा। एकाक्षरं व्याहरन् मामनुस्मरन् ऐसा पृथक् पृथक् दो कर्तव्य ही प्रतीत होता है।

ओमित्येतत् प्रियं नाम ब्रह्मणो ब्रह्म भण्यते।
तेनाह्वाने परं ब्रह्म झटित्यभिमुखीभवेत्॥११२॥

तब ॐकारोच्चारण क्यों करना? ब्रह्मध्यान से ही सर्वसिद्धि हो सकती थी। बात यह है कि ॐ यह ब्रह्म का प्रिय नाम है। अतएव ॐकार को एकाक्षर ब्रह्म ही कहने लगे। प्रिय नाम होने से उस से बुलाने पर या उस नाम का उच्चारण करने पर ब्रह्म झट से अभिमुख हो जाता है (ऐसी संतों की मान्यता है)।

नाम मन्त्रं जपन्तो हि मानसं वाथ वाचिकम्।
स्मरन्ति भगवन्तं च स्वातन्त्र्येणेति लौकिकम्॥११३॥

मानस या वाचिक नाम मन्त्र जप चलता रहता है। भगवत् स्मरण भी स्वतन्त्रतया चलता रहता है। यह लोकानुभव सिद्ध है। (अर्थात् जप्य मन्त्र में इष्ट देवारोप होना चाहिये ऐसा कोई नियम नहीं है।)

ननु प्रियाऽप्रिये न स्त आभिमुख्यं च किंचन।
परब्रह्मण एवं च न प्रयोजनवान् जपः॥११४॥
सत्यं सममचिन्त्यत्वाच्छब्दशक्तेः फलं भवेत्।
ब्रह्म प्रकाशते क्षिप्रमोंकारजपकारिणः॥११५॥

पू. - ब्रह्म का कोई प्रिय या अप्रिय नहीं है। व्यापक का आभिमुख्य क्या होगा? उ. - बात सत्य है। किन्तु शब्दशक्ति अचिन्त्य होने से प्रिय नामोच्चारण प्रियाभिमुख्य जो लोकसिद्ध है वैसे ॐकारोच्चारण से शीघ्र ब्रह्मप्रकाशन होने से तुल्यता है। इतनी बात को लेकर अभिमुखीभवति शीघ्रं इत्यादि आचार्यों का वचन है।

ऋषभादिपदैःस्तुत्या फलश्रुत्या च सिध्यति।
ओंकारोपासनविधि - र्जपादिविषयस्ततः॥११६॥

ऋषभादिपदों से स्तुति है 'मेधया स्पृणोतु' इत्यादि फलश्रुति है। इनसे ॐकारोपासनाविधि सिद्ध होती है। उपासना तज्जप तदर्थ भावनात्मक ही है यह भी बात निश्चित होती है।

नन्वोमुपासनास्तुत्या जपाद्यात्मा विधीयताम्।
यश्छन्दसांजपविधिः कया स्तुत्या तु लभ्यते॥११७॥

पू. - माना कि यश्छन्दसामृषभः यह ओंकार की स्तुति है। 'यः स्तूयते स विधीयते' के अनुसार ॐकार जपादि विधि सिद्ध होगी। किन्तु 'यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः छन्दोभ्योऽ-ध्यमृतात् संबभूव' उतने की जप विधि-किससे प्राप्त होगी? यह पचीस-बीस अक्षर ॐकारात्मक नहीं है। इसकी स्तुति स्वयं से सिद्ध नहीं हो सकती।

उच्यते विधिमात्रेण नैव कश्चित् प्रवर्तते।
इष्टसाधनताबुद्धिः सर्वेषां हि प्रवर्त्तिका॥११८॥

पूर्वतन्त्रेऽत एवोक्तं स स्वर्गः स्यात्फलश्रुतौ।
मेधाप्रार्थनया त्वत्र फलं स्पष्टं प्रतीयते॥११९॥
मन्त्रैरेव प्रार्थना च नियमादवगम्यते।
सर्वनाम्ना गृहीतत्वात् पूर्वोक्तस्यापि वाक्यतः॥१२०॥

उ. - इस का समाधन सुनो। विधिमात्र से कोई प्रवृत्त नहीं होता। जब तक इष्ट साधनता बुद्धि नहीं होगी। अतः इष्ट फल कोई अवश्य चाहिये। अतएव 'विश्वजिता यजेत' इत्यादि में फलश्रवण न होने पर 'स स्वर्गः स्यात् सर्वान् प्रत्यविशेषात्' से स्वर्ग फल कल्पना करने को बताया। जहाँ अर्थवाद में फल दिखाया हो वहाँ अनुपस्थित स्वर्ग कल्पना में गौरव दोष होने से रात्रि सत्र में 'प्रतीतिष्ठन्ति ह वा य एता रात्रीरुपयन्ति' इस अर्थवाद में उक्त प्रतिष्ठा फल स्वीकार किया। प्रकृत में 'स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु' यहां मेधा की कामना स्पष्ट होने से मेधा ही फल है। मन्त्र में प्रार्थना आयी है अतः मन्त्र से ही प्रार्थना नियम सिद्ध है। उसमें 'स मेन्द्रो मेधया' सः यह सर्वनाम सापेक्ष है, पूर्व परामर्शक है। 'यश्छन्दसामृषभः विश्वरूप' इत्यादि पूर्व आया है। अतः पूर्वयजुर्द्वयोक्त ॐकार उपस्थित होगा वाक्यप्रयोग से। 'समभिव्याहारो वाक्यम्' उसकी भी उपस्थिति नियम विधि से वाक्य द्वारा ही कर्तव्य होगा। अतः यजुर्द्वय जप भी सिद्ध होगा।

मन्त्राणां च जपार्थत्वं सर्वत्रैवोररीकृतम्।
सिद्धं तस्मादपि जप-कर्त्तव्यत्वमसंशयम्॥१२१॥

मन्त्र जपार्थ होते हैं यह सर्वत्र माना है। अतोऽपि यहां जप कर्तव्यता सिद्ध है।

मनसा वचसा वा या मन्त्राऽऽवृत्तिर्जपस्तु सः।
सकृदुच्चारणमपि जप एव निगद्यते॥१२२॥

मन या वाणी से मन्त्रावृत्ति जप है। एक बार मन्त्र बोलना भी जप है।

मानसे च जपत्युक्ते-र्मनसावर्तने जपः।
व्यक्तवाचि जपत्युक्तेः सकृदुच्चारणेऽप्यसौ॥१२३॥

'जपजल्पव्यक्तायां वाचि' इस धातु पाठ में व्यक्त कथनमात्र जप है।

चाहे वह एक ही बार क्यों न हो। 'जप मानसे च' इस धातुपाठ से मानसमन्त्रावर्तन भी जप है।

जप्त्वा सहस्रं गायत्र्या शुद्ध्येदित्यादिषूक्तिषु।
आहाऽऽवृत्तिं याज्ञवल्क्यो न गायत्र्यः सहस्रशः॥१२४॥

सहस्र गायत्री का जप कर मनुष्य पापों से शुद्ध होता है इस याज्ञवल्क्य वचन में सहस्रावृत्ति अर्थ है। सहस्र गायत्रियां तो हैं नहीं।

प्रकृते तु सकृत् पाठो जपशब्देन गृह्यते।
शिष्टाः पठन्ति शान्तिं हि सकृदेवैकदा यतः॥१२५॥

प्रकृत में 'यश्छन्दसाम्' इत्यादि मन्त्रों का एक बार पाठ ही जप है। क्योंकि शिष्ट जन एक समय में एक ही बार शान्तिपाठ करता हैं।

इदं तु बोध्यं लिङ्गादि प्रधानेऽङ्गावबोधकम्।
निरूपितं पूर्वतन्त्रे किंतु तत् प्रायिकं मतम्॥१२६॥
न्याया हि लौकिका एव प्रोक्ता जैमिनिनाऽखिलाः।
अङ्गेष्विव प्रधानेऽपि न्याया एते स्फुरन्ति हि॥१२७॥
स्पृणोतु मेधयेत्यादि लिङ्गात्तेन हि भाष्यकृत्।
जपहोमविधिं प्राह तत्फलप्राप्तिसाधनम्॥१२८॥

यह बात यहां समझने योग्य है कि श्रुतिलिङ्गवाक्यादि प्रमाणों को पूर्वतन्त्र में अङ्गत्व बोधक मात्र बताया है। वस्तुतः लौकिक न्यायों का ही संग्रह जैमिनि ने किया है। अतः क्वचित् प्रधानबोधक भी ये हो सकते हैं। अतएव 'समेन्द्रो मेधया स्पृणो तु' 'ततो मे श्रियमावह' इत्यादि लिङ्ग से मेधादि प्राप्ति साधन जपहोम का विधान भाष्य में बताया।

यद्वोंकारजपस्यैव होमोऽङ्गं जप एव च।
भवेत् फलविशेषार्थे इन्द्रियार्थे यथा दधि॥१२९॥

अथवा 'यश्छन्दसामृषभः' इस स्तुति से प्राप्त जो ॐकार जप है उसके अंगरूप में आवहन्ती वितन्वाना इत्यादि से कथित होम अङ्ग होगा और उसी ओंकार जाप में 'यश्छन्दसां' से लेकर 'श्रुतं मे गोपाय' तक के मन्त्रों का जप अङ्ग हो जायेगा। (और 'आवहन्ती वितन्वाना' इत्यादि से

लेकर शेषोक्त होम अङ्ग होगा 'लोमशां पशुभिः सह स्वाहा' इत्यादि स्वाहाकार से होम प्राप्त होता है।) मेधाकाम हो तो जप एवं श्रीकाम हो तो होम। जैसे 'दघ्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' यह अग्निहोत्र होम में इन्द्रियकामनावालों के लिये विशेष अङ्गविधान है।

नन्वोंजपाङ्गं न स्तस्तौ स्वातन्त्र्यादिति चेन्न तत्।
स एवंभूत ॐकार इत्यादौ भाष्यदर्शनात्॥१३०॥
ऋषभादिस्तुतिप्राप्तजपविध्यास्पदोऽत्र हि।
एवंभूतपदार्थोऽत ॐजपाङ्गजपेङ्गनात्॥१३१॥
अभिसम्बध्यतेऽत्राप्यो - मधिकारादितीरितम्।
भाष्ये होमप्रसङ्गेपि जप्योऽधिकृत ॐ मतः॥१३२॥

पू. - जप और होम ॐकार जप के अंग नहीं है। स्वतन्त्र वे पढे गये हैं। नहीं। अेवंभूतॐकार इस प्रकार भाष्य में प्रथम जप प्रसंग में बताया। स एवंभूत ओंकारः इस भाष्य में प्रथम जपप्रसंग में बताया। एवंभूत का अर्थ है-ऋषभादि पद प्राप्त प्रशंसा के कल्पनीय ॐ जप का आस्पद ॐकार। होम प्रसंग में भाष्यकार ने बताया है-अधिकारादोंकार एवाभिसम्बध्यते। 'यश्छन्दसां' से अधिकृत ॐकार कौन है? स्तुति प्राप्त विधिविषय के जप्यत्वेन रूपेण पूर्व में उपस्थित है।

नन्वङ्गत्वमनाश्रित्य शान्तिपाठात्मना त्विमे।
मन्त्रा यदि प्रपठिता व्यर्थाः स्युरिति चेन्न तत्॥१३३॥

पू. - ॐकार जप के अंग के रूप में नहीं, शान्तिपाठ रूप में पढे तो व्यर्थ होंगे। नहीं।

शान्तिरेव फलं तस्य शान्तिपाठसमाख्यया।
सामान्यमेधाप्राप्तिर्वा भवेत्तल्लिङ्गसत्त्वतः॥१३४॥

उ. - शान्ति ही फल है। क्योंकि शान्तिपाठ इस का नाम है। अथवा 'स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु' के अनुसार सामान्य मेधा प्राप्ति फल है।

यथाशिवाद्यर्चनाङ्गविधं विघ्नेशपूजनम्।
तदीयफलपर्यन्तविघ्ननाशफलं भवेत्॥१३५॥

प्रधानपूजनं तच्चेत्तस्य स्वर्गः फलं भवेत्।
विघ्नसामान्यनाशो वा विघ्नेशादिसमाख्यया॥ १३६॥

उदाहरणार्थ-गणेशपूजन शिवपूजादि के अंगरूप में करते हैं तो शिवपूजन का फलपर्यन्त जो भी विघ्न हो उसका नाश करेगा। स्वतन्त्र गणेशपूजन करते हैं तो इष्ट स्वर्गादि फल मिलेगा या विघ्नेश्वर समाख्यानुसार प्राप्त विघ्नसामान्यनाश करेगा। वैसे 'यश्छन्दसामृषभ' इत्यादि पाठ भी ॐकारजपाङ्गरूप में भी किया जा सकता है, स्वतन्त्र भी किया जा सकता है।

ननु द्वादशसाहस्रं जपन्त्यों यतयोऽन्वहम्।
न त्विमानि यजूंषीति व्यर्थस्तेषां जपो भवेत्॥ १३७॥
न च शाखान्तरोक्तस्य नाङ्गानीत्यपि सांप्रतम्।
भविष्यत्युपसंहारन्यायेनैव तदङ्गता॥ १३८॥
न चोंकारजपो नित्य इति नाङ्गान्यपेक्षते।
नित्यानामपि चाङ्गानि वीक्ष्यन्ते वन्दनादिषु॥ १३९॥

पूर्वपक्षः- संन्यासी लोग रोज बारह हजार ॐकार जपते हैं। किन्तु 'यश्छन्दसां' इत्यादि यजुष को नहीं पढते। अतः अङ्गहीन जप व्यर्थ होगा। यह कहें कि अन्य शाखोक्त संन्यास एवं ॐकार जप से यजुः शाखोक्त अङ्ग नहीं आयेंगे तो सही नहीं। क्योंकि उपसंहार न्याय से अन्यशाखीय ॐकारोपासना में भी ये अङ्गरूप से मन्त्र जप आयेंगे। भले आप ओमित्येतदुद्गीथमुपासीत से ओंकारोपासना करो। यजुर्वेदीय ही प्रायः संन्यासविधि से संत दीक्षित होते हैं। संन्यासियों के लिये ॐकार जप नित्य होने से अङ्गापेक्षा नहीं है यह भी कोई युक्ति नहीं है। क्या नित्यसन्ध्या वन्दन, गुरुवन्दनादि के अंग नहीं होते?

सत्यं मेधादिकामस्य यजूंष्याप्नुयुरङ्गताम्।
यथैवेन्द्रियकामस्य दध्यन्यस्य पयोऽपि वा॥ १४०॥

बात अपने मार्के की कही। पर बात यह है कि मेधादि कामना हो तो यश्छन्दसां इत्यादि यजुष अंग बनेंगे। जैसे इन्द्रिय कामना हो तब दधि

अंग का नियम है। अन्यथा 'पयसा जुहोति' ऐसे दूध से भी तो अग्निहोत्र होता है।

ननु संन्यस्यतः प्रज्ञाकामना विद्यते ध्रुवम्।
व्याख्यास्यतेऽमृतं तस्य धारणेच्छापि निश्चिता॥१४१॥

पूर्वपक्षः- संन्यास ग्रहण करनेवाले के अंदर प्रज्ञारूपी मेधा की कामना होगी ही। आगे अमृत की व्याख्या भाष्यकार अमृत साधन ब्रह्मज्ञान करेंगे उसकी धारणेच्छा भी निश्चित है। अन्यथा संन्यासी क्यों बनते। विचक्षण शरीरादीच्छा भी सर्वसामान्य है। तब ॐकारजपी संन्यासी को इन यजुषों का जप करना जरूरी होगा। किन्तु ओंकारजप के साथ प्रायः कोई भी करता नहीं है।

सत्यं तत्तत्करणकफलेच्छायां तदङ्गता।
कर्मणः करणत्वेन फलेऽन्यवसमादरात्॥१४२॥
अग्निहोत्रेण होमेन भावयेदिष्टमुच्यते।
न हि शल्यचिकित्सायां दधि स्यादग्निहोत्रिणः॥१४३॥

यह भी सत्य है। ध्यानयोग्य है। किन्तु यह ध्यान रखना जरूरी है। तत्तत्करणक फलेच्छा में तत्तत्करण की हेतुता है। कर्म का करणत्वेन अन्वय इष्ट है। अग्निहोत्रं जुहोति का अर्थ है अग्निहोत्र होम से इष्ट फल पाओ। इष्ट फल का साधन अग्निहोत्र है। तो कोई आपरेशन से आंख को ठीक करने या प्राप्त करने की इच्छा रखता है, क्या वह अग्निहोत्री हो तो उस पर 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयाद्' यह वाक्य लागू होगा? हां, अग्निहोत्र से मैं आंख प्राप्त करूं ऐसी इच्छा हो तो ही वहां दधि का करणत्वेन अन्वय होगा। वैसे ॐकार जप से मैं मेधा प्राप्त करूं, ब्रह्मज्ञान प्राप्त करूं ऐसी इच्छा हो तभी 'यश्छन्दसां' इत्यादि यजुओं का जप प्राप्त होगा। ईशावास्यादि उपनिषत् पढकर ब्रह्मविद्या प्राप्त करूं ऐसी इच्छा में ओंकार के जप में यजुष जप प्राप्त नहीं होगा।

नित्यकर्तव्यविधया चित्तशुद्ध्यादिहेतुना।
ॐजपे यजुषामेषां नास्त्यङ्गत्वामिति स्थितिः॥१४४॥

जो संन्यासी नित्य कर्तव्यरूप से या चित्तशुद्धि आदि फल के हेतु से ॐकार जप करते हैं उनके लिये 'यश्छन्दसां' इत्यादि यजुर्गण जप का नियम अर्थात् अङ्गत्व नहीं है यही स्थिति है।

ॐजपेन यदा ब्रह्मज्ञानप्रेप्सा भवेत्तदा।
यजूँष्येतानि जाप्यानि तदङ्गविधयेत्यलम्॥ १४५॥

यदि ओंकार जापी संन्यासी के मन में यह इच्छा हो कि इस ॐकार जप से मैं ब्रह्मज्ञान पाऊं या ब्रह्मज्ञान धारण करूं तो 'यश्छन्दसां' इत्यादि यजुर्मन्त्रों का जप करना ही चाहिये। तत्त्वमस्यादिश्रवण बीच में आवश्यक है किन्तु उसके श्रवण होने पर भी बहुतों को जो ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं होता, वह प्रतिबन्ध बीच में नहीं आयेगा स्वयं समझ लेना एतदर्थ अलं कहा।

छन्दोभ्योऽध्यमृतात् संबभूव

वेदा प्रमाणमितिवत् छन्दांस्यमृतमित्यपि।
जात्यन्वयविवक्षायामेकत्वाद्युपगम्यते ॥ १४६॥

'छन्दांसि' यह बहुवचन है। अमृतं एकवचन है यह कैसे? जैसे - 'वेदाः प्रमाणम्' में। वहां भी कैसे? जात्यन्वय विवक्षा से। वेदत्व एक जाति है। वेदत्वावच्छेदेन जैसे प्रमाणता है वैसे वेदत्वावच्छेदेन अमृतता है।

अमृतं यज्ञशेषाम्बुसुधामोक्षेष्वयाचित्ते।
मोक्षैकत्वात्साधनोपचाराच्छन्दांसि चामृतम्॥ १४७॥

अमृतं यज्ञशेष इत्यादि हेमचन्द्र कोश में बताया है। इतने अर्थों में अमृतं यह नपुंसक शब्द है। मोक्ष एक होने से अमृत शब्द एकवचनान्त है। परंतु छन्द में (वेद में) प्रयोग साधनोपचार से है।

ननु छन्दांसि सर्वाणि मोक्षदानि न चक्ष्महे।
स्वर्गेच्छोरभिचारेच्छोरपि तत् कारणं यतः॥ १४८॥

मैवं साक्षात् क्वचिद्धेतुः स परम्परया क्वचित्।
सर्वे वेदा यत्पदं सदामनन्तीति दर्शनात्॥१४९॥

पू. - संपूर्ण वेद मोक्षसाधन नहीं है। 'स्वर्गकामो यजेत', 'अनेन उद्गीथेनासुरान् जेष्याम' इत्यादि वचनों में फलान्तर साधन भी बताया है। उत्तरः- नहीं। 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इस श्रुति में समस्त वेदों का परम तात्पर्य परमात्म प्रतिपादन में बताया है।

यद्वाऽमृतं तु परमसुखदं विनिगद्यते।
सर्वोऽपि सुखदो वेदस्तस्मादमृतमुच्यते॥१५०॥
अमृतं शिशिरे वह्निरमृतं प्रियदर्शनम्।
अमृतं राजसंमानममृतं क्षीरभोजनम्॥१५१॥

अथवा अमृत शब्द का परम सुखदायी अर्थ है। सभी वेद परम सुखदायी है इसलिये अमृत कहा। इसी प्रकार काव्यों में प्रयोग आया है। जैसे ठंडी के समय अग्नि अमृत है। प्रिय-प्रेमी का दर्शन अमृत है। राजसंमान अमृत है। क्षीरभोजन अमृत है।

ऊर्ध्वार्थे चाधिकार्थे चाप्यधिशब्दः प्रयुज्यते।
ऊर्ध्वत्वं वाऽधिकत्वं वा भवति श्रेष्ठतावशात्॥१५२॥

ऊर्ध्व या अधिक अधि का अर्थ है। दोनों ही श्रेष्ठता का ही द्योतक होगा।

प्रणवः सर्ववेदेष्वित्युक्तं गीतासु शार्ङ्गिणा।
तथा भागवतेऽप्युक्तं मन्त्राणां प्रणवस्त्रिवृत्॥१५३॥
दृष्टवेदनकृद्वेद-स्तत्र स्यात्प्रणवः परः।
अदृष्टसिद्धिकृन्मन्त्रस्तत्र च प्रणवः परः॥१५४॥

प्रणवः सर्ववेदेषु ऐसा गीता में कहा। मन्त्राणां प्रथमः ऐसा भागवत में कहा। वेदनं अर्थात् ज्ञान दृष्टफल है। अदृष्ट फलदायी मन्त्र है। सब में श्रेष्ठ 'प्रणव' है।

भूतानां पृथिवी सारः पृथिव्या आप एव च।
अपामोषधयः सार ओषधीनां पुमांस्तथा॥१५५॥

पुरुषाणां च वाक् सारो वाचामृक् तत्र साम च।
तत्र प्रणव उद्गीथः स सारिष्ठतया श्रुतः ॥ १५६ ॥

भूत, पृथिवी, जल, ओषधि, पुरुष, वाक्, ऋक्, साम और उद्गीथ (प्रणव) उत्तरोत्तर सारतर होने से अन्तिम उद्गीथ-प्रणव सारिष्ठ (सारतम) श्रुति में कहा है।

भूतावष्टम्भिनी पृथ्वी न भोगः कल्पतेऽन्यथा।
पिण्डीकुर्वन्ति तामापः शरीरादि यतो भवेत् ॥ १५७ ॥

चराचर शरीर पृथिवी के अवष्टम्भन के बिना भोगयोग्य नहीं होते। अतएव वरुणलोक में जलीय शरीर माननेवालों को भी पृथिवी अवष्टम्भन मानना पडता है। पृथिवी के अणु बिखरे पडे हों तो भी न शरीर होगा और न भोगादि होगा। उन्हें पिण्ड बनानेवाला जल है। और पृथिवी का उत्पादक भी जल ही है। 'अद्भ्यः पृथिवी'।

ओषध्युद्भावनांशश्च जले रसतमो मतः।
वृष्ट्या भूयिष्ठमन्नं स्यादोषधीभ्य इति श्रुतेः ॥ १५८ ॥

जल में सार ओषधि-उत्पादन शक्ति अंश है। उससे अन्न होता है. वृष्टि से भूयिष्ठ अन्न होता है, ओषधि से अन्न होता है यह श्रुति है।

पुरुषोद्भावनांशः स्यादोषधीनां परो रसः।
वेदोच्चारणयोग्यत्वात् पुरुषे वाग् रसो मतः ॥ १५९ ॥

ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात् पुरुषः के अनुसार ओषधियों में जो पुरुषोद्भावक अंश है वह सारतर है। वेदोच्चारणादिरूप महत्त्वपूर्ण कार्य वाणी से होता है अतः पुरुष में वाणी ही सार है।

वेदेष्वृक् तत्र सामापि सारिष्ठत्वेन संमतः।
प्रणवः सामसूद्गीथः सर्वसारिष्ठ इत्यधि ॥ १६० ॥

वेदों में ऋक् सारतम है। यद्यपि वेदानां सामवेदोऽस्मि ऐसा गीता में कहा है। परंतु ऋचा में ही सामगायन होता है। अतः वेदों में ऋक् उस में साम यही क्रम है। साम में उद्गीथ ॐकार सर्वसारतम होने से छन्दोभ्यो 'अधि' इस अधि का अर्थ उसमें चरितार्थ होता है।

ननु द्वितीयभक्तिर्हि साम्न उद्गीथ उच्यते।
व्याप्तेः समञ्जसमिति तदोंकारविशेषणम्॥१६१॥
कथं प्रणवसामान्ये सिध्येत् सारिष्ठता ततः।
तैत्तिरीयोदितस्त्वेष नोद्गीथ इति चेच्छृणु॥१६२॥

पू. - पाञ्चविभक्तिक साम का उद्गीथ द्वितीय भक्ति (भाग) है। वह ॐकार का विशेषण है। यह बात 'व्याप्तेश्च समञ्जसम्' इस सूत्र में बतायी है अर्थात् ओंकार में उद्गीथत्व का या उद्गीथ में ओंकारत्व का आरोपादि 'ओमित्येतदुद्गीथ' का अर्थ नहीं है। उद्गीथ यह विशेषण है। क्योंकि ॐकार सर्ववेदस्थ है। उद्गीथरूपी ॐकार सामवेद में ही है। तब उद्गीथरूप सामवेदीय ॐकार सारिष्ठ हुआ। यश्छन्दसां इत्यादि तैत्तिरीय प्रतिपादित ॐकार उद्गीथ न होने से यह सारिष्ठ कैसे हो सकता है? इस का उत्तर सुनो-

भिद्यते नैव यजुषि साम्नि वा प्रणवः क्वचित्।
व्याप्तिरेव कथंकारमोंकारस्यान्यथा भवेत्॥१६३॥

चाहे सामवेदीय हो चाहे यजुर्वेदीय कहीं भी ॐकार भिन्न-भिन्न नहीं है। (शब्द को नित्य और व्यापक मानते हैं) अन्यथा ॐकार की व्याप्ति ही कैसे हो? नीलं कमलं यहां व्यापक कमल नील व्यावर्त्तक विशेषण है। वैसे सर्ववेदीय व्यापक ॐकार का व्यावर्तक विशेषण उद्गीथ (सामवेदीय) होगा। फलतः जो उद्गीथ ॐकार है वही यश्छन्दसामृषभ से कथित ॐकार है।

उद्गीथावयवे तस्मादुद्गीथपदलक्षणा।
अक्षरोक्तिरतो ह्योमि-त्येतदक्षरमत्र च॥१६४॥

अतः उद्गीथ से उद्गीथावयव ॐकार में उद्गीथ पद की लक्षणा है। अतएव अक्षर विशेषण-'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथं' यह उपपन्न है।

भवेद्गीतिषु सामाख्या तत्र चावयवोऽक्षरम्।
न गीतिरक्षरं तस्मात् सारिष्ठः प्रणवो मतः॥१६५॥

उद्गीथ भी तो अक्षर है। नहीं। उद्गीथ साम भक्ति है। सामगीति को कहते हैं। 'गीतिषु सामाख्या' ऐसा मीमांसा सूत्र है। उस गीति में अक्षर

अवयवरूप से आता है। अतः सारिष्ठ अक्षर है प्रणव है।

भाष्येऽत एव चोद्गीथः ॐकारः प्रकृतत्वतः।
इत्येवमुपसंहारे तदुपास्तेः प्रवेदितम्॥१६६॥

इसीलिये भाष्य में भी उद्गीथोपासना के उपसंहार में उद्गीथ ॐकारः प्रकृतत्वात् बताया।

ननूद्गानविशिष्टोम उपासात्र विधीयताम्।
तन्नोभयविधानेन वाक्यभेदप्रसङ्गतः॥१६७॥

पू. - उद्गानविशिष्ट ॐकार की उपासना का विधान क्यों नहीं। उ.- उद्गान तथा उपासना दोनों का विधान होने पर वाक्यभेद होगा।

विशिष्टस्यात्र सोमेन यजेतेत्यादिवद्विधिः।
न शक्य आश्रयस्यात्र सिद्धत्वेन ग्रहैक्यवत्॥१६८॥

सोमेन यजेत के समान यहां विशिष्ट विधि संभव नहीं है। क्योंकि आश्रय ॐकार सिद्ध है। जैसे ग्रह सिद्ध होने से तद्गत एकत्व का विधान नहीं। उद्देश्यगत विशेषण अविवक्षित होता है।

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥१६९॥
ब्राह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा।
स्त्रवत्यनोंकृतं पूर्वं परस्ताच्च विशीर्यते॥१७०॥
इत्यानन्दगिरीयादावविशेषितमेव हि।
अधार्योंकारसामान्यमत्र तेनैव हेतुना॥१७१॥

'तस्मादोमित्यादि' गीतावचन तथा 'ब्राह्मणः प्रणवं कुर्यात्' इत्यादि मनुवचन जो भाष्य में सूचित है आनन्दगिरीय में स्पष्ट किया जो उद्गानविशिष्ट प्रणव से अलग है।

त्रयाणामपि वेदानां गायत्री त्रिपदात्मिका।
सारभूता निगदिता वेदमाताऽखिलार्थदा॥१७२॥
गायत्र्यास्त्रिपदायाश्च सारं तु व्याहृतित्रयम्।
भूभुर्वः स्वरितिप्रोक्तं तच्च सर्वार्थसंग्रहम्॥१७३॥

तिसृणां व्याहृतीनां च यस्तु सारतमो भवेत्।
त्रिमात्रः प्रणवः सोऽयं सर्वसारात्मको मतः॥ १७४॥

तीन वेदों का सार त्रिपदा गायत्री। त्रिपदा गायत्री का सार भूर्भुवः स्वः ये तीन व्याहृति। तीन व्याहृतियों का सार त्रिमात्र ओंकार सर्वसारात्मक है।

अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः।
वेदत्रयान्निरदुहत् भूर्भुवःस्वरितीति च॥ १७५॥
त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदूदुहत्।
तदित्यृचोऽस्याः सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः॥ १७६॥
इत्येवं मनुना प्रोक्तं पूर्वरीत्यैव योज्यताम्।
तदित्यृचस्तत् सवितु-र्वरेण्यं भर्ग इत्यृचः॥ १७७॥

व्युत्क्रम से मनु ने कहा। उसे पूर्वोक्त क्रम से योजित कर लो। 'तदित्युचः' यह 'तत्सवितुर्वरेण्यं भर्ग' इत्यादि गायत्री को प्रतीक रूप में मनु ने कहा।

वेदादीनां सारतमं संजिघृक्षोस्तपस्यतः।
प्रजापतेः किलोंकारः प्रत्यभात् प्रणवोऽक्षरम्॥ १७८॥
गायत्र्याः व्याहृतीनां च नोत्पत्तिः प्रणवस्य च।
नित्यत्वात् संबभूवेति प्रतिभानमतो मतम्॥ १७९॥

वेदशास्त्रों का सारसंग्रह करने के लिये प्रजापति ने तपस्या की तो उनको ॐकार प्रतिभासित हुआ। यही संबभूव का अर्थ है। क्योंकि नित्य वेद की उत्पत्तिरूपी संभव नहीं हो सकता।

स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु

स ॐकारो हि मा मां स इन्द्रो हि परमेश्वरः।
इन्दतिः परमैश्वर्ये सर्वकामप्रदायकः॥ १८०॥
मेधया प्रज्ञया सोऽयं स्पृणोतु प्रीणयत्विति।
बलयत्विति वा प्रज्ञाम् अर्थ्यं प्रज्ञाबलं यतः॥ १८१॥

वह इन्द्र अर्थात् परमेश्वर सर्वकाम प्रदायक होने से मुझे प्रज्ञा से

प्रीतियुक्त करे। वस्तुतः प्रज्ञाबल ही यहां अर्थनीय है।

क्षरन्ति सर्वा वैदिक्यो जुहोतियजतिक्रियाः।
अक्षरं त्वक्षरं ज्ञेयं ब्रह्म चैव प्रजापतिः॥१८२॥
इत्येवं मनुनोंकारः प्रजापतितयोदितः।
प्रजानां च पतिर्ब्रह्म सइन्द्र इह कीर्त्तितः॥१८३॥

मनुजी कहते हैं - होम यागादि स्वरूपतः क्षरण (विनाश) शील है, फलतः भी क्षरणशाली है। अक्षर ओंकार ही अक्षर-क्षारणरहित है नित्य है। उसका फल ब्रह्म भी क्षरणरहित है। वही प्रजापति अर्थात् समस्त प्रजा का स्वामी है।

जप्यमानस्य तु फलं ब्रह्मोंकारस्य दर्शितम्।
कृता जपप्रशंसाऽतो मनुना तदनन्तरम्॥१८४॥
ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः।
सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥१८५॥
जप्येनैव हि संसिध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्याद् मैत्रो ब्राह्मण उच्यते॥१८६॥

जप्यमान ओंकार को स्वरूपेण क्षरणरहित तथा फलरूपेण ब्रह्म मनु ने बताया। अतएव इसके बाद मनु ने जप प्रशंसा की पाक-यज्ञ विधियज्ञादि सभी जपयज्ञ की सोलहवीं कला के बराबर भी नहीं है। जप से ही ब्राह्मण सर्व सिद्धि पायेगा अन्य कुछ करे या न करे। ब्राह्मण माने मैत्र।

ञिमिदा स्नेहने मैत्रो भक्तितन्मयमानसः।
ब्रह्म सम्बन्ध्यसौ ब्रह्मलयी ब्राह्मण ईयते॥१८७॥

'ञिमिदा स्नेहने' धातु से मित्र और मैत्र शब्द होता है स्नेह माने प्रेम भक्ति। तन्मय मानस होने पर वह ब्रह्मसम्बन्धी होने योग्य होता है और ब्रह्मलीन होनेवाला होगा। ऐसा भक्तिपूर्ण हृदय ओंकार जप करें तो अक्षरब्रह्म प्राप्त होगा।

एकाक्षरं परं ब्रह्मेत्येवं पूर्वमुदीरणात्।
सभक्त्यों जपतः सर्वमेतदुक्तं प्रतीयते॥१८८॥

इसके उपक्रम में एकाक्षरं परं ब्रह्म ऐसा बताया। एकाक्षर ॐकार ही है अतः भक्तिपूर्वक ॐकार जपकारी के लिये यह सब बताया यह स्पष्ट है।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
इत्यादि गीतावचनात्तज्जपः स्पष्टमीयते॥ १८९॥

'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' इस गीतावचन से तुलना करने पर वही स्पष्टतर होता है।

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशु स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥ १९०॥
इति मध्ये यद्यपीह मन्त्रसामान्यगोचरम्।
जपमाश्रित्य वैशिष्ट्यं तत्रैव मनुनोदितम्॥ १९१॥
तथापि जप्यविषयसामान्योक्त्याप्युपक्रमात्।
ओंकारमानसजपवैशिष्ट्यं हि समर्थ्यते॥ १९२॥

यद्यपि बीच में विधि यज्ञ से जप यज्ञ दस गुना श्रेष्ठ है, उपांशु शतगुण श्रेष्ठ है, मानस जप सहस्रगुण श्रेष्ठ है, इस प्रकार सर्व मन्त्र सामान्य का उपक्षेप किया है। तथापि सामान्योक्ति से ॐकार मानसजप वैशिष्ट्य समर्थन ही विवक्षित है। क्योंकि उपक्रम ॐकार जप का है।

एतदक्षरमेतां चेत्यादिना मनुना ननु।
परमोपक्रमे प्रोक्ता गायत्र्यादिरपीति चेत्॥ १९३॥
सत्यं, ततोऽपि निष्कृष्य प्रोक्तमक्षरमक्षरम्।
गीतासमर्थनमपि व्यादर्श्यनुपदं मया॥ १९४॥

यद्यपि परमोपक्रम में मनु महाराज ने 'एतदक्षरमेतां च जपन् व्याहृति पूर्विकाम्' इस प्रकार ॐकार तथा व्याहृतिपूर्वक गायत्री को भी कहा है। बात सत्य है। किन्तु उससे निष्कृष्ट कर ॐकार का विशेष वर्णन 'अक्षरं त्वक्षरं' इत्यादि कहा। 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' इत्यादि गीतावचन का भी इस में समर्थन है यह हमने पहले भी बताया। कुछ विशेष पहले कह चुका हूं।

ननु प्रज्ञाबलं कस्माद् याच्यते व्यर्थमेव तत्।
नायं प्रवचनेनात्मा लभ्यो मेधादिनापि वा॥ १९५॥
श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
न मेधादिबलं तत्र कारणं भावयामहे॥ १९६॥

पू. - प्रज्ञाबल की प्रार्थना व्यर्थ है। 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया' इत्यादि श्रुति में यह स्पष्ट है। 'श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं' इत्यादि गीतावचन में श्रद्धा, तत्परता आदि को ही कारण बताया है।

न चौपनिषदं ब्रह्म प्रज्ञाऽऽप्यमि सांप्रतम्।
तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थबोधेनैवोपपत्तितः॥ १९७॥

यह कहें कि श्रुति ने ब्रह्म को औपनिषद-उपनिषन्मात्र वेद्य बताया है। अतः मेधा की आवश्यकता है। नहीं। तदर्थ तत्त्वमसि आदि महावाक्य श्रवणमात्र पर्याप्त है।

उच्यते तत्त्वमस्यादिवाक्यैः प्रज्ञावतामपि।
प्रथमं जायते ज्ञानं विशिष्टार्थं मृषात्मकम्॥ १९८॥
दृष्टा पञ्चालदेशेषु त्रिहायन्योऽपि बालिकाः।
त्वं ब्रह्मोक्तौ प्रसीदन्ति जीवोऽस्युक्तौ रुदन्ति च॥ १९९॥
मात्रध्यापनमात्रेण प्रसीदन्ति रुदन्ति ताः।
न तासु सत्यं विज्ञानं किंचिज्जातं मृषात्मकम्॥ २००॥

नहीं। प्रज्ञाहीनों की बात छोडो, प्रज्ञावानों को भी प्रथम तत्त्वमसि आदि महावाक्य से विशिष्टार्थ विषयक मिथ्या ज्ञान ही होता है। पहले समय में पंजाब में वेदान्त चर्चा बहुत चलती थी। छोटी-मोटी बच्चियां भी 'तू ब्रह्म है' कहने पर प्रसन्न होती थी, 'तू जीव है' कहने पर रोती थी। मां बताती तू ब्रह्म है जीव नहीं तो वे समझती-ब्रह्म बडप्पन को कहते हैं, जीव गाली है, उनको यथार्थ विज्ञान नहीं होता है। कुछ ज्ञान होता था किन्तु वह मिथ्या था।

पदार्थशोधनं कार्यं प्रथमं तु मुमुक्षुणा।
वेदशास्त्राणि तत्रैव पर्यवस्यन्ति सर्वशः॥ २०१॥

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
इति तत्त्वं परं तद् वाङ्-मनसागोचरं श्रुतम्॥२०२॥
षष्ठीगुणक्रियाजातिविशिष्टं बोधयेद्वचः।
धर्माधर्मादिरहितं बोधयेद् ब्रह्म तत्कथम्॥२०३॥

प्रथम पदार्थशोधन आवश्यक है उसी में समस्त वेदशास्त्र उपक्षीण होते हैं। परम तत्त्व को श्रुति ने वाणी और मन का अविषय बताया है। सम्बन्ध, गुण, क्रिया, जाति आदि से विशिष्ट अर्थ का ही बोधन शब्द करेगा। गुणधर्मादिरहित ब्रह्म को वह वाणी कैसे प्रतिपादन कर पायेगी?

स्थूलारुन्धतिकान्यायात् शब्दो निकटमापयेत्।
निषिध्याखिलमन्ते तत् स्वप्रकाशं प्रकाशते॥२०४॥
प्रज्ञाबलं तदर्थं च परमावश्यकं सताम्।
बलहीनेन नैवात्मा लभ्योऽयमिति हि श्रुतिः॥२०५॥

स्थूलारुन्धती न्याय से शब्द ब्रह्म के निकट तक पहुंचाता है। अन्त में सर्व निषेध कर स्वप्रकाश ब्रह्म स्वयमेव प्रकाशित होता है। समीप तक पहुंचाने के लिये प्रज्ञाबल की परम आवश्यकता है यही संतों का अनुभव है। 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' यह श्रुति शरीरबल परक नहीं प्रज्ञाबलार्थक है।

भिन्नौ स्तां ज्ञानविषयावन्तर्ज्ञानं घटो बहिः।
नानन्दज्ञानयोरैक्यं वैजात्यादपि सर्वथा॥२०६॥
क्षणिकं च सुखं दृष्टं न तु ब्रह्मात्मना क्वचित्।
ब्रवीति नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म च श्रुतिः॥२०७॥
एतद्रहस्यविज्ञानं न प्रज्ञाबलमन्तरा।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥२०८॥
तदेतदन्यथा जानन् च्यवते पुरुषार्थतः।
प्रायः शास्त्राण्यधीयाना अपि नो तत्त्वतो विदुः॥२०९॥

ज्ञान और विषय भिन्न होते हैं। जैसे घट ज्ञान हुआ तो ज्ञान हमारे

अंदर होगा। घट बाहर रहता है। दोनों की एकता नहीं होती। आनन्द का अनुभव होता है तो आनन्द विषय हुआ और अनुभवरूपी ज्ञान विषयी उससे भिन्न हुआ। सुख क्षणिक होता है। वह कभी ब्रह्मरूप नहीं हो सकता। क्योंकि ब्रह्म शाश्वत है पर श्रुति कहती है- 'नित्यंविज्ञानमानन्दं' ज्ञान और आनन्द एक है नित्य है। क्षणिक नहीं। क्या वह सामान्य लोगों को मालूम पडता है? भले सुन लें और कुछ समझ लें। पर इसका रहस्यज्ञान प्रज्ञाबल के बिना नहीं हो सकता। श्रुति कहती है-'दृश्यते त्वग्र्यया'। बुद्धि सूक्ष्म हो कुशाग्र हो और देखनेवाला सूक्ष्मदर्शी भी हो तभी इस रहस्य को जान पाता है। प्रायः सुननेवाले अन्यथा ही सुनते हैं। जैसे उस पंजाबी बालिका की बात बतायी। उसका परिणाम है, वह पुरुषार्थ से प्रच्युत होता है।

नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म लक्षणया विदन्।
धूत्वाऽसंभावनादिं च प्राज्ञो ब्रह्माधिगच्छति॥२१०॥

'नित्यं विज्ञानमानन्दं' इत्यादि वाक्यों से लक्षणया तत्पदार्थ ज्ञान प्राप्त कर जीवपरैक्य वाक्य से अखाण्डाकार वृत्ति संपादन कर मनन निदिध्यासन से असंभावना विपरीत भावना को भी मिटा कर प्राज्ञ पुरुष (प्रज्ञाबलयुक्त पुरुष) ब्रह्म को प्राप्त होता है।

तस्मान्न मेधयेत्यादि श्रुतिस्तन्मात्रतत्परा।
तन्मात्रवरणावश्य-कार्यपर्यवसायिनी ॥२११॥

इसलिये 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया' इत्यादि श्रुति तन्मात्र परक है। अर्थात् 'प्रवचनमात्र मेधामात्र बहुश्रवणमात्र से या प्रवचनादित्रयमात्र से' ऐसा तन्मात्रपरक अर्थ है इतने मात्र से आत्मा प्राप्य नहीं है। 'यमेवैष वृणुते' इन तीन के अतिरिक्त यमेवैष तन्मात्रवरण भी अवश्य कार्य है। अर्थात् ब्रह्मेतर विषयताशून्य ब्रह्मविषयक अखण्डाकार वृत्ति प्रवाहात्मक तन्मात्रवरणलभ्य है। एवकार एतदर्थ बोधक है। अतः मेधाबल यानी प्रज्ञाबल की यहां प्रार्थना समुचित है।

अमृतस्य देव धारणो भूयासम्।

प्रज्ञाबलं प्रार्थयतः किमुद्देश्यमभीप्सितम्।
न ह्येष पुरुषार्थः स्यात् स्वत एव तदुच्यते॥२१२॥

पू. - प्रज्ञाबल की प्रार्थना किस उद्देश्य से की जा रही है? प्रज्ञाबल स्वतः पुरुषार्थ तो है नहीं। (वह सुखरूप या दुःखाभावरूप नहीं है) इस पर कहते हैं।

अमृतस्य धारणो देव दिव्यभावयुत प्रभो।
भूयासं विद्ययाऽसानि तस्य धारयिता सदा॥२१३॥

हे देव - दिव्यभावसंपन्न प्रभु, मैं अमृत का धारक बनूं-विद्या से अमृत धारक बनूं।

ननु ब्रह्माऽमृतं स्वस्थं न हि केनापि धार्यते।
सोऽयं प्रतिष्ठितः कस्मिन् स्वे महिम्नीति दर्शनात्॥२१४॥
न च तत् पुण्डरीकेण दहरेण हि वेश्मना।
धार्यते स्मृतिरप्याह संनिविष्टो हृदीश्वरः॥२१५॥
एवं चेत् प्रार्थना व्यर्था हृदये धार्यतेऽखिलैः।
सर्वस्य चाहमित्यत्र सर्वोक्तेरविशेषतः॥२१६॥

पू. - ब्रह्म स्वयंधृत है, स्वप्रतिष्ठ है, कोई उसे धारण नहीं कर सकता। 'स कस्मिन् प्रतिष्ठित इति' 'स्वे महिम्नीति' इस प्रश्नोत्तरात्मक श्रुति में यह स्पष्ट है। यह कहें कि 'दहरं पुण्डरीकं वेश्म' इत्यादि श्रुति में दहराकाश अर्थात् हृदयाकाश में ब्रह्म धारित होता है, गीता में भी कहा- 'हृदिसंनिविष्टः' ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुनतिष्ठति' तो प्रार्थना करना व्यर्थ है। 'सर्वस्य चाहं हृदि', 'सर्वभूतानां हृद्देशे' इन दोनों जगह सर्व पद जोडकर सब के लिये अविशेष बताया है।

उच्यतेऽमृतशब्देना-ऽमृतहेतु र्हि लक्ष्यते।
तद्धेतुरात्मविज्ञानं तद्धार्यासमितीर्यते॥२१७॥

उ. - इसका समाधान यह है कि यहां अमृत शब्द से अमृत हेतु

लक्षित है। उसका हेतु आत्मज्ञान अमृत है उसे धारण करूं ऐसा यहां अर्थ है।

भवेयममृतो येन ज्ञानं तद्धारयाण्यहम्।
इत्यर्थ आत्मनस्तेनाऽविषयत्वेऽपि न क्षतिः ॥ २१८ ॥

जिस ज्ञान से मैं अमृत होऊं उसे धारण करूं ऐसा अर्थ होने से आत्मा किसी ज्ञान का अविषय होने पर भी कोई हानि नहीं है।

येनाहममृता न स्यां किमहं करवाण्यतः।
यदेव भगवान् वेद तन्मे ब्रूह्यमृतत्वतः ॥ २१९ ॥
अमृतत्त्वं तु येन स्याद् व्याख्यातेन मतेन च।
सुनिदिध्यासितेनापि तज्ज्ञानं धारयाण्यहम् ॥ २२० ॥

मैत्रेयी ने याज्ञवल्क्य को कहा जिससे मैं अमृत न होऊं उससे मैं क्या करूंगी। जो आप भगवान जानते हैं वही आप मुझे बतायें। 'व्याख्यास्यानि व्याख्यातस्य तु मेनिदिध्यासस्व' ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा। श्रवण, मनन, निदिध्यास से अमृतत्व होता है उस ज्ञान को मैं धारणं करूं यही यहां अर्थ है।

नन्वेष देवशब्देन संबोध्य प्रार्थ्यतेऽत्र कः।
न चोंकारोऽचेतनत्वात् स्वोच्चार्यत्वादनीट्त्वतः ॥ २२१ ॥
ॐकारवाच्यः सम्बोध्य प्रार्थ्यतेऽत्रेत्यसंगतम्।
छन्दसामृषभस्यैव प्रक्रमाद् वर्णलक्ष्मणः ॥ २२२ ॥
न चर्षभश्छन्दसां स्यात्परब्रह्मेति सांप्रतम्।
छन्दोभ्योऽध्यमृताज्जात इत्यनेन विरोधतः ॥ २२३ ॥
एतेन सारिष्ठतया प्रत्यभात् प्रणवो हि सः।
इति व्याख्योपगमनेऽप्येव नैवास्ति निःस्तृतिः ॥ २२४ ॥
स्याद्वाच्यवाचकाऽभेदाद् ब्रह्मेत्यपि न सांप्रतम्।
न वाचको ब्रह्मणोऽयमोंकारो ब्रह्मलक्षकः ॥ २२५ ॥

पू. - यहां देव शब्द से सम्बोधन कर किसकी प्रार्थना की जा रही है? ॐकार की नहीं हो सकती है। क्योंकि ॐकार अचेतन शब्द है, हम

उसको उच्चारण कर प्रकट करते हैं। स्वयं कुछ करने में वह असमर्थ है। ॐकारवाच्य ब्रह्म का देव शब्द से संबोधन मानना भी संभव नहीं है। क्योंकि वह वेदों में ऋषभ नहीं यह बात विष्णु, शिवादि, ऋषभ नहीं इस पूर्व निराकरण से निराकृत है, और ब्रह्म छन्द (वेद) से उत्पन्न भी नहीं है। सारिष्ठरूप से प्रतिभात हुआ यह अर्थ भी पूर्वयुक्ति से निराकृत है। छन्द का ऋषभ ॐकार प्रतिभात हुआ. वाच्यवाचक की एकता होने से ॐकारवाच्य ब्रह्म को लेकर प्रार्थना है यह भी संगत नहीं है। क्योंकि ब्रह्म ओंकार का वाच्य नहीं लक्ष्य है। लाक्षणिक पद का और उसके अर्थ का ऐक्य किसी ने नहीं माना है।

सत्यं शब्दोऽयमोंकारो न समर्थः स्वरूपतः।
समर्थस्तु भवेद् ब्रह्म-प्रतीकत्वादुपासितः॥ २२६॥
ब्रह्मप्रतीकविधयोपासितः स फलप्रदः।
विष्णुप्रतीकविधया शालग्रामो यथा तथा॥ २२७॥

उत्तरः- यह बात सत्य है कि स्वरूपतः (शब्दरूप से) ॐकार फलदानादि में समर्थ नहीं है। किन्तु ब्रह्मप्रतीकरूप में उपासित ॐकार समर्थ होता है। ब्रह्म के प्रतीकरूप में उपासित होने पर वह फलप्रद होगा। जैसे विष्णु के प्रतीकरूप में उपासित शालग्राम फलदायी होता है।

एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥ २२८॥
वचसो नातिभारोऽस्ति प्रमाणं वचनं हि नः।
तस्माद् युक्ता प्रार्थनेयमोंकारस्येति निश्चयः॥ २२९॥

कठोपनिषत् में ॐकार को लेकर उसकी उपासना को सर्वकाम प्राप्ति साधन एवं मोक्ष साधन बताया। वचन के लिये कोई बोझ नहीं होता।

अत्र द्वयेऽक्षरपदादालम्बनपदादपि।
ज्ञात्वेत्युपासना प्रोक्ता तथैवात्रापि बुध्यताम्॥ २३०॥

इन दो मन्त्रों में अक्षर पद और आलम्बन पद के आने से 'ज्ञात्वा'

का उपासना कर यही अर्थ निकलता है। वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिये।

ॐकारोपासनपरा ज्ञानं ह्यमृतसाधनम्।
शक्ता धारयितुं सम्यग् यतयः संशितव्रताः॥२३१॥

यद्यपि ॐकारोपासना के विनापि विदुर धर्माव्याधादि अमृतत्वसाधन ज्ञान को प्राप्त हुए ऐसा कहीं कहीं वर्णन है। तथापि ॐकारोपासना परायण व्रतधारी यति अमृतत्वसाधन ब्रह्मात्म विज्ञान को सम्यक्रूप से धारण करने में समर्थ बन जाते हैं यह निर्विवाद है। क्योंकि यतियों के लिये ॐकार जप का विधान ही आता है।

अथवाऽत्राऽमृतस्यैव धारणं ह्युदीर्यते।
हृदि नित्यधृतं तच्चेद् अधृतं त्वप्रकाशनात्॥२३२॥

अथवा अमृत का अमृतत्वसाधन ज्ञान अर्थ मत करो। अमृत का ब्रह्म ही अर्थ करो। किन्तु ब्रह्म हृदय में नित्य धृत है। प्रार्थना किस लिये? सुनो। धृत भी अप्रकाशित होने से अधृत ही है।

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥२३३॥

पूर्वव्याख्यात।

सर्वदा सर्वकार्येषु नास्ति तेषाममङ्गलम्।
येषां हृदिस्थो भगवान् मङ्गलायतनो हरिः॥२३४॥
प्रकाशमानो भगवान् हृदिस्थ इति कीर्त्यते।
तथा च धारणमिह तत्प्रकाशनमुच्यते॥२३५॥

'सर्वदा सर्वकार्येषु' इस मन्त्र में बताया है भगवान हृदयस्थ हो तो अमङ्गल कभी नहीं होगा। किन्तु हृदय में सब का है। अतः हृदिस्थ का अर्थ होगा-हृदय में प्रकाशमान। प्रकृत में वह प्रकाशमान अमृत ही अमृत धारण है।

प्रकाशनात्मकमतो धारणं प्रार्थ्यते सता।
मायापसरणाच्चैव विदुः सन्तः प्रकाशनम्॥२३६॥

इसलिये यहां प्रकाशनरूपी धारण की प्रार्थना की जा रही है। वह मायापसरण से ही संभव है अतः मायापसरण की भी यहां प्रार्थना है।

शरीरं मे विचर्षणम्

धारणायामृतस्यादौ मेधा संप्रार्थिताऽधुना।
तत्रोपकारकं ब्रूते शरीरं मे विचर्षणम्॥२३७॥

अमृत धारण मुख्य अभीष्ट है। तदर्थ प्रथम मेधा की प्रार्थना की। उसीमें उपकारक अन्य की प्रार्थना करते हैं जिसमें शरीर विचर्षण प्रार्थना यह है।

चायतेश्चर्षणः प्रोक्तो निरुक्ते सूर्यबोधनः।
पूजानिशामनार्थत्वं पाणिनीये च चायतेः॥२३८॥
भाष्ये विचक्षणमिति व्याख्यातं योग्यतापरम्।
चर्षादेशश्चायतेर्वा चक्षतेर्वाऽऽर्ष इष्यताम्॥२३९॥

निरुक्त में एक जगह 'चायृ पूजानिशामनयोः' धातु से चर्षण बनाया है। भाष्य में विचक्षण अर्थ किया है। वहां 'चक्षिङ् व्यक्तायांवाचि' धातु से चर्षण बनाया। यह आदेश दोनों में आर्ष है।

आह पश्यतिकर्माणं निघण्टौ तु विचर्षणिम्।
चर्षधातुरतो वेदे यथायोग्येऽवगम्यते॥२४०॥

निघण्टु (कश्यपप्रजापतिकृत) में विचर्षणि को पश्यतिकर्मा बताया है। अतः वेद में चर्ष धातु यथायोग्य अर्थ में प्रयुक्त अवगत होता है।

विशेषदर्शी दोषज्ञो विचक्षण इतीर्यते।
विचर्षणमितीहोक्तं न शरीरं तु तादृशम्॥२४१॥
न पश्यति शरीरं तु चक्षुरेव तु पश्यति।
ततश्च योग्यमित्यर्थं भाष्यकारा बभाषिरे॥२४२॥

'विशेषदर्शी दोषज्ञो विचक्षणः' इत्यादि पर्यायरूपेण कोश में बताया है। पर शरीर कुछ देखता नहीं है। आंख देखती है। अतः भाष्य मे योग्य अर्थ माना।

यद्यपि ज्ञानमात्रार्थे पश्यत्यादि प्रयुज्यते।
दीर्घदर्शी दोषदर्शीत्यादौ ज्ञानार्थदर्शनात्॥ २४३॥
तथापि ज्ञानसामान्यमपि नो वपुषो भवेत्।
इति योग्यत्वसामान्यमाह भाष्ये विचक्षणम्॥ २४४॥

यद्यपि दर्शन केवल चक्षु से होता हो ऐसी बात नहीं है। क्योंकि दृश धातु का ज्ञानसामान्य भी अर्थ है। जैसे दोषदर्शी दीर्घदर्शी आदि में। तथापि वह भी शरीर में कहां है। अतः भाष्य में विचक्षणयोग्य ऐसा अर्थ किया।

तथा च राजनिर्घण्टो निपुणे च विचक्षणः।
सर्वकार्येषु नैपुण्यं वैचक्षण्यं निगद्यते॥ २४५॥

राजनिर्घण्ट कोशकार ने निपुण अर्थ में भी विचक्षण शब्द बताया है। किसी भी कार्य में निपुणता वैचक्षण्य है।

ननु वर्ष्मणि योग्यत्वं पुष्टत्वं चेद्विवक्षितम्।
घृतादि भुज्यतां कस्मादोंकारः प्रार्थ्यतामिह॥ २४६॥
ओंकारजपिनोऽप्येव नैर्बल्ये यतिपुङ्गवाः।
निवृत्तरोगा अश्नन्ति घृतादिं योग्यतेच्छया॥ २४७॥

पू. - शरीर में योग्यत्व क्या है? यदि पुष्टता है तो घृतादि खाओ। ॐकार जप प्रार्थना से क्या होगा? बारह हजार ॐ जप करनेवाले बडे-बडे संन्यासी भी रोगादि से निर्बल होकर रोग निवृत्त्युत्तर घृतादि अशन करते हैं; न कि ॐकार से प्रार्थना करते हैं।

मैवं सर्पिष्टमाऽऽभोगैरपि चेन्नेधते बलम्।
तदा किं खलु कर्त्तव्य-मोंकार जप एव हि॥ २४८॥
न चोंकारजपेऽप्येव न बलं जायते यदि।
त्रुटिः स्यादङ्गवैकल्य-मुत तत्रेति बुध्यताम्॥ २४९॥
नैवाऽसदर्थकं शास्त्रमिति सद्भिर्निरूपितम्।
अनुष्ठातुर्भवेद्दोष इति सर्वं समञ्जसम्॥ २५०॥

उत्तरः- दर्शित पूर्वपक्ष उचित नहीं है। बहुत से ऐसे हैं जिनकी घी

बादाम खाने से भी शक्ति बढती नहीं है। अतः वह ऐकान्तिक हेतु नहीं है। ॐकार जपादि ही निश्चित हेतु है। यदि कहो कि ॐकार जप करने पर भी कभी बल प्राप्त नहीं होता तो समाधान है कि ॐकार जप में ही कुछ त्रुटि रही होगी। अङ्गवैकल्य भी हो सकता है। शास्त्र कभी मिथ्याभाषी नहीं होता। अनुष्ठाता में दोष आ सकता है।

किं च देहे विशेषोऽपि विद्याहेतुरुपेयते।
कृत्वा स्नानाद्यतःशास्त्रं साधवः समधीयते॥ २५१॥

ताकतरूपी विचर्षणता मात्र नहीं। अन्य विशेषता भी शरीर में विद्या हेतु माना जाता है। इसीलिये साधक स्नानादि कर के शास्त्राध्ययन करते हैं।

दुष्टान्नदूषिततनोर्नैव विद्योपजायते।
तच्छुद्ध्यै उपवासादि कार्यते गुरुभिर्बुधैः॥ २५२॥

दुष्टान्न से शरीर दूषित हो गया हो तो विद्या नहीं हो पाती। इसीलिये कायादि शुद्ध्यर्थ गुरुजन उपवासादि शिष्यों को कराते हैं।

ब्रह्मचर्येण तपसा संवत्स्यथ हि वत्सरम्।
इत्युक्ताः पिप्पलादेन सुकेशाद्या मुमुक्षवः॥ २५३॥

सुकेशादि जब उपसन्न हुए तब विप्पलाद ने यही कहा कि तुम सब एक साल तक ब्रह्मचर्य तप आदि से साथ यहां रहो तब विद्या कहूंगा।

ननु तत् सत्त्वशुद्ध्यर्थमुपवासादिरेव च।
पापनाशो भवेत् पुण्य-मपि यन्मनसि स्थितम्॥ २५४॥
मैवं पापं शरीरादावपि तिष्ठति भूरिशः।
पञ्चगव्यादिकं तेन प्राश्यते देहशुद्धये॥ २५५॥
यत्त्वगस्थिगतं पापं देहे तिष्ठति मामके।
प्राशनं पञ्चगव्यस्य दहत्यग्निरिवेन्धनम्॥ २५६॥

इस पूर्व पक्ष का कि उपवासादि अन्तःकरण शुद्ध्यर्थ है, उससे मन में स्थित पाप का नाश होगा और वहीं पुण्य होगा, उत्तर है-बहुत सारे पाप शरीर में भी रहते है। देहशुद्धि के लिये ही पञ्चगव्य प्राशनदि

'यत्त्वगस्थिगतं' इत्यादि मन्त्र में बताया है। 'यत्त्वगस्थिगतं पापम्' ऐसा पाप शब्द वहां है।

तपःपूततनोरस्था दधीचेर्निर्ममे पविम्।
वृत्रासुरवधायेन्द्र इत्येतत् प्रथितं सताम्॥ २५७॥

महर्षि दधीचि के तपःपूत शरीरास्थि से वज्र बनाकर इन्द्र ने वृत्र को मारा।

तपस्विनां तपःपूता भूमिरप्येव जायते।
नारदोऽप्यजयत् कामं श्रीशंकरतपःस्थले॥ २५८॥

शरीर तो क्या तप से तपस्थली भी पवित्र हो जाती है। शंकरजी की तपोभूमि में नारदजी ने भी काम को जीता था।

भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूताः स्वयं विभो।
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता॥ २५९॥
इत्याह विदुरं राजा धर्मराजो युधिष्ठिरः।
यः प्राव्रजद् धनुर्द्वारि निधायाऽकर्मबन्धनः॥ २६०॥

दुर्योधन के व्यवहार से असुंतष्ट विदुरजी ने महल से बाहर जाते समय कर्मसूचक अपने धनुष को द्वार पर ही छोडा और प्रव्रजन किया। परिव्रजन करते हुए एक बार हस्तिनापुर पहुंचे तो उन के प्रति युधिष्ठिर ने कहा-आप जैसे भगवद्भक्त स्वयं तीर्थ हो गये हैं, तीर्थों में आप जाते हैं तो स्वप्रयोजनार्थ नहीं। तीर्थों को आप अन्तःस्थित भगवान के द्वारा तीर्थ बनाते जाते हैं। यही तीर्थों की तीर्थता है। नारद कुण्ड, अगस्त्य कुण्ड, व्यास गुहा आदि इसलिये तीर्थ बने कि वहां रहकर उन लोगों ने तप किया।

कायेन्द्रियैनसां शुद्धिस्तपसाऽशुद्धिसंक्षयात्।
शौचात्पृथगुपादानात् सा विचर्षणता तनोः॥ २६१॥
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते।
ओंकारादिपवित्राणां जपं तं व्यास ऐरयत्॥ २६२॥

'कायेन्द्रियशुद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः' इस सूत्र में तप से होनेवाली अलग ही शुद्धि बतायी है। अतएव शौच से पृथक् कथन है। ॐकार जप भी तप है। व्यास भाष्य में स्वाध्याय की व्याख्या की है-ओंकारादि पवित्राणां

जपः। स्वाध्यायावृत्ति को गीता में तप बताया है। उससे होनेवाली शुद्धि शरीर में विचर्षणता है।

ब्राह्मण्यं जपतो जातं विश्वामित्रस्य वर्ष्मणि।
तस्मात् प्रणवजापेन देहे योग्यत्वमाप्नुयात्॥ २६३॥

सप्रणवव्याहृति गायत्री जप से विश्वामित्र के शरीर में ब्राह्मणता आयी। इसलिये शरीर मे विचर्षणं इस श्रुति प्रमाण से प्रणव जप से शरीर में योग्यता उत्पन्न होगी।

किं च स्वस्थं शरीरं चेद् गुरूपसदनादिकम्।
गुरुसेवादिकं चेव शक्यं कर्तुं मुमुक्षुभिः॥ २६४॥

और भी बात यह है कि शरीर स्वस्थ हो तो ही गुरु का अन्वेषण उपसदनादि संभव है और मुमुक्षु स्वस्थशरीर हो तो सम्यक् गुरूसेवादि कर पायेगा।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानमित्याह भगवान् हरिः॥ २६५॥
सत्यकामादयो धीरा कृत्वा सेवां गुरोर्भृशम्।
लेभिरे विमलं ज्ञानं परं स्वर्गापवर्गदम्॥ २६६॥

गीता में भी ज्ञानार्थ गुरुसेवा करना बताया 'तद्विद्धि' इत्यादि से। सत्यकामादि ने कठिन गुरु सेवा से ही चतुष्पात् ब्रह्म एवं गति को जाना जो स्वर्ग अपवर्गप्रद था।

शरीरमाद्यं जगदुः कवयो धर्मसाधनम्।
लिप्सन्तेऽतः शरीरं स्वं विद्वांसोऽपि विचर्षणम्॥ २६७॥
वेदानुवचनाद् यज्ञाद् दानाच्च तपसोऽपि च।
तत्त्वं विविदिषन्तीति धर्मो ज्ञानस्य साधनम्॥ २६८॥
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्।
इत्यात्मदर्शनं धर्मो योगस्तस्य च साधनम्॥ २६९॥

प्रथम धर्मसाधन शरीर है इसलिये विद्वान भी स्वस्थ शरीर चाहते हैं। वेदानुवचन यज्ञदानादि धर्म है। उसीसे विविदिषा होती है। योग से

आत्मदर्शन करना परम धर्म है ऐसा याज्ञवल्क्य वचन है। शरीर विचर्षण हो तो ही योग होगा।

योगाङ्गान्यासनप्राणा-यामादीनि विचर्षणे।
शरीरे संभवेत् सम्यग् यतश्चित्तवशीकृतिः॥ २७०॥
आसीनः संभवादेवं सूत्रकारोऽप्यसूत्रयत्।
तस्मादासनसिद्धिर्हि निदिध्यासोरपेक्षितः॥ २७१॥

आसन प्राणायामादि जो चित्तवशीकरणकारी है, शरीर ठीक हो तो ही होगा। ब्रह्मसूत्र में आसन पर आसीन होकर निदिध्यासन करना बताया।

भोजयन्ति यतींस्तेषां वपुर्योग्यं भवेदिति।
श्राद्धे यतेरलाभेऽन्यो निमन्त्र्यइति च स्मृतिः॥ २७२॥

यतियों को भोजन कराने को बताया है इसलिये कि उनका शरीर स्वस्थ योग्य रहेगा तो ज्ञान का अर्जन और वितरण करेंगे जिससे जगत का कल्याण हो। विशेष भोजन भंडारा भी कभी होना चाहिये। इसीलिये स्मृति में बताया कि श्राद्ध में यति न मिले तभी अन्य को निमन्त्रण दो। (यतिधर्मसंग्रह में उद्धृत)

जिह्वा मे मधुमत्तमा

इदं च प्रार्थ्यते भक्त्या जिह्वा मे मधुमत्तमा।
पुरुषव्यत्ययाद् भूयाद् जिह्वा मे मधुमत्तमा॥ २७३॥

जिह्वा मे मधुमत्तमा यह भी एक प्रार्थना है। पहले भूयासं (होऊं) बताया। उसे प्रथम पुरुष कर के भूयात् (हो) ऐसा यहां अनुवर्त्तित करें। जिह्वा मधुरभाषिणी हो।

ब्रह्मविद्याधिगमने किं खल्वस्य प्रयोजनम्।
लोकाकर्षणहेतुर्हि भवेन्मधुरभाषणम्॥ २७४॥

पू. - ब्रह्मविद्या का यहाँ प्रसङ्ग है। उसमें मधुर भाषण की क्या भूमिका है? मधुर भाषण दुनिया को आकर्षित करने में उपयोगी

होता है।

प्रियवाक्यप्रदानेन सर्वे तुष्यन्ति जन्तवः।
तस्मात्तदेव वक्तव्यं वचने का दरिद्रता॥ २७५॥

यह नीतिवचन है कि प्रिय भाषण से सभी प्रसन्न होते है। इसलिये वही बोलो। बोलने में दरिद्रता क्यों करें।

उच्यते परमं पुण्यं भवति प्राणितोषणम्।
समष्टितोषणं चैव भवति व्यष्टितोषणात्॥ २७६॥

उत्तरः- प्राणियों को प्रसन्न करना भी बडा पुण्य है। व्यष्टि (व्यक्ति) तोषण से समष्टितोषण भी होता है।

येन केन प्रकारेण यस्य कस्यापि देहिनः।
संतोषं जनयेद्राम तदेवेश्वरपूजनम्॥ २७७॥

वसिष्ठ रामजी के प्रति कहते हैं-हे रामजी! जिस किसी प्राणी को किसी भी प्रकार से प्रसन्न करो। वही ईश्वरपूजन है।

अनिषिद्धप्रकारेणेत्यर्थस्तत्रावबुध्यताम्।
असत्योक्त्या प्रसीदेच्चेत्तत्तु नात्रानुमन्यते॥ २७८॥

'येन केन प्रकारेण' का अर्थ अनिषिद्ध किसी भी प्रकार से समझना चाहिये। बेटे ने झूठ बोलकर पैसा बटोरा और पिता प्रसन्न हो गया तो वह ईश्वरपूजन नहीं हो सकता।

समष्टिः परमात्मैव तस्यांशो व्यष्टिरुच्यते।
ईश्वरानुग्रहाच्चैव परं ब्रह्म प्रकाशते॥ २७९॥

ममैवांशो जीवलोके इस स्मृति के अनुसार समष्टि ईश्वर का अंश व्यष्टि जीव है। व्यष्टि की खुशी से समष्टि ईश्वर में प्रसन्नता हुई तो परब्रह्म प्रकाशित होगा।

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥ २८०॥
प्रतीयेते अत्र विधिनिषेधौ स्पष्टरूपतः।
फलं तु तत्र वक्तव्यं तच्च प्रकरणं यथा॥ २८१॥

प्रियवाक्यैः प्रसीदन्ति गुरवो ज्ञानदायिनः।
रहस्यं परमं ब्रूयुस्तत्प्रत्यक्षं फलं भवेत्॥ २८२॥
ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत।
इति भागवतादौ च तदेतदवधारितम्॥ २८३॥

सत्य एवं प्रिय बोलो, असत्य अप्रिय मत बोलो इत्यादि स्मृति में विधि और निषेध स्पष्ट है। पर फल नहीं बताया। वह प्रकरणानुसार होगा। प्रिय वाक्य से ज्ञानदायी गुरु प्रसन्न होकर शिष्यों को परम रहस्य भी बतायेंगे यह प्रत्यक्ष फल है। 'ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य' इत्यादि भागवत श्लोक में इसका समर्थन हुआ है।

किं च वर्णः स्वरो मात्रा बलं साम च संहिता (संगति)।
इत्युक्तयुक्तं ब्रुवतो जिह्वा स्यान्मधुमत्तमा॥ २८४॥

यह प्रायः लौकिक है। अब शास्त्रीय सुनो वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम एवं संतान से युक्त बोलने पर वाणी मधुरतम होती है।

अकारादिहकारान्ता वर्णा अक्षरशब्दिताः।
उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च स्वरा मताः॥ २८५॥
ह्रस्वो दीर्घःप्लुतश्चैव मात्रा एताः प्रकीर्त्तिताः।
आभ्यन्तरश्च बाह्यश्च प्रयत्नौ द्वावुदीरितौ॥ २८६॥
उच्चारणं मध्यमया वृत्त्या यत् समतात्मकम्।
तत्सामेत्युदितं भाष्ये न गीतिर्यजुषीत्यतः॥ २८७॥
साम्नां रथन्तरादीनामभावेऽप्यस्ति गायनम्।
वेदान्तरेऽपि शिक्षास्तीत्यतो वा साम सांप्रतम्॥ २८८॥
संतानः संततिस्तां च संहितामाह भाष्यकृत्।
एवं सती वेदवाणी जायते मधुमत्तमा॥ २८९॥

अकारादि हकारान्त वर्ण है अक्षर हैं। उदात्तादि तीन स्वर हैं। ह्रस्व दीर्घादि मात्रा हैं। आभ्यन्तर एवं बाह्य दो प्रयत्न है। मध्यम वृत्ति से उच्चारण समतारूपी साम है। गीतिरूप साम इस यजुर्वेद में नहीं है। रथन्तरादि साम यजुर्वेद में न हो फिर भी मधुर ढंग से बोलना तो है

ही। अतः गीति भी मानी जा सकती है और शिक्षा सर्व वेद साधारण होने से गीति को जोडना भी गलत नहीं है। संतान में संतति या संहिता (संधि आदि) पदपाठ संहितापाठ दोनों होते हैं। ये सब हो तो वेदवाणी मधुमत्तमा होती है।

स वाग्वज्रो भवेन्मन्त्रो हीनो यः स्वरवर्णतः।
मिथ्याप्रयुक्त एवापि हन्त्यर्थिनमिति स्मृतिः॥२९०॥

पाणिनीय शिक्षा में कहा है स्वर वर्णरहित मिथ्या प्रयुक्त मन्त्र वाग्वज्र होकर यजमान को ही मार देता है जैसे इन्द्रशत्रु में स्वरापराध से वृत्र मारा गया।

ननु स्वरापराधेन हतो वृत्र इति ह्यसत्।
यद् यज्ञकर्मण्यजपन्यूङ्खसामस्वितीरितम्॥२९१॥

पू. - 'यथेन्द्रशत्रुःस्वरतोऽपराधात्' स्वरापराध से वृत्र मारा गया यह संगत नहीं है क्योंकि यज्ञ कर्म में एकश्रुतिविधान है जपाद्यतिरिक्त स्थान में।

एकश्रुतिविधानेनानित्यश्चैव स्वरो भवेत्।
नित्यत्वे तं विना हन्त कथं स्यान्मन्त्र एव सः॥२९२॥
विभाषा छन्दसीत्येवं ब्राह्मणे स्वरवर्जनात्।
दूरात् सम्बोधने वाक्यमेकश्रुति विलोक्यते॥२९३॥

एकश्रुति विधान से ही स्वर अनित्य सिद्ध होता है तब वह वैदिक ही कैसे? 'एकश्रुति दूरात्सम्बुद्धौ' यहां पूरा वाक्य त्रैस्वर्यवर्जित बताया। 'विभाषा छन्दसि' सूत्र में व्यवस्थित विभाषा मानकर यजुर्वेदीय ब्राह्मणों में स्वराभाव बताया।

अतः प्रयोगमात्रं तु स्वराणामवगम्यते।
वेदत्वेऽनादिनित्यत्वात् क्वाचित्कत्वं न युज्यते॥२९४॥

इसलिये स्वरों का प्रयोगमात्र अवगत होता है। स्वर में वेदता नहीं। वेदता होती तो अनादि नित्य होने से कहीं कहीं स्वर होता है अन्यत्र नहीं ऐसा न होता।

सत्यं तथापि विहितः प्रयोक्तव्यो भवेत् स्वरः।
तदैव सफलं कर्म सर्वं भवितुमर्हति॥ २९५॥
यज्ञे स्वरोच्चारणतो मा स्म भूदपराधिता।
विपरीतस्वरोच्चारे यजमानं हनिष्यति॥ २९६॥

उत्तरः- बात सत्य है। फिर भी जहां स्वर विहित है उसका प्रयोग ही सही करना तो पडेगा ही। तभी सभी कर्म सफल होगा। लेकिन त्वष्टा ने यज्ञ में स्वरोच्चारण किया कैसे जब कि एक श्रुति विधान है? इसी से प्रतीत होता है कि यज्ञ में स्वेच्छा से स्वरोच्चारण किया जा सकता है। हां विपरीत स्वरोच्चारण स्वेच्छादि से नहीं कर सकते। ऐसा होने पर निश्चित नुकसान होगा।

विभाषा छन्दसीत्येतद् व्यवस्थितविभाषिकम्।
अन्यत्र यज्ञे तु पुनर्विकल्पार्थमितीष्यताम्॥ २९७॥

यज्ञ में एकश्रुति विधान के उल्लंघन से अपराध नहीं यह शिष्टाचार से (त्वष्टा के आचार से) मानना आपको पसंद नहीं है तो 'विभाषा छन्दसि' सूत्र में बह्वृच ब्राह्मण में एकश्रुति आदि जो व्यवस्था बतायी उसे कुछ व्यापक बना लो। यज्ञ कर्म में विकल्पार्थ भी मान लो। अतएव आज भी याज्ञिक लोग स्वेच्छा से यज्ञ कर्म में भी सस्वर वेदोच्चारण करते हैं।

नारायणपदस्थाने नाराणिति यलोपतः।
सम्बोधने मधुमती न वाक् वर्णविलोपनात्॥ २९८॥
अर्थस्थानेऽर्धमित्याहुस्तैलङ्गास्तमिलाः पुनः।
अर्थस्थानेऽर्तमित्याहु - स्तत्प्रयत्नविपर्ययात्॥ २९९॥
भगवानितिवक्तव्यं पकवानिति तामिलाः।
धर्मस्थाने धरं प्राहुः केचिदुत्तरवासिनः॥ ३००॥
अङ्गदोषे भवेदेव फलदोषोऽपि कश्चन।
ओदने शार्करकणः प्रासादे मशको यथा॥ ३०१॥

नारायण की जगह गुजरात में नाराण् बोलते हैं। य लोप हुआ। अर्थ

की जगह अर्ध आन्ध्र में कहते हैं और तामिल में अर्ध की जगह अर्त। प्रयत्न विपर्यय हुआ। भगवान को वे पकवान कहते हैं। उत्तर में धर्म की जगह धरम् कहते हैं। यह सब वाणी मधुमती नहीं है। अङ्गदोष से फल में दोष आ जाता है। बासमती चावल का भात पुण्य से मिला । बीच में कंकड आया दोष से। प्रासाद (महल) मिला भाग्य से। वहां मच्छर बहुत है अंगदोष से।

मधुरं भाषमाणस्य जिह्वा मधुमती भवेत्।
वर्णस्वरादियुक्त्वे तु भवेत् सा मधुमत्तमा॥ ३०२॥

मधुर भाषण करनेवालों की वाणी मधुमती होती है। वर्ण स्वरादि के साथ होने पर मधुमत्तमा होती है।

अर्थतः शब्दतश्चैव सुमाधुर्यं विवक्षितम्।
एकतः स्यान्मधुमती द्वाभ्यां स्यान्मधुमत्तरा॥ ३०३॥

अर्थतः तथा शब्दतः सुमाधुर्य विवक्षित है। उनमें एक हो तो मधुमती, दोनों हो तो मधुमत्तरा। फिर वर्णस्वरादियुत होने पर पूर्वोक्त मधुंमत्तमा।

लोके शब्दार्थमाधुर्ये मधुमत्तरता यथा।
वेदेपि च तथा बोध्यमन्त्या वर्णस्वरादितः॥ ३०४॥

लोकभाषा में शब्द तथा अर्थ दोनों का माधुर्य हो तो मधुमत्तरा होता है। वेद में भी वही बात है। वर्णस्वरादि से तृतीय (मधुमत्तमा) ज्ञेय है।

अन्यथार्थमुपादाय कथने वेदवागपि।
व्यक्तिभेदाश्रितत्वेन नैव स्यान्मधुमत्तमा॥ ३०५॥

वेदवाणी में यथार्थ अर्थ का परिचय न होने पर व्यक्ति भेदाश्रित होने से मधुमत्तम नहीं हो पाती है।

स्वर्गकामो यजेतेति श्येनेनाभिचरन् यजेत्।
इत्यादि विदंधाना वाक् वेदे मधुमती भवेत्॥ ३०६॥

स्वर्गकामो यजेत श्येनेनाभिचरन् यजेत ऐसी-ऐसी वेदवाणी मधुमती है।

ते तं भुक्त्या स्वर्गलोक-मिहायान्ति फलात्मना।
फलं तदधुनैवास्ति किमर्थमगमन् दिवम्॥३०७॥
इहैत्य यद्धि कर्तव्यं क्रियतामधुनैव तत्।
गतागतमहाचक्र मात्रमेवान्यथा भवेत्॥३०८॥

यागकर्ता स्वर्गादि जाकर वापिस यहीं मर्त्यलोक में ही आ जाते हैं। अर्थात् मर्त्यलोक में आना अन्तिम फल है तो अभी ही बैठे हैं, वहाँ जाकर आना व्यर्थ हुआ। यहां आकर जाने-आने से अतिरिक्त कुछ करना हो तो अभी से कर लो। अन्यथा गमनागमन महाचक्रमात्र होगा।

मधुमत्यपि वागेषा तस्मान्नो मधुमत्तमा।
वागाभिचारिकी या सात्वापातमधुमञ्जुला॥३०९॥
शत्रुहिंसावृजिनतः दुःखं साक्षात् फलं भवेत्।
दुःखहान्यै रिपुवधो दुःखायैवेति चित्रता॥३१०॥

आभिचारिक प्रयोग शत्रुहिंसा पर्यन्त है। हिंसा का फल दुःख ही है। शत्रु से दुःख हो रहा था उसे मिटाने शत्रुवध किया और फल दुःख ही मिला कैसी विचित्रता।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थेत्यसूचयदिदं हरिः॥३११॥
पुष्पमेव फलं नास्ति मर्त्यलोकेऽधुनास्थितेः।
शत्रुदुःखे गतेऽप्येव हिंसा दुःखस्थितेरिति॥३१२॥

यामिमां पुष्पितां वाचं में भगवान ने यह सूचित किया। वेदवाणी पुष्पवाली है, फलवाली नहीं। स्वर्ग जाकर यहीं वापिस आना है तो यहाँ पहले से बैठे हैं तो नया फल कुछ हुआ नहीं। शत्रु मरा तो शत्रुदुःख भले जाये पर हिंसादुःख आ गया। अर्थात् दुःख ही फल है तो शत्रुहिंसा के बिना भी दुःख था ही।

परं परमतात्पर्यपर्यालोचनतः श्रुतिः।
मधुमत्तररूपैव प्रतिभाति विपश्चिताम्॥३१३॥

सर्वे वेदा यद्धि पदमामनन्तीति वाक्यतः।
तात्पर्यं परमं ब्रह्म-ण्येवेति मधुमत्तरा॥ ३१४॥

परंतु श्रुति का परम तात्पर्य क्या है इस पर विचार करे तो वह मधुमत्तमा होगी। संपूर्ण वेद ब्रह्मपद को ही बताता है। अतः मधुमत्तमा होना निश्चित है।

यज्ञैर्विविदिषन्त्येत – मित्यात्मपदलब्धये ।
यज्ञदानादिकं प्राह श्रुतिरेव यतः स्वयम्॥ ३१५॥

तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा इत्यादि श्रुति आत्मपदप्राप्ति यज्ञदानादि से बता रही है। सर्वे वेदा यत्पदं, तमेतया (आत्मानं) इन दोनों को मिलाने पर आत्मपद प्राप्त्यर्थ ऐसा अर्थ निकलता है।

न च नित्याग्निहोत्रादिमात्रं तत्रेति सांप्रतम्।
अविशेषेण यज्ञेन दानेनेत्यभिधानतः॥ ३१६॥

यह कहें कि यज्ञेन दानेन में ज्योतिष्टोमादि सकाम यज्ञ विवक्षित नहीं किन्तु नित्याग्निहोत्र नित्यदानादि ही विवक्षित है। अतः सर्ववेद तात्पर्य ब्रह्म में नहीं है तो उत्तर है यज्ञेन दानेन इत्यादि सर्वयज्ञादि साधारणरूप से बताया है। कोई विशेषता नहीं दिखायी है।

लोकप्रवृत्तये तेषां रोचनार्था फलश्रुतिः।
तत्तत्फले स्थिते ह्येव तात्पर्यं परमे पदे॥ ३१७॥

यज्ञादि में लोगों की प्रवृत्ति कराने के लिये प्ररोचनार्थ फलश्रुति है तो क्या यज्ञादि से स्वर्गादि नहीं होगा? गुणवादमात्र है क्या? नहीं। फलकामना हो तो स्वर्गादि फल मिलेगा। किन्तु श्रुति का परम तात्पर्य आत्मपदप्राप्ति में है।

प्राक् कामतः प्रवर्तेरन् पश्चाद्रागनिवृत्तितः।
मोक्षार्थमेव कुर्वीरन् काम्यान्यपि विवेकिनः॥ ३१८॥

विवेक होने से पहले फलकामना से लोग प्रवृत्त होंगे। किन्तु कालान्तर में विवेकी की कामनानिवृत्ति होती है तो वह मोक्षार्थ ही कर्म करेगा।

संयोगस्य पृथक्त्वेन वेदनं च फलं भवेत्।
तेन मीमांसकाश्चैव प्रवर्तेरन् मुमुक्षवः॥ ३१९॥

विधि में श्रुत फल ही कर्मों का होगा ऐसा माननेवाले मीमांसक भी संयोगपृथक्त्व न्याय से विविदिषन्ति में कथित आत्मवेदनार्थ मुमुक्षुता या वैराग्य होने पर कर्मप्रवृत्त होंगे।

नन्वाभिचारिकाणां हि तात्पर्यं कथमात्मनि।
क्रोधशान्तौ विवेकेन सत्कर्मभ्य इतीष्यताम्॥ ३२०॥
अन्यथा यावदायुर्हि क्रोधे सति विवेकिता।
नैव संभावितेत्युक्त-श्रुत्यैव परिकल्प्यताम्॥ ३२१॥

परंतु 'श्येनेनाभिचरन्' इत्यादि आभिचारिक श्रुति का तात्पर्य आत्मा में कैसे होगा? सुनो। शत्रुनाश होने पर क्रोध शान्त होगा। तब वेद पढते-पढते विवेक होगा और सत्कर्म में प्रवृत्ति होगी इत्यादि क्रम से समझा जा सकता है। यदि शत्रुनाश न हुआ तो जिंदगीभर क्रोध बना रहेगा तो विवेक की संभावना ही नहीं रहती। 'क्रोधो वैवस्वतो राजा' ठहरा। अतः भयंकर क्रोध शान्ति उपयोगी है। यह तो लंबी कल्पना की कडी हो गयी। भले हो। श्रुति कहती है 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' तो इतनी लंबी कल्पना भी करनी ही पडेगी।

वेदाश्रान्ताध्ययनतः क्रोधशान्तिः प्रकल्प्यताम्।
नानित्यत्वादुपायस्य चान्योपायो न दूषणम्॥ ३२२॥

निरन्तर वेदाध्यनन से क्रोधशान्ति की कल्पना कर लो। नहीं। वेदाध्ययन से क्रोधशान्ति नियत नहीं है। और उपाय का उपायान्तर दूषण भी नहीं होता।

वसिष्ठकौशिकावाडि-बकावन्योन्यशापतः।
जातौ तद्द्वेषशान्तिस्तु ब्रह्ममाध्यस्थातो ह्यभूत्॥ ३२३॥

विश्वामित्र और वसिष्ठ में एक बार झगडा हो गया। दोनों ने परस्पर शाप दिया। तुम आडि बन जाओ तुम बगला बन जाओ। दोनों वेदपाठी थे। हजारों वर्ष नदी किनारे वे लडते रहे। आखिर ब्रह्माजी की मध्यस्थता से दोनों शान्त हुए। वेदाध्ययन से नहीं।

श्रुतिप्रामाण्यतः पूर्वकल्पनैव लघीयसी।
तदाभिचारिकं वाक्यं सिद्धं ब्रह्मपरं भवेत्॥ ३२४॥

और यहां तो 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' पर विचार कर रहे हैं। उसकी प्रमाणता में पूर्व कल्पना में आसानी है। अतएव ईश्वरार्चना से क्रोधशान्ति होगी आदि कल्पना भी यहां नहीं उठती। इस प्रकार आभिचारिक वाक्य भी ब्रह्मपदपरक ही है।

मधुमत्तमवेदादि - स्वाध्यायान्मधुमत्तमा।
जिह्वा तां प्रार्थयत्यत्र जिह्वा मे मधुमत्तमा॥ ३२५॥

मधुमत्तम वेद शास्त्रादि स्वाध्याय से जिह्वा मधुमत्तमा होगी। अतः वेदादि स्वाध्याय नैरन्तर्य से मैं अपनी जिह्वा को मधुमत्तमा बनाऊं ऐसी यहां प्रार्थना है।

अन्यथार्थमुपादाय कथने वेदवागपि।
व्यक्तिभेदाश्रितत्वेन नैव स्यान्मधुमत्तमा॥ ३२६॥
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति।
वेदोऽपि चेदप्रसन्नो भगवान् क्व प्रसीदतु॥ ३२७॥

उलटा पुलटा अर्थ लेकर बोले तो वेदवाणी भी मधुमत्तम नहीं होगी। मधुमत्तमता व्यक्तिभेदाश्रित है। अल्पश्रुत से वेद भी डरता है। पता नहीं यह व्याख्याता कब मुझे मारेगा। अभी मारेगा, अभी मारेगा। वेद जिस पर अप्रसन्न है उस पर भगवान क्या प्रसन्न होंगे।

तस्य तत्र ततो वा त्वमर्थं तत्त्वमसि श्रुतेः।
वदन्तः प्रहरन्त्येव श्रुतिं लाक्षणिकार्थतः॥ ३२८॥

तत्त्वमसि का तस्य त्वं तस्मिंस्त्वं तस्मात्त्वं इत्यादि अर्थ करनेवालें श्रुति पर प्रहार करते हैं। नामार्थाभेदान्वयनियम होने से लाक्षणिक अर्थ ही उनके मत में लाना पडेगा।

एकमेवाद्वितीयं तद् द्वितीयाभावशक्तिकम्।
अद्वितीयः कविरिति श्रेष्ठयार्थे लक्षणा मता॥ ३२९॥

अद्वितीय विद्वान इत्यादि में श्रेष्ठ अर्थ में अद्वितीय पद की लक्षणा है।

द्वितीयाभाव वाच्यार्थ है। एकमेवाद्वितीयं में वाच्यार्थ छोडना वेदप्रहार है।

विश्वं सत्यमितिश्रुत्यां सर्वं मघवपूजनम्।
अवश्यफलदायित्वात्सत्यमित्याह वेदगीः॥ ३३०॥
अन्यथाऽसत्यवचनं विश्वान्तर्गतमित्यतः।
सत्यं स्यादेवमन्यच्च सम्यगालोच्यतां बुधैः॥ ३३१॥

'विश्वं सत्यं मघवाना' इस मन्त्र में विश्व को सत्य बताया ऐसा द्वैती कहते हैं। विश्व के अंदर असत्य वचन भी आता है वह भी उन के मत में सत्य होगा। स्वरूपतः सत्य है अर्थतः असत्य है कहें तो क्या अर्थतः असत्य विश्व के अर्न्तगत नहीं है? देवताओं के लिये किया गया पूजा, स्तुति आदि सत्य अर्थात् अवश्य फलदायी है। सत्यं वंदिष्यामि की व्याख्या अनुसन्धेय है।

यत्तु सत्यतया ज्ञातं सत्यमित्याह तन्न सत्।
सर्पः सत्यतया ज्ञातो रज्जौ सत्यः किमस्ति ते॥ ३३२॥
यदि सत्यतया वस्तु प्रमितं सत्यमुच्यते।
अन्योन्याश्रयता हन्त तत्र केन निवार्यताम्॥ ३३३॥

सत्यत्वेन जो ज्ञात है वह सत्य है ऐसा मतलब वे निकालते हैं। किन्तु रज्जु में सर्प को सत्यत्वेन जान लिया तो वह सत्य हो जायेगा? सत्यत्वेन प्रमित अर्थ करेंगे तो अन्योन्याश्रय या आत्माश्रय दोष दुरुद्धर है।

एवंविधार्थमाश्रित्य वदतां वेदवाण्यपि।
दुःखदैवापराधत्वान्न भवेन्मधुमत्तमा॥ ३३४॥

इस प्रकार का अर्थ मन में रखते हुए या बोलते हुए जो वेदवाणी भी बोलते हैं वह अपराध होने से पापकारी दुःखदायी होने से मधुमत्तमा नहीं है।

यथार्थमर्थमाश्रित्य स्वपरानन्ददायिनीम्।
वाचं ब्रुवाणा भवतु जिह्वा मे मधुमत्तमा॥ ३३५॥

सारार्थ यह हुआ कि यथार्थ अर्थ का आश्रयण कर अपने को तथा दूसरों को भी आनन्द पहुंचानेवाली वाणी को बोलनेवाली मेरी जिह्वा

मधुमत्तमा हो।

कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम्

क्तान्तस्य विश्रुवो धातोः प्रथिता प्रथितार्थता।
विस्तरेण विशेषेण श्रवणं त्विह विश्रुतिः॥ ३३६॥

त प्रत्ययान्त श्रु धातु का प्रख्यात प्रथित अर्थ है। प्रख्यात विस्तृत विशिष्ट श्रवण यहां पर विश्रुति का अर्थ होगा।

तात्पर्यग्राहकैर्लिङ्गैरर्थनिर्णयपूर्वकम् ।
न्यायैश्च श्रवणं वेदे मतं विश्रवणं सताम्॥ ३३७॥

वेद में विश्रवण है-तात्पर्य ग्राहक लिङ्गों से तथा न्यायों से अर्थ निर्णयपूर्वक श्रवण करना।

न शाब्दबोधविषयीकर्त्तव्यत्वार्थमात्रता ।
गुरोर्मुखाच्च श्रवणं कर्णाभ्यामित्युदीरणात्॥ ३३८॥
श्रुधातोरेव तल्लाभं न हि नैयायिकादयः ।
ईषुः श्रोतव्य आत्मेति शब्दबोध्यार्थमात्रतः॥ ३३९॥
पुस्तकाधीतितोऽप्येव शब्दबोध्यत्वमाप्यते ।
यद्वोक्तस्पष्टतार्थं हि कर्णाभ्यामित्युदीर्यते॥ ३४०॥
लोकेऽपि कर्णयोरस्तु भूरिश्रवणयोग्यतां ।
इत्यप्यर्थोऽत्र कर्णाभ्यामित्यनेनात्र सूच्यते॥ ३४१॥

केवल शाब्दबोधविषयीकरणमात्र यहां अर्थ नहीं है। गुरुमुख से श्रवण करना भी अर्थ है। इसलिये कर्णाभ्यां यह विशेषण है। क्या श्रु धातु से ही उतना अर्थ प्राप्त नहीं होगा? नैयायिकादि कहते हैं घटः श्रुतः इत्यादि में शाब्द बोध विषयीकृत इतना ही अर्थ है। क्योंकि श्रवण शब्द का होता है। घट द्रव्य कान में कैसे आयेगा? शब्दबोध तो लिखित शब्द देखने से भी होगा, पुस्तकपठनमात्र से होगा। अथवा गुरुमुख से शब्दश्रवण करने की बात स्पष्ट करने के लिये कर्णाभ्यां कहा। यह वेदशास्त्रस्थलानुरोध से है। लोकानुसार बहुत सुनने की योग्यता मेरे कानों में हो यह अर्थ भी

सूचित होता है।

अल्पमल्पं श्रुतं शेषं गृहीतं पुस्तकेक्षणम्।
तत्रापि श्रुतमित्यस्ति व्यवहारोऽत एव वा॥ ३४२॥

कान कमजोर होने से थोडा-थोडा सुना बाकी पुस्तक देखने से हो गया ऐसा न हो। पूरा सुनने की योग्यता प्राप्त हो एतदर्थ कर्णाभ्यां कहा, ऐसा भी हो सकता है।

न्याया जैमिनिना पूर्वकाण्डेऽनेके प्रदर्शिताः।
ततोऽन्यांश्चोत्तरे काण्डेऽदर्शयद् बादरायणः॥ ३४३॥
उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये॥ ३४४॥

विश्रवण का मतलब बताया कि षड् लिङ्गों से और न्यायों से तात्पर्य निर्णय करते हुए श्रवण करना। उन में न्यायों का वर्णन जैमिनि मुनि ने पूर्व काण्ड में बहुत सारा किया। उससे अतिरिक्त भी न्याय वर्णन उत्तर काण्ड में बादरायण (व्यास) मुनिने किया। लिङ्ग छः माने गये हैं। उपक्रमोपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति ये षड् लिङ्ग हैं। यह पूर्वकाण्डानुक्त न्याय है।

विपश्चिद्भिर्व्यधाय्यत्र सम्यग् व्याख्यानविस्तरः।
मयाप्यन्यत्र तेनात्र नाधिकं संप्रतन्यते॥ ३४५॥

विद्वानों ने इनकी विस्तृत व्याख्या की है। हमने भी की है। अतः यहां विस्तार में नहीं जाते।

नन्वत्र पूर्वकाण्डे न लिङ्गषट्कमवेक्ष्यते।
भूरिश्रवणवाचा तच्छ्रवणं चावगम्यते॥ ३४६॥

यह शंका होगी कि भूरिश्रवणोक्ति से पूर्वकाण्ड भी आता है। वहां षड् लिङ्ग नहीं है।

सत्यं यद्यत् संभवति तत्तत्संग्रहणं वचः।
भूरीति तेन वेदान्तभूरिश्रुत्यां तदिष्यताम्॥ ३४७॥

उत्तर है-जहां जो संभव है उसे जोडो। वेदान्त भूरिश्रवण में षड्

लिङ्ग समझो।

ब्रह्मविद्याप्रकरणे शान्तिरेषा प्रपठ्यते।
तत्र चास्त्येव निर्णेयं तात्पर्यं लिङ्गषट्‌कतः॥ ३४८॥

प्रकृत शान्ति वेदान्त प्रकरण में है। उसमें षड् लिङ्ग से तात्पर्य निर्णय है ही।

ननु स्यात्तत्त्वमस्यादि वाक्यैरेवार्थनिर्णयः।
कस्मादपेक्षितं भूरि-श्रवणं प्रार्थ्यतेऽत्र यत्॥ ३४९॥
किं च श्रुतेन बहुना लभ्यो नात्मेति भाषिणी।
भूरीश्रवणवैयर्थ्य-माचष्टे स्पष्टतः श्रुतिः॥ ३५०॥

पूर्व - तत्त्वमसि जैसे महावाक्य के श्रवणमात्र करने पर आत्मज्ञान होता है, भूरिश्रवण की प्रार्थना किस लिये? बल्कि भूरिश्रवण से आत्मप्राप्ति नहीं होती है ऐसा श्रुति में विपरीत बताया है।

यमेष वृणुते तेन लभ्यः, श्रवणमप्यतः।
नातीव सार्थकं दूराद् भूरिश्रवणमञ्जनम्॥ ३५१॥

जो आत्मा का वरण करता है या जिस भक्त का परमात्मा कृपादृष्टि से वरण करता है उसी को वह प्राप्त होता है इस वचन से तो श्रवण ही अतिसार्थक नहीं है। भूरिश्रवण में लगे रहने की बात तो दूर है।

तस्मादुत्कर्षणीयोऽयं मन्त्रः स्यात्कर्मयोनिषु।
यद्वा श्रीकामहोमोक्तेस्तत्रैव विनियोज्यताम्॥ ३५२॥

तब क्या यह मन्त्र व्यर्थ है? नहीं। कर्मकाण्ड में इसका उत्कर्षण कीजिये। अथवा ततो मे श्रियमावह इत्यादि श्रीकाम होम में इसका विनियोग कीजिये।

मैवं न सहसा बोधः सकृच्छ्रवणतो भवेत्।
भूरिश्रवणतः सम्यग् बोधो भवितुमर्हति॥ ३५३॥

उत्तरः- भूरिश्रवणवैयर्थ्य नहीं है। एक बार श्रवणमात्र से एकाएक बोध नहीं हो सकता। बार-बार श्रवण से ही सम्यग् बोध हो सकता है।

तत्त्वं न हि सुविज्ञेयमसकृच्छ्रुतमप्यदः।

धर्मोऽणुरेष इत्याह यमश्च नचिकेतसम्॥ ३५४॥

यमराज ने नचिकेता को कहा-यह आत्मतत्त्व अनेक बार सुनने पर सुविज्ञेय नहीं है। यह अति अणु-सूक्ष्म धर्म है।

सर्वे वेदा आमनन्ति तत्पदं कुत एव तत्?।
अश्रुत्वाऽल्पं हि वा श्रुत्वा प्रबोधो यदि संभवेत्॥ ३५५॥
घटोऽस्तीति सकृत्प्रोक्ते बोधे जाते पुनः पुनः।
तदेव शब्दभेदेन शतशः कः प्रजल्पति॥ ३५६॥

'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' बताया है। बिना बताये या एक बार बताने से समझ में आता है तो पूरे वेद उसे समझाने के पीछे क्यों पडे हैं? यह घडा है ऐसा एक बार बोलने से समझ में आता है तो यह घडा है, यह घट है, घडा यह है, इस को घडा समझो, इस प्रकार बदल बदल कर सौ-हजार बार कोई बोलता है?

ईश्वरो वृणुते यं हि स्वीकरोति, स एव तम्।
लभते परमात्मान-मित्यर्थो नैव तु श्रुतेः॥ ३५७॥
वृङः संभजनं धातोरर्थमाह स्म पाणिनिः।
तन्मात्रसेवनं केचित् प्रार्थनं भट्टभास्करः॥ ३५८॥
वृङएण्य उणाद्युक्त उद्धृतो माधवादिभिः।
भाष्यकृच्च वरेण्यं संभजनीयमवोचत॥ ३५९॥

ईश्वर जिसका वरण करे-स्वीकार करे वही ईश्वर को पाता है इत्यादि द्वैतवादियों का अर्थ संगत नहीं है। 'वृङ् संभक्तौ' ऐसा पाणिनीय धात्वर्थ निर्देश है। भट्ट भास्कर आचार्य ने प्रार्थना अर्थ किया है। क्या भगवान भक्त का भजन या प्रार्थना करते हैं या भक्त भगवान का। 'सवितुर्वरेण्यं' में 'वृङ एण्य' ऐसा उणादिसूत्र माधवाचार्य ने दिखाया है। वृञ एण्य यह अपपाठ है। वहीं शांकरभाष्य में वरेण्यं संभजनीयं अर्थ लिखा है। भाष्यकार धात्वर्थ निर्देश में कथित अर्थ को ही प्रथम लेते हैं ऐसा देखा गया है।

ननु वृञ् वरणे स्वादिर्वृणुते स्वीकरोति तत्।
मैवं हन्त वृणातेश्च ल्युटि स्याद्वरणं पदम्॥ ३६०॥

किं तावद् वरणं नाम शृणु संभजनं तु तत्।
एकत्र कथितं तच्च सर्वत्रैवावबुध्यताम्॥ ३६१॥

पू. - वृञ् वरणे ऐसा स्वादिगण में है। उसका स्वीकार अर्थ है। उ. - वृङ् धातु से भी ल्युट् प्रत्यय करने पर वरण शब्द होता है। उसका संभजन अर्थ बताया अतः स्वादि में भी वह अर्थ निश्चित है।

ननु संभक्तिमात्रार्थो वृङ् स्वीकरणादि तु।
वृञो वरणसामान्य-मित्याकूतं मुनेर्भवेत्॥ ३६२॥
न, नानार्थस्य नैकार्थ्यं नियन्तुं खलु शक्यते।
प्रार्थनादिषु चार्थेषु वृणातिर्ऋक्षु दृश्यते॥ ३६३॥

ऐसा तात्पर्य क्यों नहीं निकालते कि वृङ् का संभजन मात्र अर्थ। वृञ् आदि का वरण सामान्य अर्थ है। नहीं। वृङ् का भी प्रार्थना स्वीकरण आदि अर्थ में ऋग्वेद में बहुधा प्रयोग है।

वरं वृणीध्वं भद्रं वो रुद्रो भागवते जगौ।
वरं वृणीमह इति तत्रैवोचुः प्रचेतसः॥ ३६४॥

भागवत में रुद्र एवं प्रचेतस् प्रार्थना अर्थ में वृङ् धातु का प्रयोग करते हैं। अनेक उदाहरण प्रस्तुत करना व्यर्थ है।

स्वेच्छया स्वीकरोत्येष यं कंचिदिति मन्यसे।
व्यर्थानि साधनानि स्यु-रनिश्चितफलत्वतः॥ ३६५॥

ईश्वर स्वेच्छा से जिस किसी को स्वीकार करता है यह यदि मान्यता है तो पूरे साधन व्यर्थ होंगे। फल अनिश्चित होने से कोई साधना में प्रवृत्त नहीं होगा।

यमेवेत्येवकारार्थो नैवास्मिन् घटते मते।
स्वीकरोति बहून् भक्तान् समदृक् परमेश्वरः॥ ३६६॥

उक्त मत में यमेव यह एवकार निरर्थक है। क्या एक ही भक्त के पीछे पडते हैं भगवान? भगवान समदृष्टि है। सभी भक्तों को स्वीकार करते हैं।

ईशेच्छोत्पादनायैव साधनानीत्यसांप्रतम्।
स्याद्वक्रमार्गमात्रं तत् फलभेदाद्यभावतः॥ ३६७॥

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥ ३६८॥
इति निश्चितमेवोक्तं वेदोक्तं सर्वसाधनम्।
न तत्र विद्यते शङ्का वरणाऽवरणास्पदा॥ ३६९॥

ईश्वरीय वरणेच्छोत्पादनार्थ साधन है इत्यादि वक्र रीति मात्र है। 'समोहं सर्वभूतेषु' उस भगवान में पक्षपात क्यों होगा। वेदोक्त साधनानुष्ठान ही भगवद्भजन है।

मन्मते भगवन्मात्रभजनैकप्रतिष्ठितः।
लभते भगवन्तं तमित्यर्थो घटतेतराम्॥ ३७०॥

हमारे मत में एक भगवान के भजन में जो सतत स्थित है वह भगवान को पाता है ऐसा अर्थ बराबर जँचता है।

वस्तुतस्तु यमेवैष वृणुते ध्यायतीश्वरम्।
न त्वन्यमेष आत्मास्य स्वात्मानं संप्रकाशयेत्॥ ३७१॥

वस्तुतः अर्थ यह है कि जिस परमात्मा ईश्वर का ही यह साधक ध्यान भजन करता है उसी को यह परमात्मा अपना स्वरूप प्रकाशित करता है।

यत्तमेव विदित्वाति-मृत्युमेतीति च श्रुतम्।
तत्र चाप्येवकारेण यथोक्तार्थोऽवगम्यते॥ ३७२॥

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति इस श्रुति में एवकार से पूर्वोक्तार्थ ही ज्ञात होता है। अर्थात् आत्ममात्रविषयवृत्तिप्रवाह से मृत्युतरण होता है।

ज्ञातृज्ञानयुतं ज्ञेयं तत्तद्धर्मादिसंयुतम्।
ज्ञायते ध्यायते नात्ममात्रं प्रायो हि साधकैः॥ ३७३॥

होता यह है कि ध्यान करनेवाले-मैं ब्रह्म का ध्यान करता हूं, मैं ब्रह्म को मन से देख रहा हूं इस प्रकार ध्यान में ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय या ध्याता ध्यान ध्येय ऐसी त्रिपुटी को मन से देखते हैं। भगत लोग ध्यान करते समय-यह कृष्ण मेरे सामने खडे हैं, मैं इस को देख रहा हूं इस प्रकार ध्यान करते हैं। उस में मैं ध्याता आया, देखना आया, और कृष्ण आया.

ऐसी त्रिपुटि प्रायः आती है। मन से शब्द भी बोलते जाते हैं। 'शब्दार्थ प्रत्ययैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः' इस सूत्र में पतञ्जलि ने यही बताया है। यह बहुत बुरा नहीं है। साधनरूप से ग्राह्य है। इसके बाद कहा- 'स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का'। अभ्यास परिपाक से स्मृतिशुद्धि हो जाती है। और स्वरूपशून्य सा हो जाता है। अर्थमात्र-ध्येयवस्तुमात्र प्रकाशित होगा, मैं ध्यान करता हूं ऐसा मैं का पृथक् भान नहीं होगा। ध्यान का ध्यान भी नहीं होगा। तब ध्यान स्वरूप शून्य सा हो जाता है। ऐसा निर्विकल्पक ध्यान ही 'तमेव विदित्वा' में एवकार से बताया है। यही निदिध्यासन है।

ध्यातृध्याने परित्यज्य क्रमाद् ध्येयैकगोचरम्।
निवातदीपवच्चित्तं समाधिरभिधीयते ॥ ३७४ ॥
इत्याह पञ्चदश्यादौ निदिध्यासनलक्षणम्।
भगवानपि गीतायामिदमेवाह लक्षणम् ॥ ३७५ ॥
यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥ ३७६ ॥

पञ्चदशी आदि में समाधि (निदिध्यासन) का लक्षण बताया-ध्याता और ध्यान के भी बिना केवल ध्येयाकारवृत्ति प्रवाह चले तो वह निदिध्यासन है। निवातदीप को उस में दृष्टान्त दिया। गीता में भगवान ने भी योगी का यही लक्षण बताया।

श्रुतिश्चाह तमेवैकं जानथात्मानमद्वयम्।
तत्र चैकैवकाराभ्यामन्याऽविषयतोदिता ॥ ३७७ ॥

श्रुति में भी कहा-उस एक आत्मा को ही जानो। यहां एक कहा एव भी कहा। उसका मतलब है कि ज्ञान में विषयरूप में अन्य कोई भी न आये।

अन्यथा ब्रह्मतोऽन्यत्वं वाचां सिद्धं यतस्ततः।
अन्यत्वकथनं वाक्षु व्यर्थमेवापतिष्यति ॥ ३७८ ॥

'तमेवैकं जानथ आत्मानम् अन्या वाचो विमुञ्चथ' इस पूरे वाक्य में उस आत्मा को ही जानो, अन्य वाणी छोडो अर्थ है। यहां 'एव-एकं' से-

इतर वाणी का व्यावर्तन क्यों नहीं। इसलिये कि ब्रह्म से अन्य ही वाणी है उसे अन्य कहने की जरूरत क्या?

अन्या वाचो विमुञ्चथेत्यन्या वार्त्ता अपास्यत।
इति वा लौकिकीं भाषामाश्रित्य वदति श्रुतिः॥३७९॥

अथवा लौकिक भाषा में श्रुति बोलती है-केवल एक ब्रह्म को ही मन में धारो दूसरी बात छोडो।

अन्या इत्यनुवादोऽस्तु सर्वा वाचो विमुञ्चत।
इति त्वसद् घटादीनां वेदनस्य प्रसङ्गतः॥३८०॥
जातिक्रियादिविषया वाचस्तैः सह मुञ्चत।
इत्यर्थेऽपि प्रत्ययानां वेदनं तु प्रसज्यते॥३८१॥

वाणी में आत्मान्यत्व सिद्ध होने से उसे अनुवाद समझ लो। सभी वाणी छोडो ऐसा अर्थ हो जायेगा। नहीं तो क्या घटादि को ध्यान में न छोडें? जातिगुणक्रियादि विषयक वाणी होने से उन सब के साथ वाणी छोडो ऐसा भी अर्थ नहीं। त्रिपुटी के प्रत्यय को भी तो छोडना है। और इतना परिश्रम भी तो अनुपयोगी है।

मा भूत्साधनवाचां च परित्यागोक्तिविभ्रमः।
अतः पूर्वोक्त एवार्थस्तावदत्र नियोज्यताम्॥३८२॥

तत्त्वमसि आदि वाक्यों का भी साधनतया ग्रहण न करो। ऐसी अर्थभ्रान्ति न हो। अतः पूर्वोक्त अर्थ को ही यहां जोडो।

आत्मानं जानतेत्युक्ते तद्बोधकवचोग्रहात्।
तदन्या मुञ्चतेत्यर्थलाभाद्वाऽस्त्वत्र संगतिः॥३८३॥

अथवा आत्मानं जानत कहने से आत्मज्ञानानुकूल शब्दश्रवण विधि में आ जायेगा। उससे इतर वाणी को छोडो एसी अर्थसंगति समझना चाहिये।

ज्ञाने न विधिरस्तीति हेतौ सोऽवतरिष्यति।
वागेव सा तदन्यत्वं सिद्धवत्कृत्य भाषते॥३८४॥

ज्ञान में विधि नहीं होती। अतः आत्मानं जानथ यह विधि ज्ञान साधन में उतर आयेगी यह सिद्धवत् मानकर ज्ञान साधनेतर वाणी को छोडने के

लिये बताया।

लौकिकं सकलं वाक्यं प्रायोऽस्त्यन्यार्थगोचरम्।
स्याद्ब्रह्मविषयं प्रायः पारम्पर्येण वैदिकम्॥ ३८५॥
तत्त्वमस्यादि वाक्यानि साक्षाद् ब्रह्म प्रचक्षते।
ॐकारोऽपि तथैवेति विदुर्वेदान्तवादिनः॥ ३८६॥

प्रायः सभी लौकिक वाक्य अन्य विषयक (ब्रह्मेतर विषयक) होते है। हां वैदिक वाक्य परम्परया प्रायः ब्रह्मवषियक है। साक्षात् ब्रह्मविषयक तो तत्त्वमस्यादि वाक्य है। ॐकार को भी साक्षाद् ब्रह्मविषयक मानना वेदान्त संमत है।

श्रूयन्तां तत्त्वमस्यादि वाक्यान्येव तदेति चेत्।
मैवं तेभ्यः प्रथमतो ज्ञानं भ्रान्त्यात्मकं भवेत्॥ ३८७॥
ईशजीवैक्यविषयं सामानाधिकरण्यतः।
सर्वज्ञाल्पज्ञयोर्नैक्यं युज्यते हि विरुद्धयोः॥ ३८८॥

तो तत्त्वमसि आदि कतिपय वाक्यों का ही श्रवण हो, भूरि श्रवण की प्रार्थना क्यों? नहीं। अन्य वाक्यों के श्रवण किये बिना तत्त्वमसि आदि सुनेंगे तो भ्रान्ति ज्ञान ही होगा। तत्त्वमसि में सामानाधिकरण्य होने से ईश्वर और जीव की एकता का ज्ञान होगा। पर सर्वज्ञ अल्पज्ञ की एकता नहीं हो सकती। वे परस्पर विरुद्ध हैं।

विरोधावगमेऽप्येव विरुद्धज्ञानमुद्भवेत्।
अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि॥ ३८९॥

मैं सर्वसमर्थ ईश्वर नहीं हूं ऐसा विरोध ज्ञान होने पर विरुद्धार्थ ज्ञान ही नहीं होगा। भ्रम कैसे हो? सुनो अत्यन्त असत् का भी ज्ञान शब्द से होगा ऐसा भट्टपाद, खण्डनकारादि कहते हैं। अतः मैं सर्वशक्त ईश्वर हूं ऐसा भ्रान्तिज्ञान होगा।

बाधकालेऽपि च ज्ञान-माहार्यज्ञानमिष्यते।
आहार्यं सत्यवच्चैव भासतेऽज्ञानिनां पुनः॥ ३९०॥

बाधकाल में भी इच्छाजन्य आहार्यज्ञान नैयायिकादि ने भी माना है।

धीरे धीरे अज्ञानियों को आहार्यज्ञान भी सत्यवत् भासित होने लगता है।

वदन्ति बहवोऽद्यत्वे ह्यहं ब्रह्मेति निर्भयम्।
रुग्णोऽहमसमर्थोऽहमित्य-प्यनुभवन्ति ते॥ ३९१॥

आजकल कई वेदान्ती बेधडक मैं ब्रह्म हूं बोलते हैं और बिमार होते हैं तो मैं बिमार हूं, दुःखी हूं, अमसर्थ हूं, यह अनुभव भी करते हैं।

तत्त्वमस्यादि वाक्यं च वाच्यार्थग्रहणे सति।
स्यादन्यविषयं तस्मिन् सार्वज्ञादि प्रवेशतः॥ ३९२॥
न च वाच्यं महावाक्यमपि त्याज्यं भवेत्तदा।
तात्पर्यार्थाऽवबोधेऽस्मिन्नन्यार्थस्याऽप्रवेशनात्॥ ३९३॥

तत्त्वमसि आदि वाक्य में वाच्यार्थ ग्रहण करने पर सर्वज्ञत्वादि अन्य विषय का प्रवेश होगा तब तो महावाक्य भी छोडना होगा। नहीं। तात्पर्यार्थ लेने पर अन्य विषय नहीं होगा।

तात्पर्यविषयत्वं स्यादखण्डे ब्रह्मणीत्यतः।
लक्षणाश्रयणी वाक् सा नैवास्त्यन्यार्थगोचरा॥ ३९४॥

अखण्ड ब्रह्म में तात्पर्य होने से लक्षणाश्रयणी महावाक्यवाणी अन्यार्थ गोचर नहीं है।

शब्दः क्रियाजातिगुणसम्बन्धविषयोऽखिलः।
नात्ममात्रं वदेन्नातः सुज्ञानं स्वल्पधीजुषाम्॥ ३९५॥

सभी शब्द क्रिया, जाति, गुण एवं संबंध को लेकर बोध कराते हैं। निर्विकल्पक आत्मा को स्वभावतः नहीं कहते। अतः अल्पश्रुतों के लिये वह आसानी से समझ में नहीं आ सकता।

पदार्थशोधनं तेन कर्तव्यमिति निश्चयः।
पदार्थशोधनार्थाश्च शेषोपनिषदो मताः॥ ३९६॥

इसलिये पदार्थशोधन करना परमावश्यक है। पदार्थशोदनार्थ ही शेष उपनिषदें-तत्त्वमस्यादि वाक्य एवं ओंकार से अतिरिक्त उपनिषदें हैं।

गीतायाः प्रथमं षट्कं त्वंपदार्थस्य शोधकम्।
तस्या द्वितीयषट्कं तु तत्पदार्थविशोधनम्॥ ३९७॥

तृतीयषट्कं तत्रासि - पदार्थ परिबोधनम्।
इति वेदविदः प्राहुर्गीताव्याख्यानकोविदाः॥ ३९८॥

गीता व्याख्यान विशारद मधुसूदन सरस्वती आदि विद्वान तीन षट्क तत्त्वमसि के तीनो पदों का व्याख्यानरूप मानते हैं।

वेदेषु कर्मकाण्डं स्यात् त्वंपदार्थविशुद्धये।
उपास्तिकाण्डं जगदु-स्तत्पदार्थविशोधनम्॥ ३९९॥
ज्ञानकाण्डं पुनरसि-पदार्थविनिरूपणम्।
इत्यप्यन्ये निजगदुः पण्डिता वेदवेदिनः॥४००॥

वेदों में भीं कर्मकाण्ड त्वंपदार्थ शुद्धि के लिये है उपासनाकांड तत्पदार्थ बोधन के लिये है। ज्ञानकाण्ड असिपदार्थ निरूपणार्थ है ऐसे वेदवेत्ताओं का कहना है।

इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपनृंहयेत्।
इति तच्छ्रवणं चैव प्रकर्तव्यं प्रतीयते॥४०१॥

इतिहास और पुराण से वेदार्थ का उपबृंहण करो इस स्मृति से उन का श्रवण कर्तव्य मालूम पडता है।

इत्थं च भूरिश्रवणमिह यत्प्रार्थितं श्रुतौ।
युक्तमेव भवत्युक्त - मित्त्यूचुरनसूयवः॥४०२॥

इसलिये श्रुति में भूरिश्रवण प्रार्थना युक्त ही है।

नानैव साधनान्यत्रा-ऽन्वभूवन् बहुधा बुधाः।
स्वोपयुक्तं लभेतातो भूरिश्रवणतः सुधीः॥४०३॥
न ह्येकस्माद् गुरोर्ज्ञानं सुस्थिरं स्यात्सुपुष्कलम्।
ब्रह्मैतदद्वितीयं हि गीयते बहुधर्षिभिः॥४०४॥
इति भागवतेऽप्युक्तं दत्तात्रेयवचस्ततः।
तदत्र भूरिश्रवणमित्यन्ये प्रतिपेदिरे॥४०५॥

संतों का साधनों के बारे में भिन्न-भिन्न अनुभव है। सब सुनकर अपने लिये उपयुक्त चुन सकते हैं। एतदर्थ भूरिश्रवण आवश्यक है। भागवत में दत्तात्रेय वचन है-एक ही गुरु से पुष्कल ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिये

मैंने चौबीस गुरु किये। यही भूरिश्रवण है ऐसा अन्य मत है।

माण्डूक्यमेकमेवालं मुमुक्षूणां विमुक्तये।
तथाप्यसिद्धं चेज्ज्ञानं दशोपनिषदं पठ॥४०६॥
तथापि दृढता नो चेद्विज्ञानस्याञ्जनासुत।
द्वात्रिंशाख्योपनिदं समभ्यस्य निवर्तय॥४०७॥
विदेहमुक्ताविच्छा चेदष्टोत्तरशतं पठ।
मुक्तिकोपनिषद्येवं मारुतिं प्राह राघवः॥४०८॥

एक माण्डूक्य से ही मोक्ष मिलेगा। उससे नहीं हुआ तो दस उपनिषत् पढो। उससे भी नहीं हुआ तो बत्तीस उपनिषत्। विदेहमुक्ति के लिये १०८ उपनिषत् पढो। ऐसा मुक्तिकोपनिषत् में बताया है।

तत्त्वमस्यादिवाक्येन ज्ञानं मोक्षं च विन्दति।
यस्तूत्तमाधिकारी स्या-दन्येषां शास्त्रविस्तरः॥४०९॥

उत्तमाधिकारी तत्त्वमसि आदि महावाक्य से ही ज्ञान और मोक्ष पा लेता है। शास्त्रविस्तार अन्यों के लिये है।

अत्यन्तदुर्लभत्वात्तु तादृशामधिकारिणाम्।
साधारण्यादिह बहु-श्रवणं प्रार्थितं श्रुतौ॥४१०॥

ऐसा उत्तमाधिकारी दुर्लभ होने से सर्वसाधारणतया भूरिश्रवण की प्रार्थना है।

अतो बहूनां हितकृद् भूरिश्रवणमर्थ्यते।
पदार्थशोधनार्थत्वादर्थबोधार्थतोऽपि च॥४११॥

अतः यहां बहुजनहितकारी होने से भूरिश्रवण प्रार्थना है। उससे पदार्थशोधन तथा महावाक्यार्थ बोध सम्यक् होगा।

ब्रह्मणः कोशोऽसि

ननु चाचेतनः शब्दः प्रणवः प्रार्थ्यते कथम्।
कथं देवः कथं चेन्द्रः कथ्यतेऽन्याविशेषतः॥४१२॥

पू. - शब्द अचेतन होता है। प्रणव भी शब्द होता है। उसकी प्रार्थना

कैसे करते हैं? उसको देव, इन्द्रादि कैसे कहते हैं। अन्य शब्दों के समान ॐ शब्द भी है।

अत्राह ब्रह्मणः कोश इत्यभेदविवक्षया।
उपलब्धेरधिष्ठानं प्रतीकं ब्रह्मणश्च सः॥४१३॥

इसका उत्तर स्वयं प्रार्थयिता के रूप में श्रुति कह रही है-तुम ब्रह्म का कोश हो। ब्रह्म की उपलब्धि का अधिष्ठान हो और ब्रह्म का प्रतीक भी हो। अतः अभेद विवक्षा से प्रार्थनादि है।

कुश संश्लेषणे धातुं पेठुर्दुर्गादयो बुधाः।
कुष निष्कर्षणे कोषः तालव्यान्तं च तं परे॥४१४॥

कोश शब्द 'कुश श्लेषणे' धातु से बना है। कुष निष्कर्षे से कोष और कोश बना ऐसे अन्य मानते हैं। षकारान्त को शकारान्त भी पढते हैं।

असिः कोशे श्लिष्यते स्वे कोशोऽस्याकृतिरीक्ष्यते।
निष्कृष्यते स युद्धादाविति तस्य हि कोशता॥४१५॥

तलवार म्यान में श्लिष्ट रहती है। म्यान तलवार के आकार में ही होता है। युद्धकाल में वह बाहर खींची जाती है अतः कोश है।

आत्मान्नमयकोशादौ श्लिष्यन्नेव तदाकृतिः।
तस्मान्निष्कृष्यते चापि स्वानुसन्धायिभिर्बुधैः॥४१६॥
तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेत् निजात्मानं तदाकृतिम्।
मुञ्जादिषीकामिव हीत्युपदेशः श्रुतौ श्रुतः॥४१७॥

आत्मा अन्नमयादि कोश में अज्ञान काल में श्लिष्ट होता है तादात्म्यापन्न होता है कोशाकार भी होता है। आत्मानुसन्धायी विद्वान उससे अलग भी करते हैं। यही बात कठ श्रुति में भी आयी। उस आत्मा को अपने शरीर से उस प्रकार प्रवर्हण-निष्कर्षण करो जैसे मूंज से सीक।

ओंकारो ब्रह्मणः कोशो ब्रह्मोंकाराकृतिः स्वयम्।
मोक्षे कोशपरित्यागादखण्डं च भवत्यदः॥४१८॥

ॐकार ब्रह्म का कोश है। ॐकारालम्बनक उपासना में वह ओंकार तादात्म्यापन्न होता है। और मोक्षकाल में आलम्बन को छोडकर अखण्ड

रहता है।

इन्द्रादिपदता तस्य स्यादभेदात्मभावनात्।
यथा स्पृष्ट्वा हृदाचष्टे वेद्म्यहं चेतनोऽस्म्यहम्॥४१९॥

ब्रह्माभेद भावना से उसे इन्द्र बताया उससे मेधादि प्रार्थना की। जैसे हाथ छाती पर रखकर यह मैं हूं चेतन हूं इत्यादि कहते हैं।

प्रार्थना सफला तर्हि कथं भवितुमर्हति।
न धेनुबुद्ध्या तुरगी प्रार्थिता दोग्धि दुग्धकम्॥४२०॥

ॐकार में अभेद भावनामात्र ब्रह्म की है तो मेधया स्पृणोतु यह प्रार्थना सफल कैसे होगी? गाय की बुद्धि करके घोडी से प्रार्थना करने पर क्या दूध मिलेगा?

सत्यं प्रतीके ब्रह्मैव प्रार्थ्यते सफला च सा।
शालग्रामो विष्णुबुद्ध्या प्रार्थितः फलदो यथा॥४२१॥

उ. - बात सच है। पर प्रतीक में ब्रह्म की ही प्रार्थना होती है। अतः यह सफल होती है। शालग्राम में विष्णु बुद्धि कर प्रार्थना करें तो जैसे वह फलदायी है।

ननु प्रतीके विष्णुर्हि प्रार्थ्यते रक्ष मां हरे।
हे दृषद् रक्ष मां विष्णुप्रतीकोऽसीति को वदेत्॥४२२॥

पू. - शालग्राम की बात अलग है। वहां शालग्राम में विष्णु की ही प्रार्थना करते हैं-हे हरि मेरी रक्षा करो। ऐसा नहीं कि हे पत्थर! तुम मेरी रक्षा करो तुम विष्णु के प्रतीक हो।

अत्र तु ब्रह्मणः कोशो ह्यसीत्येवं प्रतीकता।
स्पष्टमाख्यायते कोशः प्रार्थ्यते च कथं नु तत्॥४२३॥

यहां तो स्पष्ट कहते हैं-तुम ब्रह्म का कोश हो प्रतीक हो। तब प्रार्थना कैसे?

उच्यतेऽत्रापि हे देवेत्येव सम्बोधनं कृतम्।
इन्द्र इत्येव तं प्राह न तु शब्दोऽसि भो इति॥४२४॥

उत्तरः- सुनो यहां भी हे देव! यही सम्बोधन है। तुम इन्द्र हो कहा।

न कि शब्द हो।

शालग्रामशिलात्वं च सर्वथा नाभिभूयते।
शालग्रामशिलेयं हीत्याख्यान्त्यपि विदन्त्यपि॥४२५॥

शालग्राम में भी शालग्रामशिलात्व अभिभूत नहीं होता। यह शालग्रामशिला है ऐसा सब बोलते भी हैं, जानते भी हैं, समझते भी हैं। प्रार्थना भी करते हैं।

ननु च ब्रह्मणः कोशोऽसीति कस्मात् प्रबोध्यते।
न तथोपासना काचिदिह तावद्विधीयते॥४२६॥
न च कोशो न तु ब्रह्मेत्यर्थार्थमिति सांप्रतम्।
अभेदेनैव हि यतः प्रतीकोपासना मता॥४२७॥
न च भ्रान्तिनिवृत्त्यर्थं भ्रान्तिप्राप्तेरभावतः।
न प्रत्यक्षं यतो ब्रह्म भ्रान्तिः संभाव्यते कुतः॥४२८॥
न चोंकारः परं ब्रह्माऽपरं चेति श्रुतत्वतः।
नान्यद् ब्रह्मेति धीर्माभूदित्यर्थमिति सांप्रतम्॥४२९॥
अस्मदुच्चार्यमाणस्य सृष्टिस्थित्यन्तकारिता।
प्रत्यक्षबाधितेत्यन्य - परत्वावगमाद्बलात्॥४३०॥
उपासनापरत्वं हि तद्वाक्यस्यावगम्यते।
आदित्यो यूप इतिव-दर्थवादोऽन्यथा भवेत्॥४३१॥

पूर्वपक्षः- ब्रह्मणः कोशोऽसि यह किस लिये याद दिला रहे हैं? क्योंकि ॐकार ब्रह्मकोश है ऐसी किसी उपासना का यहां विधान नहीं है। ॐकार ब्रह्म है, यह उपासना है, उस उपासना के बीच में ॐकार ब्रह्मकोश है ऐसी नयी उपासना रखेंगे तो वाक्यभेद होगा। ॐकार ब्रह्मकोश ही है ब्रह्म नहीं है इस प्रकार एतद् ज्ञानार्थं ब्रह्मकोशत्व कथन है ऐसी भी बात नहीं है। क्योंकि यहां ब्रह्म अभेदोपासना का ही प्रसंग है। (क्या कोई शालग्राम को विष्णु के रूप में उपासना करते हैं तो यह उपदेश दिया जाता है कि यह विष्णु नहीं है, पत्थर है?) अत एव ओंकार ही ब्रह्म है अन्य कोई ब्रह्म नहीं है ऐसी विपरीत भ्रान्ति निवृत्त्यर्थ भी नहीं है।

क्योंकि ब्रह्म प्रत्यक्ष विषय नहीं है। उसकी भ्रान्ति ॐकार में होगी कैसे? (रजत देखा है इसलिये शुक्ति में रजतभ्रम होता है) यह कहे कि श्रुति से ॐकार ही पर ब्रह्म और अपर ब्रह्म है यह प्राप्त है। ब्रह्म ही क्या है यह जानते नहीं हैं तो श्रुति के पास जाना पडेगा। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि लक्षण से ब्रह्म का स्वरूप बोध होगा। किन्तु अस्मत् उच्चार्यमाण ॐकार में जगत्सृष्टिस्थित्यन्तकारिता प्रत्यक्षबाधित है। तब अपने आप वह वाक्य उपासनापरक है यह मालूम पड जायेगा। अन्यथा 'आदित्यो यूपः' के समान अर्थवाद मात्र होकर रह जायेगा।

अत्राहुरादरार्थं हि ब्रह्मणः कोश ईर्यते।
यथार्थत्वान्महिष्ठत्वमप्यनेनावगम्यते ॥ ४३२ ॥

उत्तरः- इस पूर्व पक्ष पर ब्रह्मवेत्ताओं का कहना है कि आदरार्थ ब्रह्मकोशत्व कथन है। ऐसे स्थान में यथार्थ कथन ही होता है। झूठी प्रशंसा नहीं (क्योंकि ब्रह्म कहकर फिर ब्रह्मकोश कहने से कोई नयी प्रशंसा नहीं होती) यथार्थ कथन होने से अधिक महत्त्व भी स्पष्ट है। अन्य नाम ब्रह्माधिष्ठान नहीं है। ॐकार ही ब्रह्माधिष्ठान है यह मालूम पडता है।)

एतदालम्बनं श्रेष्ठ-मेतदालम्बनं परम्।
इत्यप्यन्यत्र कथितं यथार्थमवगम्यते ॥ ४३३ ॥

'एतदालम्बनं श्रेष्ठं'इत्यादि कठ श्रुति भी यथार्थार्थक ज्ञात होती है। ऐसा नहीं कि गङ्गा में गङ्गादास और यमुना में यमुनादास के समान कोई प्रशंसा हो।

ॐकारं जपतो नित्यं ब्रह्म तत्रोपलभ्यते।
यद्गृहं गम्यते तत्र स नूनमुपलभ्यते ॥ ४३४ ॥

नित्य ॐकार जो जपता है उसको ॐकार में ब्रह्मोपलब्धि होती है। जिसका जो घर होगा वहां जाने पर वह मिलेगा ही।

गृहस्वामी बहिर्गच्छेत्तथेदमपि चेन्न तत्।
व्यापकत्वान्न गमनं बहिर्हि ब्रह्मणो यतः ॥ ४३५ ॥

गृहस्वामी बाहर जाये तो घर में नहीं मिलता, वैसे ब्रह्म में नहीं मिलेगा। नहीं। ब्रह्म व्यापक है। वह घर छोडकर जायेगा, घर में नहीं रहेगा

यह कल्पना ही नहीं होगी।

गृहे प्रतीक्षमाणस्य सोपायं दृश्यते ध्रुवम्।
उपायश्च जपादिः स्यादवश्यं दर्शनं ततः॥४३६॥

उचित उपाय के साथ प्रतीक्षा करने पर अवश्य उपलब्ध होगा। उपाय जपादि है।

उपलब्धेरधिष्ठानं कोशमाहात्र भाष्यकृत्।
न ह्येवमन्यनामानि विशेषोऽयमिह स्फुटः॥४३७॥

कोश का अर्थ उपलब्धि का अधिष्ठान भाष्यकार ने बताया। ऐसे अन्य नाम नहीं हैं। यही यहां विशेषता है।

विष्णुर्हि व्यापकत्वेऽपि शालिग्रामं दृशं व्रजेत्।
ब्रह्मापि व्यापकत्वेऽपि स्फुरत्योंकारधामनि॥४३८॥

जैसे विष्णु व्यापक होने पर उपासकों को विशेष रूप से शालग्राम में ही दर्शन होता है वैसे ब्रह्म घट पट भूमिजलादि सर्व व्यापक होने पर ॐकार में ही साक्षात् होता है।

नन्वेवं स्वस्वगेहेषु स्फुरन्तः सर्व एव हि।
गेहे विजितिनस्तत्र विशेषः प्रणवस्य कः॥४३९॥

इस प्रकार फिर सभी अपने-अपने घर में स्फुरित होने से गेहे विजिती गेहे नर्दी हो गये। प्रणव घर की क्या विशेषता होगी।

शृण्वेतद्वै सत्यकाम परं चाऽपरमेव च।
वेद्यं ब्रह्म यदोंकार इत्येवं श्रुतिषु श्रुतम्॥४४०॥
हिरण्यगर्भो ह्यपरं शिवविष्ण्वादयोऽपि च।
ब्रह्मोंकारप्रतीकत्वादोंकार इति कीर्त्यते॥४४१॥
न ह्यन्योन्यप्रतीकेषु शिवविष्ण्वाद्युपास्तयः।
सर्वप्रतीकमोंकार इत्योंकारो विशिष्यते॥४४२॥

सुनो। एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः इस प्रकार श्रुति में ॐकार को सर्व प्रतीक बताया। अपरब्रह्म से प्राण एवं शिवविष्णवादि सभी ग्राह्य है। दोनों ब्रह्मों का ॐकार प्रतीक होने से दोनों को ओंकाररूप

बताया। पर शिव मूर्त्ति में विष्णु की और विष्णुमूर्त्ति में शिव की उपासना नहीं होती है इसलिये ॐकार की विशेषता है।

वाच्यवाचकयोरैक्याद् ये विदु द्वैतवादिनः।
सामानाधिकरण्यं तत्र युक्तमसदाग्रहात्॥ ४४३॥

परं चापरं च ब्रह्म ओंकारः यह सामानाधिकरण्य प्रतीक को लेकर नहीं किन्तु वाच्य-वाचक ऐक्य को लेकर है ऐसा द्वैतवादी कहते हैं। परंतु असत् आग्रह के कारण वैसा वे बोल गये हैं।

वर्णात् कार इति प्राह महान् कात्यायनो मुनिः।
वर्णत्वव्याप्यधर्मेणावच्छिन्नप्रतिबोधने　　॥ ४४४॥

कात्यायन मुनिने वार्त्तिक में कहा-वर्णात् कारः। वर्णत्वव्याप्यधर्मावच्छिन्न प्रकारक बोधजनक शब्द से कार प्रत्यय का वह विधायक है। जैसे अकार चकार आदि। वर्णत्व व्याप्य धर्म है-अत्व चत्व आदि उस धर्म से वर्णबोधन करनेवाले-क, च आदि से कार प्रत्यय होता है। ब्रह्मा का एक नाम 'क' है। तो ब्रह्मोवाच इस अर्थ में ककार उवाच प्रयोग नहीं होता। क्योंकि ब्रह्मत्व वर्णत्वव्याप्य धर्म नहीं है। कत्व वर्णत्वव्याप्य है। वैसे ॐ का परब्रह्मादि अर्थ 'ॐकार' कहने पर ॐ वर्णत्वेन प्रणवत्वेन बोध होगा न कि ब्रह्मत्वेन।

एवकारचकारादिः क्वचित् स्यात् वर्णसंहतौ।
न त्ववर्णार्थिके क्वापि कारप्रत्यय ईक्ष्यते॥ ४४५॥

कहीं कहीं वर्णसमुदाय अर्थ में भी कार प्रत्यय होता है जैसे एवकारः चकारः इत्यादि। पर वर्ण अर्थ न हो तो कार प्रत्यय देखने में नहीं आता है।

ॐकार इति वर्णार्थो न त्वयं वाच्यबोधकः।
न वाच्यवाचकैक्येन प्रयोग उपपद्यते॥ ४४६॥

ॐकारः यह ॐ इस वर्णानुकरण में ही होगा। वाच्यवाचकैक्य से ब्रह्मार्थ में नहीं।

प्रायः सर्वेषु मन्त्रेषु चोंकारः प्रविशत्यसौ।
तत्तद्देवार्थकत्वेन तेन चायं विशिष्यते॥ ४४७॥

प्रायः सभी मन्त्रों में तत्तत् देवार्थ में ॐकार का प्रवेश है इसलिये भी ॐ विशिष्ट है।

ॐ नमः शिवायेत्योंं नमो नारायणाय च।
ओमर्थायों प्रतीकायेत्यर्थं व्याचक्षते बुधाः॥४४८॥
ॐ क्रतो स्मर भाष्येऽप्यों प्रतीकायेत्यभाषत।
अग्निं हि भाष्यकृत्तस्मात् प्रतीकमुभयोर्मतम्॥४४९॥

ॐ नमः शिवाय ॐ नमो नारायणाय आदि में ॐकारार्थय ॐ प्रतीकात्मकाय ऐसे दोनों अर्थ हैं। 'ॐ क्रतो स्मर' इस के भाष्य में भाष्यकार ने भी ॐ प्रतीकात्मक अग्न्याख्य ब्रह्म बताया। अतः परापर उभय ब्रह्म का ॐ प्रतीक है।

ॐकारस्य महीयस्त्वं प्रागप्येवोपवर्णितम्।
ब्रह्मकोशत्वतस्तत्र शक्यते ध्रुवमीक्षितुम्॥४५०॥
तत्रैवोपास्यते ब्रह्म शीघ्रध्रुवफलाप्तये।
इत्युत्कृष्टोऽयमोंकार इत्येवं स्तूयते पुनः॥४५१॥

ॐकार की महिमा पहले भी बतायी है। यहां प्रकारान्तर से स्तुति है। ॐकार ब्रह्म का कोश होने से निश्चितरूप से उस में (ॐकार में) ब्रह्मदर्शन हो सकता है इसीलिये ॐकार में शीघ्र एवं निश्चित फलप्राप्ति के लिये विद्वान लोग उपासना करते हैं। अतः भी यह ॐकार उत्कृष्ट है ऐसे यहां ओंकार की स्तुति है।

ॐ प्रतीकपरब्रह्मोपासनाविधिरेव भोः।
कस्मान्नोपेयते, कस्मात् स्तुतिमात्रं निगद्यते॥४५२॥

यहां पर ॐ प्रतीक परब्रह्मोपासना की विधि ही क्यों नहीं मानते? केवल स्तुति क्यों बता रहे हैं?

उच्यते दृश्यते नात्र लिङादिर्हि विधायकः।
स्तुतिमात्रमिदं तस्मान्न खलूपासनाविधिः॥४५३॥

सुनिये। यहां विधायक कोई लिङादि नहीं। अतः उपासना विधि नहीं स्तुति है।

न च स्तुत्यानुमीयेत विधिरित्यपि संप्रतम्।
जपविध्यनुमानोर्ध्वं नान्यविध्यनुना यतः॥ ४५४॥

स्तुति से विधि का अनुमान कीजिये। नहीं। जपविधि का अनुमान पूर्व में हो गया। तो अब अन्य विधि का अनुमान नहीं होगा।

एकप्रसरताभङ्गो भवेदन्यविधाविह।
विधेयभेदात् कथितो वाक्यभेदो मनीषिभिः॥ ४५५॥

उसमें वाक्यभेद दोष होगा। अतः प्रथमोपस्थित विधि ही ठीक होगी।

मेधया पिहितः

नन्वेवं प्रणवं सर्वे कथं नोपासते जनाः।
सर्वेष्टलाभात्तेनैव मुक्तेश्च प्राप्तिसंभवाद्॥ ४५६॥

यदि प्रणव इतना उत्तम है तो सभी प्रणवोपासना क्यों नहीं करते, प्रणवोपासना कर ब्रह्मदर्शन से परम पद क्यों नहीं प्राप्त करते? ऐसी शंका आनन्दगिरीय में उठायी है।

ननु नैवाधिकारोऽस्ति सर्वेषां प्रणवादिषु।
तथा चासंगताशङ्का सर्वे नोपासते कुतः॥ ४५७॥
सावित्रीं प्रणवं चैव यजुर्लक्ष्मीं तथैव च।
स्त्रीशूद्राय नहीच्छन्तीत्यस्ति वाक्यं निषेधकम्॥ ४५८॥

सिद्धान्तैक देशी (बीच का उत्तर) यह आपकी शंका ठीक नहीं है। सबको ॐकार का अधिकार कहां है। सावित्री प्रणव एवं यजुर्लक्ष्मी स्त्री शूद्र को नहीं चाहते हैं ऐसा निषेध वाक्य है।

अत्राहुः केचन स्त्रीति शब्दसंघातवाचकम्।
स्त्यायत्यर्थानुगमतस्ताद्दृङ्मोहयुजः स्त्रियः॥ ४५९॥
अशनं वसनं तन्मे बन्धवः सदनं धनम्।
पुत्रमित्रादय इति वाचारम्भणमोहिताः॥ ४६०॥
शुगस्यानादरादेव तदा द्रवणतोऽपि च।
शूद्रःस्यात्तेन तस्यैवानधिकार उदीर्यते॥ ४६१॥

एकदेशी वाले उत्तर-पर कुछ लोग कहते हैं-श्री शंकरानन्दीय आत्मपुराण में भी कहा है कि स्त्री शब्द 'स्त्यै ष्टयै शब्दसंघातयोः' इस धातु से बना है। मेरा पुत्र, मेरा धन, मेरा घर, मेरे बन्धु ये सब शब्दसंघात में मोह है। 'वाचारम्भणं विकारः' इस श्रुति से ये सब वाचारम्भण होने से शब्दसंघात है। ऐसे मोहयुक्त जातितः पुरुष भी स्त्री हैं। शूद्र का अर्थ व्यासजी ने बताया-शुग् अस्यास्ति। मतुबर्थ में 'र' प्रत्यय शुग्र एव शूद्रः। शुचं द्रवति गच्छति। शुग्द्रव एव शूद्रः। शुचा शोकेन द्रुतः प्राप्तः शुग्द्रुः शुचा द्रवति शुग्द्रुः, शुग्द्रुरेव शूद्रः। तरति शोकं के अनुसार शोकात्मक संसार को जो प्राप्त हुआ वह शूद्र है।

सत्यमेवं सति च न पूर्वपक्षोत्तरं भवेत्।
स्त्यायतां शोचतां चापि सर्वान्तर्गतभावतः॥ ४६२॥
योगाद्रूढेर्बलीयस्त्वाच्छक्यार्थग्रहणे सति।
यो दोषस्तुल्य एवासौ भवेल्लाक्षणिकेऽपि हि॥ ४६३॥

(पूर्वपक्ष की यथास्थिति) बात आपने ठीक कही। किन्तु पूर्वपक्ष का उत्तर नहीं हुआ। ये लाक्षणिक स्त्री और शूद्र भी तो सर्वान्तर्गत हैं। योग से रूढि बलवान् होने से भक्षितेऽपिलशुन न्याय हुआ।

किं च स्वान् मन्वते ये हि प्रणवाद्यधिकारिणः।
तेऽपि कस्मान्न सकलाः प्रणवोपासने रताः॥ ४६४॥
किं च ये प्रणवे मुख्यान् स्वान् जानन्त्यधिकारिणः।
तथा तेऽपीति चाचार्या-नन्दज्ञानाशयोऽस्त्वयम्॥ ४६५॥

दूसरी बात जो अपने को प्रणव यजुर्लक्ष्मी के अधिकारी समझते हैं वे सभी प्रणवोपासना में ही क्यों नहीं लगे रहते? और जो यति अपने को प्रणव के मुख्य अधिकारी मानते हैं क्योंकि संन्यास ग्रहणकाल में ही केवल प्रणव का उपदेश होता है, वे सब भी प्रणवोपासना में नित्यनिरत क्यों नहीं, यह आनन्दज्ञानाचर्यकृत पूर्व पक्ष का आशय है।

उच्यते मेधया नाम लौकिक प्रज्ञयाऽल्पया।
पिहितोऽसीति न पर-मपि नोपासतेऽखिलः॥ ४६६॥

इस पूर्वपक्ष का उत्तर श्रुति कह रही है-मेधया पिहितः। मेधा का अर्थ है लौकिक प्रज्ञा जो कि अल्प संकुचित होती है उससे हे प्रणव तुम आच्छादित हो। इसलिये तुम पर अर्थात् महान होने पर भी तुम्हारी उपासना सब नहीं करते।

नन्विन्द्रो मेधया मां स स्पृणोत्वित्युदितं पुरा।
अधुना निन्दति कथं पिहितो मेधयेति हि॥४६७॥

प्रथम 'मुझे मेधा से प्रीत करे' ऐसी स्तुति की 'मेधया स्पृणोतु'। और अब यह निन्दा कैसे-मेधया पिहितः।

उत्तमा सा तु मेधा स्याद-खण्डाकारवृत्तिकृत्।
अधमा सा भवेद् या तु परिच्छिन्नार्थमात्रगा॥४६८॥

उत्तर यह है अखण्डाकार वृत्तिकारिणी मेधा उत्तम है। परिच्छिन्न मात्र गामिनी मेधा अधम है।

कूपमण्डूकवत्स्वल्पा मेधापि रमतेऽल्पके।
कृकलासं नृगं कूप-पतितं कृष्ण उद्धरेत्॥४६९॥

कूपमण्डूक कूप से बढकर और किसी को कुछ नहीं समझता। वैसी यह अल्प मेधा परिच्छिन्न में ही रमण करती है। राजा नृग गिरगिट बनकर कुए में पडा तो उसका उद्धार तो श्रीकृष्ण ही कर सकते थे।

मिथ्या सर्वं परिच्छिन्नं तद्रता तादृशी मतिः।
अपरिच्छिन्नतत्त्वं हि न गृह्णाति कथंचन॥४७०॥

परिच्छिन्न सभी मिथ्या है उसमें जो मति रम गयी वह अपरिच्छिन्न ब्रह्म तत्त्व को कभी भी ग्रहण नहीं कर सकती।

भगवद्गुरुशास्त्रात्मकृपोन्नमितधीः पुमान्।
शक्नोत्यखण्डं विज्ञातुं ब्रह्मेत्याहुर्मनीषिणः॥४७१॥

ईश्वरकृपा, गुरुकृपा, शास्त्रकृपा और आत्मकृपा से जिस की बुद्धि ऊपर उठी हो वही अखण्ड ब्रह्म को समझ पाता है ऐसी मनीषियों की मान्यता है।

अशनं वसनं जाया तनया बन्धवो मम।
इति तुच्छार्थविषय-मेधया पिहितः पुमान्॥४७२॥

ये वा हिरण्यगर्भादिं श्रद्दधाना उपासते।
तत्राप्येव परिच्छिन्नमेधया पिहितः परः॥ ४७३॥
यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि वेत्सि तत्।
विजानतामविज्ञातमित्यादि श्रुतिदर्शितम्॥ ४७४॥

खाना, पहनना, पत्नी, पुत्र, बन्धु आदि मेरे इन तुच्छ विषय मेधा से ब्रह्म ओझल हो गया है। हिरण्यगर्भादि के उपासकों की भी यही स्थिति है क्योंकि वे भी परिच्छिन्न हैं। श्रुति कहती है मैं अच्छी तरह जानता हूं ब्रह्म को तो परिच्छिन्न को ही जानते हो। जानकार हूं कहनेवालों को ब्रह्म अज्ञात है। व्यापक ब्रह्म आवृत है।

नन्वोंकारः परिच्छिन्नो मेधया नावृतः कथम्।
एवमोंकार आत्मैवेत्यभेदश्रुतितोऽतथा॥ ४७५॥

पू. - ओंकार भी तो परिच्छिन्न होने से वह मेधा से अनाच्छादित क्यों है। उत्तर है-ॐकार और आत्मा को एक स्वीकार कर यह बताया। माण्डूक्य में अन्त में बताया-एवमोंकार आत्मैव।

नन्वोमुच्चार्यते लोकैः श्रूयते श्रवसा स्फुटम्।
कथं स मेधयोंकारः पिहितो विनिगद्यते॥ ४७६॥

पूर्व. - लोग ओंकार का उच्चारण करते हैं कान से सुनते भी हैं। फिर कैसे कहते हैं कि ओंकार मेधा से आच्छादित है?

नचोंकारोऽयमात्मेति ह्यात्मत्वेन निरूप्यते।
नेक्ष्यते पिहितोऽतोऽसावात्मत्वेनेति सांप्रतम्॥ ४७७॥
नैवात्मोच्चार्यते नापि स श्रोत्रेन्द्रियगोचरः।
न तथा प्रणवस्तस्मान्नैवैक्यं युज्यते तयोः॥ ४७८॥
न शिल्पिनां शतमपि घटं पटयितुं क्षमम्।
आदित्ययूपवचनाद् यूपेऽर्घ्यं किं नु दीयते॥ ४७९॥

यह कहें कि 'एवमोंकार आत्मैव' इस श्रुति से ओंकार को आत्मा बताया। किन्तु ॐकार में आत्मत्व दिखता नहीं। अतः आत्मत्वेन ॐकार आच्छादित है। नहीं। न तो आत्मा का उच्चारण होता है और न ही आत्मा

श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है। किन्तु प्रणव का उच्चारण भी होता है श्रवण भी होता है। अतः आत्मा और ॐकार की एकता नहीं हो सकती। सौ शिल्पी भी घट को पट नहीं बना सकते। क्या 'आदित्यो यूपः' यह श्रुति सुनकर सूर्यार्घ्य यूप को दिया जायेगा?

वचनं ज्ञापकं दृष्टं न तु तत् कारकं क्वचित्।
उच्चार्यः श्राव्य ॐकारः परिच्छिन्नो न संशयः॥४८०॥

वचन ज्ञापक होता है। कारक नहीं। ॐकार उच्चारणीय है और श्रवणीय भी है (वागिन्द्रिय विषय एवं श्रोत्रेन्द्रिय विषय है।) वह परिच्छिन्न है।

अन्यार्थाभिनिवेशेन परमार्थोऽपिधीयते।
यथात्मा पिहितो देहा-ऽभिनिवेशेन देहिनाम्॥४८१॥
योग्यतद्धेतुवैधुर्यादपि प्रच्छादनं भवेत्।
यथैव विमलः सूर्य उलूकस्यापिधीयते॥४८२॥
अन्यार्थलीनचित्तत्वादप्येवार्थोऽपिधीयते।
दुष्यन्तलीनचित्ताया दुर्वासा अप्यधीयत॥४८३॥
न पश्यति च जन्मान्धः कामान्धो नैव पश्यति।
मदोन्मत्ता न पश्यन्ति अर्थी दोषं न पश्यति॥४८४॥
एवंविधेन केनापि दोषेणाच्छादनं भवेत्।
ओंकारसत्यरूपस्येत्यपि कृत्रिमकल्पना॥४८५॥
वर्णवाचकशब्दाद्धि कारप्रत्यय इष्यते।
न किंचिदिन्द्रियातीतं भवेदोंकारशब्दितम्॥४८६॥

यहां कुछ ऐसी कल्पना करते हैं कि ॐकार का कुछ विलक्षण रूप है। वह आच्छादित है। जैसे देहाभिनिवेश से आत्मा का असली स्वरूप ढक जाता है। योग्य करण के न होने से जैसे उलूक को सूर्य आच्छादित रहता है। दूसरी जगह मन की ऐकाग्रता होने से जैसे दुष्यन्त में एकाग्र-चित्त होने से शकुन्तला को दुर्वासा नहीं दिख पडे। जन्मान्ध नहीं देखता, कामान्धता में श्री तुलसीदास ने सर्प स्वरूप नहीं देखा, मदोन्मत्त कुछ नहीं देखता। धनार्थी को पुण्य-पाप नहीं दिखता। ऐसे किसी कारण से ॐकार

का असली स्वरूप छिपा है इत्यादि। यह सब कृत्रिम गढंत कल्पना है। 'वर्णात् कारः' इस वार्तिक वचन से वर्णवाचक शब्द से कार प्रत्यय होता है। तब ॐकार कहने पर वर्ण ही तो आयेगा। वर्ण तो निश्चित श्रोत्रेन्द्रिय विषय है। श्रोत्रेन्द्रिय का अविषय कौनसा वर्ण है जो ॐ में छिपा हुआ है?

अत्रेदं ब्रूम ॐकारे तिस्रो मात्रा उदीरिताः।
अकारश्चाप्युकारश्च मकारश्चेति ताः श्रुतौ॥४८७॥
अमात्रस्तु तुरीयः स्यादर्धमात्रां च तां जगुः।
कार्यं मात्रात्रयं तस्याधिष्ठानं तुर्यमुच्यते॥४८८॥
सुधा त्वमक्षरे नित्ये त्रिधा मात्रात्मिका स्थिता।
अर्धमात्रा स्थिता नित्या यानुच्चार्या विशेषतः॥४८९॥
स्थानादिरहितत्वेन सानुच्चार्या विशेषतः।
ब्रह्मरूपेति चाहैनाम् 'अर्धमात्रा परं पदम्'॥४९०॥

इस पूर्वपक्ष पर हमारा कहना यह है ॐकार में अ उ म ये तीन मात्रायें हैं और अमात्र (मात्रा रहित) भी है जो तुरीय है। उसे अर्धमात्रा भी कहते है। वह स्थानादिरहित होने से विशेष प्रयत्नादि से उच्चार्य नहीं है। तीन मात्राओं के अधिष्ठानरूप में वह आता है उसे दत्तात्रेयजी ने 'अर्धमात्रा परं पदं' बताया है।

वाच्यवाचकतातीतममात्रं परमं पदम्।
बोध्यबोधकरूपं तदित्यत्यन्तविलक्षणम्॥४९१॥
बृहन् पाण्डरवासो भो इत्याहूतोपि नोत्थितः।
उत्थितः पाणिनाऽपेषं बोधितोऽजातशत्रुणा॥४९२॥
अप्रमाणं यथा पाणि-पेषणं सुप्तबोधनम्।
अप्रमाणं तुरीयं च मायासुप्तप्रबोधनम्॥४९३॥

बृहदारण्यक में बताया है बृहन्! पाण्डरवासा। ऐसा बुलाने पर भी सुप्त पुरुष उठा नहीं। अजातशत्रुने हाथ से जोर से उसे हिलाया तो उठा। पाणि पेषण कोई प्रमाण नहीं है फिर भी वह सोते को जगाता है। वैसे तुरीय अर्धमात्रा प्रमाण न होने पर भी माया-मोह सुप्त को जगाती है।

नन्वौपनिषदत्वं ते विरुध्येतेति चेन्न तत्।
ॐकारश्चेदुपनिषद् अर्धमात्रापि सा तथा॥४९४॥

यदि अर्ध मात्रा से ब्रह्मबोध होता है तो तं त्वौपनिषदं इस श्रुति से विरोध होगा। कैसे होगा? ॐकार उपनिषद् है तो अर्धमात्रा भी उपनिषद् ही है।

नन्वौपनिषदत्वं तद्वाच्यत्वमितिचेन्न तत्।
यतो वाचो निवर्तन्त इति श्रुतिविरोधतः॥४९५॥

भाई! औपनिषदं का अर्थ है वाच्यार्थ रूप से उपनिषद् वाक्यबोध्य। नहीं। यतो वाचो निवर्तन्ते यह शब्दार्थविधया बोधक का निषेध करता है।

व्यर्थं त्रिमात्रं किं तेन गतार्थत्वात्तुरीयतः।
मैवं त्रिमात्रविरहे सानुच्चार्या विशेषतः॥४९६॥
त्रिमात्रसंनिधावेव तुर्यं हि स्फुरितं भवेत्।
तदा च परमं तत्त्वं स्वप्रकाशं प्रकाशते॥४९७॥

यदि तुरीय से (अर्धमात्रा से) ही ब्रह्मबोध होगा तो मात्रात्रय व्यर्थ होगा। नहीं। तीन मात्रा न हो तो तुरीय (अर्धमात्रा) भासित ही नहीं होगी। यानुच्चार्या विशेषतः बताया है।

विशेषतो भिन्नतया स्वातन्त्र्येण न सोच्यते।
त्रिमात्रासंनिधेरेव　　तत्प्राकट्यमितीक्ष्यते॥४९८॥

विशेषतः का अर्थ है-विशेषरूप से, भिन्नरूप से, स्वतन्त्ररूप से। तीन मात्रा की संनिधि में ही वह प्रकट होती है।

नन्वर्धमात्रा का ह्येषा मोत्तरं नैव किंचन।
अत्र केचिन्मकारोऽर्धमात्रा दीर्घोयदोच्यते॥४९९॥
तच्चिन्त्यं दीर्घता नैव व्यञ्जनस्योपगम्यते।
ऊकालोऽजेव हि मुनेर्ह्रस्वदीर्घप्लुतो मतः॥५००॥

पूर्वपक्षः- यह अर्धमात्रा कौनसी है, कहां है? अ+उ+म् की सन्धि में ॐ बनता है। म् के बाद में कुछ भी नहीं है। इस पर कुछ विद्वान

कहते हैं-म् को दीर्घ बोलो तो अन्तिम भाग अर्धमात्रा है। पर वह बराबर उत्तर नहीं दिखता। क्योंकि मकार व्यञ्जन है। उसका ह्रस्व दीर्घादि नहीं होता। महर्षि पाणिनि ने ऊकालोऽच् ह्रस्वदीर्घप्लुतः बताया है। मतलब अच् ही ह्रस्वादि होता है, हल् नहीं।

ननु चाऽयोगवाहानामट्सु शर्षु च शासनम्।
उक्तं वार्त्तिककारेणानुस्वारो दीर्घतामियात्॥५०१॥

वार्त्तिककार कात्यायन मुनि ने अयोगवाह अर्थात् अनुस्वार विसर्गादि का अट् में और शर् में उपदेश बताया है। अतः अनुस्वार अच् होने से दीर्घ होगा।

न च वाच्यं मकारोऽत्र नानुस्वारोऽयमित्यपि।
मकारस्य ह्यनुस्वार आदेशोऽभ्युपगम्यते॥५०२॥
झलि वा हलि वा मस्यानुस्वारो नान्यथेति तु।
न युक्तं, सत्प्रयुक्तत्वाद् भविष्यति निपातनात्॥५०३॥

यह कहें कि यहां अनुस्वार कहां है? मकार है। नहीं। म् को अनुस्वार आदेश होता है। झल् या हल् पर में हो तो ही म् को अनुस्वार होगा। ऐसी भी बात नहीं सत्पुरुष केवल ॐ बोलते और लिखते समय अनुस्वार का प्रयोग करते हैं। पाणिनि मुनि के अनुपायियों को निपातन से मान लेना चाहिये। ॐ ऐसा अनुस्वार लिखते हैं।

मैवं स्यादोमिति ब्रह्मेत्यादौ सर्वत्र दृश्यते।
मकारोऽचि कथं तत्स्यात् मकारः प्रणवे ध्रुवः॥५०४॥
मकारस्य तृतीयत्वं नानुस्वारस्य भण्यते।
न तस्य दीर्घो भवति व्यञ्जनत्वादिति स्थितिः॥५०५॥

मकार को अनुस्वार निपातन से हुआ ऐसा भी नहीं कह सकते। ओमिति ब्रह्म ऐसा वाक्य आगे तैत्तिरीय में है। वहां मकार कैसे आया? अनुस्वार निपातन होने पर अनुस्वार को 'म' करनेवाला कोई अनुशासन नहीं है। और उपनिषदों में भी मकार को तृतीय मात्रा बताया है न कि अनुस्वार को।

दीर्घं प्रणवमुच्चार्य मनोराज्यं विजीयते।
ओमभ्यादान इति च दृष्टौ दीर्घप्लुतौ ननु॥५०६॥
सत्यमोकारदीर्घत्वप्लुतत्वाभ्यां तदुच्यते।
अचश्चेत्यस्ति सूत्रं हि नान्यस्य प्लुतदीर्घता॥५०७॥

'दीर्घं प्रणवमुच्चार्य' 'ओमभ्यादाने' इत्यादि दीर्घत्वादि ओकार को ही होगा। 'अचश्च' यह परिभाषा सूत्र है। मकार को ह्रस्व दीर्घादि आदेश नहीं होता।

ननु दीर्घः किलौकारः किमर्थं तु विशेषणम्।
दीर्घमायतमित्युक्तं दीर्घ एव प्लुतोऽप्यतः॥५०८॥

दीर्घं प्रणवमुच्चार्य यहां दीर्घ विशेषण व्यर्थ है। ओकार दीर्घ है ही। नहीं। दीर्घ का यहां आयत अर्थात् लम्बा अर्थ है। प्लुत भी इस दृष्टि से दीर्घ ही है।

दैर्घ्यं रज्ज्वादिके द्रव्ये न तु शब्दे गुणे गुणः।
किन्तु लोकव्यवहृते-र्नानामात्रेऽचि चोच्यते॥५०९॥

यद्यपि ह्रस्व दीर्घादि गुण शब्दरूपी गुण में नहीं हो सकता। गुणे गुणानङ्गीकारात्। तथापि लोग शब्द में भी व्यवहार करते हैं।

अत्राहुरोष्ठयोः सङ्गान्मकारोच्चारणात्परम्।
यच्छ्रूयते सेयमर्धमात्रेत्याहुर्मनीषिणः॥५१०॥

उ. - इस जिज्ञासा पर महापुरुष कहते हैं कि मनीषियों का कहना है कि दोनों ओठों को जोडते हुए मकारोच्चारण करने पर उत्तर क्षण में जो सुनायी पडता है वही अर्धमात्रा है।

नन्वीम् इत्यादि कथनेऽप्यस्ति तादृक् स्वरश्रुतिः।
सत्यं तत्र हि तालव्यभावस्पृष्टिर्हि गम्यते॥५११॥
ओमित्युक्ते तु कण्ठोष्ठ - स्थानत्वमिव बुध्यते।
तस्मादोम्यर्धमात्रैषा काचिदस्ति विलक्षणा॥५१२॥
तत्र तत्स्थानवर्णानां लयो भवति कारणम्।
प्रतीयते हि मधुरं सलिलं लीनशर्करम्॥५१३॥

शं :- ईम् ऐसा कहने पर भी मकार के बाद ऐसा स्वर निकलता है। वह भी फिर अर्धमात्रा होगी। नहीं। ॐ में और ई में फरक है। वहां अन्तिम स्वर में तालव्यता की झलक है। ॐ में कण्ठोष्ठता की झलक है। क्योंकि अ उ म इन तीनों का वहां लय है। जैसे जल में शक्कर लीन हो गया तो भी मधुर लगेगा।

उकारे लीयतेऽकार उः मकारे विलीयते।
ते सर्वे चार्धमात्रायामिति कण्ठोष्ठता स्फुटा॥५१४॥

अकार उकार में लीन होता है। उकार मकार में और सभी अर्धमात्रा में। अतः कण्ठोष्ठता स्पष्ट है। अ का कण्ठ, उ का ओष्ठ और ओ का स्वयं कण्ठोष्ठ है।

नन्वामित्यत्र कण्ठोष्ठ्य मामयोस्तत्त्वतो, न तत्।
अच्साहाय्याद्धलुच्चार्यो नाकारे त्वोष्ठता यतः॥५१५॥

शंका होगी आम् बोलने में वैसी अर्धमात्रा है। अ का कण्ठ और म का ओष्ठ है। नहीं। अच् की सहायता से व्यञ्जनों का उच्चारण है। महाभाष्य में कहा है-न पुनरन्तरेणाचं व्यञ्जनानामुच्चारणमपि भवति। अतः अर्धमात्रा पर 'आ' का ही प्रभाव रहेगा। अर्थात् कण्ठ्यता मात्र रहेगी। दीर्घ प्लुतादि में अच् का ही वर्चस्व रहता है। वही अन्त्य मात्रा में भी आयेगा।

व्यञ्जनं हल्स्वरप्राप्तौ भवेच्चाविद्यमानवत्।
एवंविधहला नैव चार्धमात्रा प्रभाविता॥५१६॥

'हल्स्वरप्राप्तौ व्यञ्जनमविद्यमानवद् भवति।' स्वर में व्यञ्जन अविद्यमानवत् होता है ऐसा भी बताया है। अतः व्यञ्जन से अर्धमात्रा प्रभावित नहीं होती। अतः मकार अर्धमात्रा में लीन भी हो जाये तो भी स्थान स्वरादिका उस पर प्रभाव नहीं होगा।

किमुक्तं भवतीत्यन्य-मात्राभ्योऽतिविलक्षणा।
ॐ महांस्तल्लयिन्यर्धमात्रोत्कृष्टान्यतोऽखिलात्॥५१७॥

आप के कथन का क्या तात्पर्य? यही कि अन्य मात्राओं से यह विलक्षण

है। ॐ मन्त्र स्वयं महान है उसका लय जिस अर्धमात्रा में लीन होता है वह अन्य समस्त से उत्कृष्ट है (आम् ईम् आदि का दृष्टान्त वृथा है)।

ननु च ध्वनिरेवायं न तु मात्रेति चेच्छृणु।
पुष्पदन्तो ध्वनिभिरित्याख्याय स्वीचकार तत्॥५१८॥

यह चतुर्थ अर्धमात्रा जिस को कह रहे हैं वह तो ध्वनि है, मात्रा नहीं मालूम पड रही है। इस शंका में हम यह कहेंगे कि गन्धर्वराज पुष्पदन्त ने 'तुरीयं ते धाम ध्वनिभिरवरुन्धानं' कहकर ध्वनि स्वीकार किया है।

रहस्यं सद्गुरुमुखादेव ज्ञातव्यमित्यहम्।
प्रागेवावोचि तदलं बहुनेत्युपरम्यते॥५१९॥

इस पर आप का क्या कहना है? ऐसे पूछने पर हमने जो उत्तर पहले कहा वह है कि निगूढ रहस्य को सद्गुरुमुख से ही सुनिये और यहीं पर हम लंबी व्याख्या से उपराम लेते हैं।

मेधा हि लौकिकप्रज्ञा प्रणवः पिहितस्तया।
तत्स्वरूपमतो ज्ञेयं सद्गुरुभ्यो न संशयः॥५२०॥

अ आ इत्यादि के समान ॐ भी एक अक्षर है ऐसी लौकिक प्रज्ञा से ॐकार स्वरूप आच्छादित है।

श्रुतं मे गोपाय

श्रुतिजन्यपरिज्ञानं श्रुतमित्यभिधीयते।
काण्डत्रयोक्तविषयं सर्वमेव श्रुतं भवेत्॥५२१॥

श्रुति से उत्पन्न ज्ञान श्रुत है। कर्मकाण्डादि तीनों का ज्ञान श्रुत है।

इतिहासपुराणादि यच्चैतदुपबृंहणम्।
तज्जन्यमपि विज्ञानं श्रुतान्तर्गतमिष्यते॥५२२॥

वेदार्थोपबृंहक इतिहास पुराणादि से जन्य ज्ञान भी श्रुत है।

गुरुप्रवचनोद्भूतं तादृशं ज्ञानमेव च।
श्रुतान्तर्भावमेवैति तदप्यत्र विवक्षितम्॥५२३॥

वेदार्थोपबृंहक आचार्य प्रवचन से जन्य ज्ञान भी श्रुतान्तर्गत ही है।

स्पृणोतु मेधयेत्युक्तं स्वमेधामननादिजम्।
यज्ज्ञानं तदपीह स्याच्छ्रुतशब्दविवक्षितम्॥५२४॥

स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु से प्रार्थित स्वमेधा अर्थात् मननादिजन्य ज्ञान भी यहां श्रुत शब्द से विवक्षित हो सकता है।

गोपाय तदिदं सर्वं न विस्मृतिविपर्ययैः।
विनाशमेतु येनाहं भवेयं पुरुषार्थभाक्॥५२५॥

इन सब ज्ञान की रक्षा करो विस्मरण एवं विपर्यय से नष्ट न हो, हम पुरुषार्थभागी हों।

प्राग्विकर्मोद्भवात् पूर्ववासनोद्भवनादपि।
कामक्रोधादिवशगा विस्मरन्ति श्रुतं बुधाः॥५२६॥

पूर्वजन्मादिकृत विकर्म से प्राचीन नानावासनोद्भव से कामक्रोधादि वशीभूत मनुष्य श्रुत को भूल जाया करते हैं।

दुर्मेधसां च संसर्गात् तद्वाक्यश्रद्धया तथा।
विपर्ययः संशयो वा मा तौ भूतां कदापि मे॥५२७॥

दुष्टों के संसर्ग से (कहीं पूर्वकर्ममात्र से भी यह च कार का अर्थ है) और उनकी बातों पर श्रद्धा करने से कभी विपर्यय और संशय हो जाता है वह भी न हो।

विषया उपतिष्ठन्ते पूर्वकर्मोद्भवात् स्वयम्।
तत्र प्रसक्तः पतितस्तत्त्वज्ञानाच्च्युतो भवेत्॥५२८॥
वासनोद्भवतश्चैव कामक्रोधसमुद्भवात्।
श्रुताभिभूतेर्जायन्ते यतयः पामरोपमाः॥५२९॥

पूर्वकर्मानुसार सब के सामने नानाविध विषय स्वयं उपस्थित होते हैं। उन में यदि आसक्त प्रसक्त हो तो संन्यासी भी ज्ञानच्युत पतित हो जाते हैं। यदि वासना उद्भूत हो गयी तो कामक्रोधादि पैदा होते हैं। शास्त्रश्रवण उनके सामने अभिभूत हो जाता है तब यति भी पामर जैसे हो जाते हैं।

ज्ञानेन सकृदज्ञाने नाशिते हेत्वभावतः।
कामादयो न जायन्ते इति केचित्प्रचक्षते॥५३०॥

तन्न सत् प्रक्रियेयं हि प्रत्यक्षेण विरुध्यते।
स्थूलाज्ञाने विनष्टेऽपि सूक्ष्मरूपेण तत्स्थितेः ॥५३१॥
संस्कारात्मकमज्ञान - मुद्बोधकसमागमे।
स्थौल्यं याति तदा काम-क्रोध-लोभादिरुद्भवेत्॥५३२॥

ज्ञान से एक बार अज्ञान नष्ट हो गया तो हेतु न होने से कामक्रोधादि भी नहीं होंगे। ऐसे कुछ लोग कहते हैं। किन्तु यह प्रत्यक्ष-विरुद्ध है। स्थूलाज्ञान नष्ट हो किन्तु संस्काररूप से वह रहेगा उद्बोधक के आने पर फिर स्थूल होगा।

दृष्टाः सौभरिदुर्वासोविश्वामित्रपराशराः।
कामक्रोधादिवशगाः यत्नात्पश्चात् समुद्धृताः॥५३३॥

शास्त्रों में सौभरि, दुर्वासा, विश्वामित्र, पराशरादि तत्त्वज्ञानी होने पर भी कामक्रोधादि के अधीन हुए। पश्चात् काफी यत्न से ऊपर उठे।

प्रमादिनो बहिश्चित्ताः पिशुनाः कलहोत्सुकाः।
संन्यासिनोऽपि दृश्यन्ते दैवसंदूषिताशयाः॥५३४॥
इत्याह याज्ञवल्क्योऽपि तन्नामोपनिषत्पदे।
ततश्च प्रार्थ्यत इदं श्रुतं गोपाय मे प्रभो॥५३५॥

संन्यासी ऐसे ऐसे देखने में आते हैं जो प्रमादी हैं, बहिर्मुख हैं, चुगलखोर हैं, झगडालू हैं। पूर्वकर्म वासनारूपी दैव से उन का अन्तःकरण दूषित है। इस प्रकार याज्ञवल्क्योपनिषत् में याज्ञवल्क्य ने कहा। अतः यह प्रार्थना की जा रही है कि हे प्रभु मेरे श्रौत ज्ञान की रक्षा करो।

एकश्चरेन्महीमेतां निःसङ्गः संयतेन्द्रियः।
आत्मक्रीड आत्मरति-रात्मवान् समदर्शनः॥५३६॥
एकरात्रं वसेद् ग्रामे नगरे पञ्चरात्रकम्।
वर्षाभ्योऽन्यत्र वर्षासु मासांश्च चतुरो वसेत्॥५३७॥
इत्यादिकं तु सकलं शास्त्रं दृष्टफलेरणम्।
मा भूत्कामादिरित्येवं यमिनामोमुपासिनाम्॥५३८॥

न त्वपूर्वविधिर्ह्यत्र न वा नियमकृद्विधिः।
एतत्समर्थनं चैव विस्पष्टं वचनान्तरे॥५३९॥
द्विरात्रं न वसेद् ग्रामे भिक्षुर्यदि वसेत्तदा।
रागादयः प्रसज्येरंस्तेनासौ नारकी भवेत्॥५४०॥
तस्माच्छ्रुतं मे गोपाये-त्यत्रैते नियमा अपि।
सह प्रार्थनया पाल्या भवन्ति यतिनामिति॥५४१॥

ॐकार जप मुख्यतया संन्यासियों के लिये ही है। श्रुतं मे गोपाय इस प्रार्थना के साथ 'एकश्चरेन्महीमेताम्' इत्यादि नियमों का भी पालन करना चाहिये। अकेला विचरण करे, ग्राम में एक ही रात रहे इत्यादि विधि दृष्ट फल है। यह न अपूर्वविधि है और न नियमविधि है। यह 'द्विरात्रं न वसेत्'-'रागादयः प्रसज्येरन्' इस परिणाम कथन से स्पष्ट है। इसलिये श्रुतरक्षणार्थ कामादि परित्याग तथा तदर्थ विचरण एकरात्र प्रवास मात्रादि नियम पालन करना यहां अभिप्रेत है।

ननु संस्कारनाशोऽपि भवत्यन्ते प्रबोधतः।
भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिरिति हि श्रुतिः॥५४२॥
तत्रान्तश्चरमावस्था पूर्णसाक्षात्कृतौ भवेत्।
पूर्णसाक्षात्कृतिश्चैव न रागादिमतो भवेत्॥५४३॥

पू. - ज्ञान से ही संस्कारनाश भी होगा। भूयश्चान्ते विश्वमाया निवृत्तिः ऐसी श्रुति। विश्वमाया से मोह, संस्कारादि सभी मायान्तर्गत विवक्षित है। इसका उत्तर है-अन्ते का अर्थ है चरमावस्था में। चरमावस्था पूर्ण साक्षात्कार होने पर ही आयेगी। किन्तु रागद्वेषादि हो तो पूर्ण साक्षात्कार ही नहीं होगा।

ज्ञानाभ्यासेन रागादिः शैथिल्यं याति सत्कृतेः।
ततश्च ज्ञाननैर्मल्यं क्रमेणान्योन्यसंश्रयात्॥५४४॥
परमोत्कर्षसम्प्राप्तज्ञानमन्त इतीरितम्।
विश्वमायानिवृत्तिश्च ततस्तच्चोदितं स्मृतौ॥५४५॥
नित्यनैमित्तिकैरेव कुर्वाणो दुरितक्षयम्।
ज्ञानं च विमलीकुर्वन्नभ्यासेन च पाचयेत्॥५४६॥

अभ्यासात्पक्वविज्ञानः कैवल्यं लभते नरः।
नित्याद्याश्रमकर्माणि जपध्यानादिकं यतः॥५४७॥

ज्ञानाभ्यास करते रहेंगे तो कामक्रोधादि शिथिल होते जायेंगे। सत्कृति-सत्कर्म आश्रम कर्म भी उस में हेतु है। उससे ज्ञान निर्मल होता जायेगा। इस प्रकार क्रमिक अन्योन्य सहकार से ज्ञान परम उत्कर्ष को प्रास होगा। यही श्रुति-'भूयश्चान्ते' यहां अन्ते का अर्थ है उससे विश्वमाया रागद्वेषादि सहित समस्त माया की निवृत्ति होगी। यही व्यासजी का भी कहना है। नित्यनैमित्तिकैः इत्यादि। संन्यासियों का भी नित्य नैमित्तिक प्रणव जप गुरुवन्दना वेदान्त चिन्तनादि है। उससे ज्ञान निर्मल होता जायेगा। उस अभ्यास से परिपक्व ज्ञान होगा और कैवल्य प्रास होगा।

भगवत्प्रार्थनाप्यत्र कारणं भवतीत्यतः।
उक्तं 'श्रुतं मे गोपाये' त्येवं श्रुत्यापि सादरम्॥५४८॥

नित्यादि के साथ यह भगवत्प्रार्थना भी कारण है यही श्रुत मे गोपाय का संकेत है।

मननादिषु संयोज्य धूत्वाऽसंभावनादिकम्।
गोपाय मे श्रुतं ज्ञानमित्यपि व्याचचक्षिरे॥५४९॥

मुझे मननादि में लगाकर असंभावनादि निवृत्त कर श्रुत ज्ञान की रक्षा करो यह भी व्याख्या है।

अन्तकाले समायाते नानारोगादिभिर्नराः।
विस्मरन्ति श्रुतं सर्वं तद्गोपायेति चेतरे॥५५०॥

औरों की व्याख्या में-मरण समय में रोगादि पीडा से लोग सब भूल जाते हैं किन्तु हे परमात्मा मेरा श्रुत ज्ञान नष्ट न हो, उसकी रक्षा करो।

इदं तु बोध्यमोंकारो ह्यत्रोपास्य इतीरितम्।
ॐकारप्रत्ययावृत्तिरतः स्याद् भाष्यकृन्मतम्॥५५१॥
ॐ प्रत्ययावृत्तिरेव मानसस्तज्जपोऽपि च।
प्रणवोपासना तस्माज्जपरूपापि सिध्यति॥५५२॥

बाह्ये जपेऽपि भवति मानसो जप एष तु।
यो यत्क्रतुः स तत्कर्म करोतीति श्रुतत्वतः ॥ ५५३ ॥
अत्यभ्यासदशायामप्यतिसूक्ष्मा प्रवर्तते।
मानसी वृत्तिरिति तज्जपोऽप्यधिकशक्तिदः ॥ ५५४ ॥
तदर्थभावनं चेत्स्यात्ततोऽप्यधिकशक्तियुक्।
शक्यं कर्त्तुं च युगपन्मनसोऽवयवित्त्वतः ॥ ५५५ ॥
क्षणानामतिसूक्ष्मत्वात् क्षणभेदेऽपि न क्षतिः।
इति व्याचक्षते धीराः परे वेदान्तवेदिनः ॥ ५५६ ॥

'ॐकारोह्यत्रोपास्यः' ऐसा भाष्य में कहा है। उपासना प्रत्ययावृत्ति को कहते हैं। ॐकार प्रत्ययावृत्ति ही तो ॐकार मानस जप है। बाह्य जप में भी मानस जप रहता है। यो यत्क्रतुः स तत्कर्म करोति ऐसी श्रुति है। क्रतु का यहां मानस वृत्तिरूप संकल्प अर्थ है। ज्यादा अभ्यास होने पर खाली होठ से होगा मन से नहीं। नहीं होता ऐसी बात नहीं है। वहां भी अति सूक्ष्म मनोवृत्ति रहेगी ही। तब बाह्य जप फल भी मिलेगा। तदर्थ भावना भी करेंगे तो शक्ति आधिक्य ही होगा। एक ही काल में बाह्य जप, मानस जप और अर्थ चिन्तन तीनों संभव है। क्योंकि मन सावयव है। जो नैयायिक सावयव नहीं मानते वे भी मन को अतिवेगवान मानते ही हैं अतः तीनों एक साथ में जैसा संभव है। इस प्रकार यहां बहुत सारे वेदान्तवेत्ता व्याख्या करते हैं।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

शान्त्यर्थपाठावसरे त्रिःशान्तिःपठ्यते परम्।
तद्व्याख्यातं पुरा यद्धि त्रितापादिनिवर्तनम् ॥ ५५७ ॥

यश्छन्दसां इत्यादि तैत्तिरीयोपनिषत् के अन्तर्गत है। उपनिषत् पाठ काल में त्रिशान्तिपाठ नहीं होता। शान्त्यर्थ पाठ करते हैं तो त्रिशान्ति पढी जाती है। उसकी व्याख्या पहले आ गयी है। यह पाठ त्रितापादिशमनार्थ है।

इति श्रीकाशिकानन्दयतिना कृतिना कृतम्।
तृतीयं कृष्णयजुषः शान्तिव्याख्यानवार्त्तिकम् ॥ ५५८ ॥



ॐ

ॐ अहं वृक्षस्य रेरिवा। कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव।
ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि।
द्रविणँ सवर्चसम्। सुमेधा अमृतोऽक्षितः
इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम्॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

जपार्थानि यजूंष्येतान्यहं वृक्षस्य रेरिवा।
इत्यादीनि मनःशुद्धिकारीणि जपमात्रतः॥ १॥

अहं वृक्षस्य रेरिवा इत्यादि यजुर्गण जपार्थ है। जपमात्र से मनः शुद्धि होगी।

यद्यप्यर्थपरिज्ञानपूर्वकः पाठ इष्यते।
तथापि नोपास्त्यर्थत्वं श्रुतिलिङ्गाद्यभावतः॥ २॥

यद्यपि जप अर्थज्ञानपूर्वक ही इष्ट है फिर भी उपासनार्थ नहीं है। क्योंकि लिङ्गादि श्रुति नहीं है, विनियोजक लिङ्गादि भी नहीं है।

न चोपास्तिप्रकरणा - दुपास्त्यर्थत्वमिष्यताम्।
ब्रह्मविद्याप्रकरणं महाप्रकरणात्मकम्॥ ३॥

उपासना प्रकरण होने से उपासनाङ्ग क्यों नहीं। क्योंकि यह ब्रह्मविद्या महाप्रकरण है।

शीक्षावल्ली ननूपास्ति-विधिप्रकरणं स्थितम्।
मैवं नाना प्रकरणं यत्रेमानि स्फुटं पृथक्॥ ४॥

यह शीक्षावल्ली उपासना प्रकरण है। नहीं। नाना प्रकरण इसमें हैं।

वल्ल्यामस्यां द्वादशानु-वाकास्तेषु-यथाक्रमम्।
देवतादिप्रार्थनाऽऽद्ये वर्णादेः शिक्षणं ततः॥ ५॥
तृतीये संहितोपास्तिर्जपादिस्तुर्य ओंविधौ।
महोव्याहृतितो ब्रह्मो-पास्तिः पञ्चमषष्ठयोः॥ ६॥
पाङ्क्तोपास्तिः सप्तमे स्यादोंकारोपास्तिरष्टमे।
ऋतसत्यादिकार्यत्वं नवमे दशमस्त्वयम्॥ ७॥
शिष्यादेशोपदेशौ चै-कादशे प्रार्थनान्तिमे।

शिक्षावल्ली में बारह अनुवाक हैं। मित्रवरुणादि प्रार्थना प्रथम में, वर्णस्वरादिशिक्षण द्वितीय में, तृतीय में संहितोपासना, चतुर्थ में ॐकारोपासना में जप होम, पांचवें और छठे में मह व्याहृति में ब्रह्मोपासना, सप्तम में पाङ्क्तब्रह्मोपासना, ॐकार ब्रह्मोपासना आठवें में ऋतसत्यस्वाध्यायप्रवचनादि कर्तव्यता नवम में, दशम यही अहंवृक्षस्य यह जपविधि है। शिष्य के लिये कर्तव्य आदेश उपदेश ग्यारहवे में, बारहवें में मित्रवरुणादि प्रार्थना है।

नैषां परस्पराकाङ्क्षा ब्रह्मविद्यार्थतस्त्विमे।
चित्तशुद्ध्यादये तस्मात्स्वोक्तकामार्थतोऽपि वा॥८॥

इन अनुवाकों में उक्त विषयों का परस्पराकाङ्क्षादि नहीं है। ये ब्रह्मविद्यार्थ चित्तशुद्धि आदि के लिये है। निजोक्त काम्यार्थ भी हो सकता है।

प्रमाणमुभयाकाङ्क्षासत्त्वे प्रकरणं भवेत्।
न त्वेकवल्लीपाठादिमात्रेणेत्यवधीयताम्॥९॥

प्रकरण प्रमाण का लक्षण ही है-उभयाकाङ्क्षा प्रकरणम्। एकाध्याय में पाठमात्र प्रकरण प्रमाण नहीं है। यह मीमांसा में बताया है।

तस्मात्सार्थकपाठेन चित्तशुद्ध्यादिकं फलम्।
सार्थकत्वं च वक्तव्यमन्यनिन्दाश्रुतीक्षणात्॥१०॥

इसलिये अर्थज्ञान सहित पाठ से चित्तशुद्धि आदि इनके जप का फल है। सार्थक कहना आवश्यक है, अन्य की निन्दा है। श्रुति में ही बताया है।

भारहारो ह्ययं स्थाणु-रधीत्यार्थं न वेद यः।
अर्थज्ञः सकलं भद्रमश्नुते नाकमेत्यसौ॥११॥

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं
न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते
नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा॥१२॥

ऐसे अर्थज्ञानरहित की निन्दा आदि की गयी है। वह केवल बोझ

ढोनेवाला है। ठूंठा है जो वेदों को पढता है किन्तु अर्थ नहीं जानता। अर्थज्ञ कल्याण का भागी होता है।

आत्मनः कृतकृत्यत्व-ख्यापनार्थमिदं वचः।
ब्रूतेऽभवं मनुरिति वामदेवो यथाब्रवीत्॥ १३॥

ब्रह्मबोध से अपनी कृतकृत्यता ख्यापित करने के लिये वामदेव के समान यह वचन बोलते हैं।

श्रुतं साक्षात्कृतं ज्ञानं भवेद् दृढतरं ततः।
धन्योऽहमस्मि धन्योऽहमिति श्रुतिषु वीक्षणात्॥ १४॥

श्रवणोत्तर साक्षात्कृत ज्ञान इससे दृढतर होता है। धन्योऽहं धन्योहमित्यादि श्रुतियों में कहा है।

शान्त्यर्थं वास्य पाठः स्याद् वेदानुवचनोक्तितः।
प्रसिद्धं वेदवचन - मन्वैतद्ववचनं सताम्॥ १५॥

अथवा शान्त्यर्थ अहं वृक्षस्य इत्यादि का पठन किया जाता है। इसीलिये इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनं कहा है। वेदपठन के बाद इसका पठन शान्त्यर्थ प्रसिद्ध है।

ननूपसर्गशान्त्यर्थं, शान्तिः सद्भिः प्रपठ्यते।
जाते तु वेदने कस्मात् पठ्यतां शान्तिकृद्वचः॥ १६॥
वेदो वेदनमित्येवं भाष्यकृद्भिश्च भाषितम्।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते किल॥ १७॥

पू. - वेद का वेदन अर्थ भाष्य में बताया। ज्ञानाग्निः सर्व कर्म को भस्म करेगी तो उपसर्ग क्या होगा?

मैवं श्रुत्वापि कश्चिन्न वेदैनमिति हि स्मृतिः।
आहोपसर्गं विदितेऽप्यर्थे साक्षात्कृतिं प्रति॥ १८॥

उ. - श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् यह स्मृति विदित में भी साक्षात्कार विरोधी उपसर्ग बताया।

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः।
विज्ञानोत्तरमप्येव प्रज्ञाकरणमाह हि॥ १९॥

अहं वृक्षस्य रेरिवेत्यादिकावर्तनं तु तत्।
प्रज्ञाकरणमित्याहुः प्रकृष्टज्ञानकारणम्॥ २०॥
तच्चिन्तनं तत्कथन - मन्योन्यं तत्प्रबोधनम्।
ब्रह्माभ्यासं विदुः प्राज्ञाः प्रज्ञाकरणमेव तत्॥ २१॥

विज्ञान के बाद प्रज्ञा करने श्रुति बता रही है। अहं वृक्षस्य इत्यादि प्रज्ञाकरण है। ब्रह्माभ्यास भी तच्चिन्तनादि प्रज्ञा-प्रकृष्ट ज्ञान करना ही है।

शान्त्यर्थपठने शिष्टैः त्रिः शान्तिः पठ्यतेऽन्ततः।
तत्प्रामाण्येन तादर्थ्ये सोऽन्यत्रापि विधीयताम्॥ २२॥

शान्ति के लिये पढते समय अन्त में तीन बार शान्ति बोलते हैं। इस में शिष्टाचार प्रमाण है। यश्छन्दसां इत्यादि में भी वैसी ही बात है। वेदपाठ में वैसा शिष्टाचार नहीं है। यह देख लिया।

वृक्षस्येत्यस्य संसार - वृक्षस्येत्यर्थ इष्यताम्।
ऊर्ध्वमूलो ह्यवाक्शाख एषोऽश्वत्थ इति श्रुतेः॥ २३॥

वृक्षस्य का संसार वृक्ष का अर्थ किया जाये। कठोपनिषत् में ऊर्ध्वमूलः, एषोश्वत्थ ऐसा बतांया है।

तस्य व्याख्या कृता सम्यग् विस्तरेण कठश्रुतौ।
संक्षेपेण प्रदर्श्यन्ते कारिकास्तत्र गुम्फिताः॥ २४॥

उसकी विस्तृत व्याख्या कठ श्रुति में की है। वहां स्वग्रथित कारिकायें संक्षेपतः यहां कहते हैं।

यस्य मूलं भवेदूर्ध्वं विष्णोर्यत् परमं पदम्।
सोऽव्यक्तादिस्थावरान्तो वृक्षो जन्माद्यनर्थभृत्॥ २५॥

उसका मूल ऊपर है 'तद्विष्णोः परं पदं' वह वैष्णव परम पद है। अव्यक्तादि स्थावरान्त वह वृक्ष जन्ममरणादि फलवाला है।

प्रतिक्षणान्यथाभावो गन्धर्वनगरोपमः।
कदलीस्तम्भनिःसारो नानामतविकल्पितः॥ २६॥

प्रतिक्षण इसकी शकल बदलती रहती है। कहीं सुंदर कभी कुरूप इत्यादि। गन्धर्वनगर के समान आकर्षणकारी किन्तु निस्तत्त्व है। केले के

खंभे के समान छिलके छिलके हैं। कोई इसे पीपल कहे कोई बरगद और कोई गूलर नानामत विकल्पित है।

वेदान्तवेद्यसन्मूलोऽविद्याकामादिबीजगः।
ज्ञानक्रियाशक्तिरूपाऽपरब्रह्मादिसाङ्कुरः ॥ २७॥

इसका मूल (ऊर्ध्व) वेदान्त वेद्य सत्तत्त्व है। अविद्या काम कर्म इस का बीज है। ज्ञानशक्ति क्रियाशक्ति प्रधान अपरब्रह्म आदि इसका अङ्कुर है।

प्राणिलिङ्गोच्छ्रयस्तृष्ण-जलसेकावदर्पितः।
शब्दस्पर्शादिविषयप्रवालः शास्त्रधीदलः ॥ २८॥

लिङ्ग शरीर अंकुरोत्तर स्कन्धादिरूप है। तृष्णारूपी जल से खिला हुआ है। शब्दस्पर्शादि विषय कोंपल है, शास्त्रज्ञान हरे पत्ते हैं।

यज्ञादिकर्मकुसुमः सुखदुःखरसोर्जितः।
स्वर्गादिफलकस्तृष्णा सेकसंरूढमूलकः ॥ २९॥

विहित एवं निषिद्ध कर्म फूल है। सुख दुःख रस से भरा है। स्वर्ग नरकादि फलवाला है। तृष्णा के सिंचन से जमी हुई जडवाला है।

सत्यलोकादिनीडश्च दुःखाद्युत्थमहारवः।
ब्रह्मात्मबोधसुदृढा - ऽसङ्गशस्त्रच्छिदेलिमः ॥ ३०॥

सत्यलोकादि उस पर बने घोंसले हैं। दुःखादि रोदन ही पक्षिराव है। ब्रह्मात्मबोधजन्य सुदृढ शस्त्र से काटा जाने योग्य है।

रेरिवा नामवृक्षस्य हिंसकश्छेदकोऽस्म्यहम्।
रिणोतेर्यङ्लुकि द्वित्वे क्वनिप्येष हि रेरिवा ॥ ३१॥

रेरिवा का अर्थ है हिंसक-छेदक। मैं इस संसार वृक्ष को काटनेवाला होऊं। रि धातु से यङ्लुक् द्वित्व अभ्यास गुण करने पर रेरि होगा। क्वनिप् का वन् रहेगा। दीर्घ नकारलोप से रेरिवा होगा।

वृश्च्यमानो भवेद्वृक्ष ओव्रश्चू छेदनार्थकः।
छेदनद्योतनार्थं च वृक्ष इत्युदितं श्रुतौ ॥ ३२॥

ओव्रश्चू छेदने धातु से वृक्ष शब्द बनता है। छेदनीय को द्योतित करने के लिये ही श्रुति में अश्वत्थ छोडकर वृक्ष शब्द लिया।

एतद् ब्रह्मवनं चैवेत्यभिधायाथ भारते।
एतच्छित्त्वा च भित्त्वा चेत्याह व्यासो महामुनिः॥ ३३॥

महाभारत में व्यासजी ने संसारवृक्ष को ब्रह्मवन कहा, फिर कहा इसे छित्वा च भित्त्वाच अर्थात् इसे छिन्नभिन्नकार।

यङन्तस्य प्रयोगेण लभ्ये छेदनभेदने।
उच्छेदनं चातिशये सवासननिबर्हणम्॥ ३४॥

रेरिवा यह यङन्त का प्रयोग होने से छेदनभेदन अर्थ हुआ। अतिशय अर्थात् भृश अर्थ लेने पर उच्छेदन अर्थ होगा। वासना सहित समास करना उच्छेदन है।

एतच्छित्त्वा च भित्त्वा च ज्ञानेन परमासिना।
इत्यभ्यधायि व्यासेन ज्ञानोर्ध्वं छेदनादिकम्॥ ३५॥
ज्ञानार्थी प्रकृते त्वेतन्मन्त्रजापी न संशयः।
स कथं सिद्धवत्कृत्य रेरिवेति वदिष्यति॥ ३६॥

पूर्वपक्षः- व्यासजी ने इस संसारवृक्ष का ज्ञानरूपी तलवार से छेदनभेदन बताया। प्रकृत में इस मन्त्र को जपनेवाला ज्ञानार्थी है न कि ज्ञानी। वह अपने आपको रेरिवा-छेत्ताभेत्ता कैसे कहेगा? यह सिद्ध कथन है।

सत्यं भविष्यद्वृत्त्येदमुक्तमित्यवसीयताम्।
योज्यतां वाक्यशेषो वा भवेयमिति संगतिः॥ ३७॥

उत्तरः- बात सत्य है। भविष्यद् वृत्ति से रेरिवा कहा। भवेयं ऐसा वाक्यशेष जोडने पर भी संगति है। मैं वृक्षच्छेदक बनूं ऐसी प्रार्थना है।

रिणोतिश्छान्दसो धातु-स्तं विद्यार्थी कथं वदेत्।
तैत्तिरीयाद्युपनिषत् छन्द एवेति युज्यते॥ ३८॥
लौकिकाध्याहृतिस्तत्र भवेयमिति तत् कथम्।
गम्यमानार्थ एवायं विद्यार्थिवचनत्वतः॥ ३९॥

रि धातु से रेरिवा हुआ। रि धातु छान्दस है। विद्यार्थी कैसे प्रयोग करेगा? विद्यार्थी के लिये यह उपनिषत् कह रही है। उपनिषत् तो छन्द

(वेद) है ही। किन्तु उस में भवेयं यह लौकिकाध्याहार नहीं होगा। विद्यार्थी वचन होने से वह गम्यमान अर्थ है।

ननु स्वमृतमस्मीति ततोऽस्मीत्यवकृष्यते।
इति चेद् भिन्नपुरुषव्यवायान्नानुषज्यते॥४०॥

वाजिनीव स्वमृतमस्मि से अस्मि का आकर्षण होने से भवेयं वाक्यशेष नहीं होगा। नहीं। 'वाक्यान्नानुषज्यते' ऐसा सूत्र है। कीर्त्तिः पृष्ठं गिरेरिव भवतु ऐसा मध्य में भिन्न पुरुष व्यवधान आता है अतः अनुषङ्ग नहीं हो सकेगा।

भाष्ये प्रेरयितेत्यर्थो रेरिवेत्यस्य दर्शितः।
तौदादिकस्य रियतेर्गत्यर्थस्य त्वयं भवेत्॥४१॥

भाष्य में रेरिवा का प्रेरयिता अर्थ किया है। गत्यर्थक रि धातु का वह रूप है।

ननु गत्यर्थकाद्धातोः कौटिल्यार्थे यङो विधिः।
तन्नान्तर्भावितण्यर्थो भाष्ये प्रेरयितेत्ययम्॥४२॥

पू. - गत्यर्थक धातु से यङ् कौटिल्यार्थ में होता है। सही है। यहां अन्तर्भावितण्यर्थार्थ होने से दोष नहीं है।

अनेकार्थत्वतो वा स्याद्धातूनां प्रेरकार्थता।
गत्यर्थकोऽपीरधातुर्यथैव प्रेरणां वदेत्॥४३॥

धातुओं की अनेकार्थता मान्य होने से रि धातु का प्रेरक अर्थ हो जायेगा। जैसे ईर गतौ याचने च के अनुसार ईर धातु गत्यर्थक होने पर भी उसी से प्रेरक शब्द बना।

अन्तर्याम्यात्मना तिष्ठन् पृथ्व्यादौ यमयामि तान्।
श्रुतावेष त आत्मेति तस्यात्मत्वनिरूपणात्॥४४॥

मैं कैसे संसार का प्रेरक हूं? श्रुति में बताया है। पृथ्वी आदि में अन्तर्यामी रूप से रहकर मैं सब का नियमन करता हूं। इस बात को कहकर श्रुति ने आगे कहा एष त आत्मा। यही तुम्हारा आत्मा है।

पृथ्व्यबग्न्यन्तरिक्षद्यु - वागादित्यदिगिन्दुषु।
खे तमस्तेजसोस्तिष्ठन् सर्वभूतेषु चान्तरः॥४५॥
प्राणवाङ्नयनश्रोत्र - मनस्त्वग्ज्ञानचेतसि।
अन्तस्तिष्ठन् यमयति सोऽन्तर्यामी श्रुतौ श्रुतः॥४६॥

पृथ्वी आदि कौन कौन? पृथ्वी, जल, तेज, अन्तरिक्ष, द्यौ, वाणी, आदित्य, दिशा, चन्द्र, आकाश, तम, तेज तथा-प्राण, वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन, त्वक्, ज्ञान, चित्त इन सब के अंदर रहकर नियमन करनेवाला अन्तर्यामी बताया है।

नन्वन्तर्याम्यहमिति ज्ञानं यदि तु विद्यते।
जपः किमर्थो? नो विद्याप्राप्त्यै, प्राप्तैव सा यतः॥४७॥

मैं अन्तर्यामी हूं जान लिया तो किस लिये जप है? विद्या तो प्राप्त हो गयी।

मैवमापातबोधस्तु स्वाध्यायाध्ययनाद् भवेत्।
यथा सर्वेऽप्यहं ब्रह्मेत्याहुर्वेदान्तपाठिनः॥४८॥

नहीं। यह तो आपातबोध से भी होगा। जैसे वेदान्त पढनेवाले अहं ब्रह्मास्मि कहते हैं।

न संशयोऽप्रमाधीर्वा तत्र श्रद्दधतां सताम्।
विद्यार्थ्यपि वदेत्तस्मादहं वृक्षस्व रेरिवा॥४९॥

श्रद्धा होने से संशय या अप्रामाण्य बुद्धि नहीं होती। वेदान्त विद्यार्थी भी अहं ब्रह्मास्मि कहते हैं। वैसे अहं वृक्षस्य रेरिवा कह सकते हैं।

अध्येतृप्रातिनिध्येन त्रिशङ्कोर्वचनात्मना।
श्रुतिः सार्थानुसन्धानजपार्था प्रावृतद्धिये॥५०॥

अध्येता का प्रतिनिधित्व करती हुई श्रुति त्रिशङ्कु वचन के रूप में अर्थानुसन्धानपूर्वक जपार्थ तत्त्वज्ञानोद्भावना को लक्ष्य रखकर प्रवृत्त हुई है।

केचित्तु मन्त्रदृगहं-पदार्थ इति मन्वते।
तन्न मन्त्रदृशः पूर्वमर्थाभावप्रसङ्गतः॥५१॥

कुछ लोग मन्त्र द्रष्टा को अहं पदार्थ मानते हैं। वह उचित नहीं है। वैसा हो तो मन्त्र द्रष्टा पुरुष से पूर्व मन्त्र का अर्थ ही नहीं होगा, अर्थज्ञान भी नहीं होगा।

अनादिनिधनो वेदो न तु मन्त्रदृशस्तथा।
स्युराधिकारिका याव-दधिकारं न सर्वदा॥५२॥

वेद अनादि अनन्त है। मन्त्र द्रष्टा अनादि नहीं अनन्त भी नहीं। आधिकारिक पुरुष अनाद्यनन्त नहीं। 'यावदधिकारमवस्थितिः' सूत्रानुसार अधिकारकालमात्र में वे रहते है।

न च सर्वज्ञवेदेन भाव्यर्थः प्रोच्यतामिति।
द्रष्टारः पृथगेव स्युः कल्पभेदेन भूरिशः॥५३॥

यह कहें कि वेद सर्वज्ञ है भविष्यद् द्रष्टा को भी बोल सकता है। ठीक है। परंतु कल्पभेद से हजारों द्रष्टा भी तो हुए होंगे। किस द्रष्टा का यहां उल्लेख है यह कैसे मालूम पडे?

न च मन्वन्तरेषु स्युर्मनवो मनवो हि ते।
तथैव मन्त्रद्रष्टारो भवन्तीत्यपि सांप्रतम्॥५४॥
नामैक्यान्न पुमैक्यं स्यात् सावर्णिर्भविता मनुः।
वैवस्वते यः सुरथो दुर्ज्ञानं सविशेषणम्॥५५॥

यहां कहें कि अनादिकाल से मन्वन्तर चल रहे हैं मनु ही सदा हुए। वैसे मन्त्र द्रष्टा वसिष्ठादि ऋषि भी अनादिनामा हैं। नहीं। नाम एक होने पर भी व्यक्ति भिन्न भिन्न हैं। जैसे वैवस्वतमन्वन्तर में विवस्वत्पुत्र मनु है। इस समय का सुरथ राजा अगले मन्वन्तर में सावर्णि मनु होंगे। वैवस्वत मनु सावर्णि मनु आदि पृथक् पृथक् हैं।

कल्पभेदेऽपि जात्यैक्यात्तद्बोध इति चेन्न तत्।
न हि ब्रवीति यज्जाति र्वदति व्यक्तिरेव यत्॥५६॥

कल्पभेद होने पर भी मनुत्व वसिष्ठत्व त्रिशङ्कुत्वादि जाति एक ही है। उसी का अहं पद से बोध होगा। नहीं। जाति बोलती नहीं व्यक्ति ही बोलता है।

तत्तावच्छेदकेनाव - च्छिन्नेऽस्मत्पदशक्तता।
स्वातन्त्र्येणैव वक्तृत्वं तत्रापि च विशेष्यते॥५७॥

वक्तृतावच्छेदक या उच्चारयितृतावच्छेदक धर्म से अवच्छिन्न में अस्मत्पद (अहं पद) की शक्ति है। उस में भी स्वातन्त्र्येण वक्ता होना चाहिये। वसिष्ठ त्रिशंकु आदि स्वतन्त्र उच्चारयिता नहीं है। अनादि सिद्ध का उच्चारयिता है अन्यथा 'तदात्मानं सृजाम्यहं' बोलनेवाला अवतार लेता है अर्थ निकलेगा। त्रिशंकु का वेद के पीछे अनुवचन है। वसिष्ठादि भी स्वतन्त्र वक्ता नहीं है। तपः स्फुरित वेद के अनुवक्ता है।

कृष्ण आह स्वतन्त्रः सन् तदात्मानं सृजाम्यहम्।
न तदा तत्प्रवक्ताऽन्यः कोऽपि सांप्रतिकोऽर्थभाक्॥५८॥

श्रीकृष्ण ने तदात्मानं सृजाम्यहं ऐसा स्वातन्त्र्येण कहा वे ही अहं पदार्थ है। न कि आजकल कोई उस वाक्य को कहें तो वही अवतारी हो जायेगा।

यत्रोच्चारयिता नास्ति स्वतन्त्रः कोऽपि तत्र तु।
उच्चारयितृमात्रं स्यादहमर्थस्तदाशयः॥५९॥

जहां कोई स्वतन्त्र उच्चारयिता नहीं वहां सभी उच्चारयिता अगत्या अहं पदार्थ होगा। यदि उस में वाक्यार्थ आशय हो विद्यमान हो (अशेरत इत्याशयः)।

वेदाहमेतं पुरुषमित्यादौ न तदाशयः।
सर्वो वक्तेति सोंऽशस्तु जपैकार्थमपुम्विदः॥६०॥
यद्वा परोक्षरूपार्थमादायैवास्तु सार्थकः।
अज्ञानां तु जपार्थत्वं सर्ववेदस्य सम्मतम्॥६१॥

'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं' इत्यादि में यह मन्त्र बोलनेवालों में जो परम पुरुष को नहीं जानते उसके लिये वह अंश जपार्थ ही होगा। अथवा परोक्ष ज्ञान मात्र को लेकर वेदाहं बोलना संभव होने से वैसा अर्थ माना जा सकता है। अज्ञानियों के लिये तो पूरा ही वेद जपार्थ माना गया है। आजकल प्रायः वेदपाठी अर्थ नहीं जानते फिर भी वेद बोलते हैं तो वह

व्यर्थ नहीं है।

यत्तु मीमांसका अर्थ-बोधमात्रार्थतां जगुः।
वेदाधीतेर्नैव तत्सत् वेदलोपप्रसङ्गतः॥६२॥

मीमांसक कहते हैं-दृष्टफल अर्थज्ञानार्थ ही वेदाध्ययन है। इस मत में आज वेदों का प्रायः लोप ही हो जाता। वेदार्थ जाननेवाले आज दुर्लभ हैं। अर्थज्ञान नहीं हुआ तो वेद पढना व्यर्थ है तो कौन वेद पढता।

ईशावास्यादिकान् मन्त्राञ्जपार्थांस्तेऽभिमेनिरे।
अर्थशून्यत्वतः किन्तु किमर्थं तु जपो वद॥६३॥
अत्यन्तमर्थशून्यांश्च हुंफडादीनमी मनून्।
जपार्थानाहुरेषां च जपः पुण्यफलो ध्रुवम्॥६४॥

वेदान्ताभिमतार्थ मीमांसकों को स्वीकार्य न होने से ईशावास्यादि मन्त्रों को वे केवल जपार्थ मानते हैं, पर जप किसलिये कहो। हुंफट् आदि अत्यन्त अर्थशून्य है। उन्हें भी जपार्थ बताया।

प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते।
इत्याहुर्भट्टपादाश्च तस्मात् पुण्यं फलं ध्रुवम्॥६५॥

मीमांसक शिरोमणि भट्टपाद कहते हैं बिना प्रयोजन मूढ भी प्रवृत्त नहीं होता अतः पाठ का पुण्यफल तो सर्वानुमत है।

न च स्यात्कर्मपौष्कल्यं वीर्यवत्तरतोत वा।
फलोद्भवान्तं तद्वाच्यं तच्च पुण्यमदर्शनात्॥६६॥
अनर्थकेनापि पुण्यं यदा स्वीक्रियते तदा।
सार्थकेनापरद्धं किं येन पुण्यं न जायते॥६७॥

कर्म में पुष्कलता या वीर्यवत्तरता हुंफट् आदि के एवं ईशावास्यादि के जप का फल कहेंगे तो वह फल (स्वर्गादि) प्राप्ति पर्यन्त रहनेवाला मानना होगा। जब अनर्थक हुं फडादि जप का भी पुण्य फल है तो सार्थक मन्त्र जप ने क्या बिगाडा जिससे उससे पुण्य नहीं होता।

न चार्थसत्त्वे तज्ज्ञानमन्यत्र सुकृतं फलम्।
तन्नियामकवैधुर्याद् वेदत्वं हि प्रयोजकम्॥६८॥

यह कहें कि जहां अर्थ है वहां अर्थ ज्ञान फल है, पुण्य नहीं। जहां अर्थ नहीं वहां अगत्या पाठादि का पुण्य फल है। नहीं। इसका कोई नियामक नहीं है। पुण्य में वेदत्व ही प्रयोजक है।

न चार्थहीनवेदत्वं तथास्त्वित्यपि सांप्रतम्।
स्पष्टकारणतायां यद्-अवच्छेदकगौरवम्॥ ६९॥

अर्थहीन वेदत्व पुण्य प्रयोजक कहना भी असांप्रत है, अन्याय है। क्योंकि लघु धर्म वेदत्व कारणतावच्छेदक संभव है तो अर्थहीन वेदत्व कारणतावच्छेदक संभव नहीं है।

लघौ धर्मे संभवति नावच्छेदकता गुरौ।
इत्याहुस्तर्ककुशलाः खलु नैयायिका अपि॥७०॥

संभवति लघौ धर्मे गुरोर्नावच्छेदकता ऐसा नैयायिक भी मानते हैं।

कम्बुग्रीवादिमान्नास्ती-त्यभावप्रत्ययोद्भवात्।
स्यादवच्छेदको धर्मो मान्यो गुरुरपीति चेत्॥७१॥
प्रतीयेत तथा लोके - र्घटत्वाद्यनुपस्थितौ।
उपस्थितौ घटत्वं हि स्यादवच्छेदकं स्फुटम्॥७२॥

दीधितिकारने कम्बुग्रीवादिमान्नास्ति प्रतीति के अनुसार गुरुधर्म को भी अवच्छेदक माना। किन्तु घटत्वानुपस्थिति में ही उसमें अवच्छेदकत्व प्रत्यय है। कम्बुग्रीवादिमद्घटत्व अवच्छेदक नहीं ही होगा।

निरर्थकेन पुण्यं चेद् वेदेनोत्पद्यते तदा।
सार्थकेतापराद्धं किं न पुण्यं येन भण्यताम्॥७३॥

निरर्थक वेद के जप से पुण्य होगा तो सार्थक वेदने क्या अपराध किया बोलो।

दृष्टे फले संभवति नादृष्टफलकल्पना।
इति न्यायस्तु भिक्षान्न - प्रभृतावेव युज्यते॥७४॥

संभवति दृष्टफलकत्वेऽदृष्टफलकल्पनाया अन्याय्यत्वादित्यादि न्यायकथन भिक्षान्नादि में ही लागू हो सकता है। 'भिक्षां चरेद् यतिः' यह विधि पुण्यार्थ नहीं है। भूख मिटाना दृष्ट फल। जंगली फल खाकर भी

यति रह सकता है। भूख न हो तो भी भिक्षा लाकर सडायें क्यों? कृष्यादि व्यावृत्ति उससे हो सकती है।

कीर्त्तिः पृष्ठं गिरेरिव

संसारच्छेदनं तावदन्तर्यामित्वमेव वा।
ज्ञानोत्कर्षाद् भवत् प्रोक्तमहं वृक्षस्य रेरिवा॥७५॥
विज्ञानसाधनोपास्ति - संभवामानुषङ्गिकीम्।
कीर्त्तिमाहाधुना मन्त्रः कीर्त्तिः पृष्ठं गिरेरिव॥७६॥

ज्ञानोत्कर्ष से होनेवाले संसार छेदन या अन्तर्यामित्व अहं वृक्षस्य रेरिवा से कहा। अब विज्ञान साधन उपासना से होनेवाली कीर्त्ति को कहते हैं-कीर्त्तिः पृष्ठं गिरेरिव।

गिरेः पृष्ठमिवात्युच्चैर्व्याप्ता कीर्त्तिरुपास्तिभिः।
जानश्रुतेर्यथा सैषा व्याप्यावर्तत रोदसी॥७७॥

जैसे पर्वत का ऊंचा भाग शिखरादि अत्यन्त ऊंचा एवं विशाल होता है वैसे उन्नत विशाल कीर्त्ति हमारी हो। जैसे जानश्रुति की कीर्त्ति आकाश एवं अन्तरीक्ष में व्यास होकर रही।

पश्चाद् भागो भवेत्पृष्ठं कथमत्युन्नतं तु तत्।
पश्य गोवाजिहस्त्यादेः पृष्ठं पृथुलमुन्नतम्॥७८॥

पीठ तो पिछले हिस्से को बोलते हैं वह उन्नत विशाल कैसी। देखो गाय, घोडा, हाथी आदि की पीठ उन्नत एवं विशाल है कि नहीं?

तदुक्तं यो हि वेदैवमन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्।
अन्नान्नादस्वरूपेण स एष प्रतितिष्ठति॥७९॥
प्रजापश्वादिभिर्ब्रह्म - वर्चसेनाप्युपासकः।
महान् भवति कीर्त्या तु विशेषेण महानिति॥८०॥

श्रुति में बताया है-जो अन्न में अन्न प्रतिष्ठित समझता है-उपासना करता है वह अन्न एवं अन्नादरूप से प्रतिष्ठित होता है (जैसे नौकर सेवक और स्वामी परस्पर अन्न भी है अन्नाद भी है (भोजन वेतनादि से सुख

पहुंचाता है अतः मालिक अन्न हुआ। सेवा से मालिक को सुख मिलता है अतः वह अन्नाद इत्यादि) प्रजा पशु एवं ब्रह्मवर्चस से उपासक महान होता है। विशेषरूप से कीर्त्ति से महान होता है।

व्यजानाद् भृगुरानन्दो ब्रह्मेत्युक्त्वा जगाद च।
भार्गवी वारुणी विद्या परे व्योम्नि प्रतिष्ठिता॥ ८१॥
यश्चान्योऽप्येव वेदासौ ब्रह्मणि प्रतितिष्ठति।
अन्नवानपि चान्नादो महान् पश्वादिभिस्तथा।
कीर्त्त्या चैव विशेषेण महान् भवति पूरुषः॥ ८२॥
दृष्टं फलमिदं प्राह भाष्यकारो विजानतः।
अन्नान्नादात्मविदुषो दृष्टं वाऽदृष्टमेव वा॥ ८३॥

आनन्दवल्ली में आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् कहकर उसे परमव्योम ब्रह्म में प्रतिष्ठित भी बताकर आगे कहा जो दूसरा भी उसे जाने वह ब्रह्म में प्रतिष्ठित होता है। ब्रह्मस्वरूप होता है। वह अन्नवान् होगा अन्नाद होगा। प्रजा, पशु एवं ब्रह्मवर्चस से महान होगा। विशेषतया कीर्त्ति से महान् होगा। भाष्यकार ने ज्ञानी के लिये इस फल को दृष्ट बताया। अन्नान्नादोपासक दृष्ट या अदृष्ट दोनों सभव है।

द्युलोकेन समं ज्योतिरुपास्त्यादिवितायिनः।
जानश्रुतेरभूदुच्चैर्दुर्लङ्घ्यं हंसगामिनाम्॥ ८४॥
कीर्त्तिश्च पर्वताकारा ज्योतीरूपा क्रमेद्दिवम्।
कीर्त्तिः स्वर्गफलामाहुरित्येवं स्मृतिदर्शनात्॥ ८५॥

उपासनावालों एवं विज्ञानवालों की द्युलोक के समान ज्योति (तेज) होती है। जानश्रुति का तेज हंसों के लिये दुर्लङ्घ्य था। पर्वताकार विशाल कीर्त्ति भी स्वर्ग पर आरूढ करानेवाली है। ज्योतिस्वरूप है। इसलिये स्मृतियों में भी बताया है कि कीर्त्ति स्वर्गफलदायिनी होती है।

कृत संशब्दनेधातोः कीर्त्तिः कीर्त्त्यत इत्यतः।
कथं कीर्त्त्या सुखं स्वर्गे श्रूयमाणा सुखप्रदा॥ ८६॥

'कृत संशब्दने' धातु से कीर्ति शब्द होता है। सम्यक् कथन संशब्दन

है। कीर्त्यत इति कीर्त्तिः। कीर्त्ति से स्वर्ग सुख कैसे? श्रवण से ही वह सुखप्रद है।

उच्यते देवभावे स्याद् दिव्यश्रोत्रादि नाकिनाम्।
भुवि कीर्त्तयतां देवाः शृण्वन्ति सुखदं वचः॥८७॥
रहो निलीय तिष्ठन् यः स्वप्रशंसां परेरिताम्।
श्रुत्वाऽऽह्लादमवाप्नोतीत्येतत्सर्वानुभूतिगम् ॥८८॥

सुनो। स्वर्ग में देवभाव प्राप्त हुआ पुण्यात्मा को दिव्य श्रोत्रादि प्राप्त होते हैं। भूतल में उनका कीर्त्तिगायन होता है वे आनन्दित होते हैं। वहीं अपना अनुभव देख लो। अंदर कोई चुप बैठा है। बाहर कुछ लोग उसकी प्रशंसा श्रेष्ठ कर्मकलाप की स्तुति करें तो वह कितना प्रसन्न होता है।

नन्वद्यत्वे धूर्तधियः मिथ्यादम्भाद्युपायतः।
ख्यातिं लभेरंस्तेषां च किं नु स्वर्गसुखं भवेत्॥८९॥
मैवं दुष्कर्मभिर्यान्ति प्रथमं नरकं जनाः।
श्रुत्वा मिथ्यायशः स्वैनः स्मृत्वा स्युरतिदुःखिनः॥९०॥

आजकल कई धूर्त पापकर्म मिथ्यादम्भादि से ख्याति पाते हैं। क्या वे भी स्वर्ग सुख पायेंगे? नहीं। प्रथम दुष्कर्म से वे स्वर्ग में ही पहुंचेंगे नहीं। पापकर्म से नरक जायेंगे। वहां अपनी कीर्त्तिश्रवण उसका मूल वंचनादि का स्मरणकर बल्कि अधिक दुःखी होंगे।

पापात्मनां जना लोके स्पष्टं निन्दन्ति दुष्कृतम्।
महद्दुःखं भवेत्तेन यशः संपादयेद् बुधः॥९१॥
अत्रापि लोके स्वां निन्दां श्रुत्वा दुःखी भवेन्नरः।
अन्तर्ज्वलति दावग्नौ प्रतिकर्तुमशक्नुवन्॥९२॥
परलोकगतश्चैव प्रतिकर्तुमशक्नुवन्।
अन्तर्दग्धः कृच्छ्रमियात् सत्कीर्त्तिं प्राप्नुयात्ततः॥९३॥

पापियों की यहां भी निन्दा होती है तो दुःखी होना पडता है। अतः यश संपादन करो। जैसे यहां निन्दा सुनने से अन्तर्दाह होता है प्रतिकार न कर पायें तो अति दुःख होता है वैसे परत्र भी है।

तस्मादुत्तिष्ठ हे पार्थ लभस्व च यशः परम्।
इत्याह भगवान् पार्थं यशःप्रेप्सां प्रवर्धयन्॥ ९४॥

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व इस प्रकार यश की इच्छा बढाते हुए भगवान भी कह रहे है।

अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्॥ ९५॥
ततः स्वधर्मं कीर्त्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि।
अकीर्त्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्॥ ९६॥
संभावितस्य चाकीर्त्तिर्मरणादतिरिच्यते।
इत्याद्यैरपकीर्त्तेश्च निर्मोक्तुं भगवान् जगौ॥ ९७॥

इन गीतावचनों में भगवान ने अपकीर्त्ति से बचने की जोरदार वकालत की।

अत्रापि साधनामार्गस्थितश्चेत् प्रार्थना त्वियम्।
सत्कर्मकर्तुर्भवतु कीर्त्तिः पृष्ठं गिरेरिव॥ ९८॥
भार्गव्यामपि विद्यायां पठनाज्ज्ञानिनामपि।
कीर्त्तिप्रेप्सा न दोषायेत्येतच्च व्यज्यते सताम्॥ ९९॥
न च प्रजान्नपश्वादिप्रेप्साप्येवं भवेदिति।
गृहस्थोऽपि भवेज्ज्ञानी तदीप्सा तस्य युज्यताम्॥ १००॥
पूर्णसाक्षात्कृतौ सर्वद्वैतमिथ्यात्वदर्शनात्।
न कस्यचिदभीप्सा स्यात् परमार्थोऽयमेव हि॥ १०१॥

इस वाक्य में भी यदि साधक हो तो मेरी कीर्त्ति हो यह प्रार्थना होगी। भार्गवी ब्रह्मविद्या प्रकरण में पठित होने से ज्ञानी भी यदि कीर्त्ति की इच्छा रखता हो तो वह भारी दोष नहीं होगा। तब वहीं अन्नवानन्नादो भवति इत्यादि कहने से अन्न पशु प्रजादि की इच्छा अदोष होगी? हो। गृहस्थ भी तो ज्ञानी होता है। हां तत्त्वसाक्षात्कार के बाद सर्वद्वैतमिथ्यात्वदर्शन होने से कोई इच्छा नहीं होगी यही परमार्थ है।

स्थितस्य कथनं चैतद् विस्मयाद् ज्ञानिनो भवेत्।
यथैव साम परमं गायन्नास्ते कृतार्थधीः॥१०२॥

ज्ञानी का यह वस्तुस्थितिकथन विस्मयात्मक हो सकता है। जैसे हा३वु हा३वु हाऊ अहमन्न महमन्न महमन्नं इत्यादि। यहां पर विस्मय से यह कथन होगा मैं संसारवृक्ष का अन्तर्यामी हूं। देखो मेरी कीर्त्ति पर्वतपृष्ठ के समान फैली हुई दिख रही है। इत्यादि।

अत्र पक्षे रेरिवास्मि कीर्त्तिरस्ति ममेति च।
यथायोग्यं वाक्यशेषो भावेदग्रेऽपि तत्तथा॥१०३॥

साधक या ज्ञानी यथायोग्य वाक्यशेष कर लेगा। जैसे रेरिवास्मि ममकीर्त्तिरस्ति इत्यादि ऐसे आगे भी समझना चाहिये।

ऊर्ध्वपवित्रः

ऊर्ध्वः पवित्रो यस्योर्ध्वं पवित्रं वा समस्यते।
तथाऽस्म्यूर्ध्वपवित्रोऽहं भूयासं वा तथाविधः॥१०४॥

ऊर्ध्वश्चासौ पवित्रश्चोर्ध्वपवित्रः ऐसा कर्मधारय या ऊर्ध्वं पवित्रं यस्यासौ ऐसी बहुव्रीहि है। ऐसा ऊर्ध्व पवित्र मैं हूं यह सिद्धवचन होगा, वैसा ऊर्ध्व पवित्र मैं हो जाऊं यह साधक वचन होगा।

कालतोऽप्यतिसूक्ष्मत्वात्कारणत्वान्महत्त्वतः।
ब्रह्म नित्यत्वतश्चोर्ध्वं मायाशक्तिमदीरितम्॥१०५॥

काल से भी अति सूक्ष्म होने से, कारण होने से, महान् होने से और नित्य होने से मायाशक्तिवाला ब्रह्म ऊर्ध्व है (ऊर्ध्वमूल में भाष्य)।

कालतोऽप्यस्य सूक्ष्मत्वं कालहेतुत्वतो मतम्।
कारणं कार्यतः सूक्ष्ममिति न्यायविदो विदुः॥१०६॥

काल से सूक्ष्म कैसे? इसलिये कि वह काल का भी हेतु है। कारण कार्य से सूक्ष्म हुआ करता है ऐसा न्यायवेत्ता कहते हैं।

ब्रह्मतः काल उत्पन्नः कालहेतुरतो मतः।
कालकालपरं प्राहुर्भवं तेन महर्षयः॥१०७॥

यस्तु कालं कवलयेत् यस्मिन कालो विलीयते।
स एव स्यादुपादानः स एवैनं समुत्सृजेत्॥ १०८॥

ब्रह्म से काल उत्पन्न हुआ। अतः ब्रह्म कालहेतु हुआ। इसलिये शंकर को महर्षि लोग कालकाल कहते हैं। जो काल को कवलित करे अर्थात् जिस में काल विलीन हो वही उपादान होगा। उपादीयते स्वस्मिन्नित्युपादानं, उसी से फिर उत्सर्जन—सर्जन सृष्टि भी होगी।

ननु हेतुः कार्यपूर्ववर्तित्वाद् ब्रह्मणो भवेत्।
पूर्वत्वं पूर्वकालोऽतोनवस्थाऽऽत्माश्रयोपि च॥ १०९॥

पूर्व पक्षः- कार्य-पूर्ववर्ती को कारण कहते हैं। पूर्व का पूर्व काल अर्थ है। तब काल से पूर्व काल रहा अतः अनवस्था या आत्माश्रय होगा।

कालं कर्म स्वभावश्च मायेशो मायया स्वया।
आत्मन् यदृच्छया प्राप्तं विबुभूषुरुपाददे॥ ११०॥
इति भागवतोक्तेश्च यदृच्छाप्राप्तमेव हि।
कालादिकमुपादत्ते न तं जनयति प्रभुः॥ १११॥

भागवत में भी काल कर्म एवं स्वभाव को यदृच्छाप्राप्त बताया है उत्पन्न नहीं।

कालाद् गुणव्यतिकरः परिणामः स्वभावतः।
कर्मणो जन्म महतः पुरुबाधिष्ठितादभूत्॥ ११२॥
गुणव्यतिकरो नाम ह्युद्भवाभिभवात्मकः।
तत्त्वान्तरं जनयतः परिणाम उदाहृतः॥ ११३॥
परिणामाद् भवेज्जन्म प्रादुर्भावसमाह्वयः।
प्रादुर्भवेन्महत्तत्त्वं गुणानां परिणामतः॥ ११४॥

भागवत में आगे बताया-काल से गुणव्यतिकर होता है। स्वभाव से परिणाम होता है। कर्म से जन्म होता है। गुणव्यतिकर माने सत्त्वरजस्तम का उद्भव-अभिभव। उससे गुणों में परिणाम होने लगता है जिससे महत्तत्त्व का जन्म होता है। जन्म का अर्थ है प्रादुर्भाव।

अत्रोच्यते नैव किंचिद् भवेत्कार्यं यदृच्छया।
यदृच्छा तेन मायैव कालादि प्राप्तिरप्यतः॥ ११५॥

इस पर हम यही कहेंगे कि यदृच्छा से कोई कार्य नहीं होता। अतः यदृच्छा माया ही है। अन्यथा यदृच्छया परमाणु में सुमेरु उत्पन्न होगा। नरशृंग उत्पन्न होगा।

अज्ञातकारणार्थे हि यदृच्छाशब्द इष्यते।
न तु कारणहीनेऽर्थे स्वामिनामपि तन्मतम्॥ ११६॥
यदृच्छया मत्कथादावित्यत्र व्याचचरिख्यरे।
भाग्योदयेन केनापीत्यर्थं श्रीस्वामिनः खलु॥ ११७॥

अज्ञात कारण अर्थ में यदृच्छा शब्द का प्रयोग माना जाता है। न कि कारणरहित अर्थ में। यह श्री श्रीधर स्वामी को भी अभिमत है। यदृच्छया मत्कथादौ जातश्राद्धस्तु इस श्लोक की व्याख्या में स्वामी वचन है- भाग्योदयेन केनापि। केनापि से अज्ञातत्वकथन है। भाग्योदय का अर्थ है शुभकर्मफलाभिमुख्य।

अज्ञातं तर्हि कालस्य कारणं किं तदुच्यते।
ब्रह्मैव संजगेऽज्ञातं कारणं तत्त्ववेदिभिः॥ ११८॥

यदृच्छा शब्द से प्राप्त अज्ञात कारण काल का क्या है? अज्ञात ब्रह्म।

नन्वेवमपि पूर्वत्वं पूर्वकालभवं भवेत्।
तन्नानिर्वाच्यमेवेदं माययेति विशेषणात्॥ ११९॥

भले अज्ञात कारण हो। पर कार्यपूर्ववर्ती होगा। पूर्वत्व पूर्वकाल ही है। पूर्वकाल के बिना कारण बनेगा। 'मायया' ऐसा विशेषण इसलिये दिया। वह अनिवर्चनीय है।

यथा स्वप्ने घटीमात्रं वर्षपूगो विलोक्यते।
तन्निर्माति स्वयं तद्व-न्निर्माति ब्रह्म जाग्रति॥ १२०॥

जैसे स्वप्न में एक घडी में सैंकडों वर्ष दिखते हैं उनके निर्माता स्वयं हम हैं वैसे जाग्रत में काल निर्माता ब्रह्म है।

ये मन्यन्ते महाकालं स्वप्ने सोऽपि प्रणीयते।
अनादेः कथमुत्पत्तिरिति तत्रापि तर्क्यते॥ १२१ ॥

जो महाकाल को मानते हैं सपने में उसको भी उत्पन्न करते हैं। और अनादिकाल की कैसे उत्पत्ति हो सकती है ऐसा तर्क भी सपने में करते हैं।

स्वप्ने चेत् कल्पनामात्रं समानं तच्च जाग्रति।
जाग्रत्यपि हि कालोऽयं कल्पितो मायया यतः॥ १२२॥

स्वप्न में काल की कल्पनामात्र है तो जाग्रत में भी वह माया कल्पित है।

उत्पन्नश्चैत्रमासोऽद्य वैशाखे स लयं गतः।
इति प्रतीतेरुत्पत्ति-नाशौ कालस्य सिध्यतः॥ १२३ ॥

चैत्र मास उत्पन्न हुआ। आज वैशाख में वह समाप्त हुआ। इस प्रतीति के अनुसार काल की उत्पत्ति और लय सिद्ध होते हैं।

ननु स्तां खण्डकालस्य सूर्येन्दुस्पन्दरूपिणः।
उत्पत्तिप्रलयौ किन्तु महाकालस्य नैव तौ॥ १२४॥
मैवं नित्यो महकालौ व्यर्थत्वान्नोपगम्यते।
मासवर्षादिवत् स्पन्दसन्तत्यैवोपपत्तितः।
नित्यास्तु देनतास्तायां शाश्वतीभ्य इतिश्रुते॥ १२५ ॥

पू. - खण्ड काल में उत्पत्ति और प्रलय हो। पर महाकाल में नही। उ. - महाकाल व्यर्थ है। मास वर्षादि के समान सूर्यादिस्पन्द सन्तान से ही उपपत्ति है। हां इनके देवता शाश्वतीभ्यः श्रुति में नित्य हैं।

पूर्वत्वमुत्तरत्वं वा कार्यकारणभावगम्।
न विद्यते महाकाले तेनान्तर्गडुना हि किम्॥ १२६ ॥

कार्यत्व वा कारणत्व में पूर्वत्व एवं उत्तरत्व घटक है। यहां काल में न वह है और न उसका वह प्रयोजक हो सकता है।

स्वध्वंसाश्रयकालत्वं स्वोत्तरत्वं निगद्यते।
स्वप्रागभावकालत्वं स्वपूर्वत्वं च भण्यते॥ १२७॥

अपना नाशकाल ही अपना उत्तरकाल है। अपना प्रागभाव काल ही

अपना पूर्वकाल है। महाकाल का ध्वंस या प्रागभाव कहां होता है?

ध्वंसो वा प्रागभावो वा स्पन्दानामेव युज्यते।
महाकालस्तत्प्रयोक्ता कुतो नामेश्वरोऽस्तु सः॥१२८॥

ध्वंस या प्रागभाव स्पन्दात्मक काल का ही हो सकता है। यह कहें कि महाकाल उसका प्रयोजक है तो क्यों? ईश्वर को ही प्रयोजक क्यों नहीं मानते?

दिक्कालावीश्वरान्नातिरिच्येते इति संजगुः।
नव्यानैयायिकास्तत्र नानायुक्तीश्च ते जगुः॥१२९॥

दीधितिकारादि नव्य नैयायिक भी कहते हैं कि दिक्कालावीश्वरान्नातिरिच्येते। कालिक सम्बन्ध का प्रयोजक महाकाल क्यो? ईश्वर क्यों नहीं?

महकालं जगुः शम्भुमुज्जयिन्यां स पूज्यते।
पुराणादौ महाकाली महाकालश्च वर्णितौ॥१३०॥

उज्जैन में महाकाल भगवान की पूजा होती है। पुराण एवं तन्त्रों में महाकाली एवं महाकाल वर्णित हैं। महाकाली महाकाल की ही शक्ति है।

कलनात्कालमाहुस्तं शर्वो विशरणादपि।
कलितं कालयन्ती च तच्छक्तिः कालिका परा॥१३१॥

कल गतौ संख्याने च धातु से काल शब्द है। गमितं का उत्पादित भी पदगतौ अर्थ है। जगत को उत्पादित कर फिर जो कवलन करे वह शिव की शक्ति काली है।

अपि चाद्वैतसिद्धान्ते न द्वितीयमकल्पितम्।
कल्पितं कल्पनोद्भूतं न ततः काचन क्षतिः॥१३२॥

अद्वैत मत में अकल्पित द्वितीय है ही नहीं। कल्पित माने कल्पना से उद्भूत।

षडनादिमतेऽप्येव न कालः सप्तमस्तथा।
आकाशस्य यथोत्पत्तिः कालस्यापि भवेत्तथा॥१३३॥

वेदान्त में छः अनादि माने हैं। सप्तम अनादि काल नहीं माना। जैसे

आकाश की उत्पत्ति वैसे काल की भी उत्पत्ति मान सकते हैं।

कालकर्तृत्वतः काला-ऽधिष्ठानत्वत एव वा।
कालतः सूक्ष्म एवासा-वात्मेत्यूर्ध्वोऽभिलप्यते ॥ १३४ ॥

काल का उत्पादक कर्ता हो चाहे काल का अधिष्ठानरूप हो, सर्वथा काल से सूक्ष्म होने से परमात्मा ऊर्ध्व कहलाता है।

जगतः कारणत्वाच्च तदूर्ध्वमुपरिस्थितेः।
कार्यसत्तामुपादानसत्ता खल्वतिवर्तते ॥ १३५ ॥

काल से सूक्ष्म यह एक विशेष कथन है। सामान्यतः वह सर्व जगत का कारण है इसलिये ब्रह्म ऊर्ध्व है। क्योंकि कार्य सत्ता की अपेक्षा उपादान सत्ता की महत्ता अधिक है।

उपादानं विना नैव कार्यं क्वाप्यवतिष्ठते।
मृदं विना नहि घटो घटेन तु विनाऽस्ति मृत् ॥ १३६ ॥

उपादान के बिना कार्य नहीं रहता। मिट्टी न हो तो घट नहीं रहेगा। घट के बिना मिट्टी रहेगी।

नित्यत्वाच्च भवेदूर्ध्वं ब्रह्म सर्वास्पदं परम्।
लीयन्तेऽबादिषु क्ष्माद्या ब्रह्म नो लीयते क्वचित् ॥ १३७ ॥

ब्रह्म नित्य होने से भी ऊर्ध्व है। पृथिवी आदि प्रलय में जलादि में लीन होते हैं। ब्रह्म कहीं भी लीन नहीं होता। अतः वह नित्य है।

ननु मायाशक्तियुक्तं ब्रह्मोर्ध्वमुदितं पुरा।
भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तेः कथमूर्ध्वता ॥ १३८ ॥

पू. - पहले कहा मायाशक्तियुक्त ब्रह्म ऊर्ध्व है। श्रुति में बताया है अन्त में माया की भी निवृत्ति होती है तो मायाविशिष्ट ब्रह्म भी नहीं रहेगा। तब ब्रह्म ऊर्ध्व कैसे?

अत्राचार्यास्तु संक्षेपशारीरककृतो जगुः।
नोपादानं मतं माया केवलं द्वारकारणम् ॥ १३९ ॥

उ. - इस पर संक्षेपशारीरकाचार्य का कहना है कि माया उपादान कारण नहीं है। वह केवल द्वारकारण है।

दीपवान् पश्यति निशि दीपोऽत्र द्वारकारणम्।
विश्वं सृजति मायावी माया च द्वारकारणम्॥१४०॥

दीपकवाला रात को देखता है तो दीपक द्वारकारण है। वैसे मायावाला जगत् बनाता है तो माया भी द्वारकारण है। मायाशक्तिमत् इस भाष्य का इतना ही अर्थ है। न कि मायाविशिष्ट शबल ब्रह्म।

न चैवं कारणत्वेन ब्रह्म स्यात्परिणामवत्।
विवर्तकारणत्वेन परिणामाऽप्रसङ्गतः॥१४१॥

ब्रह्म ही कारण है तो परिणामी होगा। नहीं। ब्रह्म विवर्त कारण है।

ऊर्ध्वं ब्रह्म महत्त्वाच्च महत्त्वं व्यापकत्वतः।
पादोऽस्य विश्वाभूतानीत्याह व्यापकतां श्रुतिः॥१४२॥

महत्त्व होने से भी ब्रह्म ऊर्ध्व है। महत्त्व माने व्यापकत्व। श्रुति में बताया है-पादोऽस्य विश्वाभूतानि। ब्रह्म के एक पाद में समस्त विश्व समाया हुआ है।

रागद्वेषादिकालुष्य-संयुतं स्यादपावनम्।
रागादिभवदोषेण रहितं स्याच्च पावनम्॥१४३॥

रागादि दोष सहित अपवित्र है। रागादि दोषरहित होने से आत्मा पवित्र है।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥१४४॥
शुद्धं चापापविद्धं च श्रुतिरप्याह तत्परम्।
तस्मादूर्ध्वपवित्रोऽहमित्याहात्मानमागमः॥१४५॥

जैसे सूक्ष्म होने से आकाश धूलि आदि से लिप्त नहीं होता वैसे समस्त देहों में रहता हुआ भी आत्मा देह दोष से लिपायमान नहीं होता (गीता); शुद्धमपापविद्धम् (श्रुति) अतः यहां आत्मा को ऊर्ध्वपवित्र बताया।

पवित्राणां पवित्रं य इत्यत्राह स्म भाष्यकृत्।
पवित्रं पाप्मनः सर्वानुन्मूलयति तेन तत्॥१४६॥

पुण्यपापात्मकं कर्म तद्धेत्वज्ञानमेव च।
यद् बन्धनं नाशयेत् स्व-याथात्म्यज्ञानतोऽथवा॥ १४७॥

पवित्राणां पवित्रं य इस विष्णुसहस्रनाम के श्लोक में भाष्यकार ने व्याख्या की है-समस्त पापों का उन्मूलन करने से परमात्मा परम पवित्र है। अथवा पुण्य पापात्मक कर्म एवं उसका हेतु अज्ञान को जो संसार बन्धनकारी है अपने यथार्थ ज्ञान से नष्ट करे वह पवित्र कहलाता है।

परमं यो महत्तेज इत्यतोऽत्रानुवर्तते।
परमं तेन परमपवित्रार्थोऽपि लभ्यते॥ १४८॥
वस्तूनां पावनं नाम भवेदशुचिनाशनम्।
पापादिकमशुच्येवेत्युक्तार्थो लभ्यतेऽञ्जसा॥ १४९॥

परमं यो महत्तेजः इत्यादि पूर्व श्लोक से परम की अनुवृत्ति होने से पवित्राणां मध्ये परमपवित्रं ऐसा अर्थ आयेगा। पवित्र करता है का अर्थ है अशुचि को साफ करता है, नष्ट करता है। पापादि ही अशुचि है।

शक्यं च नित्यो नित्यानां चेतनानां च चेतनः।
इतिवच्च पवित्राणां पवित्रमिति वेदितुम्॥ १५०॥
सत्यानां सत्यता तस्य ज्ञातॄणां ज्ञानमेव च।
आनन्दतां तथानन्द ईशस्यैवेति योजनात्॥ १५१॥

नित्यो नित्यानां इत्यादि के समान भी पवित्राणां पवित्रं की भी व्याख्या से नित्य माने सत्य या सत्। उन में सत्यता या सत्ता ज्ञाताओं में ज्ञान आनन्दभोगियों में आनन्द ब्रह्म का ही है ऐसी वहां व्याख्या है।

पवित्रं परमं ज्ञान-प्रकाश्यं ब्रह्म यस्य मे।
सर्वात्मनः सोऽह-मूर्ध्वपवित्र इति भाषितम्॥ १५२॥

यहां भाष्य में ज्ञानप्रकाश्य परम पवित्र ब्रह्म जिस मुझ सर्वात्मा का है वह मैं ऊर्ध्वपवित्र हूं ऐसी योजना की है।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
ज्ञानं ज्ञानप्रकाश्यं तदूर्ध्वं ब्रह्म ममास्त्यतः॥ १५३॥

ज्ञान के सदृश कोई अन्य पवित्र नहीं - इस गीता वचन से पवित्र

पद का ज्ञान अर्थ प्राप्त होगा। ज्ञान माने ज्ञानप्रकाश्य या स्वयं प्रकाश ज्ञानस्वरूप ऊर्ध्व ब्रह्म जिस सर्वात्मा मेरा स्वरूप है वह ऊर्ध्वपवित्र ऐसा मैं हूं या होऊं ऐसा यहां अर्थ होगा।

पवित्रयति तस्माच्च पवित्रमिति भण्यते।
ज्ञातं पवित्रयेद् ब्रह्म ज्ञातृन् ज्ञानं च तत्तथा॥१५४॥

पवित्र करनेवाला इस अर्थ में भी पवित्र शब्द है। ज्ञात ब्रह्म पवित्र करता है। ज्ञान भी पवित्र करता है। यथेष्ट व्याख्या कर सकते हैं।

ननु चात्र बहुव्रीहौ पवित्रं चेद्विशेषणम्।
कस्य व्यावर्तकं नित्यपवित्रं ह्यूर्ध्वमिष्यते॥१५५॥

पू. - ऊर्ध्वं पवित्रं यस्य इस प्रकार बहुव्रीहि मानने पर पवित्र विशेषण किसका व्यावर्तक है? क्योंकि ऊर्ध्व ब्रह्म तो नित्य पवित्र है।

उच्यते परमं ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणम्।
तस्योपाधिर्भवविधौ प्रकृतिस्त्रिगुणात्मिका॥१५६॥

सुनो। परब्रह्म सत् चित् आनन्दरूप है। त्रिगुणात्मक प्रकृति उसकी उपाधि संसारविधि में उपाधि है।

सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाऽविद्येति सा द्विधा।
व्याप्यव्यापकरूपा च कार्यकारणलक्षणा॥१५७॥
मायोपाधिर्भवेदीशः स पवित्र उदीर्यते।
शुद्धसत्त्वप्रधानैक-मायोपाधित्वहेतुतः ॥१५८॥
रजस्तमःसमाक्रान्ताऽशुद्धाऽविद्या निगद्यते।
तदुपाधित्वतो जीवो ह्यपवित्र इतीर्यते॥१५९॥

सत्त्वगुण की शुद्धि और अशुद्धि को लेकर प्रकृति के माया और अविद्या दो भेद हुए। वे दोनों व्याप्य व्यापक तथा कार्य कारणरूप हैं। मायोपाधि ईश्वर और अविद्योपाधि जीव है। शुद्ध सत्त्वप्रधान माया एक है उस उपाधि से ईश्वर पवित्र है। रजोगुण और तमोगुण से आक्रान्त सत्त्व अविद्या उपाधि होने से जीव अशुद्ध है।

कारणं ननु नाविद्योपाधिरीशो हि कारणम्।
मैवं जीवोऽपि भवति कारणं सृष्टिभेदतः॥ १६०॥
ईक्षणादिप्रवेशान्ता त्वीशसृष्टिरुदीरिता।
जाग्रदादिविमोक्षान्ता जीवसृष्टिश्च सम्मता॥ १६१॥
अहं ममेति कर्मापि मातृपत्नीसुताद्यपि।
जीवसृष्टिरिति प्रोक्ता सर्वं च प्रातिभासिकम्॥ १६२॥

अविद्योपाधि जीव कारण कहां है। ईश्वर ही कारण है। नहीं। सृष्टि-भेद से जीव भी कारण है। तदैक्षत इस ईक्षण से लेकर अनुप्रवेश पर्यन्त ईशसृष्टि है। जाग्रदादि मोक्ष पर्यन्त, अहं, मम, एवं कर्म तथा माता पत्नी सुता इत्यादि तथा रज्जुसर्पादि सभी प्रातिभासिक जीवसृष्टि है।

अपवित्रोर्ध्वरूपोऽहं स्यां पवित्रोर्ध्वलक्षणः।
इत्येवं प्रार्थ्यत इति युक्तमुक्तं विशेषणम्॥ १६३॥

मैं जीव होने से कारणरूप हूं। किन्तु अपवित्र कारणरूप हूं। सो मैं पवित्र कारण बनूं ऐसी यहाँ प्रार्थना है ऊर्ध्वपवित्रो भूयासम्।

नन्वविद्या परिच्छिन्ना नोपाधिः खलु सेशितुः।
कथं कालुष्यहानेन सोऽहं स्यामिति चेच्छृणु॥ १६४॥
कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः।
इति श्रुतेरुपाधी तौ कार्यकारणलक्षणौ॥ १६५॥
मायैकदेशताहेतो-रविद्या कार्यमीरिता।
अविद्याया अनादित्वादुत्पत्तिरहितत्वतः॥ १६६॥
किंवान्तःकरणाद्येतत्कार्यवैशिष्ट्यहेतुतः।
कार्यत्वमाहाविद्याया इति सर्वं समञ्जसम्॥ १६७॥
अविद्याया विनाशे तु जीव ईशो भवेदयम्।
कार्यभावपरित्यागात्कारणात्मावतिष्ठते॥ १६८॥
गृहान्तर्वर्तिकलश-विनाशो जायते यदा।
गृहाकाशत्वमेत्येष कलशाकाशशब्दितः॥ १६९॥

पू. - ऊर्ध्वपवित्र ईश्वर हुआ जो मायोपाधिक है। अविद्योपाधिक

जीव ईश्वर कैसे बनेगा? अविद्या परिच्छिन्न है। कलुषता की निवृत्तिमात्र से वह अपरिच्छिन्न नहीं होगी। उ. - सुनो-श्रुति में जीव को कार्योपाधि और ईश्वर को कारणोपाधि बताया है। श्रुति में माया का एकदेश होने से अविद्या को कार्य बताया, न कि सादि होने से। क्योंकि जीव अनादि है। रज और तम का आक्रमण समाप्त होने पर अविद्या माया ही है क्योंकि कार्यभाव समाप्त हो गया। अथवा अन्तःकरणादि कार्यविशिष्ट होने से अविद्या को कार्य बताया। अन्तःकरणादि नष्ट होने पर वह कारणरूप रह जायेगी। अन्तःकरणादि के होने से ही अहंममादि कालुष्य संभव है। जैसे घर में घट रखा है तो गृहाकाश में घटाकाश है। घट नष्ट होता है तो घटाकाश गृहाकाश हो जाता है। वैसे अन्तःकरण नष्ट होने से अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य मायावच्छिन्न चैतन्य ही हो जायेगा। अतः पवित्र कारणस्वरूप बनूं यह आशा उचित है।

अत्र प्रकृत्यवच्छिन्नं चैतन्यं किंसमाह्वयम्।
किंकार्यं चेति नैवोक्तं विद्यारण्यमुनीश्वरैः॥१७०॥

प्रकृति उसके दो भेद माया और अविद्या तथा मायाचैतन्य ईश्वर और अविद्याचैतन्य जीव ऐसा विद्यारण्यस्वामी ने वर्णन किया। किन्तु प्रकृतिचैतन्य का क्या नाम है और क्या कार्य है यह नहीं बताया।

अतश्च प्रकृतिर्माया पर्यायौ सुधियो विदुः।
मायां तु प्रकृतिं विद्यादितिश्रुत्यनुरोधतः॥१७१॥

इसलिये माया प्रकृति ये दो पर्याय मात्र हैं ऐसा अन्य विद्वानों ने माना। मायां तु प्रकृतिं विद्यात्। माया को प्रकृति समझो यह श्रुति उसका समर्थन करती है।

ऊर्ध्वमुन्नतमत्यन्तं पवित्रोऽस्मीति केचन।
ऊर्ध्वं कारणमित्येव भाष्ये त्वर्थो निरूपितः॥१७२॥
ऊर्ध्वं तत्कारणं ब्रह्म पवित्रं भवहानतः।
यस्य सोऽयमिति त्वत्र व्याख्यातं भाष्यवार्त्तिके॥१७३॥

ऊर्ध्व=अत्यन्त पवित्र मैं हूं (या होऊँ) ऐसी किसी की व्याख्या है।

भाष्य में ऊर्ध्व का कारण ही अर्थ बताया। वार्त्तिक में बताया-ऊर्ध्व माने कारण ब्रह्म। संसाररहित होने से वह पवित्र है ऐसा स्वरूप जिसका हो वह ऊर्ध्वपवित्र है कहा। शंका होगी, कारणताकाल में भवहान=संसार निवृत्ति कैसे होगी? कारणब्रह्म ही कारणता छोडकर पवित्र परब्रह्म जिसके लिये हो ऐसी व्याख्या करो।

ननु पूर्वं प्रयोज्ये स्तः ससम्यन्त-विशेषणे।
बहुव्रीहाविति मुनेः पाणिनेरस्ति शासनम्॥ १७४॥
सत्यं सर्वे विकल्पन्ते विधयश्छन्दसीत्यतः।
भवेत् परनिपातोऽपि न तस्मात्काचन क्षतिः॥ १७५॥
विशेषणं विशेष्येण बहुलं कर्मधारये।
कर्मधारयपक्षोऽपि बहुलत्वाददूषणः॥ १७६॥

व्याकरणानुसार बहुव्रीहि में विशेषण पवित्र का पूर्व प्रयोग होना चाहिये। किन्तु वेद में सभी विधि विकल्पित होने से दोष नहीं है। कर्मधारय में भी विशेषणं विशेष्येण बहुलं ऐसा बहुल बताया। अतः पूर्व प्रयोग सुगम है।

वाजिनीव स्वमृतमस्मि

वाजोऽन्ननामसु बल-नामस्वपि च पठ्यते।
वाजमन्नं भवेद्यस्य यज्ञीयं वाज्यसौ रविः॥ १७७॥
पपाठ मेदिनिकरो वाजो निःस्वनपक्षयोः।
वेगे पुमानथ क्लीबे घृतयज्ञान्नवारिषु॥ १७८॥
यज्ञस्यान्नं तु यज्ञान्नं यज्ञोऽन्नं चेति वा पृथक्।
वाजं सनन् संभजन् हि सूर्यो वाजसनिर्भवेत्॥ १७९॥
तस्य वाजसनेयानि प्राहुः शुक्लयजूंष्यतः।
आदित्यानि हि शुक्लानीत्याहुर्वाजसनेयिनः॥ १८०॥

निघण्टु में अन्ननामों में और बलनामों में वाज पढा है। यज्ञीय अन्न आदित्य को प्राप्त होता है। अतः सूर्य वाजसनि कहलाया। सूर्योपदिष्ट होने

से शुक्ल यजुष को वाजसनेयानि आदित्यानि आदि बृहदारण्यक में कहा।

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
इत्याहाऽऽहुतिसामान्यमादित्यप्राप्तिकं मनुः॥१८१॥

यज्ञीय अन्न घृतादि अन्य देवों को भी तो प्राप्त होते हैं। जरूर। किन्तु मनुवचन हे अग्नौ प्रास्ताहुतिः - अग्नि में डाली गयी आहुति आदित्य को प्राप्त होती है।

प्राप्यादित्यं ततो देवाः प्राप्नुवन्त्याहुतीरिति।
वाचानयानुमेयं स्यान्मनोरिति च गम्यते॥१८२॥

क्या अन्य देवता को आहुति नहीं पहुंचती? यदि ऐसा हो तो शास्त्रविरोध होगा। नहीं। प्रथम आदित्य को प्राप्त होकर वहां से अन्य देवों तक पहुंचती है ऐसा इस मनुवचन से अनुमेय है ऐसा अर्थगम्य है।

सूर्यः सर्वरसाहर्तेत्याहुर्हेतुं तु केचन।
तत्राग्निप्राप्तनोक्तेर्हि नैव सार्थक्यमीक्ष्यते॥१८३॥
अग्नेः सूर्यस्य चान्योन्य-तेजःसम्बन्धसत्त्वतः।
इत्यन्ये तत्र सम्यक्त्वमाहुतित्वं च नार्थवत्॥१८४॥

सूर्य सर्वरसाहर्ता होने से आहुति का रस सूर्य को प्राप्त होगा। आदित्य से वही रस वृष्टिरूपेण पृथिवी में आयेगा। उससे अन्न एवं प्रजा होगी ऐसी व्याख्या कईयों ने की है। परंतु सब रसों का आहरण करता है तो अग्नि में डालने को क्यों कहा? दूसरे कहते हैं अग्नि और सूर्य का तेजः सम्बन्ध होने से अग्नि में डालने पर ही सूक्ष्म रस का आहरण सूर्य करता है। परंतु यदि यही बात है तो अग्नि में खाली फेंक दो। स्वाहादिमन्त्रान्तपूर्वक सम्यक् आहुति कहने की क्या जरूरत?

अपूर्वशक्तयो मन्त्रा विधिश्च परिपोषकः।
तद्युक्ताहुतयः सूक्ष्माः सूर्यं यान्तीति युज्यते॥१८५॥

मन्त्रों में अपूर्व शक्ति रहती है। उस शक्ति का परिपोषक विधि है। उन से युक्त आहुतियां सूक्ष्मरूप सूर्य तक पहुंच जाती हैं यही युक्त है।

श्रद्धापि तत्र हेतुः स्यात्तद्धीनमसदीरितम्।
विद्यया श्रद्धया कर्म कृतं स्याद्वीर्यवत्तरम्॥ १८६॥

श्रद्धा भी कारण है। अश्रद्धया हुतं दत्तं असदित्युच्यते ऐसा गीतावचन है। उपनिषद् में यदेव विद्यया क्रियते श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति कहकर श्रद्धा को वीर्यवत्तरता में उसे हेतु बताया। अतः ये सब शक्तिपोषणकारी ही शास्त्र सफल प्रतीत होते हैं।

सर्वथापि च वाजीह सूर्य एव विवक्षितः।
तस्मिन् यदमृतं तद्वदस्म्यहं स्वमृतं परम्॥ १८७॥

सायणाचार्य ने वाज का वेग अर्थ कर वेगवाला सूर्य अर्थ किया। सर्वथा यहां सूर्य ही विवक्षित है। उसमें जो अमृत है वैसे मैं सुअमृत, परम अमृत हूं।

नन्विवेन समासोऽसुब्लोपश्चेत्यनुशासनम्।
तन्मध्येऽमृतमित्येतदन्वितं न भविष्यति॥ १८८॥

पू. - **'इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च'** ऐसा वार्त्तिक है। इव के साथ नित्य समास होता है और विभक्ति लोप नहीं होता। उसके बीच में अमृत का अन्वय नहीं होगा। (मनुष्य इव शुकः पठति यहां इव मनुष्यः शुकः पठति ऐसा प्रयोग नहीं होता)।

सप्तम्यन्तार्थसादृश्यं सप्तम्यन्तार्थगं भवेत्।
वाप्यामिव जलं कूपं वर्वर्त्तीति प्रयुज्यते॥ १८९॥

वाजिनि इस सप्तम्यन्तार्थ का सादृश्य सप्तम्यर्थ से ही होगा। उदाहरण- तालाब में जैसे कुए में पानी छलक रहा है।

अत्राहुर्वार्त्तिकाचार्या बुद्धावित्यनुयोज्यताम्।
यथाऽऽदित्ये तथा बुद्धौ स्वमृतं यत्तदस्म्यहम्॥ १९०॥

यहां वार्त्तिककार सूरेश्वराचार्य कहते हैं-बुद्धौ इतना पीछे जोड दो। आदित्य में जैसे स्वमृत ब्रह्म है वैसे बुद्धि में स्वमृत ब्रह्म है वही मैं हूं।

अस्य च श्रीमदानन्दज्ञानाचार्याः प्रचख्यिरे।
तात्पर्यार्थं योजयन्त आवश्यकपदान्तरम्॥ १९१॥

वाजिस्थं सोऽहमस्मीति ब्रह्माऽवैत्यर्कदेवता।
बुद्धिस्थं सोऽहमस्मीति ब्रह्म तद् वेद्म्यहं तथा॥१९२॥

वार्त्तिक का तात्पर्यार्थ आनन्दगिरि आचार्य ने कुछ पद जोडकर ऐसा क़िया है कि मण्डलस्थ परब्रह्म मण्डल देवता आदित्य जिस प्रकार सोऽहं ऐसा समझते हैं वैसे बुद्धिस्थ स्वमृत ब्रह्म को मैं सोऽहमस्मि ऐसा समझूं।

अत्रैवं वाक्यभेदः स्यादध्याहारोऽथवा भवेत्।
इति चेदस्तु स विधावेव दोष उपेयते॥१९३॥

इस प्रकार यहां वाक्यभेद अध्याहारादि होगा। भले हो। विधिस्थल में ही यह सब दोष है।

वस्तुतो वाजिनीवेति ह्युपमेयमपेक्षते।
बुद्धाविति ततो लभ्यमस्मीत्येतस्य संनिधेः॥१९४॥
औपम्येऽस्तीति चादित्यदेवतेत्यपि तद्बलात्।
अहमित्युपमेये च लभ्यं स्वरसतो भवेत्॥१९५॥
यथा हि स्वमृतं तावद् वाजिन्यादित्यदेवता।
तथैव बुद्धौ स्वमृत-महमस्मीति योजना॥१९६॥

वस्तुतः यहां न वाक्यभेद है और न क्लिष्टाध्याहार ही है। वाजिनीव यह उपमा उपमेय की अपेक्षा रखती है। ससम्यन्त उपमेय होगा-बुद्धि में। क्योंकि आगे अस्मि आ रहा है। उसका कर्ता अहमर्थ बुद्धि में ही रहता है। उपमेय में अहमस्मि आया तो तत्सदृश उपमा में भी आना चाहिये। तब आदित्य देवता अस्ति आयेगा। तब पूरा अर्थ होगा-जैसे वाजिरूप मण्डल में स्वमृत ब्रह्म आदित्य देवता है वैसे बुद्धि में स्वमृत ब्रह्म मैं हूं।

द्वा सुपर्णा श्रुतेर्जीव-परावेकत्र तिष्ठतः।
आदित्यदेवताप्येवं जीव एव परः परम्॥१९७॥
आदित्ये खलु यस्तिष्ठन्नादित्यं यमयेदिति।
यमादित्यो न वेदेति चास्ति स्पष्टवचः श्रुतेः॥१९८॥

आदित्य में आदित्य देवता एवं ब्रह्म दोनों हैं जिन का अभेद है। द्वा

सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते यह श्रुति इस में प्रमाण है। आदित्य देवता जीव कैसे? अन्तर्यामी श्रुति से। य आदित्ये तिष्ठन् आदित्यं यमयति यमादित्यो न वेद। यहां नियामक अन्तर्यामी नियम्य जीव आदित्य देवता बताया। नियम्य मण्डल क्यों नहीं? मण्डल जड होने से उसमें जानकारी निषेध करना व्यर्थ है। प्राप्तौ सत्यां निषेधः यह न्याय है। अतः आदित्य देवतारूपी जीव के लिये ही वह सम्यक् घटता है। ब्रह्म सर्वज्ञ होने से उसके लिये 'न वेद' यह संभव नहीं है।

असिद्धश्च न दृष्टान्तः सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृण्वि - त्यादिश्रुतिशतादिति॥१९९॥

दृष्टान्तासिद्धि नहीं है। सत्यस्यापिहितं मुखं तत्त्वं पूषन्नपावृणु इत्यादि अन्य भी सैकडों श्रुतियों में यह प्रसिद्ध है।

केचित्त्वेकं पदमिदं समस्तं वाजिनीवसु।
वाजी चासौ नीश्च तत्र वसतीति वसु स्मृतम्॥२००॥
सूर्ये नेतरि यस्तावद्वसति ह्यमृतं महत्।
तद्वाजिनीवसु परं तत्त्वमस्मीति योजना॥२०१॥
तत्पुनः स्वरवैयत्यात् क्लिष्टसामासिकत्वतः।
पदपाठाद्यभावाच्च न व्याख्यातृभिरादृतः॥२०२॥

कुछ लोग वाजिनीवसु एक समस्त पद है। अमृतं यह अलग पद है। वा सूर्यरूपी नी-सर्वनेता में वास करनेवाला वाजिनीवसु अमृत मैं हूं ऐसा अर्थ होगा। किन्तु उस में स्वर में फरक पड जाता है। समास क्लिष्ट है, पदपाठ अलग है। अतः प्रामाणिक भाष्यकारादि ने उसको ग्रहण नहीं किया।

नन्वसौ पुरुषः सोऽहमस्मीत्यैक्यं श्रुतं श्रुतौ।
इवकारः कुतस्त्वेवं सादृश्यार्थ इहेति चेत्॥२०३॥
नोपाधित्यागतः सोऽहं तद्वैशिष्ट्ये तु तुल्यता।
वाजिस्थमिव बुद्धिस्थं स्वमृतं यत्तदस्म्यहम्॥२०४॥

पू. - तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः

सोहमस्मि इस प्रकार ईशावास्य में आदित्य पुरुष एवं बुद्धि पुरुष की एकता बतायी है। यहां सादृश्य प्रदर्शक इवकार कैसे जोडा? उ. - सुनो, सूर्य एवं बुद्धि उपाधि को त्यागने पर एकता है। उपाधि विशिष्टरूप से तुल्यता है एकता नहीं है।

यथा सूर्येऽमृतं तद्वद् बुद्धावप्यमृतं, तथा।
यथा त्वयीश्वरस्तद्वदीश्वरो मयि चेतिवत्॥ २०५॥

जैसे सूर्य में अमृत है वैसे बुद्धि में भी अमृत है। जैसे बोला करते हैं-तुम में जैसे ईश्वर रहता है वैसे मुझ में भी ईश्वर रहता है।

नन्वस्मीत्युच्यतेऽभेदः सोपाधेः स न युज्यते।
उपाधिसंपरित्यगे इवकारो न युज्यते॥ २०६॥
स्वगतस्वमृतेनैक्यं न सूर्यस्थेन चेत्यपि।
युक्तं नोपाधियुक्तस्य स्वप्रत्यक्षविरोधतः॥ २०७॥

स्वमृतमस्मि से अभेद बताया जा रहा है। सोपाधिकों का अभेद नहीं हो सकता। उपाधि को छोडकर बोलते हैं तो इव (जैसा) कार असंगत होगा। यदि आप यह कहते हैं कि सूर्योपाधिक स्वमृत और बुद्ध्युपाधिक स्वमृत भिन्न है कि बुद्ध्युपाधिक स्वमृत और अहं पदार्थ स्वयं की एकता तो हो सकती है। नहीं। बुद्ध्युपाधिक ब्रह्म और बुद्ध्याद्युपाधिक अहं पदार्थ जीव भी तो एक नहीं है। जैसे बुद्धिवृत्ति ईश्वर और बुद्धिवृत्ति जीव एक नहीं है। क्योंकि अहं बोलने पर अल्पज्ञत्व परिच्छिन्नत्वादि सभी साथ में आयेंगे। स्वमृतं या ब्रह्म बोलने पर सर्वज्ञत्व अपरिच्छिन्नत्वादि आयेंगे। ये सब छोडते हैं तो सूर्यवृत्त्युपलक्षित स्वमृत, बुद्धिवृत्युपलक्षितस्वमृत तथा जीवत्वाद्युपाधिरहित चैतन्य सबकी एकता हो जायेगी और इवकार असंगत हो जायेगा। सूर्यस्थ की उपाधि न छोडें बुद्धिस्थ की उपाधि छोडें तो अर्ध जरतीय न्याय लागू होगा। और हीनोपमा भी होगी।

अथ साम्यं वाजिबुद्ध्योर्न तु स्वमृतयोर्ब्रुवे।
वाजिनीव सदा बुद्धौ स्थितं स्वमृतमस्म्यहम्॥ २०८॥

पू. - वाजी (सूर्य) और बुद्धि को लेकर इव (दृष्टान्तादि) है स्वमृत

(चैतन्य) को लेकर है। वाजि में जैसा बुद्धि में जो स्वमृत है वह मैं हूं ऐसा अर्थ होगा।

नाऽखण्डं ब्रह्मचेज्ज्ञातं दृष्टान्तादिरनर्थकः।
सोऽस्मीत्यलं परोक्षत्वपरिच्छित्तिनिवृत्तये॥ २०९॥

नहीं, वैसा कहना भी जवाब नहीं है। सूर्य में जैसे बुद्धि में रहनेवाला स्वमृत कहते समय अखण्ड स्वमृत ज्ञात है या नहीं। यदि ज्ञात है तो ऐसा ब्रह्म व्यापक ही होगा। तब दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक व्यर्थ है। सोऽस्मि इतना ही पर्याप्त है अस्म्यर्थ अहं में परिच्छेद और अखण्ड में परोक्षत्वनिवृत्ति मात्र अपेक्षित होगा। यदि अखण्डता अज्ञात है तो तब वाजि के समान वाजिगत स्वमृत भी दृष्टान्त हो जायेगा। यदि वाजिगत और बुद्धिगत स्वमृत का एकत्व जिज्ञापयिषित है तो इवकार व्यर्थ है। और वाक्यभेद भी होगा। वाज्यमृतं बुद्ध्यमृतम्। बुद्ध्यमृतमहमस्मि। इस की अपेक्षा वाज्यमृतमहमस्मि इतना ही पर्याप्त है। योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि इसका अर्थ इतना ही तो है। काशी से दिल्ली जाकर मुम्बई जाने की अपेक्षा काशी से सीधे मुम्बई आना ही ठीक है।

तन्नादित्यस्य यन्मध्य इवाक्ष्यग्रौ च तिष्ठति।
एतद्ब्रह्मामृतमिति मैत्रायण्यामुदीरितम्॥ २१०॥
व्यापकत्वं न हि परि-गणनात्तत्र गम्यते।
जीवं सदोषं मा धार्षीदित्यौपम्यं समञ्जसम्॥ २११॥

उत्तरः- पूर्वदर्शित पूर्वपक्ष ठीक नहीं है। मैत्रायणी में बताया है- एतद्यदादित्यस्य मध्ये इवाक्षिण्यग्नौ च एतद्ब्रह्म एतदमृतम् (६.३५) वहां आदित्यमध्य अक्षि और अमृत की परिगणना होने से ब्रह्म शब्दार्थ व्यापकत्वेन उपस्थित नहीं होता। किन्तु शुद्धरूप से उपस्थित होता है। प्रकृत में वाजिनीव यह उपमा अक्षिस्थित जीवरूपी सदोष चैतन्य का ग्रहण न हो एतदर्थ हो जायेगी। जैसे आदित्यमध्यवर्त्ती सुप्रसिद्ध अमृत ब्रह्म प्रसिद्ध है वैसा अक्षि में स्थित शुद्ध अमृत मैं हूं ऐसा वाक्यार्थ हो जायेगा।

अन्यत्रापि च हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुष ईरितः।
तं निर्दोषं ग्रहीतुं च जाघटीत्युपमा श्रुतौ॥२१२॥

बृहदारण्यक में भी त्वंपदार्थ शोधन में हृदयान्तर्ज्योति पुरुष बताया। सदोष को छोड़कर उस निर्दोष पुरुष को ग्रहण करने के लिये वाजिनीव यह उपमा है।

यद्वा वाजिनि चैतन्यं विमलं स्वमृतं यथा।
तथा हृदिस्थचैतन्यं स्वमृतं वीध्रमस्म्यहम्॥२१३॥

अथवा सीधा अर्थ यह कीजिये कि जैसे आदित्य में विमल स्वमृत परम चैतन्य है वैसे हृदय में स्थित पवित्र स्वमृत चैतन्य मैं हूं।

यद्वाऽऽदित्यस्थचैतन्यं स्वमृतं निर्मलं तथा।
अहं हृदिस्थचैतन्यं भूयासं स्वमृतं तथा॥२१४॥

प्रार्थनानुसार ऐसा अर्थ होगा-जैसे आदित्यस्थ चैतन्य स्वमृत है वैसे हृदिस्थ चैतन्य मैं भी स्वमृत हो जाऊं।

व्यत्ययो बहुलं सूत्रादाशीरर्थे लिङादिके।
प्राप्ते सति व्यत्ययतः प्रयुक्तोलडिह श्रुतौ॥२१५॥

अस्मि का भूयासं अर्थ कैसे? सुनो। आशीरादि अर्थ में लिङादि प्राप्त होने पर व्यत्ययो बहुलं इस सूत्र से श्रुति में लट्लकार का प्रयोग किया।

द्रविणं सवर्चसम्

द्रविणं नाम वित्तं स्यात्तच्च द्विविधमुच्यते।
मानुषं दैवमप्येव मानुषं दृष्टिगोचरम्॥२१६॥
चक्षुर्हि मानुषं वित्तं चक्षुषा तद्धि विन्दते।
इत्येवं श्रुतिषु प्रोक्तमुपास्तिविधिसंनिधौ॥२१७॥
श्रोत्रं भवेत्तथा दैवं वित्तं यच्छ्रुतिगोचरम्।
तदाह दैवं श्रोत्रं स्यात् श्रोत्रेण हि शृणोति तत्॥२१८॥

द्रविण माने वित्त। वह मानुष और दैव दो है। जो दृष्टिगोचर है वह मानुष है। जो श्रुतिगोचर है वह दैव है। अतः उपासना श्रुति संनिधि में

चक्षु को ही मानुष वित्त और श्रुत्रिगोचर को ही दैव बताया।

ग्रहणार्थं तु दैवस्य सवर्चसमितीरितम्।
बलवद्दीप्तिमच्चैव सवर्चसमितीर्यते॥ २१९॥
स्याद्ब्रह्मवेदनं तादृक् ब्रह्म वा ज्ञानलक्षणम्।
तदेव सर्वतः श्रेष्ठं बलवज्ज्ञानदीप्तिमत्॥ २२०॥
ज्येष्ठं ब्रह्मैव भूतानां स्पर्धितुं तेन कोर्हति।
इति वर्चस्विता तस्य श्रुत्यैव स्पष्टमीरिता॥ २२१॥

सवर्चस यह विशेषण दैव वित्तग्रहणार्थ है, वही बलवान् और दीप्तिमान् है। ब्रह्मवेदन उपासनात्मक हो या ज्ञानात्मक हो सवर्चस है। श्रुति कहती है - 'ब्रह्मैव भूतानां ज्येष्ठं तेन कोर्हति स्पर्धितुम्' ब्रह्म श्रेष्ठ है, बलवान है, उससे मुकाबिला कौन कर सकता है।

सवर्चसं च द्रविणमात्मतत्त्वं तदस्म्यहम्।
अवर्चसं काञ्चनादि स्वात्मतत्त्वं सवर्चसम्॥ २२२॥

इस प्रकार भी व्याख्या हो सकती है - सवर्चस द्रविण आत्मतत्त्व है। वह मैं हूं। अवर्चस द्रविण सुवर्णादि है।

तेजोविशेषो वर्चःस्याद् वर्चस्व्यभिभवेत् परान्।
आत्मा सर्वानभिभवेद् ज्ञाते द्वैतं न विद्यते॥ २२३॥

वर्चस् विलक्षण तेज को कहते हैं। वर्चस्वी तेजस्वी दूसरों को अभिभूत करता है। आत्मा सर्वाभिभावक है। वह ज्ञात होने पर पूरा द्वैत भाग जाता है।

द्रविणं सुखहेतुत्वात् सुखात्मत्वाच्च गीयते।
उपजीवन्ति भूतानि मात्रामस्येति हि श्रुतिः॥ २२४॥

सुखात्मक होने से या सुखरूप होने से आत्मतत्त्व द्रविण है। अस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति-इसी आत्मसुख की अल्प मात्रा पर प्राणी जीवित है।

तस्यानन्दात्मता चैव सर्वश्रुतिषु विश्रुता।
तस्माद् द्रविणमित्येवमात्मतत्त्वं प्रदर्शितम्॥ २२५॥

आत्मसत्व आनन्दरूप है यह श्रुतिचविश्रुति है। अतः द्रविण यहाँ आत्मतत्त्व है।

अहमस्मीति पूर्वोक्तमत्र चाप्यनुवर्तते ।
एवंरूपेण चिन्त्योऽयमात्मा नित्यं मुमुक्षुभिः ॥ २२६ ॥

मुमुक्षुओं को मैं आनन्दरूप द्रविण हूं ऐसा नित्य चिन्तन करना चाहिये। अहमस्मि यह पूर्वोक्त यहां अनुवर्तनीय है।

अथवा द्रविणं नाम तत्त्वज्ञानमुदीर्यते।
तत्त्वं प्रकाशते तस्मात् सवर्चसमुदीरितम् ॥ २२७ ॥
सर्वद्रव्येषु विद्यैव द्रव्यमाहुरनुत्तमम् ।
अहार्यत्वादनर्घ्यत्वादक्षयत्वाच्च सर्वदा ॥ २२८ ॥
आत्मविद्या पुनः सर्वशोकमोहापहारिणी।
अक्षय्यसुखदा चैव द्रविणं तत् सवर्चसम् ॥ २२९ ॥

तत्त्व प्रकाशक होने से ज्ञान सवर्चस धन है। अचौर्य अमूल्य अक्षय धन ज्ञान है आत्मविद्या शोकमोहहारिणी अक्षय सुखदायिनी होने से परम सवर्चस धन है।

यत्साक्षात्कारयेत्तत्त्वं यच्चाज्ञानं व्यपोहयेत् ।
तत्स्यात् सवर्चसं नो चेद्वन्ध्यज्ञानं तु तद् विदुः ॥ २३० ॥

ज्ञान के बारे में भी यह समझना चाहिये कि जो ज्ञान तत्त्व को साक्षात् प्रकट करे और अज्ञान को समास करे वही सवर्चस है। अन्यथा वन्ध्य ज्ञान होगा।

अधिकारी गुरोः श्रुत्वा श्रुतिं यन्मननादिना।
अज्ञानापोहनं ज्ञानं लभते तत्सवर्चसम् ॥ २३१ ॥

साधन चतुष्टय संपन्न अधिकारी गुरु से श्रुति श्रवण कर मननादि से अज्ञाननाशन जो ज्ञान पाता है वही सवर्चस ज्ञान है।

आत्मतत्त्वार्थपक्षे स्यादहमस्मीति योजना।
ज्ञानार्थपक्षे भवति शेषः प्राप्तं मयेति च ॥ २३२ ॥
आशीरर्थविवक्षायां भूयासमिति योजना।
प्रथमेऽथ द्वितीये तु शेषो भूयान्ममेति च ॥ २३३ ॥

द्रविणं सवर्चसं का आत्मतत्त्व अर्थ पक्ष में 'अहमस्मि' या 'भूयासं' जुडेगा। आत्मज्ञान अर्थ पक्ष में 'प्राप्तं मया' या 'मम भवेत्' ऐसी योजना होगी।

सुमेधाः

सुमेधा असुजन्तोऽयं नञ्दुःसुभ्यो विधानतः।
मेधृ संगमने धातोर्मेधा टाबत्र च स्त्रियाम्॥ २३४॥
धारणाशक्तियुक्ता धीर्ज्ञानं ध्यानयुताथ वा।
परमात्मा ध्यायतीव तथा लेलायतीव सः॥ २३५॥
सृष्ट्यर्थं तस्य यद्ध्यानं तप इत्युदितं श्रुतौ।
स्थित्यर्थं प्रलयार्थं च ध्यानयुक्तं हि तत्तथा॥ २३६॥
सुमेधस्त्वं जगज्जन्मस्थितिसंहारकौशलात्।
इति भाष्यकृता चात्र व्याख्याता परमेशता॥ २३७॥

'मेधृसंगमने' धातु से मेधा शब्द हुआ। सु के योग में असुच् होने से सुमेधस् सुमेधा हुआ। धारणा शक्ति से या ध्यान संयुक्त धी-ज्ञान मेधा है। परमात्मा ध्यान सा करता है, लीला सी करता है। यही धारणयुक्त ज्ञान तप बताया गया है। सृष्टि स्थिति प्रलयार्थ जो कौशल है उसी को सुमेधापन भाष्य में बताया।

धारयत्यखिलं सृष्टिक्रमोपायादिकं हृदि।
तद्ध्यात्वा पूर्वकल्पीयं सर्वं कल्पयतीश्वरः॥ २३८॥

परमात्मा सृष्टि उसका क्रम, उसके उपाय एवं स्थिति लय के भी सृष्ट्यादि तथा सभी तरीके हृदय में धारण किये हुए है। यही धारणा शक्ति है। पूर्वकल्पीय उन सब का ध्यान कर वह सृष्ट्यादि करता है। यही ध्यान शक्ति है।

तथा चाह श्रुति र्धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
ध्यायतीव न यत्नोऽस्ति ध्यानेऽप्यस्य न कश्चन॥ २३९॥
नित्यसर्वज्ञताहेतोरखिलं स्फुरतीशितुः।
इतीवकारो ध्यात्वेव क्रमभङ्गाद्यभावतः॥ २४०॥

धाता यथापूर्वमकल्पयत्-पूर्वकल्पानुसार ही सब बनाया। श्रुति में 'ध्यायतीव' यह इवकार ध्यानार्थ कोई विशेष प्रयत्न भी नहीं यह सूचित करने के लिये है। जैसे लोगों को बहुत सोचने पर पूर्व की याद आती है वैसे नहीं। क्योंकि परमात्मा सर्वज्ञ होने से सर्व वस्तुविषयक सदा स्फुरण उसको रहता है। फिर बीच में कोई गलती क्रमभंगादि नहीं। मानो कि सोच-सोचकर सृष्टि आदि कर रहा हो।

न वा सृष्ट्यादिकरणे यत्नआवश्यकोऽस्य हि।
लीलेव तस्य सकलं स्थितिसृष्टिलयादिकम्॥ २४१॥

सृष्टि आदि करने में भी परमात्मा को कोई यत्न करना नहीं पडता। जैसे घर बनाने में लोगों को भारी मेहनत पडती है। भगवान के लिये लीला मात्र है।

न वा लीलापि तस्यास्ति नित्यानन्दात्मनो विभोः।
आनन्दावाप्तये लीलां कुर्वन्ति हि यथा जनाः॥ २४२॥

और जैसे आनन्द के लिये लोग लीला करते हैं वैसी लीला भी परमात्मा की नहीं है। परमात्मा तो नित्यानन्दप्राप्त है।

अतो लेलायतीवेती-वकारोऽत्र च योजितः।
ईशस्येक्षणमात्रेण जगत्सृष्ट्याद्युदीरणात्॥ २४३॥
भाष्योक्तचलतीत्यर्थग्रहणेऽप्येव तत्समम्।
न हि तस्यास्ति चलन-मपि लीला तु दूरतः॥ २४४॥

इसीलिये लेलायति इव ऐसे इव जोडा। लीला करता हुआ सा। ईक्षणामात्र से सृष्टि आदि होती है। भाष्य में लेलायति का चलति अर्थ बताया है। हिलना चलना तक नहीं, लीला करना दूर की बात है।

ननु भाष्येऽत्र मेधेयं प्रोक्ता सार्वज्ञलक्षणा।
सा स्थित्युत्पत्तिसंहार-कार्यकौशलयोगतः॥ २४५॥

पू. - यहां भाष्य में मन्त्रोक्त मेधा सर्वज्ञत्व है। संसार की स्थिति, उत्पत्ति एवं संहार करने का कौशल होने से सर्वज्ञता ही मेधा है।

तत्रेदं चिन्त्यते कस्य सुमेधा अस्मि वागियम्।
नैश्वरस्याऽस्य नर्षिः स न प्रसिद्धो जपी च सः॥ २४६॥

इस पर विचार होता है अहं सुमेधा अस्मि यह किसका वचन है? ईश्वर का नहीं है। क्योंकि इस मन्त्र का ऋषि नहीं है। और ईश्वर इस मन्त्र का जपकर्ता है ऐसी प्रसिद्धि भी नहीं है।

सर्वद्रष्टा भवेन्मन्त्र-द्रष्टापीत्यप्ययुक्तिकम्।
सर्वत्रैव तदा वेदे ईश्वरोऽहंपदो भवेत्॥ २४७॥

ईश्वर सर्वद्रष्टा होने से मन्त्रद्रष्टा भी हो।? नहीं। ऐसे फिर सर्वत्र अहंपदार्थ ईश्वर होगा।

ऋषित्वेन च रूपेण नेश्वरः स्मर्यते क्वचित्।
ऋषयो हि तपःपूताः प्रातिभस्फुरणा मताः॥ २४८॥

ऋषि के रूप में ईश्वर नहीं आता। तप से प्राप्त प्रातिभज्ञान से मन्त्रों को देखनेवाले को ही ऋषि कहते हैं।

जपकर्तृत्वरूपेणाप्यसिद्धो ह्यप्रसिद्धितः।
जपन्ति साधका मन्त्रमीश्वरार्थं न चेश्वरः॥ २४९॥

जपकर्ता भी अहं पदार्थ ईश्वर नहीं है। जपकर्ता के रूप में ईश्वर अप्रसिद्ध है। साधक ईश्वर प्राप्त्यादि के लिये जप करते हैं। न कि ईश्वर ही ईश्वर प्राप्त्यादि के लिये जप करता है। ईश्वर तो आप्तकाम है। या अकाम है।

अनर्थकश्चेवकारो वाजिनीवेत्युपश्रितः।
वाजिनीश्वर एवायं नारायणसमाह्वयः॥ २५०॥

यदि ईश्वर को मन्त्रद्रष्टा मानने का आग्रह है तो भी यहां संगति नहीं बैठेगी। वाजिनीव यह इवकार व्यर्थ होगा। वाजिस्थ नारायण ही तो ईश्वर है।

वाज्यवच्छिन्नचैतन्यमीश्वरो वाजिनि स्थितम्।
मायावच्छिन्नचैतन्यं मायायां पृथगेव चेत्॥ २५१॥
तदसत् न पृथक् तौ स्तां मायावाजिस्थितेश्वरौ।
न हि ग्रामान्तरं यातो देवदत्तो हि भिद्यते॥ २५२॥

वाजी में वाज्यवच्छिन्न चैतन्यरूपी ईश्वर है। माया में मायावच्छिन्न चैतन्य है। वाजिस्थ और वैकुण्ठस्थादि मात्र से ईश्वर भिन्न नहीं होता।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
तत्किमाश्रयभेदेन भिद्यते परमेश्वरः ॥ २५३ ॥

गीता में बताया है ईश्वर समस्त प्राणियों के हृदय में स्थित है। तो क्या प्राणी हृदयभेद से ईश्वर भिन्न है?

न रूपभेदतोऽप्येव भिद्यते परमेश्वरः।
स एव द्विभुजः (सवै चतुर्भुजः)
कृष्णो विश्वरूपः स एव हि ॥ २५४ ॥

रूपभेद से भी ईश्वरभेद नहीं। द्विभुज (या चतुर्भुज) जो कृष्ण है और विश्वरूप जो कृष्ण है क्या दोनों भिन्न हैं?

भिन्नाभिमानाद् वैशिष्ट्याद् जीवेशादिभिदा मता।
तदभावे त्वैक्यमेव वाजिवैकुण्ठवासिनोः ॥ २५५ ॥

भिन्नाभिमान होने से या भिन्नोपाधिवैशिष्ट्य होने से जीवेश्वरादि भेद है। उसके अभाव होने से वाजिस्थ और वैकुण्ठस्थ नारायण एक ही है।

यदि चाभिमतो भेदो वाजिवैकुण्ठवासिनोः।
तदा हीनोपमा सूर्यादूर्ध्वं वैकुण्ठमिष्यते ॥ २५६ ॥

यदि आग्रहवश सूर्यस्थ नारायण और वैकुण्ठस्थ नारायण में भेद मानेंगे तो हीनोपमा दोष आयेगा। सूर्य से बहुत ऊपर वैकुण्ठ है। सूर्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतम्। तत्पुरुषोऽमानव एनं ब्रह्म गमयति इत्यादि श्रुति है। ब्रह्मलोक को ही दृष्टिभेद से विष्णुलोक, शिवलोक आदि कहते हैं। भेद मानने पर ब्रह्मलोक से भी ऊपर ही विष्णुलोक आयेगा।

नन्वत्र ब्रह्मवित् कश्चिद् ब्रह्मभूतोऽनुभाषते।
सृष्ट्यादिकौशलबलमञ्जुमेधाभृदस्म्यहम् ॥ २५७ ॥
यद्वा त्रिशङ्कुरेवेदमृषिर्वदति मन्त्रदृक्।
सुमेधा अस्मि सृष्ट्यादिकौशलान्वितधीरिति ॥ २५८ ॥

एकदेशीः- सुमेधा अस्मि यह कोई ब्रह्मवित् स्वयं ब्रह्मरूप हो गया

बोल रहे हैं। सृष्ट्यादिकौशलयुक्त शोभन मेधावाला मैं हूं। अथवा दूर क्यों जाना? मन्त्रद्रष्टा ऋषि त्रिशङ्कु कह रहे हैं मैं सृष्टिस्थितिलय कौशलयुक्त बुद्धिवाला हूं।

मैवं सायुज्यमापन्नो नैवं वदितुमर्हति।
जगद्व्यापारवर्जं हि तस्यैश्वर्यं जगौ मुनिः॥२५९॥

एकदेशी निराकरणः- ईश्वर सायुज्यादि प्राप्त सिद्ध ऐसा नहीं कह सकता। क्योंकि सूत्रकार बादरायणाचार्य कहते है सृष्टिलयादिरूप जगत व्यापार को छोडकर अन्य विषयक उसका ऐश्वर्य है।

न च सृष्ट्यादि मा कार्षीन्मतभेदप्रसङ्गतः।
अन्यैर्मुक्तैस्तथाप्यस्तु तस्य तद्योग्यतेत्यपि॥२६०॥
फलोपधानविरहे योग्यत्वं नैव कल्प्यते।
व्यर्थैव योग्यता तस्य किमर्थसिह कीर्त्यते॥२६१॥

जगद् व्यापार क्यों नहीं करेगा सायुज्यमुक्त? इसलिये कि सायुज्यमुक्त बहुत हो सकते हैं। उनमें मतभेद भी हो सकता है। एक कहेगा मैं रक्षा करूंगा, दूसरा कहेगा मैं संहार करूंगा तो भारी विप्लव होगा। इस पर कहा-सृष्टि आदि न करे किन्तु सृष्टि आदि की योग्यता तो रख सकता है। नहीं। उस योग्यता का उपयोग नहीं हो सकता, तो फलोपधानरहित योग्यता की कल्पना नहीं की जाती। क्योंकि उसकी वह योग्यता व्यर्थ है, निष्प्रयोजन है।

तद्भोगमात्रसाम्यं च लिङ्गादस्यावगम्यते।
सृष्ट्यादिकौशलास्तित्वमप्यपास्तमतोऽफलम्॥२६२॥

श्रुति में कहा है - देवता की जैसे सेवा सब करते हैं वैसे ईश्वरवित् की भी सेवा करते हैं। मतलब ईश्वर के साथ भोगमात्र की समानता इससे सूचित होती है। अतः सृष्ट्यादि कौशल युक्त मेधा कथन भी अपास्त हो जाता है। क्योंकि वह कौशल भी निष्फल है।

अत्रोच्यते तापनीयश्रुतौ तावदिदं श्रुतम्।
कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः॥२६३॥

इस का समाधान यह है कि नृसिंह तापनीय में जीव को कार्योपाधि एवं ईश्वर को कारणोपाधि कहा गया है।

मुक्तो भवेत्तदा जीवः स्वोपाधिं धूनुते यदा।
कार्ये नष्टे कारणाख्य उपाधिरवतिष्ठते॥ २६४॥
तदुपाधिक एवायं जीवः सम्पद्यते तदा।
गृहाम्बरं यथा स्वान्तर्घटनाशे घटाम्बरम्॥ २६५॥

जीव मुक्त तभी होता है जब वह अपनी उपाधि को समाप्त करता है। कार्य नष्ट होने पर कारणरूप उपाधि रह जाती है तब यह जीव जीवत्व को मिटा कर कारणोपाधि बन जाता है। जैसे गृहान्तर्वर्त्ती घट का नाश होने पर घटाकाश गृहाकाश बन जाता है।

इत्थमस्येश्वरात्मत्वात् स्थित्युत्पत्त्यादिकौशलम्।
युज्यतेऽस्येति भाष्येऽत्र तद्योगित्वमुदीरितम्॥ २६६॥

इस प्रकार मुक्तात्मा का ईश्वररूप हो जाने से सृष्ट्युत्पत्यादि कौशल उस में युक्त होता है। यही भाष्य में 'सांसारस्थित्युत्पत्ति संहारकौशलयोगात् सुमेधस्त्वं' से बताया।

ननु सूत्रविरोधः स्यादेवं तर्हीति चेन्न तत्।
साष्टर्यादिमुक्तिमाप्तानां जगद्व्यापारवर्जनात्॥ २६७॥
अनैक्ये नैकमत्यं स्याद् वैमत्यादि प्रसज्यते।
एकत्वे हि कथं नाम मतिभेदः प्रवर्तताम्॥ २६८॥

यदि ऐसी बात हो तो 'जगद्व्यापारवर्जं' इस सूत्र का विरोध या वैयर्थ्य होगा। क्योंकि मुक्त ईश्वररूप होने से जगत्सृष्ट्यादिकारी स्वयं होगा या फिर सूत्र ही व्यर्थ होगा। नहीं। सार्ष्टि सायुज्यादि मुक्ति प्राप्तों को लेकर जगद्व्यापारवर्जन बताया है। अनेकता होने पर अनेक मत वैमत्यादि हो सकता है। यहां तो ईश्वर के साथ एकता हो गयी है। एकता में वैमत्यादि की संभावना नहीं है।

कार्योपाधिर्हि जीवश्चेत् सादिः स्यादिति चेन्न तत्।
स्वसत्ताधीनसत्ताक-भावात् कार्यत्वकीर्तनात्॥ २६९॥

यदि कार्योपाधि जीव हो तो कार्य सादि होने से जीव भी सादि होगा। वह कार्यरूप उपाधि जब उत्पन्न हुआ उससे पूर्व धर्माधर्मादि उत्पादक न होने से आकस्मिक होने लगेगा। नहीं। हम सादि नहीं कहते। कार्य कहते हैं। कारण सत्ताधीन सत्ता होने से कार्य बताया।

उपाधिः कारणात्मा हि मायैव परमेशितुः।
अन्तःकरणसत्ता हि तदधीनोपगम्यते॥ २७०॥
सुषुप्तिप्रलयादौ तु तदन्तःकरणं निशि।
सूक्ष्मसंस्काररूपेण मायायामवतिष्ठते॥ २७१॥
यद्वाऽविद्यास्वरूपेण तन्मायांशात्मना भवेत्।
न ह्यनङ्गैव मायेय-मनिर्वाच्यात्मकत्वतः॥ २७२॥

कारणरूपी उपाधि परमेश्वर की माया ही है। तदधीन अन्तःकरण सत्ता है। वह भी अनादि ही है। सुषुप्ति प्रलयादि में, सूक्ष्म संस्काररूप में, माया में रहता है। अथवा अविद्या मायांश है। वही जीवोपाधि है। माया सर्वथा अंशरहित नहीं है, अनिर्वचनीय है। साङ्गाप्यनङ्गाप्युभयत्मिका नो महाद्भुतानिर्वचनीयरूपा कहा है। इन्द्रो मायाभिः यह बहुत्वोक्ति भी उसीको लेकर है।

अनन्ताः खलु मायांशा अविद्यासंज्ञिताः स्थिताः।
इन्द्रो मायाभिरित्येवं तद्बहुत्वश्रुतीक्षणात्॥ २७३॥
यस्य ज्ञानं समुत्पन्नं तस्याविद्या विनश्यति।
मायोपाधिक एवायं तदा तिष्ठति पूरुषः॥ २७४॥

माया के ये अंश अनन्त हैं जिन को अविद्या कहते हैं। इन्द्रो मायाभिः यह बहुवचन भी इन्हीं अविद्याओं से उपपन्न है। जिसको ज्ञान उत्पन्न होता है उसकी अविद्या नष्ट होती है तो वह मायोपाधिक होकर रहता है।

तां भाविस्थितिमालक्ष्य सुमेधा इत्युदीरितम्।
तत्त्वज्ञाने समुत्पन्ने सा स्थितिर्निश्चिता सताम्॥ २७५॥

उस स्थिति को लक्षित कर 'सुमेधा' बताया। तत्त्वज्ञान होने पर वह स्थिति होनी ही है। अतः भाविरूप को पूर्व आरोपित कर उक्त कथन है।

ये त्वाहुर्मुक्तपुरुषो नेश्वरो हि भवेदयम्।
ज्ञानेनाज्ञानतत्कार्यनाशाद् ब्रह्मैव केवलम्॥ २७६॥
तेषां जगत्पदं त्यक्त्वा संसारपदयोजनम्।
साभिप्रायं भवेद्भाष्ये कल्पनाजन्यमित्यतः॥ २७७॥

जो लोग यह मानते हैं कि मुक्त पुरुष ईश्वर नहीं बनता। ज्ञान से सकल अज्ञान तत्कर्य नाश होने से वह केवल ब्रह्मरूप से स्थित होता है। उनके मत के अनुसार यह व्याख्या होगी कि भाष्य में जगत्स्थित्युत्पत्ति-संहारकौशलयोगात् इस प्रकार जगत्पद जोडने योग्य स्थान पर संसारपद जो जोडा वह साभिप्राय है। संसार कल्पनाजन्य है यह प्रतीत कराना है।

संसारः स्वप्नतुल्योऽयं मयैव परिकल्पितः।
मया तिष्ठति मय्येव लीयते ज्ञानतेजसि॥ २७८॥

यह संसार स्वप्नतुल्य है। मैंने ही इसकी कल्पना की, मुझ में ही यह स्थित है। ज्ञानतेजवाले मुझ में ही यह लीन हो रहा है।

एवं विधा या मेधा सा सुमेधेत्यभिधीयते।
तादृङ्मेधामुपादाय सुमेधस्त्वं स्वमुच्यते॥ २७९॥

ऐसी जो मेधा है उसको सुमेधा कहते हैं ऐसी मेधा को लेकर ही अपना सुमेधस्त्व कहा जा रहा है।

अमृतोक्षितः

विनश्यतीति मरणं विकारः षष्ठ ईरितः।
तथापक्षीयत इति पञ्चमः क्षितशब्दतः॥ २८०॥
निषेध उभयोरत्र त्वमृतोऽस्म्यक्षितोऽस्म्यहम्।
कष्टत्वेन विशिष्टत्वान्निषेधोऽत्र द्वयोः कृतः॥ २८१॥

जायतेऽस्ति वर्धते विपरिणमतेऽपक्षीयते विनश्यति ऐसे छः भाव विकार निरुक्त में बताये हैं, मरण षष्ठविकार है। अपक्षय पंचम विकार है। दोनों का निषेध यहां अमृतः अक्षितः इन दो शब्दों से किया - मैं अमृत हूं अक्षित हूं - क्षयरहित हूं। इन दो का ही निषेध क्यों किया? छहों का क्यों नहीं?

इसलिये ये दोनों ही कष्टरूप हैं यही अन्यों की अपेक्षा दो में विशेषता है।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
इत्येवं हरिरप्येतद्द्वयस्यैवाह मोक्षणम्॥ २८२॥

जरामरणमोक्षाय इस गीता श्लोक में भगवान् ने भी इन दोनों का मोक्षण बताया।

गात्रं नयन्ती शैथिल्यं गलयन्ती गतिं पदोः।
आन्ध्य-बाधिर्य-दैन्यादि क्रमादापादयन्त्यपि॥ २८३॥
वहन्ती विविधान् रोगान् दुःसहान् दुरपह्नवान्।
महद् दुःखं प्रापयन्ती जरा कष्टं शरीरिणाम्॥ २८४॥

जरा (बुढापा) शरीर शिथिल करती है, पावों की शक्ति को कुण्ठित करती है। अंधापन, बहरापन, मानसिक दीनहीनभाव क्रमशः बढाती जाती है। असह्य असाध्य रोगों को लाती है, भारी क्लेश उत्पन्न करती है। इस प्रकार प्राणियों के लिये महान् कष्टदायी होती है।

श्वासकासरवं श्रुत्वा गृहपालरवायितम्।
जरठस्यापगच्छन्ति दूरे चौरादयो निशि॥ २८५॥

दमा, खांसी की आवाज को सुनकर गृहपाल (चौकीदार या श्वान) की आवाज समझकर रात को चोर आदि दूर से ही हट जाते हैं।

न वाक्यमाद्रियन्ते च वधूभार्यासुतादयः।
न सेवायाः श्रद्दधते वृद्धस्य परितापिनः॥ २८६॥

पत्नी, पुत्र, बहू आदि भी वृद्ध की बात का आदर नहीं करते। दुःखी होने पर भी उसकी सेवा करने में परेशानी का अनुभव होने से श्रद्धा नहीं रखते। (परितापिनो वृद्धस्य परितापिनः वध्वादयः ऐसा षष्ठ्यन्त प्रथमान्त दोनों है।)

पलायामासकोपेन सपत्नीमिव मानिनी।
मृदुर्निद्रा जरां वीक्ष्य नैवाऽऽहूतोपगच्छति॥ २८७॥

जैसे सपत्नी को देखकर पत्नी पलायन करती है (पुराणों में बताया है कि गंगा को देखकर कोप से पार्वती पलायन करने लगती थी) ऐसे यह

मानिनी कोमल निद्रा नववधू जरा को देखकर कब की पलायन कर गयी। बुलाने पर भी आने का नाम नहीं लेती।

मरणं च महत् कष्टं शतवृश्चिकदंशनम्।
पूर्वजन्मप्रतिस्मृत्या ततो बिभ्यति वै जनाः॥ २८८॥

मरण भी महान कष्टरूप है। हजारों बिच्छुओं का एकसाथ डसने का उसमें दर्द होता है। इसलिये लोग मरण से डरते हैं। इस जन्म में मरणदुःखानुभव कभी नहीं हुआ तो क्यों डर? पूर्वजन्मानुभूत मरणदुःख स्मरण से।

ननु मूर्च्छा भवेन्मृत्यौ न दुःखमनुभूयते।
इति चेन्नार्धसम्पत्तौ भवेदनुभवो यतः॥ २८९॥
क्रियाशक्तिः प्रशिथिला नैव किंचित् करोत्ययम्।
उन्मिमीलयिषन्नेव तत्कर्तुं नैव पारयेत्॥ २९०॥

पू. - मरणकाल में मूर्च्छा हो जाती है। दुःख का अनुभव नहीं होगा। उ. - नहीं। मूर्च्छा में भी अर्धसम्पत्ति ही होती है। अतः अनुभव होगा। क्रियाशक्ति अतिशिथिल होने से कुछ कर नहीं पायेगा। सुषुप्ति से उतरे पूरा जागरण नहीं हुआ तब भी ऐसा होता है। आंख खोलने की इच्छा है पर खुलती नहीं। उठने की इच्छा है पर शरीर हिला नहीं पाते। क्लेश भी अनुभव में तब आता है।

सुषुप्तिमृत्योर्मध्यत्वादर्धत्वं केचिदूचिरे।
चिकीर्षादेर्दर्शितत्वात्सुषुप्त्यूर्ध्वमसंभवात्॥ २९१॥

मूर्च्छा, सुषुप्ति और मरण का मध्य होने से अर्ध संपत्ति है ऐसा कुछ लोग कहते हैं। परंतु मूर्च्छित कुछ देर उठना चाहता है उठ नहीं पाता। अतः चिकीर्षादि होने से सुषुप्ति से वह ऊपर नहीं हो सकता।

नेत्रवक्त्रविकारादेर्मूर्च्छाऽन्यैव सुषुप्तितः।
प्रसन्नवदनः सुप्तः सत्संपत्तिवशादिति॥ २९२॥

सुषुप्ति में सत्सम्पत्ति से मनुष्य प्रसन्नवदन होता है। मूर्च्छित में विकराल मुख आदि होता है। अतः सुषुप्ति से ऊर्ध्व मूर्च्छा नहीं है।

ननु मृत्योर्द्वारमुक्तं भाष्ये मूर्च्छेति चेच्छृणु।
न सुषुप्त्युत्तरद्वारमसुषुप्तोऽपि मूर्च्छति॥ २९३॥

पू. - भाष्य में मृत्यु का द्वार मूर्च्छा को बताया। तब सुषुप्तिजन्य मृत्युजनक सिद्ध हुआ। नहीं। सुषुप्ति के विनापि मूर्च्छित होता है। सुषुप्तिजन्य हो तो सुषुप्ति मूर्च्छा से पहले नियत होना चाहिये।

जाग्रद्धि दुर्घटनया मूर्च्छितो जायते नरः।
सुषुप्तिर्नैव तस्यास्ति मध्ये लोकाऽप्रसिद्धितः॥ २९४॥
महादुःखवशान्मूर्च्छा प्रसादो लेशतोऽस्य न।
करालवदनत्वादि महादुःखोद्भवं मतम्॥ २९५॥

जगा हुआ ही व्यक्ति दुर्घटना से मूर्च्छित होता है। वहां बीच में कोई सुषुप्ति नहीं होती। महादुःख से मूर्छा हुई। वहाँ मुख पर प्रसन्नता क्यों, महादुःख से करालता होती है।

नन्वौषधादिनाप्येव मूर्च्छयन्ति चिकित्सकाः।
न दुःखं तत्र नो वक्त्रकरालत्वं च वीक्ष्यते॥ २९६॥

पू. - औषधादि से भी मूर्च्छा होती है। जैसे क्लोरोफोरम सूंघने से मूर्च्छा होती है। वहां न दुःख होता है और न चेहरा विकृत होता है।

सत्यं स्थूलशरीरेऽस्मिन् सूक्ष्मं चास्ति कलेवरम्।
यत्रान्तःकरणज्ञानकर्मेन्द्रियचयादिकम् ॥ २९७॥
न भित्त्यादि विना चित्रं छाया स्थाण्वादिना विना।
विना विशेषैस्तद्वन्न लिङ्गं तिष्ठेन्निराश्रयम्॥ २९८॥

उ. - बात सत्य है। इस पर थोडी चर्चा आवश्यक है। इस स्थूल शरीर में एक सूक्ष्म शरीर भी है। जिस में अन्तःकरण ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रियादि है। भित्ति आदि के बिना चित्र, स्थाणु आदि के विना छाया जैसे नहीं रहती वैसे विशेष शरीर के बिना लिङ्ग नहीं रह सकता। 'चित्तं यथाश्रयमृते' इत्यादि सांख्यकारिका में यह स्पष्ट है। पुर्यष्टक में 'अभ्रमुखादिपञ्च' ऐसे आचार्य वचन से आकाशमात्रादि निर्मित वह प्रतीत होता है।

बहुधावस्थितं तच्चाऽप्यवस्थापरिणामिकम्।
घनं तनु प्रतनु च सूक्ष्मं संकुचितादि च॥ २९९॥
ग्रीष्मे वर्षासु हेमन्ते मण्डूकादिवपुर्यथा।
कामलज्जाद्यवस्थासु पुंल्लिङ्गादि यथैव च॥ ३००॥

अवस्थानुसार परिणामवाला सूक्ष्म शरीर नाना प्रकार से रहता है। कभी घट्ट, कभी पतला, कभी अति पतला, कभी सूक्ष्म-संकुचितादि। जैसे मेंढक का शरीर ग्रीष्म में, वर्षामें, ठंडी में फूलता-सिकुडता है, जैसे कामलज्जादि में पुल्लिंग फूलता-सिकुडता है वैसे यह सूक्ष्म शरीर भी है।

घनं व्याप्तं जाग्रति तत् स्वप्ने च विरलं तनु।
स्पर्शशब्दादिकं तेन स्वपता नानुभूयते॥ ३०१॥
नामाह्वाने करापेषे श्रुत्वा स्पृष्ट्वा तनुत्वतः।
जागर्त्ति प्रतनुत्वाच्च सुषुप्तस्यातिपेषणे॥ ३०२॥
मूर्च्छितस्यातिसूक्ष्मं स्यात् प्रयातुः पुनरन्यथा।
स्थूलसम्बन्धविरहात् कर्मतोऽनुभवो भवेत्॥ ३०३॥
पाप्मनानुभवेद्दुःखं यमदण्डादिरूपतः।
पुण्यैर्विमानगमनस्वर्गभोगादिरूपतः ॥ ३०४॥

सूक्ष्म शरीर जाग्रत में घनीभूत रहता है, पूरे शरीर में व्याप्त रहता है। स्वप्न में पतला रहता है। इसलिये थोडा छुए, अल्प बोले तो सोनेवाला अनुभव नहीं करता। जोर से आवाज हो या थोडा हिलावे तो उतने अंश में (अर्थात् कर्णस्थल में और स्पृष्टस्थल में) घन होकर सुनता है, हिलाने का अनुभव होता है। सुषुप्ति में बिलकुल पतला होता है। लिङ्ग पुरीतत् नाडी में जाता है। बहुत हिलाने या आवाज करने से जगता है। 'पाणिपेषं' यहां आभीक्ष्ण्य में णमुल् प्रत्यय है। छान्दस द्वित्वाभाव है। मूर्च्छित का सूक्ष्म शरीर अत्यन्त सिकुडा हुआ होता है। मूर्छा का कारण जब तक नष्ट नहीं होता वह जाग्रत नहीं होता।

श्रुते नामनि जागर्ति जाग्रद्धि शृणुयान्नरः।
अन्योन्याश्रयता तत्र तथा सुष्वपतोऽपि च॥ ३०५॥

जागर्यात् पेषणं बुद्ध्वा तद्बोधो जाग्रतो भवेत्।
तस्मात्तनु प्रतनु च लिङ्गं सुप्तप्रसुप्तयोः॥३०६॥

नाम अपना सुनेगा तब जगेगा, जगने पर सुनेगा यह अन्योन्याश्रयता हुई। सुषुप्ति में करापेषणज्ञान से जागेगा। जागने पर जानेगा। अतः स्वप्न में सूक्ष्म और सुषुप्ति में सूक्ष्मतर रूप में स्थूल शरीर में व्याप्त होकर लिङ्ग शरीर रहता है।

उच्चैः शब्दोऽर्धबाधिर्ये ह्यत्युच्चैरर्धतोऽधिके।
तथा सुप्ते प्रसुप्ते च तनुप्रतनुलिङ्गिनोः॥३०७॥

आधा बहरा हो तो ऊंचा बोलना पडता है। ज्यादा हो तो और ऊंचा। यही सुप्तिसुषुप्ति में है।

घनीकृत्याक्षि तन्मान्द्ये वीक्षन्ते सूक्ष्ममक्षरम्।
लिङ्गांशिकघनीभावाद् बोधः सुप्तप्रसुप्तयोः॥३०८॥

जैसे आंख कमजोर होने पर सूक्ष्म अक्षरादि पढते समय उसे ताकत लगाकर घन बनाते हैं वैसै सुषुप्त्यादि में लिंग शरीर के अंशतः ईषत् घनीभाव से जागरण होता है।

मूर्च्छायां संकुचेल्लिङ्गं दा हृदादाववतिष्ठते।
तस्माज्ज्ञानं न तस्य स्यात् मुहुःपाण्यादिपेषणात्॥३०९॥

मूर्च्छा में शरीर में व्याप्त होकर सूक्ष्म शरीर नहीं रहता। वह हृदय में सिकुड जाता है इसलिये नाम से बुलाने पर या पाणिपेषणादि करने पर भी जगता नहीं।

प्रबोधयेयुः सुप्तं हि लोकाः पाण्यादिपेषणात्।
मुग्धं मुद्गरपातेना-प्युत्थापयितुमक्षमाः॥३१०॥

पाणिपेषणादि से लोग सुप्त सुषुप्तादि को जगाते हैं। पर मूर्च्छित को मुद्गरघात से भी जगा नहीं सकते।

न स्थूलदेहसम्बन्धो लिङ्गे संकुचिते सति।
ततश्च सुखदुःखादि मूर्च्छितस्य न जायते॥३११॥
स्थूलदेहाभिसम्बन्ध-जन्यं दुःखसुखादिकम्।
तदभावात् सूषुप्तस्यापीक्ष्यते नैव देहिनः॥३१२॥

नैयायिकादयश्च त्वङ्-मनःसम्बन्धमूचिरे।
हेतुं ज्ञानसुखेच्छादौ न सुषुप्ते ततः सुखम्॥३१३॥
सुखमस्वाप्समित्यादावात्मानन्दो हि भासते।
न तत् सुखं सुखं प्रोक्तं शब्दादिविषयोद्भवम्॥३१४॥

मूर्छा में सूक्ष्म शरीर संकुचित होकर हृदय में या पुरीतत् में रह जाता है। इस कारण मूर्च्छित को दुःख सुखादि का अनुभव नहीं होता। स्थूल देह के साथ विशिष्ट सम्बन्ध होने पर सुख दुःखादि होते हैं। उसके अभाव में मूर्छित को क्या? सुषुप्त को भी सुखदुःखादि नहीं होते। न्यायशास्त्रवाले भी मानते हैं कि ज्ञान सुखादि के प्रति त्वक्-मन संयोग कारण है। कोई चर्म मन संयोग को ही कारण मानते हैं। अतः सुषुप्ति में सुखदुःखादि नहीं होते (वेदान्त में मन के स्थान पर सूक्ष्म शरीर कहा जाता है) यदि ऐसा हो तो सुषुप्ति को लेकर मैं सुखपूर्वक सोया यह स्मृति कैसे? वेदान्त का उत्तर है यह आत्मानन्दानुभूति को लेकर है। सुख तो शब्दादिविषय संपर्क से उत्पन्न होनेवाला क्षणिक तत्त्व है।

सुषुप्त्यूर्ध्वं जागरात् प्राग् यत्तादृक्सुखधीर्भवेत्।
तस्यैव सा स्मृतिरिति विदुस्तार्किकतज्ज्ञाः॥३१५॥

सुखमहमस्वाप्सं यह स्मरण सुषुप्ति समाप्त होते होते जाग्रत् से पूर्व ही होनेवाले सुख को विषय करता है ऐसा नैयायिक मानते हैं।

तस्मान्न दुःखं नियतं मूर्च्छितस्य प्रजायते।
तद्द्वारके च मरणे दुःखं संभाव्यतां कुतः॥३१६॥
दुःखस्मृतेरभावाच्च तत्संस्काराद्यभावतः।
दुःखान्मृत्युभयं नृणामिति रिक्तं वचः सताम्॥३१७॥
मृत्युमिच्छन्ति बहव आत्महत्यां च कुर्वते।
महादुःखस्मृतौ सत्यां कथमेतच्च युज्यते॥३१८॥

इसलिये मूर्च्छित व्यक्ति को नियमतः दुःख होता है यह सिद्ध नहीं होता। तब मूर्छाद्वारक मरण में भी दुःख की संभावना कैसे हो? दुःखस्मृति नहीं होती अतः दुःख संस्कार कल्पना भी नहीं होगी। अतः दुःखस्मरण

से मृत्युभय होता है उससे फिर दुःख होता है इत्यादि सन्तवचन रिक्त है-अर्थहीन है। बहुत से लोग मृत्यु को चाहते हैं। बहुत से आत्महत्या करते हैं। मृत्यु में महादुःख का स्मरण हो तो कैसे मृत्यु की इच्छा होगी?

एकवृश्चिकदंशार्तो भीतस्तस्मात् पलायते।
शतवृश्चिकदंशार्तिं कथं मृत्युं वरीष्यति॥ ३१९॥

एक बिच्छू ने काटा। उस दर्द का स्मरण हो तो बिच्छू से वह दूर भागता है। मृत्यु से शतसहस्र बिच्छुओं के डसने का दर्द होता है तो उसका स्मरण करता हुआ भी उसे गले लगाने की बात गले उतरनेवाली नहीं है।

अतो नेदं पूर्वदुःखस्मृत्युत्थं मृत्युतो भयम्।
किन्तु स्वध्वंस-संभोग-भङ्गाद्यालोचनोद्भवम्॥ ३२०॥

इसलिये यह मृत्युभय पूर्वजन्मीय मृत्यु दुःख स्मृतिजन्य नहीं, किन्तु मरने पर आगे मैं शून्य हो जाऊंगा। संसारभोग समाप्त होगा। पुत्रभार्यादि हमेशा के लिये अदृश्य हो जायेंगे इत्यादि चिन्ता से जो बेचैनी होती है उससे उत्पन्न है।

अत्र ब्रूमः शास्त्रदृष्टं प्रतिपद्यामहे वयम्।
अस्ति दुःखादि मरणे मूर्च्छितादेश्च देहिनः॥ ३२१॥

सिद्धान्तः- इस पूर्वपक्ष पर हम यही प्रथम प्रतिज्ञा करते हैं कि हम शास्त्रोक्त अर्थ को समझते हैं। शास्त्रानुसार मरण में दुःख ज्ञान आदि होता है, भले मूर्च्छित होकर मरे या अन्य प्रकार से।

तदाह हृदयस्याग्रं प्रद्योतत इति श्रुतिः।
तत्रात्मज्योतिषेत्याह भाष्ये किंचापरं वपुः॥ ३२२॥
सविज्ञानः सविज्ञानमन्ववक्रामतीति च।
अन्वारभन्ते तं पूर्वप्रज्ञा विद्या च कर्म च॥ ३२३॥

इस बात को श्रुति में स्पष्ट किया है-मरणकाल में हृदयाग्रभाग का प्रद्योतन (प्रकाश) होता है। बिजली आदि से नहीं। भाष्य में कहा-आत्मज्योति से और आगे श्रुति स्वयं कहती है मरते समय आदमी

विज्ञानवान् होता है और विज्ञान के साथ ही अर्थात् जानते हुए ही दूसरे शरीर में प्रवेश करता है। उसके साथ में उपासना, कर्म और पूर्वप्रज्ञारूप वासना भी चलते हैं।

घोरकर्म तु भात्यस्य यमदण्डात्मना पथि।
महत् पुण्यं तथा स्वर्ग्यविमानाद्यात्मनैव च॥ ३२४॥

सविज्ञान होने से मार्ग में घोर दुष्कर्म यमदण्डरूप से प्रकट होता है। और श्रेष्ठ पुण्यकर्म स्वर्गीय विमानादिरूप से प्रकट होता है।

ननु स्थूलं विना देहं स्यातां दुःखमुखे कथम्।
शृण्वातिवाहिकवपु-र्यातनावपुरेव च॥ ३२५॥
विद्येते प्रयतां तस्मात्सविज्ञाना भवन्त्यमी।
अतश्च म्रियमाणानां सुखदुःखादि भासते॥ ३२६॥

प्रश्न होगा कि स्थूल शरीर सम्बन्ध के बिना ज्ञान, सुखदुःखादि कैसे हो? सुनो। मरनेवालों को आतिवाहिक शरीर या यातना शरीर मिलता है। (यह पूर्व पुण्यपाप का परिणाम है) इसी शरीर से मरनेवाले सविज्ञान होते हैं। (यह यातनादि शरीर किंचित्स्थूल होता है यह द्रष्टव्य है) उसी से सुखदुःखादि भी उसको होते हैं।

अव्यक्तस्मृतिरेतस्या भवेज्जन्मान्तरे नृणाम्।
तस्माच्चिन्तयतो मृत्युं भीरेषामुपजायते॥ ३२७॥

उस सुखदुःखादि की धुंधली स्मृति दूसरे जन्म में भी रहती है। इसी कारण मरण को सोचने पर भय होता है।

सद्योजाताः पलायन्ते दृष्ट्वा दण्डधरं नरम्।
मृत्युभीत्या तद्धि पूर्व-मृत्यु दुःखस्मृतेर्वशात्॥ ३२८॥

ताजा जन्में साँप, छिपकली आदि दण्डधारी मनुष्य को दण्ड हिलाते देखकर मृत्युभय से भागते हैं। वह पूर्व मृत्यु के दुःख के स्मरण से ही होगा।

अमृतोऽस्म्यक्षितश्चास्मीत्येवं गीः सिद्धयोगिनाम्।
अमृतोऽक्षितो भूयासम् इति साधकगीरपि॥ ३२९॥

अक्षय हूं, अमृत हूं यह सिद्धोक्ति है। अमृत होऊं, अक्षत होऊं यह

साधक वचन है।

उक्षितेति महन्नामपठितं कर्मधारयात्।
अमृतश्चोक्षितश्चासा-वमृतोक्षित ईरितः॥ ३३०॥

निघण्टु में 'उक्षित' महन्नामों में पढा है। अमृतात्मक महान् ऐसा यहां कर्मधारय कर लो।

व्याख्यातममृतत्वं प्राक् उक्षितः स महानिति।
व्यापकत्वान्महत्व स्यादपरिच्छिन्नता च सा॥ ३३१॥
अमृतेनोक्षितः सिक्तः सुधयाऽऽनन्दरूपया।
आनन्दरसपूर्णोऽहमस्मि भूयासमेव वा॥ ३३२॥

अमृतत्व पूर्वव्याख्यात है। महत्त्व माने व्यापकत्व अपरिच्छिन्नत्व। अमृत से उक्षित सिक्त ऐसा तृतीया समास भी हो सकता है। अमृत सुधा अर्थात् आनन्दरस उससे सिक्त आनन्दरसरूप मैं हूं या होऊं।

इदं विचारयामोऽत्र प्रवृत्तिः किंविधा गिराम्।
सिद्धार्थकथनं किंवा साध्यार्थपरिकीर्तनम्॥ ३३३॥

यहां यह विचार करते हैं कि इन यजुर्मन्त्रों की प्रवृत्ति किस रूप से है? क्या यह सिद्धार्थकथन है या साध्यार्थकीर्तन है?

वृक्षस्य रेरिवाऽस्मीति वार्त्तिकादौ निरूपितम्।
भूयासं रेरिवेत्येवं सायणीये तु योजितम्॥ ३३४॥

मैं वृक्ष का, संसारवृक्ष का रेरिवा हूं इत्यादि रीति वार्त्तिकादि में सिद्धार्थकथन रूप से वार्त्तिकादि में वर्णन किया है अर्थात् अस्मि पद जोडा। कहीं अस्ति पद। सायणाचार्य ने वृक्षस्य रेरिवा भूयासं इस प्रकार साध्यार्थ कथनरूप से वर्णन किया। भूयासम् ऐसी पदयोजना की।

सिद्धार्थकथने स्वस्मिन् बाधितार्थत्वमापतेत्।
ज्ञानार्थं जपतो मन्त्रं साधकत्वं स्फुटं यतः॥ ३३५॥
अस्मि स्वमृतमित्येतत् साधकोक्तौ च बाधितम्।
व्यत्ययो वा लिङर्थे लट्प्रयोगो वचेलिमः॥ ३३६॥

यदि सिद्धार्थ कथन है तो साधक में वह बाधित होगा। क्योंकि ज्ञान

प्राप्त्यर्थ जप तो साधक ही करेगा। यदि यह साधक का कहना है तो भूयासं यह अध्याहार करना पडेगा और वाजिनीव स्वमृतमस्मि यह बाधित होगा या लिङर्थ में व्यत्यय मानना पडेगा।

अस्म्यध्याहृतिरस्त्येव सिद्धस्यरपीति नैव सत्।
आक्षेपलभ्यं कर्त्रुक्तेस्तन्न दोषाय कल्पते॥३३७॥

सिद्धोक्ति में भी रेरिवा आदि के बाद अस्मि का अध्याहार करना पडेगा। दोष समान है। नहीं। अहं कर्ता होने से अस्मि क्रिया आक्षेप लभ्य है। अतः अध्याहार मानें तो भी अध्याहार क्लिष्ट नहीं है।

पक्षद्वयेऽपि किमिह विशेष इति चेच्छृणु।
आद्ये स्याज्जपमात्रार्थमन्त्ये तूपासनाविधिः॥३३८॥
जपमात्रार्थतायां च नार्थस्मरणमर्थवत्।
बाधितार्थत्वतस्तस्माद् व्यर्था व्याख्या भविष्यति॥३३९॥

दोनों पक्षों में क्या अन्तर आता है, क्या विशेषता है? सुनो। प्रथम पक्ष में मन्त्र जपमात्रार्थ होगा। दूसरे पक्ष में उपासनार्थ होगा। जपमात्रार्थ हो तो अर्थज्ञान व्यर्थ होगा। क्योंकि बाधितार्थ है। अतः व्याख्या व्यर्थ होगी।

सत्यं नैवात्र तु विधिर्लिङादीनामभावतः।
नाध्याहार्यो न हि विधौ परः शब्दार्थ इत्यतः॥३४०॥

बात सत्य है। किन्तु लिङादि के न होने से विधि प्रत्यक्ष नहीं है। लिङादि की कल्पना करो। नहीं। विधि में केवल कल्पनादि काम नहीं करता।

स्पृणोतु मेधयेत्यादाविवात्र न कथं विधिः।
भूयासमिति सर्वत्र योजनादिति चेन्मतम्॥३४१॥
स्पृणोत्विति फलं तत्र प्रत्यक्षं कामनं जगौ।
अध्याहृतपदैर्नैव युज्यते विधिकल्पना॥३४२॥

मेधया स्पृणोतु में जैसे यहां भूयासं जोडकर विधि कल्पना करो। नहीं। वहां स्पृणोतु में कामना प्रत्यक्ष है। यहां अध्याहृत पद से कामना की कल्पना करनी पडेगी। कल्पित से कल्पना नहीं होती।

क्रियासामान्यमाक्षेपात् न कर्तास्त्यादिकं विना।
कामादिविरहेऽप्येव घटोऽस्तीति न कामना॥ ३४३॥

कर्ता के आक्षेप से क्रिया सामान्य लभ्य है। न्यूनतम अस्ति आदि क्रिया चाहिये ही। कामना के न होने पर घटोऽस्ति यह अस्ति क्रिया होती है। अतः भूयासं यह कामना कर्तृत्वमात्राक्षेपलभ्य नहीं है।

वस्तुतः स्तूयमानत्वादोंकारोपासनाविधिः।
तस्यां फलविशेषार्थं जपहोमविधिर्यतः॥ ३४४॥
तथा च भाष्यमोंकारो ह्यत्रोपास्योऽस्ति तत्स्तुतेः।
मेधादिफलकौ होम-जपौ तत्कामनाश्रुतेः॥ ३४५॥
यो दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयादिति तद्विधौ।
इन्द्रियेच्छोर्यथा प्राप्ते होमेऽङ्गं दधि तद्विधेः॥ ३४६॥

वास्तविक बात यह है कि यश्छन्दसामृषभ इत्यादि स्तुति होने से '**यः स्तूयते स विधीयते**' इस न्याय के अनुसार ॐकारोपासनाविधि सिद्ध है। फलविशेष प्राप्ति के लिये जप और होम की विधि है। जैसे अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम इस अग्निहोत्र होम विधि में ही दध्नेन्द्रिय कामस्य जुहुयात् इस प्रकार फलविशेषार्थ दधि होम बताया। भाष्य में भी यही कहा-'**ॐकारो ह्यत्रोपास्यः**' '**मेधाकामस्य श्रीकामस्य च तत्प्राप्तिसाधनं जपहोमावुच्येते**'।

ननु श्रीकामविरहे न होमं कुरुते पुमान्।
मेधाभिलाषविरहे कुर्यान्नैव जपं तथा॥ ३४७॥
न चेन्द्रियेच्छाविरहेऽप्यङ्गं दधि यथेत्यपि।
दध्ना जुहोति वचन-पार्थक्यादिति चेच्छृणु॥ ३४८॥

पूर्वः- श्रीकामना न हो तो होम कोई नहीं करता, विशेषतः विरक्त। वैसे मेधा कामना न हो तो जप भी नहीं करेगा। यदि कहें कि इन्द्रिय कामना न हो तो भी अग्निहोत्र में दधि होम जैसे अङ्गरूप से होता है वैसे यहां पर भी मेधाकामना न होने पर भी जप अंग हो जायेगा। नहीं। अग्निहोत्र में दध्नेन्द्रियकामस्य से अतिरिक्त दध्ना जुहोति यह अङ्गविधि आती है।

अत्रापि कामविरहेऽप्यङ्गं प्रकरणाज्जपः।
इष्टं प्रकरणं चपि प्रमाणं श्रुतिवत् किल॥ ३४९॥

सुनो। यहां पर भी मेधादिकामना न होने पर भी जप अङ्ग होगा। श्रुति (तृतीयादिश्रुति) प्रमाण है वैसे प्रकरण भी प्रमाण है। ॐकारोपासना विधान के साथ ही स मेन्द्र इत्यादि सम्बद्धरूप से पढ़ा है तो परस्पराकाङ्क्षा है ही।

ॐकारोपासकश्चायं मुमुक्षुर्नैव संशयः।
ततो विविदिषन्तीति श्रुतेर्विविदिषा ध्रुवा॥ ३५०॥
मेधां विना कथं विद्या गुरुसेवां विना न सा।
वैचक्षण्यं च सेवार्थं शरीरस्यास्त्यपेक्षितम्॥ ३५१॥
श्रवणार्थं श्रुतेः कर्णौ जिह्वानूच्चारणार्थतः।
योग्या इष्टा विविदिषोस्तत्तदिच्छाप्यतो ध्रुवा॥ ३५२॥

और भी बात है। ॐकारोपासना प्रस्तुत है। मोक्षशास्त्र उपनिषत् का प्रारम्भ है। अतः यह उपासना मुमुक्षु के लिये है यह निश्चित है। मुमुक्षु में विविदिषा भी निश्चित है। विविदिषन्ति ऐसी श्रुति है। क्योंकि विद्या से ही मुक्ति है। विद्या के लिये विशिष्ट मेधाशक्ति अपेक्षित है। गुरुसेवा से विद्या प्राप्त होती है-परिप्रश्नेन सेवया यह गीता में कहा है। सेवा के लिये विचक्षण शरीर भी चाहिये। फिर गुरु से श्रवण के लिये कर्ण तथा गुरूच्चारणानूच्चारणाद्यर्थ जिह्वा भी योग्य चाहिये। अतः इन सब की इच्छा भी स्वतः प्राप्त है। अतः एक ही इच्छा के अन्तर्गत सभी इच्छायें है।

अतो मेधादिकामत्व - रहितस्य महात्मनः।
जपो न स्यादिति वचो रिक्तमीक्षामहे वयम्॥ ३५३॥

इसलिये मेधा आदि की कामना न होने पर जप न होगा। यह अर्थहीन वचन है।

स मेन्द्र इति तच्छन्दः स्वार्थोपस्थापकत्वतः।
स्तुतिवाक्यं च जप्यं स्यादेकवाक्यत्वहेतुतः॥ ३५४॥

समेन्द्रो मेधया इत्यादि जपार्थ मन्त्र होगा किन्तु यश्छन्दसामृषभ

इत्यादि में जप्यता कैसे सिद्ध होगी? सुनो। 'सः' यह सर्वनाम तत् शब्द है। उसका जो स्वार्थ है तदुपस्थापक होने से पूर्वोक्त वाक्य के साथ एक वाक्यता होने से पूर्ववाक्य भी जप्य है। जप में अर्थभावना भी तो आवश्यक है।

तस्मादोंकारवाक्येषु वृक्षवाक्येषु च स्फुटः।
विशेषस्तेन तत्साम्यान्नोपास्तिविधिरत्र हि॥ ३५५॥

इसलिये ओंकार वाक्य (यश्छन्दसां इत्यादि) और वृक्ष वाक्य में (अहं वृक्षस्य) में भेद स्पष्ट है। इसलिये ॐकार वाक्य के समान यहां भी उपासना विधि है यह नहीं कह सकते।

इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम्

इति त्रिशङ्कोरत्र प्राक्-परामर्शी भवेदितिः।
अमृतोक्षित इत्यन्तं परामृशति पूर्वगम्॥ ३५६॥

'इति त्रिशङ्कोः' यहां पर इति शब्द पूर्वोक्त परामर्शी है। 'अहं वृक्षस्य' से लेकर अमृतोक्षितः तक जो मन्त्र वाक्य है वह इति का अर्थ है।

ननु तावन्तमेवांशं जपेत् किं ज्ञानसाधकः।
इति त्रिशङ्कोरित्यादेः प्रवेशो न जपे किमु॥ ३५७॥
नैतत् वेदानुवचनमित्यन्तजपदर्शनात्।
किन्तु नैवोपपन्नं तद् अमन्त्रो नैव जप्यते॥ ३५८॥

पू. - तब अमृतोक्षितः यहां तक जप करना ही ज्ञान साधन होगा। इति त्रिशङ्कोः इत्यादि का जप में प्रवेश नहीं होगा। नहीं। 'इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनं' यहां तक जप देखने में आता है। परंतु वह कैसे उचित होगा? मन्त्र तो अमृतोक्षितः तक समाप्त हो गया। शेष किसने इस मन्त्र का दर्शन किया इस बात का कथन है। वह अमन्त्र है। अमन्त्र का जप नहीं होता।

अत्रैके जगुरार्षेयस्मरणं कार्यमीर्यते।
श्रुत्यादाविति वक्तव्यः कृत्स्नो भागो जपादिके॥ ३५९॥

इस विषय में मुख्य आचार्यों का कहना है आर्षेय स्मरण कर्तव्य बताया जा रहा है। श्रुति आदि में यह आवश्यक होने से पूरा मन्त्र बोलना चाहिये जप में।

अहमित्यादिमन्त्रस्य त्रिशङ्कुर्ऋषिरुच्यते।
पङ्क्तिश्छन्दो देवता च परमात्मा भवेदिति॥ ३६०॥

बोलना है - अहं वृक्षस्येत्यादि मन्त्रस्य त्रिशङ्कुर्ऋषिः। पंक्तिश्छन्दः। परमात्मा देवता। परमात्मप्रीत्यर्थे ज्ञानार्थे जपे विनियोगः।

नन्वेवमेव वक्तव्यमादौ अन्ते त्विहोदितम्।
विनियोगो जपे ब्रह्मविद्यार्थे इति नोदितम्॥ ३६१॥
सत्यमत्रर्षिमात्रस्य स्मृतिमावश्यकीं श्रुतिः।
मन्यतेऽत्राधिकं चेत्स्यात् फलमस्त्वधिकं ततः॥ ३६२॥

पू. - तो ऐसा ही प्रथम श्रुति में पढना चाहिये था। यहां अन्त में पढा। ब्रह्मविद्यार्थे जपे विनियोगः यह कहा भी नहीं। उ. - बात सत्य है। किन्तु श्रुति का मानना है ऋषि स्मरण मात्र आदि अन्त कहीं भी करना है। अधिक हो तो अधिक फल हो सकता है।

नन्विहानित्यसंयोगादप्रामाण्यं श्रुतेर्भवेत्।
अपौरुषेये वेदे हि नैव सादिः प्रविश्यते॥ ३६३॥

पू. - अनित्य त्रिशङ्कु का संयोग होने से यह वाक्य या वेद प्रामाणिक नहीं है। अपौरुषेय वेद में सादि का प्रवेश नहीं होता। वेदाऽप्रामाण्य में 'अनित्यसंयोगाच्च' ऐसा जैमिनि ने कहा है

न च त्रिशङ्कोर्हीत्यादि मन्त्रांशो नेति युज्यते।
मन्त्रांशत्वेन तत्पाठ-संप्रदायावलोकनात्॥ ३६४॥

यह कहना उचित नहीं है कि 'इति त्रिशङ्कोः' इत्यादि ऊपर से जोडा है मन्त्रांश नहीं है। क्योंकि मन्त्रांशरूप से उसका पाठ संप्रदाय है।

न च जैमिनिनैवायं पूर्वपक्षः समाहितः।
परं तु श्रुतिसामान्यमित्युक्त्वेत्यपि सांप्रतम्॥ ३६५॥

यह कहें कि इस प्रश्न को महर्षि जैमिनि ने ही 'अनित्यसंयोगात्' से

उठाकर 'परं तु श्रुतिसामान्यं' कहकर समाधान किया है, उचित नही है।

तथा ह्यवोचि बबरः प्रावाहणिरिति श्रुतौ।
बबरः कोपि राजायं प्रवाहणसुतो भवेत्॥ ३६६॥
नैवं तु बबरेत्येतच्छब्दानुकरणाद् मरुत्।
प्रकर्षेणासमन्तात्स वहतीति भवेदनिण्॥ ३६७॥

इस पर प्रथम हम विवेचना करते हैं-बबरः प्रावाहणिः का एक अर्थ हो सकता है-बबर नाम का कोई राजा रहा हो प्रवाहण का पुत्र था (अपत्यार्थ में इञ् प्रत्यय होने से आदि वृद्धि हुई) दूसरा अर्थ है-बर्र् बर्र आवाज करनेवाले बबर अर्थात् वायु। (बर्बर वह पाठान्तर है) वह प्रावाहणि है प्र आ वह अनिण् (यहां ण इत संज्ञा है इ की नहीं) उपधा वृद्धि और णत्व होने से प्रावाहणि होगा-जोर से चारों ओर बहनेवाला (औणादिक प्रत्यय में कार्याद्विद्यादनूबन्धं यही नियम है) इस शब्द सामान्य होने पर भी अर्थ सामान्य नहीं है।

शङ्कुस्तु शंकरो रुद्रः स वा अग्निरुदीयते।
त्रयश्च गार्हपत्याद्यास्त्रिशङ्कुर्यज्ञ उच्यते॥ ३६८॥

शङ्कु शंकर का भी नाम कोश में बताया है। शंकर रुद्र है। 'रुद्रो एष यदग्नि' कहा है। गार्हपत्य आहवनीय दक्षिणाग्नि ऐसे तीन अग्नि जहां पर हैं वही त्रिशङ्कु यज्ञ है। त्रिशङ्कु हुताशनों के स्थान यज्ञ में वेदानुवचन होता ही है।

प्रश्नोपनिषदि प्रोक्तास्त्रयः प्राणाग्नयस्तथा।
उपासितुरतस्तस्य वेदानुवचनं भवेत्॥ ३६९॥

प्रश्नोपनिषत् में चतुर्थ प्रश्न में तीन प्राणाग्नि बतायी हैं। प्राणादि तीन में गार्हपत्याग्नि आहवनीयाग्नि और दक्षिणाग्नि है। वैसी उपासना की जाती है। अतः त्रिशङ्कु उपासक होगा। उसका वेदानुवचन स्पष्ट है। (अतएव ज्ञान प्रकरण में त्रिशङ्कु कथन भीउपपन्न है।)

सत्यं नैवमृषिर्यज्ञस्त्रिशङ्कुः स ह्यमन्त्रदृक्।
मन्त्रदृक्त्वं न यज्ञस्य क्रियारूपस्य विद्यते॥ ३७०॥

यह सच है कि इस प्रकार अर्थ लगाया जा सकता है। परंतु ऐसा त्रिशङ्कु ऋषि नहीं है। क्रियात्मक यज्ञ मन्त्रद्रष्टा नहीं हो सकता।

केचित्तु प्रतिकल्पं हि त्रिशङ्क्वादिः प्रजायते।
पृथिव्यादिरिवानादि पारम्पर्य ऋषिस्ततः॥ ३७१॥
नश्यन्ति प्रलये, सृष्टौ जायन्ते तेज आदयः।
अनित्यास्ते तथाप्येव वेदेन प्रतिपादिताः॥ ३७२॥
प्रवाहतो जातितो वा नित्या क्षित्यादयोऽखिलाः।
तद्वद्देवर्षयश्चैते प्रतिसृष्ट्युद्भवा इति॥ ३७३॥
तेन नानित्यसंयोगो नित्या ऽयस्मात्परम्परा।
भवेदेवं नारदादिरपीति प्रत्यपीपदन्॥ ३७४॥

कुछ विद्वानों का मानना है प्रत्येक कल्प में त्रिशङ्कु वसिष्ठादि जन्म लेते हैं। जैसे प्रत्येक कल्पों में लीन पृथिवी जलादि उत्पन्न होते हैं, प्रलय में नष्ट होते हैं। इस रीति अनित्य होने पर भी पृथिवी आदि का वेदों में वर्णन हैं। कैसे? वे प्रवाहतः नित्य हैं। या जातितः नित्य हैं। पृथिवी परम्परा या पृथिवीत्व जाति नित्य है वैसे वसिष्ठादि परम्परा या वसिष्ठत्वादि जाति नित्य है।

तन्न यः प्रलये नष्ट ऋषिरुत्पद्यते स चेत्।
ज्ञानस्य मोक्षहेतुत्वधीवार्ता दूरतो गता॥ ३७५॥
अधिकारसमाप्तौ ते मुच्यन्त इति मन्यसे।
अनन्तरं ततोऽन्ये स्युर्ऋषयो न त एव हि॥ ३७६॥
न नामसाम्यमात्रेण तदेकत्वं तु सम्मतम्।
तथा चानादिकालात् स्युरनन्ता एव चर्षयः॥ ३७७॥
अबुद्धबुद्धा भृग्वाद्याः कस्मिन् कल्पे प्रजज्ञिरे।
तत्पूर्वं भार्गवी विद्येत्येतन्नाम कथं श्रुतौ॥ ३७८॥
पूर्वकल्पे भृगुर्यस्तु समुक्तोऽबुद्धता पुनः।
कल्पान्तरे न तस्मिन् स्या-दबुद्धत्ववियुक्तितः॥ ३७९॥
अधीहि भगवो ब्रह्मेत्येवं प्रश्नो न कल्पते।
परम्परायां जातौ वा नैव स्तोऽबुद्धबुद्धते॥ ३८०॥

इस वाक्य में भार्गवी विद्योपदेश है तो पूर्वकल्प में यह नामवाली विद्या कैसे श्रुति में आयी? पूर्वकल्प में यह विद्या रही तो भृगु भी रहा। वह मुक्त हो गया तो इस कल्प में अबुद्धता और प्रश्न कैसे? परम्परा नामक तत्त्व में या जाति में न अबुद्धत्व और न बुद्धत्व है।

शब्दसाम्यं भवेत् काममर्थैक्यं नैव विद्यते।
तथा च श्रुतिसामान्यमात्रमित्याह जैमिनिः॥ ३८१॥

शब्दसाम्य भले हो अर्थैक्य तो नहीं है। यह परं तु श्रुतिसामान्यं से जैमिनि ने कहा।

अर्थशून्यत्वमेवान्ते तत्र त्वापततीत्यतः।
नित्यमर्थान्तरं त्वन्ये कल्पयन्ति मनीषिणः॥ ३८२॥

अर्थैक्य नहीं है तो अर्थ शून्यता में ही पर्यवसान होगा। अतः कुछ अन्य मनीषी कहीं कहीं नित्य अर्थान्तर मानते हैं।

त्रयस्तु शङ्कवो विद्धा मायावच्छिन्नचेतने।
सत्त्वं रजस्तम इति त्रिशङ्कुः परमेश्वरः॥ ३८३॥
अनादिदृष्टं मन्त्रं तु प्रतिकल्पं ब्रवीति सः।
कल्पादौ परमात्मायमहं वृक्षस्य रेरिवा॥ ३८४॥
अनाद्योर्ज्ञानवचसोः प्रयोज्यत्व-प्रयोक्तृते।
अविद्याजीवयोर्यद्वदनाद्योः संमते सताम्॥ ३८५॥

सत्त्व, रज, तम ये तीन खूंटें मायावच्छिन्न चेतन ईश्वर में होने से वही त्रिशङ्कु है। मन्त्रों के अनादि द्रष्टा वह ऋषि है। प्रतिकल्प कल्पादि में वह उपदेश देता है-अहं वृक्षस्य रेरिवा इत्यादि। अतः वेदनप्रयुक्त वचन को वेदानुवचन कहा। परंतु श्रुति अनादि होने से वह वेदन प्रयुक्त कैसे? जैसे अविद्या और जीव दोनों अनादि है फिर भी अविद्या प्रयुक्त जीवत्व माना जाता है।

संक्षिप्याहं पदार्थः क इति संप्रति चिन्त्यते।
प्राक् चिन्तितेऽपि भूयोऽर्थस्पष्टीकरणहेतवे॥ ३८६॥

अब 'अहं वृक्षस्य' अहं पद का अर्थ क्या इस का संक्षेपतः चिन्तन

करते हैं। यद्यपि पहले इस का चिन्तन हुआ तथापि अधिक अर्थ स्पष्टीकरण आवश्यक है।

अत्र केचिदिहाचख्यु: त्रिशङ्कुः स्यादहंपदः।
स एव मन्त्रद्रष्टेति युक्तास्यैवाहमर्थता॥३८७॥

इस पर कुछ लोग कहते हैं-त्रिशङ्कु अहं पदार्थ है। क्योंकि वही मन्त्रद्रष्टा है।

तन्नानदिभवो वेदः त्रिशङ्कोः पूर्वमप्यभूत्।
त्रिशङ्कोः प्रागहं शब्दः क आसीदिति भण्यताम्॥३८८॥
अपरश्चेत् स एवर्षिरनवस्था च निश्चिता।
तत्पूर्वमहमर्थः क इति प्रश्नसमुत्थितेः॥३८९॥

पर, वह उत्तर ठीक नहीं है। वेद अनादि होने से त्रिशङ्कु से पूर्व अहं पदार्थ क्या था? कोई दूसरा व्यक्ति हो तो वही ऋषि होगा। उस व्यक्ति से पूर्व कौन था यह अनवस्था भी है।

न चाध्येताऽहमर्थः स्या-दन्यकर्त्रनुपस्थितेः।
तस्य रेरिवताबाधाद् बोधाभावप्रसङ्गतः॥३९०॥

कोई अन्य कर्ता की उपस्थिति न होने से अध्येता विद्यार्थी ही अहं पदार्थ हो जायेगा। नहीं। उसको बाधज्ञान है-मैं संसारछेदक नहीं हूं। अतः शब्दबोध नहीं होगा।

श्रृणु त्रिशङ्कुर्ब्रह्मज्ञो ब्रह्मभूतो ह्यहंपदः।
ब्रह्मात्मैक्यं विदित्वा स्वं ब्रूते वृक्षस्य रेरिवा॥३९१॥

इस का उत्तर सुनो। त्रिशङ्कु ब्रह्मवित् हुआ। ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति के अनुसार वह ब्रह्म ही हो गया। ब्रह्मात्मैक्य जानकर अपने को कहते हैं-मैं वृक्ष का छेदक हूं।

ननु भो ब्रह्मभूतेन श्रुतिः प्रोच्येत किं ततः।
सादिरेव भवेत्तेन वक्तृनिष्पन्नतावशात्॥३९२॥
मैवं कालानवच्छिन्नं ब्रह्म तद्भूत एव च।
ततः कालानवच्छिन्नाः श्रुतयोऽपि न संशयः॥३९३॥

पूर्वः- ब्रह्मभूत हुआ ब्रह्मज्ञानोत्तर। उसने श्रुति को कहा तो भी वेद सादि हो जायेगा। क्योंकि वक्ता से निष्पन्न हुआ। नहीं। ब्रह्मभूत माने ब्रह्म ही है। ब्रह्म कालानवच्छिन्न होने से श्रुति भी कालानवच्छिन्न ही है।

ननु वक्तृप्रयुक्तं हि वचनं सर्वसम्मतम्।
श्रुतिश्च वचनं तस्मात् सादिता दुर्हरेति चेत्॥ ३९४॥
नोत्पत्तिं वच्मि वेदानां प्रयोज्यत्वं तु मन्महे।
प्रयोजकप्रयोज्यत्वे अनाद्योरपि दर्शिते॥ ३९५॥

पूर्वपक्षः- वक्ता से प्रयुक्त वचन होता है यह सर्वमान्य है। श्रुति वचन है। उस का आदि वक्ता आदि है। अतः वेदों की सादिता दुर्वार है। उ. - नहीं। अनादि में भी प्रयोज्य प्रयोजक भाव होता है यह हम अविद्या और जीव के दृष्टान्त से पहले कह चुके।

वामदेवादिकस्येव त्रिशङ्कोरपि वागियम्।
वेदानुवचनं नाम वेदनोत्तरगीरिति॥ ३९६॥

वामदेवादि के जैसे त्रिशंकु का भी यह वेदानुवचन=ज्ञानोत्तरवचन है।

ब्रह्मैवासीदिदं ह्यग्रे स्वात्मानं तदवैत्तदा।
अहं ब्रह्मास्मि तच्चावैद् वामदेव ऋषिस्तथा॥ ३९७॥
अहं मनुरहं सूर्यइत्यादि च ततोऽब्रवीत्।
वामदेवोऽद्य चैवंवित् तथा वेत्ति वदत्यपि॥ ३९८॥
एवं त्रिशङ्कुर्ब्रह्मेह ह्यहं वृक्षस्य रेरिवा।
ब्रह्मभूतस्त्रिशङ्कुश्चेत् सोऽद्यापि व्याहरेत्तथा॥ ३९९॥

बृदारण्यक में आया है - पहले यह सब ब्रह्म ही था। ब्रह्म ने अपने को अहं ब्रह्मास्मि जाना और कहा। और वह सर्वरूप हो गया। वामदेव ने वैसे (अहं ब्रह्मास्मि जाना और कहा-मैं ही मनु सूर्य आदि हुआ)। आज भी जो अहं ब्रह्मास्मि जाने वह भी सर्वरूप होगा और बोलेगा। वैसे त्रिशङ्कु ने ब्रह्मास्मि जाना और कहा मैं ही संसार वृक्ष प्रयोजक हूं।

वामः स सुन्दरो देवो ज्ञानानन्दस्वरूपवान्।
तद्ब्रह्मैव त्रिशङ्कुश्च व्याख्यातः पूर्वमेव यः॥ ४००॥

अद्यापि वामदेवं वा त्रिशङ्कुं वा विदन् वदेत्।
अहं मनुरहं सूर्योऽस्म्यहं वृक्षस्य रेरिवा॥४०१॥

वामदेव-वाम=सुन्दर=आनन्दस्वरूप देव=ज्ञानस्वरूप ब्रह्म ही है। त्रिशङ्कु पूर्व व्याख्यात ब्रह्म ही है। आज भी अपने को जो वामदेव (ब्रह्म) त्रिशङ्कु ब्रह्म जाने वह भी बोलेगा मैं मनु हूं, मैं सूर्य हूं, मैं वृक्ष का छेदक हूं।

स्तां प्रयोक्तृप्रयोज्यत्वे अनाद्योर्वक्तृवाक्ययोः।
इति त्रिशङ्कोरित्यादिस्तदनूक्तिस्तदादिका॥४०२॥

माना कि प्रयोज्य प्रयोजकभाव अनादि पदार्थों में भी मान्य होता है। और अनादि त्रिशङ्कु परमात्मा ने अनादि अहं वृक्षस्य इत्यादि वाक्य प्रयुक्त किया। परंतु इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनं यह वाक्य अहं वृक्षस्य का अनुवाद कर वेदानुवचनत्व उस में बता रहा है। अनुवाद से पहले अनुवाद्य रहता है। तब इति त्रिशङ्कु का आदि अहं वृक्षस्य हुआ। ऐसी स्थिति में इति त्रिशङ्कोः यह सादि हो जायेगा। अतएव इति त्रिशङ्कोः इत्यादि सादित्वात् अवेद होने से जप्य नहीं होगा।

त्रिशङ्कोरेव तद्वाक्य-मिति वक्तुं न शक्यते।
मम वेदानुवचन-मित्यवक्ष्यत्तदा हि सः॥४०३॥

'इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम्' यह भी त्रिशङ्कु का ही वचन है ऐसा नहीं कह सकते। यदि ऐसा होता तो मेरा यह वेदानुवचन ऐसा कहना चाहिये था। अन्य पुरुषत्वेन वक्तृनिर्देश करना संगत नहीं होता।

मैवं त्रिशङ्कुतोपाधि-रनुवाद्यप्रयोजकः।
ईशत्वोपाधिकश्च स्यादनुवादप्रयोजकः॥४०४॥

उ. - नहीं। त्रिशङ्कुउपाधिक ब्रह्म अहं वृक्षस्य इत्यादि वाक्य प्रयोजक है। और ईशत्वोपाधिक ब्रह्म इति त्रिशङ्कोः इत्यादि अनुवाद प्रयोजक है।

न चोपाधिभिदामात्रादुपधेयः प्रभिद्यते।
न हि कुण्डलिनश्चैत्राद्दण्डी चैत्रः स भिद्यते॥४०५॥

उपाधि भेद मात्र से कैसे भिन्नता उपधेय की होगी। क्या कुण्डली चैत्र दण्डी चैत्र से भिन्न हो जायेगा?

नैतद् जीवा विभिद्यन्ते तदुपाधिविभेदतः।
ब्रह्मविष्णुमहेशाना भिन्नाः सोपाधितावशात्॥ ४०६॥

ऐसी बात नहीं है। उपाधिभेद से ही नाना जीव परस्पर भिन्न है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर उपाधिभेद से ही भिन्न हैं।

विरूपनित्यया वाचे-त्याद्या हि श्रुतयः स्वयम्।
वदन्त्यनादिनित्यत्वं वेदानां स्मृतयोऽपि च॥ ४०७॥
तासां चानित्यसंयोगविरोधे समुपस्थिते।
उभयोरपि मानत्वाद् वाच्या परिहृतिर्बुधैः॥ ४०८॥

वाचा विरूपनित्यया 'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा' इत्यादि श्रुति एवं स्मृति वेदों को अनादि निधन नित्य बतलाती है। उस में अनित्य संयोग कैसे होगा। इस प्रकार विरोध उपस्थित होने पर समाधान करना होगा। वही यहां किया है।

गृहव्योमघटव्योम्नोरभेदोऽध्यक्षतः स्थितः।
कार्यभेदेन भेदश्च तयोरेव व्यवस्थितः॥ ४०९॥
घटाम्बरे विधीयेत जलं न तु गृहाम्बरे।
गृहाम्बरे पञ्चजनाः शेरते न घटाम्बरे॥ ४१०॥

जैसे घटाकाश और गृहाकाश प्रत्यक्षतः एक है, किन्तु कार्यतः भिन्न है। घटाकाश में पानी भरते हैं गृहाकाश में नहीं। गृहाकाश में लोग लेटते हैं घटाकाश में नहीं।

नाऽऽकाशे शेरते लोका लोका वै शेरते गृहे।
इति चेन्नेष्टिका चूर्णमयं तन्निर्मितं गृहम्॥ ४११॥
नेष्टिकान्तर्न चूर्णान्तः शेते कोऽप्येव कीटवत्।
इष्टिकाछिद्रखे हन्त शेते कीटोऽपि भो बुध॥ ४१२॥

भला आकाश में कौन लेटता है, सोता है। लोग घर में लेटते हैं, सोते हैं। हां, पर घट जो बनाया उसको कहते हैं। ईंट, चूना आदि से

निर्मित घट ईंट, चूनारूप ही है। इस ईंट के अंदर और चूने के अंदर कौन लेटता है? कोई कीडा भले उस में घुस कर रहे। ईंट चूने के अमुक बनावट के अंदर आकाश में ही लोग प्रवेश करते हैं, लेटते हैं। बल्कि ईंट के अंदर जो छिद्ररूपी आकाश है उसी में कीडे, चींटी आदि रहते हैं। न कि मृत् में।

तस्मान्मानानुसारेण भेदाभेदौ सतां मतौ।
प्रयोजकप्रयोज्यत्वे अप्येवमिति निश्चयः॥४१३॥

इसलिये प्रमाणानुसार भेद एवं अभेद विद्वानों ने माना है। प्रयोजकत्व एवं प्रयोज्यत्व में भी यही सब बात है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

आध्यात्मिकादित्रिविधतापशान्तिर्भवत्विति।
विद्यार्थी प्रार्थयत्येतज्जपान्ते परमेश्वरम्॥४१४॥

आध्यात्मिकादि त्रिविध शान्ति हो इस प्रकार विद्यार्थी जपान्त में परमेश्वर से प्रार्थना करता है।

विद्वांस्तु कृतकृत्यत्वं ख्यापयन् सुप्रसन्नधीः।
संपन्ना त्रिविधा शान्तिरित्याचष्टे महेश्वरः॥४१५॥

और विद्वान आनन्द में आकर जैसे अहं वृक्षस्य रेरिवा आदि कहा वैसे अपनी कृतकृत्यता को ख्यापित करते हुए प्रसन्नचित्त होकर त्रिविध शान्ति संपन्न हो गयी ऐसा गा रहे हैं क्योंकि वे स्वयं महेश्वर हो गये हैं।

इति श्रीकाशिकानन्दयतिना कृतिना कृतम्।
चतुर्थं कृष्णयजुषः शान्तिव्याख्यानवार्त्तिकम्॥४१५॥



ॐ

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

विघ्नानामुपशान्त्यर्थं प्रसादार्थं च चेतसः।
अध्येत्रादेः शान्तिपाठं विधत्ते मुक्तिकाश्रुतिः॥ १॥

विघ्नों के शमन के लिये एवं चित्त प्रसाद के लिये अध्येता अध्यापक आदि के लिये शान्तिपाठ का विधान मुक्तिकोपनिषत् में किया है।

लिङ्गादिबोधितफल-विशेषः क्वचिदिष्यते।
उपस्थितत्वात् सर्वत्र विघ्नोपशमनादिकम्॥ २॥

कहीं कहीं लिङ्गादि से बोधित फलविशेष भी होता है। क्योंकि वहां वह फल उपस्थित है। जैसे 'स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु' इत्यादि में मेधादि फल भी शान्तिपाठ फल है। विघ्नोपशमन तो सर्वत्र फल है।

न चोपस्थितमेधादौ फले सिद्धे तथास्थले।
तेनावरुद्धताहेतोर्नान्यत् स्यादिति सांप्रतम्॥ ३॥

उपस्थित मेधादि फल से अवरुद्ध होने के कारण अन्य फल कल्पना नहीं होगी ऐसी शंका उचित नहीं है।

शान्तिपाठसमाख्यानाच्छान्तेस्त्रिः पठनादपि।
प्राप्तोपसर्गशान्तिर्या सावरोद्धुं न शक्यते॥ ४॥

क्योंकि शान्तिपाठ समाख्या से और अन्त में तीन बार शान्ति कहने से शमन फल भी प्राप्त है। यह कहें कि किसका शमन यह तो बताया नहीं, बुद्धिशमन अर्थ क्यों न लिया जाये। नहीं। अनभीष्ट शमन कौन करेगा? इष्ट शमन ही सभी करेंगे। इष्ट शमन तो उपसर्गादि शमन ही है। तीन उपसर्ग प्रसिद्ध है। तीन बार शान्ति पढ़ी है।

तत्र चाध्यात्मिका आधि-भौतिका अधिदैविकाः।
उपसर्गास्त्रयः ख्यातास्त्रिः शान्तिः पठ्यते ततः॥५॥

तीन की शान्ति बोलने से ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर से होनेवाली तकलीफ की या वात, पित्त, कफ से होनेवाली तकलीफों की किन की शान्ति इस में क्या नियामक? नियामक यही है कि त्रिविध ताप, त्रिविध विघ्नादि सुप्रसिद्ध है। प्रसिद्ध को छोडकर अप्रसिद्ध की ओर मुड़ना ठीक नहीं है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक ऐसा त्रिविध तापादि प्रसिद्ध है। उन में अध्ययन विघ्नत्वेन जो उपस्थित है वही शास्त्राध्येताओं के सामने प्रथमोपस्थित है। अतः आध्यात्मिकादि विघ्नरूप ताप की शान्ति ही यहां विवक्षित है।

ननु विघ्ना भवन्त्येव शान्तिं प्रपठतामपि।
तामप्रपठतां नापि कथं तदुपपद्यते॥६॥

पू. - शान्तिपाठ करनेवालों को भी कभी विघ्न उपस्थित होते है। शान्ति न पढनेवालों को भी कभी विघ्न नहीं होता। यह कैसे?

मैवं द्विद्योपसर्गाः स्युः प्रबला निर्बला इति।
नश्यन्ति निर्बला घोरा दौर्बल्यं यान्ति केवलम्॥७॥

उ. - सुनो। दो प्रकार के विघ्न होते हैं। प्रबल और निर्बल। निर्बल तो शान्तिपाठ से नष्ट होंगे। घोर विघ्न केवल शिथिल बनेंगे।

मन्दं तीव्रं तीव्रतरं प्रारब्धं त्रिविधं जगुः।
आद्यं हन्यात् शिथिलयेन्मध्यमन्त्यं तु दुर्हरम्॥८॥

प्रारब्ध तीन प्रकार का है। मन्द, तीव्र और तीव्रतर। मन्द प्रारब्ध विघ्न शान्तिपाठादि से नष्ट होगा। तीव्र प्रारब्ध शान्तिपाठ से शिथिल होगा। तीव्रतर तो अवश्यंभावि फलवाला है।

येषामपठतां शान्तिं विघ्नादिर्नोपजायते।
तत्ता प्रारब्धविरहात् तेषां तदुपपद्यते॥९॥

शान्तिपाठ किये बिना ही अध्ययनादि करने पर जिनका कोई विघ्नादि नहीं होता उनका वैसा विघ्नादि का प्रारब्ध ही नहीं रहा यही उत्तर है।

अभिभूताः प्रसुप्ताश्च प्रारब्धशतकोटयः।
तत्तत्कालसमुद्बोद्ध्या नाश्यास्तत्कालशान्तितः॥१०॥

ऐसा नहीं है कि आज शान्तिपाठ किया तो अध्ययन विद्या तक उपसर्ग हंमेशा के लिये खतम हो गये। क्योंकि अभिभूत या सुप्त होकर करोड़ों उपसर्ग प्रारब्ध पड़े हैं। तत्तत्समय में यथाक्रम उद्बुद्ध होते हैं उसी समय का उपसर्ग उस समय के शान्तिपाठ से नष्ट होगा। तत्तत्काल उद्बोध एवं नाशादि में हेतु है।

अत एवाह भगवान् गहना कर्मणो गतिः।
तस्मात् प्रतिदिनं कार्यं शान्तिपाठादिकं बुधैः॥ ११॥

कौनसा प्रारब्ध कब प्रकट होता है यह जानना बडा कठिन है। इसलिये भगवान् ने भी गहना कर्मणो गति बताया। हमें तो अध्ययनादि प्रतिरोधक विघ्ननिवारणार्थ प्रतिदिन ही शान्तिपाठादि सत्कर्म करते ही रहना है।

प्रसादश्चेतसो यस्तु शान्तिपाठसमुद्भवः।
बोधोपकारी सर्वेषां भवेच्छ्रद्दधतामसौ॥ १२॥

और शान्तिपाठ करने से जो प्रसन्नता सात्त्विकता आदि होती है वह सभी श्रद्धावान के लिये बोधोपकारी होता ही है।

अतोऽध्यापयितारश्च पठन्ति ज्ञानिनोऽपि ताम्।
ज्ञानप्रसादस्तेषाम - प्यभीष्टश्चेति हेतुतः॥ १३॥

इसलिये पढानेवाले ज्ञानी भी शान्ति का पाठ करते है। एक तो स्वयं अपने हृदय में प्रसन्नता होती है, दूसरा ज्ञानप्रसाद जो होगा वह सर्वाभीष्ट है ही।

पूर्णमदः

येनैकेन जगत् पूर्णं पूर्णताऽस्य निरङ्कुशा।
तदेव पूर्णं परमं ब्रह्म पूर्णपदास्पदम्॥ १४॥

जिस एक से जगत पूर्ण है उसकी पूर्णता अवरोधरहित है। वही पूर्णता यहां पूर्णमदः में पूर्णपद से बतायी है। अर्थात् परब्रह्म ही यहां पूर्ण विवक्षित है।

जलेन पूर्णः कलश इतिवन्नात्र पूर्णता।
घटाकाशोऽम्बुना पूर्णो मृद्भागेऽम्ब्वप्रवेशतः॥१५॥
आकाशेनापि नो पूर्णो घटाणुष्वप्रवेशनात्।
नान्तर्भागोऽस्त्यणूनां यद् आकाशः प्रविशेदणौ॥१६॥

जगत में परमात्मा कैसे पूर्ण है? जैसे घट जल से पूर्ण है वैसे? पर घटाकाश जल से पूर्ण है मृद्भाग में आकाश कहां प्रविष्ट है? आकाश भी घट में पूर्ण भरा हुआ नहीं है। घट परमाणुओं में आकाश कहां है? अणुओं का अन्तर्भाग ही नहीं तो प्रवेश कैसे करेगा?

केन पूर्णो घटस्तर्हि मृदैवेत्यभिदध्महे।
मृत्पूर्णो मृण्मयः कुम्भः कुम्भकारेण निर्मितः॥१७॥

फिर किस से घट पूर्ण है? मिट्टी से। मृण्मय ही कुम्भकार निर्मित है।

अन्तर्बहिश्च संव्याप्य तिष्ठत् पूर्णमुदीर्यते।
मृदस्त्यन्तर्बहिर्व्याप्य घटे, पूर्णा तु सा ततः॥१८॥

जो अंदर बाहर व्याप्त होकर रहे वही पूर्ण है। घट में मिट्टी ही वैसी है।

अणोरन्तःस्थलाभावान्न मृदा पूर्णतेति चेत्।
मृदणौ मृत्तिका नेति को वा प्रत्येति सन्मतिः॥१९॥

अणु का अन्तःस्थल नहीं है तो मृत्पूर्ण कैसे? मृत्तिकाणु में मिट्टी नहीं है ऐसा कौन कहेगा?

तादात्म्यादेव मृत्सत्त्वं प्रतीतिर्बलवत्तरा।
यत्तादात्म्यं जगत्यस्मिन् स पूर्णः परमेश्वरः॥२०॥

प्रतीतिबल से अणु में तादात्म्य से मृत् है। इस जगत् में जिस का तादात्म्य है वही जगत् में पूर्ण है। वह परमेश्वर ही है।

एतेनापास्तमखिलं भेदवादिमतं भवेत्।
नह्यन्यद् व्याप्तमन्येन न पूर्णं तेन तद्भवेत्॥२१॥

पूर्णमदः इस वचन से और यथोक्त व्याख्या से संपूर्ण भेदवादियों का मत निरस्त हो जाता है। अन्य से अन्य व्याप्त नहीं हो सकता। अतः अन्य से अन्य पूर्ण भी नहीं हो सकता।

अणुव्याप्तं जगत् सर्व-मणुः पूर्णस्ततो भवेत्।
तन्नाणूनां हि नान्योन्यं तादात्म्यं विद्यते यतः॥ २२॥

उत्पन्न समस्त जागतिक पदार्थ अणु से व्याप्त है तो अणु भी पूर्ण होगा। जैसे मृत्तिका से पूर्ण घट है। नहीं। ये अणु परस्पर व्याप्त नहीं है।

एकाणुना नापराणुः पूर्णस्तस्मान्न पूर्णता।
समूहेनापि पूर्णत्व-मत एव न विद्यते॥ २३॥

एक अणु से दूसरा अणु पूर्ण नहीं है। अतः अणुओं में पूर्णता नहीं है। अतएव अणुसमुदाय में पूर्णता नहीं है।

यत्तु संयोगमात्रेण पूर्णत्वं भेदिनो जगुः।
तदप्यनेन प्रत्युक्तमिति ज्ञेयं मनीषिभिः॥ २४॥

द्वैतवादियों का कहना है कि संयोग मात्र से पूर्णता है अन्तः प्रवेश की जरूरत नहीं, वह भी इस से प्रत्युक्त है।

एकेनाम्ब्वणुना कुम्भसंयोगे जलपूर्णताम्।
कुम्भस्य लोकाः प्रब्रूयुर्जलसंयोगसत्त्वतः॥ २५॥
तिष्ठत्येको दिवीत्येवमेकत्वं चोदितं श्रुतौ।
तेनाणुव्रजदृष्टान्तोऽप्यत्र नो घटतेतराम्॥ २६॥
अव्याप्यवृत्तिरपि च संयोगः कीर्तितो बुधैः।
तेन व्यापकता हन्त कथं स्यात्परमात्मनः॥ २७॥

एक जलाणु के संयोग से भी घट जलपूर्ण संयोगवादियों के लिये होने लगेगा। दिवि तिष्ठत्येक-इस एकत्व श्रुति से अणु समुदायदृष्टान्त भी विषम होगा। दूसरी बात संयोग को अव्याप्यवृत्ति माना है। तब संयोग से व्याप्यता या पूर्णता असंभव है।

ननु चाकाशवत् सर्व्वगतो नित्य इति श्रुतौ।
दृष्टान्तीकृत आकाशः पूर्ण एव न संशयः॥ २८॥
आकाशाद्वायुरित्यादिश्रुतेः सर्वमिदं जगत्।
आकाशोत्पन्नमाकाशपूर्णमेव भविष्यति॥ २९॥

न चास्तु पूर्ण आकाशः कैवासूयेति सांप्रतम्।
कालादिरपि पूर्णः स्याद् अस्तु तत्रापि का क्षतिः॥३०॥
परस्परेण पूर्णा हि परस्परमिमे कथम्।
सर्वेऽपि वा न पूर्णाः स्युरन्योन्याश्रयतावशात्॥३१॥
विभूनां नास्ति संयोग इत्युपेयेत चेन्मतम्।
नितरां नैव पूर्णाः स्युरात्मव्योमादयोऽखिलाः॥३२॥

पू. – 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' इस श्रुति में ब्रह्म की पूर्णता में आकाश का दृष्टान्त दिया है। तब आकाश भी पूर्ण सिद्ध हो जाता है। आकाश से वायु आदि उत्पन्न होते हैं इत्यादि श्रुति से वायु आदि आकाश जन्य होने से पूरा जगत आकाश से पूर्ण होगा भी। हो आकाश भी पूर्ण। इस में आप को क्या असूया है? काल दिक् भी फिर पूर्ण होगा। होने दो। आप का क्या नुकसान? ये परस्पर पूर्ण मानने होंगे। इस में एक दूसरे में घुसे हुए होने पर अन्योन्याश्रय होगा। तब एक भी पूर्ण नहीं होगा। विभुओं का संयोग नहीं होता इस न्याय मत को मानेंगे तो सुतरां सभी अपूर्ण ही होंगे।

तदसत् सांश आकाशः पञ्चीकरणदर्शनात्।
नैकांशेनापरांशस्तु व्याप्तोऽणुसद्दृगेष यत्॥३३॥
किं च हेतुरहंकारो नाकाशव्याप्त इष्यते।
कार्यव्याप्तं न भवति कारणं कस्यचिन्मते॥३४॥

आकाश व्यापक है पूर्ण इत्यादि बात सही नहीं है। क्योंकि आकाश सावयव है इसलिये पंचीकरण होता है। एक अंश दूसरे भाग में नहीं है। यह अणु समुदाय के समान है। और बात यह है कि आकाश अहंकार से उत्पन्न होता है तो अहंकार को वह व्याप्त नहीं करेगा। कार्य से कारण किसी के भी मत में व्याप्त नहीं है।

श्रुतिः प्रतीतिमाश्रित्य व्याप्तिं बोधयितुं जगौ।
व्योमदृष्टान्तमन्येषां दृष्टान्तानामभावतः॥३५॥

ब्रह्म की व्यापकता समझाने के लिये प्रतीति का आश्रयण कर

आकाश को दृष्टान्त बताया। क्योंकि अन्य कोई दृष्टान्त है नहीं। जो सर्वसाधारण बोधगम्य हो।

दूसरी बात यह है कि आकाशतन्मात्रा के प्रति कारण सांख्यानुसार अहंकार है। आकाशरूपी कार्य से अहंकार व्याप्त न होने से आकाश पूर्ण नहीं हो सकता।

ननु नैवास्त्यहंकार-प्रभूतिर्वैदिके मते।
सूत्रितं चेतरेषां चा-नुपलब्धेः श्रुताविति॥ ३६॥
मनसस्तु पराबुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः।
इत्यादिकेऽन्तःकरणवृत्तयः समुदीरिताः॥ ३७॥
आकाशादिसमष्ट्युत्थमन्तःकरणमिष्यते।
अतो व्याप्तमहंकारा-दिकं व्योम्नेति चेन्न तत्॥ ३८॥
न कार्येण खलु व्याप्तं कारणं विद्यते क्वचित्।
तथापि प्रकृतिर्व्याप्ता नैवाकाशेन तद्भुवा॥ ३९॥

पू. - अहंकार महत्तत्त्वादि सांख्य मत में अलग है। वेदान्त में नहीं। **'इतरेषां चानुपलब्धेः'** ऐसा व्यास सूत्र है। क्यों अनुपलब्ध है? 'अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः' ऐसा श्रुति में कहा है। अर्थ माने आकाशादि। उससे पर मन है। उससे पर बुद्धि है। बुद्धि से महान महत्तत्त्व तथा आत्मा-अहंकार है। सुनो। बुद्धि, मन आदि अन्तःकरण की वृत्तियां हैं। आकाशादि सूक्ष्म सात्त्विकांश समष्टि से अन्तःकरण उत्पन्न है। अतः आकाश से अहंकारादि व्याप्त नहीं। अहंकारादि में आकाश एवं आकाशोत्पन्न वायु तेजादि व्याप्त है। उ. - इस का उत्तर है-सब माना। किन्तु प्रकृति में आकाश व्याप्त नहीं, पूर्ण नहीं। कार्य से कारण व्याप्त नहीं होता।

वेदान्ते प्रकृतिर्नास्ति सांख्ये सा कथितेति चेत्।
मायां तु प्रकृतिं विद्यादिति मायैव सा श्रुतेः॥ ४०॥

यह कहे कि वेदान्त में प्रकृति भी तो नहीं है। सांख्यवालों ने प्रकृति को खड़ा किया है। नहीं। **मायां तु प्रकृतिं विद्यात्** ऐसी श्रुति है। अतः

माया ही प्रकृति है।

माया प्रपञ्चपरिणा-म्युपादानमुदाहृतम्।
उक्तं विवर्तोपादान-कारणं ब्रह्म सूरिभिः॥४१॥

माया जगत् का परिणामी उपादान है और ब्रह्म विवर्तोपादान है।

ननु मायैव पूर्णा स्याद् विश्वस्य प्रभवत्वतः।
मैवं न जीवास्तद्व्याप्ता यत्ते चैतन्यलक्षणाः॥४२॥

तो विश्वकारण माया पूर्ण होगी। नहीं। चेतन जीव मायोपादानक नहीं है।

न च मायामया जीवा भवन्त्याभासलक्षणाः।
मायाप्रायत्वमेतेषां न मायारूपता यतः॥४३॥

जीव मायामय होने से मायाव्याप्त है। नहीं। माया प्रायः है न कि मायारूप।

अपि च ब्रह्म नो मायामयमभ्युपगम्यते।
असंस्पृष्टं मायया तत्तत्पूर्णत्वं तु दूरतः॥४४॥

और ब्रह्म मायामय भी नहीं है। ब्रह्म माया से स्पृष्ट भी नहीं है, उससे पूर्णता दूर है।

ननु ब्रह्म च नो पूर्णं मायायास्तदनुद्भवात्।
अनादिरुच्यते माया जीवाश्चैव तथेति चेत्॥४५॥

पू. - इस प्रकार फिर ब्रह्म भी पूर्ण नहीं होगा। माया ब्रह्म से उत्पन्न नहीं है। क्योंकि माया अनादि है। और जीव भी अनादि होने से ब्रह्म से उत्पन्न नहीं है।

नानादिकल्पिता माया ब्रह्मण्येव परात्मनि।
तत्सत्ताव्यतिरिक्ताऽस्याः सत्ता नैवास्ति काचन॥४६॥

ऐसी बात नहीं है। माया ब्रह्म में ही अनादि काल से कल्पित है। ब्रह्म सत्ता से अतिरिक्त माया की कोई सत्ता नहीं है।

ययैव सत्तयाऽस्तीति प्रत्ययो वस्तुनि क्रमेत्।
सैव तस्य स्वरूपं स्या-दन्यथा शून्यमेव तत्॥४७॥

तयैव पूर्णं तच्च स्याद् ब्रह्मसत्तैव सा ततः।
ब्रह्मणैव जगत् पूर्णं पूर्ण ब्रह्मैव सर्वतः॥४८॥

जिस सत्ता से वस्तु में 'है' ऐसी प्रतीति होती है वही सत्ता उस वस्तु का स्वरूप है। वह स्वरूप न हो तो वस्तु शून्यरूप ही होगा। उसी सत्ता से वस्तु पूर्ण है। वह सत्ता कौनसी है? ब्रह्म सत्ता। ब्रह्म से जगत् पूर्ण है अतः ब्रह्म ही पूर्ण है।

ननु ब्रह्मापि पूर्णं स्यात्सत्तया शून्यमन्यथा।
घटादिसत्ता सैवेति पूर्णं कस्माद् घटादि न॥४९॥

पू. - ब्रह्म भी तो सत्ता से पूर्ण है। ब्रह्म अस्ति यह सत्ता न हो तो ब्रह्म भी तो शून्य होगा। वही घटादि सत्ता भी है तो ब्रह्म के समान घटादि पूर्ण क्यों नहीं?

[ननु ब्रह्मणि सत्ता या सत्ता सैव घटादिके
तस्माद् घटादिकं पूर्णमिति कस्मान्न भण्येत]
उच्यते ब्रह्मसत्ता न ब्रह्मणः पृथगुच्यते।
ब्रह्मैव सत्ता यद् ब्रह्म सत्तामात्रं निगद्यते॥५०॥

उ. - समाधान यह है कि ब्रह्मसत्ता ब्रह्म से अलग नहीं। ब्रह्म ही सत्ता है। ब्रह्म को सत्तामात्र बताया है।

ब्रह्मज्योतिर्निर्विकारं निरीहं निर्गुणं तथा।
सत्तामात्रं निर्विशेषमित्यूचे देवकी हरिम्॥५१॥

रूपं यत्तत्प्राहुरव्यक्तमाद्यं ब्रह्म ज्योतिनिर्गुणं निर्विकारम्। सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहं सत्वं साक्षाद् विष्णुरध्यात्मदीपः। यह श्रीकृष्ण प्राकट्य में देवकी का वचन है। मायाच्छादित होने से वह प्रथम अव्यक्त रहता है। विकार न होने से द्रव्य नहीं। नीरीह होने से क्रिया नहीं। निर्गुण होने से गुण नहीं। निर्विशेष होने से भेदक जाति या विशेष पदार्थ नहीं। सत्तामात्र उसका स्वरूप है। वही आत्मा है, हरि है।

घटसत्तापि न घटात् पृथगस्तीति तुल्यता।
सत्तामात्रं घटोऽप्येव शून्यता सा न चेत्तदा॥५२॥

यह सब घट में भी तो कह सकते हैं। घट सत्ता घट से पृथक् नहीं। घट भी सत्तामात्र है क्योंकि सत्ता न हों तो घट शून्य होता है।

घटत्वेन पृथक्कृत्य घटस्तावन्निगद्यते।
पटात्पृथगयं सत्तामात्रं नैव प्रगल्पितुः ॥ ५३ ॥
बृहत्त्वादुच्यते ब्रह्म ह्यपरिच्छिन्नमद्वयम्।
तस्मान्न ब्रह्मघटयोः समानत्वं कथंचन ॥ ५४ ॥

घटत्व से पृथक् करके लोग घट शब्द बोलते हैं। कपडे से वह पृथक् है यह बोलनेवाला घट को सत्तामात्र समझकर नहीं बोल रहा है। ब्रह्म कोई ब्रह्मत्व जाति को लेकर नहीं कहा जाता। बृहत् होने से ब्रह्म है। ब्रह्म माने अपरिच्छिन्न। देशकाल वस्तु परिच्छेदरहित। अतः ब्रह्म और घट की कोई समानता नहीं है।

बाधैकाधिकरण्येन ब्रूषे ब्रह्म घटं यदि।
स्यात् सर्वं खल्विदं ब्रह्मेत्युक्तेरिष्टं ममापि तत् ॥ ५५ ॥

बाध समानाधिकरण्य से घटो ब्रह्म कहते हो घटत्वादि परित्याग करते हो तो **सर्वं खल्विदं ब्रह्म** श्रुति होने से इष्टापत्ति होगी।

ननु पूर्णं यदि ब्रह्म कथं तर्ह्यद उच्यते।
अदसस्तु विप्रकृष्टे वृत्तिं शब्दविदो विदुः ॥ ५६ ॥
सत्यमावरणाद्धेतोः लोकानां तत् परोक्षवत्।
विप्रकृष्टवदेवापि स्थितमित्यद ईरितम् ॥ ५७ ॥

पू. - एक ओर पूर्ण कह रहे हैं फिर अदः कह रहे हैं यह कैसे? अदस् शब्द की विप्रकृष्ट अर्थ में वृत्ति है। उ. - आवरण के कारण लोगों की दृष्टि में वह परोक्ष जैसा, विप्रकृष्ट जैसा है यही बताने अदः कहा।

जातिक्रियादिरहितमज्ञदृग्गोचरं न तत्।
तलनीलादिरहितं यथा खं दभ्रचक्षुषाम् ॥ ५८ ॥

पूर्ण ब्रह्म जाति गुण क्रियादि रहित होने से अज्ञानियों को वह दृष्टिगोचर नहीं होता। जैसे तलनीलादि रहित अनन्त आकाश तुच्छ चक्षुवालों को दृष्टिगोचर नहीं होता।

असत्त्वापादिका तद्वदभानापादिकाऽऽवृतिः।
द्वयी तृतीयानानन्दा-पादिका तु मतान्तरे॥५९॥
पूर्णमस्ति किमित्युक्तो नास्तीत्याख्याति पामरः।
असत्त्वापादकमिदमाहुरावरणं बुधाः॥६०॥
श्रुतशास्त्रस्तु संपृष्टः पूर्णमस्ति न भाति तु।
इत्याहावरणे तस्मिन्नभानापादकं स्थितम्॥६१॥

असत्त्वापादक एवं अभानापादक दो आवरण है। मतान्तर में अनानन्दापादक तृतीय है। पूर्ण वस्तु कोई वस्तु है? पूछने पर पामर नहीं है कहेगा। यह असत्त्वापादक है। शास्त्रश्रवणोत्तर पूछने पर कहेगा-है, किन्तु भासता नहीं। यह अभानापादक है।

पृथिव्याद्यम्बरान्तेषु तूष्णींभावेन सर्वशः।
निवर्तितेषु साधूनां पूर्णं सदवभासते॥६२॥
सद्बुद्धिरपि चेन्नास्ति मास्त्वस्य स्वप्रभत्वतः।
साक्षित्वाद्भाति सदिति पञ्चदश्यां निरूपितम्॥६३॥

पृथिवी आदि आकाशपर्यन्त सब को तूष्णींभाव (अति चुप्पी) से मन से निवृत्त करने पर साधकों को पूर्ण सत् का भान होने लगता है। यह कहे कि सारी बुद्धि वृत्तियों को हटाने पर **'पूर्ण सत्'** ऐसी बुद्धि भी तो नहीं होगी। न हो। किन्तु साक्षिरूप से स्वयं प्रकाश **सत्** भासता है ऐसा पञ्चदशी में कहा है।

तथापि परमानन्दो न स्फुरत्यस्य योगिनः।
एतत्कथमनानन्दापादकावरणादिति ॥६४॥

फिर भी परमानन्द स्फुरण नहीं होता। क्यों? अनानन्दापादकावरण से।

पूर्णशब्दस्य तृप्त्यर्थं व्याचष्टे स्म गदाधरः।
पूर्णं पूर्णमिति प्रादुर्यतयो भोजने सति॥६५॥

पूर्ण शब्द का तृप्ति अर्थ गदाधर भट्टाचार्य ने किया है। संन्यासी भोजन के अन्त में क्या चाहिये पूछने पर कहते हैं-पूरण पूरण। वहां अर्थ है तृप्त हो गया।

'पूरी आप्यायने'धातोरीदितःक्तेऽनिटः पदम्।
आप्यायनं तर्पणं च प्रीणनं तृप्तिरेव च॥६६॥

पूरी आप्यायने इस धातु से क्त प्रत्यय हुआ। 'ईदितो निष्ठायां' से इट् न होने से पूर्ण शब्द होता है। आप्यायन का राजनिर्घण्टादि में तर्पण, प्रीणन, तृप्ति आदि अर्थ किया है। आप्यायित का आनन्दित अर्थ भी बताया है।

श्रीविद्यारण्यगुरुभिः सप्तावस्थानुवर्णने।
शोकमोक्षोत्तरा तृप्तिः सप्तमी परिदर्शिता॥६७॥
तेन चानन्दरूपत्वं पूर्णशब्देन गम्यते।
परोक्षमिव यत्तत्त्वमानन्दैकरसं हि तत्॥६८॥

सप्तावस्था वर्णन में शोकनिवृत्त्युत्तर सप्तम निरङ्कुश तृप्ति बतायी वह आनन्दरूप ही है। वही पूर्ण है जो परोक्ष सा है वह आनन्दैकरस है।

पालने पूरणे चार्थे पॄ धातुमपठन्मुनिः।
पालनात् पूरणाच्चैव पूर्णं ब्रह्म निगद्यते॥६९॥

पॄ पालनपूरणयोः ऐसा भी धातुपाठ है। पालन और पूरण होने से भी पूर्ण है।

नध्याख्याप्रितिसूत्रेण नत्वं नात्रेत्यसांप्रतम्।
छान्दसत्वात् पूरयतेर्वास्तु नानार्थतावशात्॥७०॥

'नध्याख्यापॄमूर्च्छिमदां' सूत्र में त को न नहीं होगा। यह नियम वेद में नहीं होगा। पूरी धातु का ही पूरणवत् पालनार्थ भी हो सकता है। धातूनामनेकार्थत्वात्। माधवीय वृत्ति में 'द्मापॄवशि' इत्यादिना न प्रत्यय बताया।

अज्ञानादात्मनो मृत्युः पालनं ज्ञानतस्तथा।
स्वरूपज्ञानशून्यत्वाद् मृत्युजन्मपरम्परा॥७१॥
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।
इत्यज्ञानभ्रमोत्था हि प्रोक्ता मृत्युपरम्परा॥७२॥
जीवात्मा ज्ञानतो मृत्युं तीर्त्वा भवति रक्षितः।
स्वप्रकाशात्मकज्ञानाद्ब्रह्म स्यान्नित्यरक्षितम्॥७३॥

न नु त्यक्तेन भुञ्जीथाः पालयेथा इतीरितम्।
न तु ज्ञानेन भुञ्जीथा इत्येवमिति चेच्छ्रणु॥ ७४॥
ईशावास्यतया त्यागमभिप्रैति श्रुतिर्हि सा।
परामृशति पूर्वोक्तं तेनेत्येतत् पदं यतः॥ ७५॥
ईशेन वासनं ह्याच्छादनं बाधात्मकं मतम्।
द्वैतबाधेन रक्षोक्ता बाधस्तत्त्वप्रबोधतः॥ ७६॥
पूर्णशब्देन संदर्श्य नित्यरक्षितमेव च।
नित्यज्ञानस्वरूपं तद्ब्रह्मेत्यपि निवेदितम्॥ ७७॥

ईशावास्य में त्याग से आत्मरक्षा बतायी है, न कि ज्ञान से। सुनो। वहां त्यक्तं से घटत्याग पटत्याग विवक्षित नहीं है। तेन त्यक्तेन यहां 'तेन' से पूर्वोक्त त्याग विवक्षित है। ईशावास्यतारूपी त्याग। अज्ञान से आत्मा की मृत्यु है, ज्ञान से रक्षा है। नानादर्शनरूप भ्रान्ति-अज्ञान से मृत्यु परम्परा श्रुति बताती है। जीवात्मा ज्ञान से मृत्यु पार कर रक्षित होता है। अर्थ है। वासन-आच्छादन-अदर्शन बाधात्मक है। जगत् का बाधात्मक त्याग। अभिव्यक्त ईश से बाधात्मक जगदाच्छादन होता है। अभिव्यक्ति प्रबोध से ही होती है। बल्कि अनावृत ईश ही प्रबोध है। ब्रह्म स्वप्रकाश नित्यज्ञान स्वरूप से नित्य रक्षित है। अतः पूर्ण कहकर ज्ञान स्वरूप भी कहा।

कार्यसत्त्वं हि सर्वत्र स्यादुपादानसत्तया।
कार्यं च पूरितं सर्वं तदुपादानसत्तया॥ ७८॥
पटसत्ता भवेत्तन्तु-सत्तया सांशुसत्तया।
कार्यसत्तोपसंहारे हेतुसत्तावशिष्यते॥ ७९॥
असत् कार्यं तदैकेऽन्ये तिरोभूतं प्रचक्षते।
एवमन्ते स्थिता सत्ता सा नित्या परमा मता॥ ८०॥
तया च पूरितं सर्वं कार्यजातशेषतः।
यस्य हेतुर्न योऽनादिः स्यात्सत्तैव हि तादृशी॥ ८१॥
ब्रह्मसत्तैव तादृक् स्याज्जन्माद्यस्य यतः श्रुतेः।
नित्यसत्तास्वरूपं तत् सत्तामात्रमिति स्मृतेः॥ ८२॥

कार्य की सत्ता कारण की सत्ता से ही होती है, बल्कि कारणसत्ता से कार्य पूरित है। पट की सत्ता तन्तु सत्ता से, तन्तु सत्ता अंशु सत्ता से ऐसी आखिर एक सत्ता ही रहेगी। तन्तु बिखर जाये तो पट सत्ता खतम होगी, तन्तु सत्ता ही रहेगी। तब कार्य असत् हो जाता है ऐसा नैयायिक कहते हैं। कार्य तिरोभूत हो गया ऐसा सांख्य कहते हैं। इस क्रम से अन्त में जो सत्ता रहेगी, उससे जगत पूरित है। अन्तिम सत्ता किसकी? जिस का हेतु नहीं, जो अनादि है। ब्रह्म सत्ता ही वैसी है। श्रुति कहती है-**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते यत् प्रयन्ति।** सूत्र है-जन्माद्यस्य यतः।

इत्थं च सच्चिदानन्दरूपत्वं ब्रह्मणः श्रुतौ।
परोक्षवत् स्थितस्यैव पूर्णशब्देन वर्णितम्॥८३॥

इस प्रकार परोक्षवत् स्थित ब्रह्म की ही सच्चिदानन्दरूपता पूर्ण शब्द से यहां पर वर्णित हुई है।

पूर्णमिदम्

यथाश्रुत इदं विश्वं यद्धि प्रत्यक्षगोचरम्।
सकलं पूर्णमेवेति ब्रूते पूर्णमिदं श्रुतिः॥८४॥

'पूर्णमिदं' का यथाश्रुत अर्थ है-प्रत्यक्ष विषय सकल विश्व भी पूर्ण है। भाष्योक्तार्थ अन्त में दिखायेंगे। जो उपनिषद्ब्रह्मयोगी के अनुरूप है।

परिच्छिन्नमिदं विश्वं कथं पूर्णमितीर्यते।
यतः पुरुष एवेदं विश्वमित्याह वेदगीः॥८५॥
वर्तमानमिदं शब्दं न भूतादीति चेन्न तत्।
भूतं भव्यं च पुरुष एवेत्याचष्ट तत्र हि॥८६॥

परिच्छिन्न विश्व पूर्ण कैसे होगा? श्रुति कहती है-**पुरुष एवेदं विश्वम्।** पर इदं से वर्तमान को ही पूर्ण कहा। नहीं। वहीं **'भूतं भव्यं भवच्च यत्'** कहा।

ननु प्रमापकं नैव श्रुतेः श्रुत्यन्तरं भवेत्।
श्रुत्यन्तरेऽपि शङ्कायास्तुल्यत्वादिति चेच्छृणु॥८७॥

यत् सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति वेदगीः।
तज्ज-तल्ल-तदंस्त्वेन तदात्मकमवोचत॥८८॥

श्रुति का समान श्रुत्यन्तर प्रमापक नहीं होगा। क्योंकि श्रुत्यन्तर में भी वही शंका है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्' यह युक्तिरूप श्रुति। तज्ज=ब्रह्मजन्य, तल्ल=ब्रह्मलीन तदन्=ब्रह्म में जीनेवाला जगत् ब्रह्मरूप ही होगा।

मृज्जन्म-मृल्लय-मृदन् घटो नैव मृदः पृथक्।
तथा ब्रह्मजलान् विश्वं न पृथग् ब्रह्मणो भवेत्॥८९॥

जैसे मिट्टी से पैदा होकर मिट्टी में ही रहकर मिट्टी में लीन होनेवाला घट मिट्टी से पृथक् नहीं वैसे ब्रह्म से उत्पन्न ब्रह्म में स्थित ब्रह्मलीन विश्व भी ब्रह्म से पृथक् नहीं हो संकता यह युक्ति स्पष्ट है।

ननु शान्त उपासीतेत्युपासनविधिः स्थितः।
सर्वं ब्रह्मेति तत्रैव विषयस्य समर्पणम्॥९०॥
ब्रह्मदृष्टिर्हि सर्वत्र कर्तव्येति विधीयते।
तदारोपादपि भवेत् शालग्रामो यथा हरिः॥९१॥

पू. - 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' यह उपासना विधि है। सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि करो यह विषय समर्पण है। वह आरोप से भी होगा। जैसे मूर्ति को भगवान् के रूप में उपासना करो इत्यादि में।

मैवमारोपमात्रत्वे वृथा युक्तिप्रदर्शनम्।
शालग्रामो हरिरिह का युक्तिः किंप्रयोजना॥९२॥

उ. - आरोप में युक्ति व्यर्थ है। शालिग्राम हरि है इस में क्या युक्ति? और किसलिये युक्ति है? अतः युक्ति प्रदर्शन अनुपयोगी होगा।

नन्वप्रयोजनमपि नागो युक्तिप्रदर्शनम्।
सत्यं सिषाधयिषितं किं युक्त्येति निगद्यताम्॥९३॥
सिषाधयिषितं सर्वं ब्रह्मेत्येव न संशयः।
तद्देवताधिकरणन्यायात् पूर्वोदितप्रमा॥९४॥

पू. - युक्ति की उपासना में उपयोग न होने पर भी युक्ति बोलना कोई

अपराध तो नहीं है। उ. - अपराध नहीं है किन्तु युक्ति से क्या सिद्ध करना चाहते हैं? पूर्वोक्त सर्वं ब्रह्म। तो देवताधिकरणन्याय से सब ब्रह्मरूप है यह सिद्ध ही होगा।

क्रतुं कुर्वीत तदिदं वाक्यं विधिपरं परम्।
तत्र शान्त उपासीतेत्ययं गुणविधिर्मतः॥९५॥
रागद्वेषादिराहित्यं शमः कर्त्तुर्विधीयते।
सर्वस्य ब्रह्मरूपत्वाद् द्वेषादिः क्व कुतस्तव॥९६॥

बाद में जो वाक्य आता है **'स क्रतुं कुर्वीत'** यह उपासना की उत्पत्ति विधि का वाक्य है (क्रतु-संकल्प-उपासना) जैसे अग्निहोत्रं जुहोति इत्यादि। उस में गुणविधि है-शान्त उपासीत। जैसे 'दध्ना जुहोति'। शान्त उपासीत में कर्तृगुण शान्ति का विधान है। उस का समर्थनार्थ प्रथम वाक्य है-सब ब्रह्म ही है तो ब्रह्म के प्रति क्या रागद्वेषादि करें। सब ब्रह्म ही है इस में युक्तिप्रदर्शन है-तज्जलान्।

भाष्ये क्रतुं स कुर्वीतोपासीतेत्यन्वदर्शयत्।
सम्बन्धं सव्यवध्योर्हि कर्मणश्च गुणस्य च॥९७॥

भाष्य में भी **स क्रतुं कुर्वीत शान्त उपासीत** ऐसा व्यवहित सम्बन्ध बताया। स क्रतुं कुर्वीत यह उत्पत्ति विधि है। शान्त उपासीत यह गुणविधि है। उत्पत्ति विधि के बाद गुण विधि होती है।

आदावेव विधीयेतो-पास्तिकर्म गुणोऽपि चेत्।
वाक्यभेदो भवेद् व्यर्था क्रतुं कुर्वीतवाक् तथा॥९८॥

सर्वं खल्विदं ब्रह्म-शान्त उपासीत यहीं पर उपासना कर्म विधि और शान्ति गुण विधि मानेंगे तो वाक्यभेद स्पष्ट होगा। स क्रतुं कुर्वीत यह क्रतु विधि व्यर्थ भी होगी।

कुतः क्रतुविधिस्तावद् यतः क्रतुमयः पुमान्।
यथाक्रतुरयं प्रेतः परस्मिन् जायते भवे॥९९॥
क्रतुः सततसंकल्पोऽध्यवसायात्मको मतः।
सैवोपास्तिरतोन्ते च तत्स्मृतेस्तद्गतिः स्मृता॥१००॥

श्रुति में क्रतुं कुर्वीत यह विधि क्यों किया और यह उपासना विधि कैसे आपने जाना? सुनो क्रतुमय पुरुष होता है तदनुसार परजन्म में परिणाम आता है कहकर श्रुति ने **क्रतुं कुर्वीत** कहा। **'यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरं तं तमेवैति कौन्तेय'** यह गीतावचन इसी श्रुति का स्पष्टीकरण है अतः क्रतु और स्मरण एक हुआ। **'तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर'** यही यहां की विधि का स्पष्टीकरण है अतः सदा स्मरण क्रतु है वही तो उपासना है।

सर्वं ब्रह्मेति नारोपस्तस्मादत्र विवक्षितः।
षष्ठे चास्यैव विस्तारं स्पष्टमाचष्ट भाष्यकृत्॥ १०१॥

इसलिये यहां **सर्वं खल्विदं ब्रह्म** यह आरोप विवक्षित नहीं है। इसीलिये भाष्यकार ने षष्ठाध्याय में उद्दालकश्वेतकेतु संवाद से इसी का स्पष्टीकरण या विस्तार बताया।

दिक्कालार्थपरिच्छित्तिवर्जितं ब्रह्म यद् बृहत्।
न खल्वेवं घटादीति सर्वं ब्रह्म कथं ननु॥ १०२॥

यह सब शास्त्रार्थ ठीक है। परंतु दिक्-काल-वस्तु परिच्छेद शून्य होने से बृहत्पदार्थ ब्रह्म सर्व कैसे होगा। सर्वान्तर्गत घटादि ऐसा बृहत् तो है नहीं।

सामानाधिकरण्यं तु बाधेऽत्राहुर्मनीषिणः।
सर्पोऽयं रज्जुरेवेति यथा लोके प्रयुज्यते॥ १०३॥

इस विषय में विद्वान् मनीषियों का कहना है कि यहां बाध-सामानाधिकरण्य है। जैसे लोक में कहते हैं जो सामने दिख रहा है सर्प वह रस्सी है।

इदंत्वेन परिच्छिद्य वीक्ष्यमाणमिदं जगत्।
ब्रह्मैव खलुशब्दोऽयं निश्चयार्थप्रबोधनम्॥ १०४॥

इदंत्व (वर्त्तमानत्वादि) से परिच्छेद कर दिख रहा यह जगत्।

खलुशब्दं निषेधार्थमपरे प्रतिपेदिरे।
तथार्थे प्रत्ययं क्त्वाऽऽहधातुतः पाणिनिर्मुनिः॥ १०५॥

खलु शब्द का यहां निषेधार्थ भी कुछ लोग मानते हैं। **अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः प्रांचां क्त्वा** ऐसा पाणिनीय सूत्र भी है। परंतु वहां क्त्वा प्रत्यय संभव होने पर ही प्रतिषेध अर्थ प्रतीत होता है।

नैव सर्वमिदं विश्वं किन्तु ब्रह्मैव केवलम्।
नेदंकारास्पदं सर्वं किन्तु ब्रह्मैव वस्तुतः॥१०६॥

यह विश्व नहीं है ब्रह्म ही है। जगत् इदंकारास्पद नहीं, अहमर्थ ब्रह्म है इत्यादि।

वस्तुतो दृष्टिभेदेन भागत्यागेन वा भवेत्।
सर्वं खल्विति वाक्येन ह्यखण्डब्रह्मधीरिह॥१०७॥

वस्तुतः 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' में दृष्टिभेद से या भागत्याग से अखण्डार्थ बोध है।

अस्ति भाति प्रियं नाम रूपं चेत्यंशपञ्चकम्।
आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं मायारूपं ततो द्वयम्॥१०८॥

वेदान्तवेत्ताओं ने सभी वस्तुओं में पांच अंश बताये हैं। अस्ति, भाति, प्रिय ये तीन ब्रह्म के अंश हैं, नाम और रूप माया के अंश हैं।

अस्ति भाति प्रियः कुम्भः कम्बुग्रीवादिमानयम्।
एवं वस्तुषु सर्वत्र प्रतीतिर्जायते नृणाम्॥१०९॥

घट है, भासता है, प्रिय है। इस का नाम घट है कम्बु ग्रीवादिमत्त्वरूप (आकार) है इस प्रकार समस्त वस्तुओं में सब को ज्ञान होता है।

घटादि सर्वं ब्रह्मेति यदा तावन्निगद्यते।
नामरूपांशसंत्यागो घटादेः क्रियते बुधैः॥११०॥
बृहत्त्वकारणत्वादित्यागश्च ब्रह्मणो भवेत्।
अखण्डसच्चिदानन्दबोधस्तेन भवेदिति॥१११॥

घटादि सर्वं ब्रह्म ऐसा वाक्य जब सुनते हैं तब अंश पंचक से नाम रूपांशद्वय का सर्व से त्याग होता है। और ब्रह्म से तज्जलान् से लभ्य कारणत्व बृहत्त्वादि का त्याग होता है। तब अखण्ड साच्चिदानन्द बोध

होता है।

नन्वत्र कारणं ब्रह्म न पुनर्निरुपाधिकम्।
इत्यानन्दगिरिः प्राह भागत्यागादि नो ततः॥११२॥

पू. - श्री आनन्दगिरि स्वामी ने यहां बताया है कि यहां कारण ब्रह्म का कथन है निरुपाधिक ब्रह्म का नहीं। तब भागत्यागादि कैसे होगा?

तज्जलानिति विस्पष्टं कारणत्वं निरूप्यते।
प्रागुक्तं ब्रह्म सोपाधि पश्चाच्चैव प्रवक्ष्यते॥११३॥
एवं सति हि मध्येऽत्र न ब्रह्म निरुपाधिकम्।
युक्तं वर्णयितुं तावत् संदंशपतितत्वतः॥११४॥

तज्जलान् से स्पष्ट कारणत्व का निरूपण है। इस से पूर्व सोपाधि ब्रह्म का वर्णन है पश्चात् भी सोपाधि ब्रह्म का वर्णन है। तब बीच में निरुपाधिक ब्रह्म कैसे आयेगा। वह संदशपतित है। दोनों ओर सोपाधिक होने पर मध्य संदशपतित होता है।

मैवं नैकं प्रकरणमिह पूर्वापरस्थितम्।
यत्र संदंशपतितमापद्येत तदङ्गताम्॥११५॥
प्रागुपास्तिप्रकरणेऽप्युक्तं ब्रह्म परात्परम्।
एतल्लोकगतिप्रश्ने आकाशोत्तरवर्णनात्॥११६॥
असूत्रयत्तदाकाशस्तल्लिङ्गादिति सूत्रतः।
प्रस्तावानुगतं प्राणं तथानुगमतो मुनिः॥११७॥
शुद्धं ब्रह्म ब्रह्मसंस्थवाक्येऽप्येवोररीकृतम्।
नोपास्तिमध्यता तेन शुद्धब्रह्मार्थबाधिनी॥११८॥

उत्तरः- ऐसी बात नहीं। एक तो यहां एक उपासना प्रकरण नहीं है जिस के मध्य में आने से संदंश प्रतीत हो। दूसरी बात, पहले भी उपासना प्रकरणों में बीच बीच में शुद्ध ब्रह्म निर्देश हुआ है। जैसे प्रथमाध्याय में 'अस्य लोकस्य का गतिः' यह प्रश्न किया। उत्तर में 'आकाश इति होवाच' आकाश को कहा। वहां आकाश का अर्थ शुद्ध ब्रह्म है। इसी पर 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' यह सूत्र है। वैसे 'या देवता प्रस्तावमन्वयत्ता' इत्यादि

कथन में 'प्राण इति होवाच' बताया। वहां प्राण भी शुद्ध ब्रह्म है। 'प्राणस्तथानुगमात्' ऐसा सूत्र है। द्वितीयाध्याय में 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' यहां शुद्ध ब्रह्म ही अर्थ है। इसलिये उपासना प्रकरणों के बीच में आना शुद्ध ब्रह्म अर्थ होने में बाधक नहीं है।

उपलक्षणरूपेण कारणत्वं निगद्यते।
जन्माद्यस्य यतः सूत्रे शुद्धब्रह्मनिरूपणात्॥ ११९॥

तज्जलान् इत्यादि कारणत्व कथन उपलक्षणार्थ है। जन्माद्यस्य यतः इस सूत्र में जन्मादि कारणत्व कथन जैसे उपलक्षणार्थ है।

न चात्र पक्षसमता दोष इत्यवपि सांप्रतम्।
अविशेषितजिज्ञासोः सविशेषोक्त्यसंगतेः॥ १२०॥

यह कहें कि जन्माद्यस्य यतः में कारण ब्रह्म ही लक्ष्य है। नहीं। अथातो ब्रह्मजिज्ञासा में विशेषणरहित ब्रह्म की ही जिज्ञासा दिखायी है। तब उत्तर में सविशेष ब्रह्मकथन असंगत होगा।

शास्त्रं तावत् प्रववृते पुमर्थप्रतिपत्तये।
शुद्धब्रह्मावबोधाद्धि मोक्षो ब्रह्मविदां मतः॥ १२१॥

ब्रह्ममीमांसा शास्त्र पुरुषार्थ प्राप्ति के लिये प्रवृत्त हुआ है। शुद्ध ब्रह्म का अवबोध से ही मोक्ष होता है। यह ब्रह्मवेत्ताओं का सिद्धान्त है।

द्वैतिनः सगुणब्रह्मवेदनान्मोक्षमूचिरे।
निर्गुणश्रुतयस्तेषां भवेयुर्निष्प्रयोजनाः॥ १२२॥
प्रवृत्तिं वा निवृत्तिं वा यन्न शास्त्रं प्रयोजयेत्।
तस्याऽप्रयोजकत्वाख्यमप्रामाण्यं प्रसज्यते॥ १२३॥

द्वैतवादी सगुण ब्रह्म के वेदन (ज्ञान या उपासना) से मोक्ष कहते हैं। उन के मत में निर्गुण बोधक श्रुतियां निष्प्रयोजन हो जायेंगी। ऐसे शास्त्र से न प्रवृत्ति होगी और न निवृत्ति होगी। जो प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों में किसी की नहीं कराता उस में अप्रोयजकत्वरूप अप्रामाण्य आ जायेगा।

जपार्थास्तूपनिषद इति मीमांसकोद्धताः।
तेषामशेषोपनिषज्जपो न घटतेऽन्वहम्॥ १२४॥

जगावनन्ता वै वेदा इति शातपथी श्रुतिः।
तावत्यश्चोपनिषदो भवेयुरिति कल्प्यते॥१२५॥
यत्किंचिन्मन्त्रजपतः कर्तार्थ्यं मन्वते यदि।
हुंफडुक्त्या गतार्थत्वाच्छेषानर्थक्यमेव वः॥१२६॥
अर्थहीनाञ्जपेद्वेदानिति कल्प्यो विधिस्तव।
अन्यथा कः प्रवृत्तः स्यात्तच्चाङ्गविधया क्रतोः॥१२७॥
स्वतन्त्रत्वे फलं तस्य स स्वर्गः कल्पयिष्यते।
हुंफटा स्वर्गलाभे च क्रतवः स्युर्निरर्थकाः॥१२८॥
अधिकं चेत्फलं यागादधिकं हुंफडुच्यताम्।
किमर्थं क्लेशबहुलं कर्म संपाद्यतां बुधैः॥१२९॥
वेदे तेनाक्षरमपि न व्यर्थं विदुरास्तिकाः।
अद्वैतश्रुतयश्चैवमर्थपूर्णा न संशयः॥१३०॥

ब्रह्मात्मैक्य या निर्गुण ब्रह्म को न माननेवाले कुछ मीमांसक कहते हैं कि उपनिषदों का कोई अर्थ नहीं है। वे मन्त्र जपार्थ है। किन्तु संपूर्ण उपनिषदों का रोज जप करना कैसे बनेगा? शतपथ में कहा है-अनन्तावै वेदाः। वेदों की संख्यानुरूप उतनी उपनिषदें भी होंगी ही। कुछ का जप करो इतना ही मतलब हैं तो 'हुंफट्' इतना बोलने से पूरा हो जायेगा। बाकी व्यर्थ होंगे। अतः प्रवृत्त्यर्थ अर्थहीनान् जपेद् वेदान् ऐसी विधिकल्पना करनी पडेगी। तब सभी उपनिषत् उपस्थित होगी। प्रातिस्विक रूप से परिगणित करना संभव नहीं। और यह अर्थहीन का पाठ (जप) क्रतु का अंग ही मानना पड़ेगा। तब इन सब का जप न करे तो अङ्गहीन कर्म भी व्यर्थ होंगे। अर्थहीन का स्वतन्त्र जपविधि मानें तो स स्वर्गः सर्वान् प्रत्यविशेषात् इस न्याय से स्वर्ग फल ही कहना पडेगा। तो एक हुफट् से स्वर्ग मिलेगा तो कौन दर्शपूर्णमासादि करेगा। वे भी अप्रामाणिक होंगे। दर्शपूर्णमासादि से अधिक स्वर्ग मिलेगा कहो तो अधिक हुंफट् ही क्यों न कहें? धन व्यय, घोर यत्न एक क्लेश पूर्ण याग क्यों करें. इसलिये वेद में एक भी अक्षर व्यर्थ नहीं है ऐसा आस्तिकों की मान्यता हैं। इसलिये

उपनिषदें अद्वैतप्रतिपादक विशिष्ट श्रुतियां अर्थयुक्त हैं। इन्हें अर्थहीन कहना केवल साहस मात्र है।

प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा न ते ब्रह्मणि वर्तते।
तस्माद्वेदान्तवाक्यानामप्रामाण्यं तवापि चेत्॥ १३१॥
अतद्व्यावर्त्तकत्वेन प्रामाण्यं मम विद्यते।
निवर्तकत्वात् सिद्धं त्वि-त्युवाच द्रविडो मुनिः॥ १३२॥

वेदान्त मत में भी ब्रह्म में प्रवृत्ति या निवृत्ति नहीं होती, अतः अप्रमाण्य क्यों नहीं? अन्य व्यावर्तक होने से। आत्मेतर कल्पित वस्तु निवर्तक वेदान्त है। द्रविडाचार्य ने भी 'सिद्धं तु निवर्तकत्वाद्' बताया। वेदान्त अज्ञान निवर्तक है।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
इति श्रुत्या न बोधस्ते द्वैतिनो भ्रम उद्भवेत्॥ १३३॥

यतो वाचो निवर्तन्ते इत्यादि श्रुति सुनने पर द्वैतियों को ज्ञान नहीं अज्ञान भ्रम होता है।

विष्णुर्हि वाङ्मनसयो-र्विषयो द्वैतिनां मते।
तदीयानन्तशक्तिश्चेत्तच्छब्देनैव बोध्यते १३४॥

विष्णु आदि द्वैतमत में ब्रह्म है, विष्णु शब्द का ही यह विषय है और तज्जन्य बोध (मनोवृत्ति) का भी यह विषय है। अनन्त विशालस्वरूप अविषय है यह भी नहीं कह सकते। अनन्त शब्द का और तज्जन्य मानसवृत्ति का यह विषय है।

न प्रातिस्विकरूपेण वक्तुं बोद्धुं च शक्यते।
अनन्ता शक्तिरिति चेद् अणूनामपि तुल्यता॥ १३५॥
अणवः सर्वशक्ताः स्युरित्याहुर्योगिनां वराः।
वक्तुं बोद्धुं न शक्यन्ते तद्वत्तच्छक्तयोऽपि हि॥ १३६॥

परमात्मा की अनन्त शक्तियों का प्रत्येकशः कहना और समझना अशक्य है। इसलिये यतोवाचो निवर्तन्ते बताया तो अणुओं में तुल्यता है। 'अणवः सर्वशक्ताः स्युः' ऐसा योगियों का कहना है।

तुल्यै प्रविष्टे मृत्तोये तत्तद्वीजादियेयोगतः।
वटाम्रादिकशक्त्यावि-र्भावात्तत्तत्तरुर्भवेत्॥ १३७॥

अणु में सर्व शक्ति है, इस में प्रमाण यह है मिट्टी, खाद, पानी जमीन में बराबर है वही बीज में प्रविष्ट होकर वट, आम, नींबू, करेला आदि बनते हैं। तत्तद् बीज संयोग से मिट्टी पानी में छिपी तत्तत् शक्ति आवर्भूत होती हैं। अतः मिट्टी, पानी आदि में ही अनन्त वृक्ष लतादि शक्ति तिरोभूत एवं संयोग विशेष से आविर्भूत होती है कहना होगा। अतः अणु अनन्त शक्तियुक्त हैं। उन शक्तियों को कहना-समझना अशक्य है।

विष्ण्वादेर्वाङ्मनसयोर्निवृत्तिकथनं ततः।
अतिसामान्यताहेतोः स्याद्विशेषतया वृथा॥ १३८॥

एक-एक अणु के विषय में जब वाणी थम जाती है, मन गुम हो जाता है अतः अति सामान्य होने से विष्णु आदि के लिये वैशिष्ट्यद्योतनार्थ उसका कथन वृथा ही होगा।

अतश्च वाङ्मनसयोः सर्वथाऽस्पृष्टिमात्मनः।
वक्तुमेव प्रववृते यतोवाच इति श्रुतिः॥ १३९॥

इसलिये आत्मा में वाणी और मन का सर्वथा स्पर्श राहित्य बताने के लिये ही 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादि श्रुति है।

कथं तर्हि ब्रह्मशब्दाद् उच्यते ज्ञायते च तत्।
उच्यते ज्ञायते चेति भ्रम एष सखे तव॥ १४०॥

यदि परमात्मा का वाणी और मन का सर्वथा स्पर्श नहीं होता तो ब्रह्म शब्द से कैसे आप उसे कहते हैं और समझते हैं?

जन्माद्यस्य यतः सूत्रमुपलक्षणदर्शनम्।
अन्यव्यावृत्तिमात्रं तु संपादयति तद्वचः॥ १४१॥

श्रीमन! ब्रह्म शब्द से परम तत्त्व कहा जाता है और जाना जाता है ऐसा आप को सिर्फ भ्रम हो रहा है। ब्रह्म वचन इतर व्यावृत्तिमात्र संपादन करता है।

सर्वान्यविनिवृत्तौ तु स्वप्रकाशं प्रकाशते।
वायुनापाकृते मेघे भात्यर्कः स्वप्रभो यथा॥१४२॥
न स्पृशेत् पूषणं वायु-र्नैव सूर्यं प्रकाशयेत्।
उच्यतां मेघनिर्हृत्या वायुर्भ्राजयते रविम्॥१४३॥

समस्त अनात्म पदार्थों की निवृत्ति होने पर स्वयं प्रकाश आत्मा प्रकाशित होता है, जैसे वायु ने मेघ को हटाया तो स्वयं प्रकाश सूर्य प्रकाशित होता है। वस्तुतः वायु सूर्य का न स्पर्श करता है और न प्रकाशित करता है। फिर भी आप कहना चाहे तो कह सकते हैं कि वायु ने मेघ को हटाकर सूर्य को प्रकाशित किया।

संनिकृष्टपरिच्छिन्नदृश्यं सद्वस्त्विदं पदम्।
सर्वव्यापिसदानन्दवस्तु पूर्णपदं तथा॥१४४॥

संनिकृष्ट एवं परिच्छिन्न दृश्य सद्वस्तु इदंपदार्थ है। पूर्णपद का अर्थ हे जो उपादान है, व्यापक है, सर्वत्र स्थित है, जो आनन्द स्वरूप भी है ऐसी सद्वस्तु।

समानाधिकरण्यं चेद्बाधे दृश्यं तथाविधम्।
न किन्तु व्यापकानन्दस्वरूपमिति बुध्यते॥१४५॥

बाधसामानाधिकरण्य हो तो अर्थ होगा यह दृश्य प्रपञ्च ऐसा नहीं है (जैसा दिखता है) किन्तु व्यापक आनन्द स्वरूप है।

भागत्यागे तु दृश्यत्व-व्यापकत्वादिकं द्वयोः।
त्यक्त्वाऽखण्डसदानन्दबोधो वाक्येन जायते॥१४६॥

भागत्याग मानेंगे तो 'इदं' से दृश्यत्वपरिच्छिन्नत्वादि एवं पूर्ण से व्यापकत्वादि छोडकर अखण्डसदानन्द बोध होगा।

यद्वा पूर्णं मतमदः परोक्षतया स्थितम्।
प्रात्यक्षिकमिदं किं नु ततो भिन्नं तदेव वा॥१४७॥
तदेव चेद्विरोधः स्यादपरोक्षपरोक्षयोः।
तद्भिन्नं चेत्सर्वशास्त्रविरोध इति चेच्छृणु॥१४८॥

अथवा यह शंका उठती है कि पूर्ण परमात्मा यदि अदः है-परोक्षरूप

है तो प्रत्यक्ष दृश्यमान इदंकारास्पद जगत उससे भिन्न है या वही है। यदि वही है तो अदः से लब्ध परोक्षत्व और इदं से लभ्य अपरोक्षत्व दोनों का विरोध होगा। यदि अदः पदार्थ से भिन्न है तो सकल अद्वैतशास्त्रविरोध होगा।

मृदेव घटनाम्ना च घटरूपेण चेयते।
पूर्णं ब्रह्म तथैवेदं - कारास्पदतयेयते॥ १४९॥
ब्रह्म दाशा तथा ब्रह्म कितवा अपरेऽपि च।
ब्रह्मण्येवाखिलमिदं नामरूपादि कल्पितम्॥ १५०॥

इस का उत्तर सुनो। मिट्टी ही घटनाम से और घटरूप से भासती है। वैसे पूर्ण ब्रह्म ही इदंकारास्पदरूपेण भास रहा है। श्रुति कहती है ब्रह्म ही दास है, ब्रह्म ही कितव है, ब्रह्म में ही संपूर्ण नामरूपादि कल्पित है।

ब्रह्मैवाकाशरूपेण वाय्वग्न्याद्यात्मनापि च।
भासते सर्पमालादिनानारूपैर्यथा गुणः॥ १५१॥

ब्रह्म ही आकाश, वायु, अग्नि आदि रूप से भासता है जैसे रस्सी सर्पमाला आदि रूप से।

ननु ब्रह्मण एवायं परिणामोऽखिलं जगत्।
मृदेव घटरूपेण यथा परिणता भवेत्॥ १५२॥
परिणामित्वतो नाशी भवेदिति न सांप्रतम्।
न नश्येदेव कटकपरिणामे हि हाटकम्॥ १५३॥
शृणु सावयवस्यैव परिणमोऽस्त्यनेकधा।
तत्पुनः स्यादवयवसंनिवेशविशेषतः॥ १५४॥
इत्थं च कनकं यद्वदणुपुञ्जं तथैव ते।
ब्रह्म नैवाऽणुपुञ्जं स्यात्पुञ्जहातौ पृथक् पृथक्॥ १५५॥
स्वर्णस्य पिण्डनाशेन कुण्डलोत्पत्तिरीक्ष्यते।
पिण्डात्मकं यदि ब्रह्म विनश्येत्तज्जगज्जनौ॥ १५६॥
अथ तस्य त्ववयवान् ब्रह्म चेन्मन्यते भवान्।
एकत्वायाद्वितीयत्वाय दत्तस्तर्हि तिलाञ्जलिः॥ १५७॥

तद्दोषहान्यै पिण्डं चेद् ब्रह्म नाशि तदा भवेत्।
सादित्येषा श्रुतिर्नूनमुपरुध्येत निश्चितम्॥१५८॥
ब्रह्म सावयवं नो चेत् परिणामः किमुच्यते।
विषमश्चैव दृष्टान्तः सुवर्णकटकस्य ते॥१५९॥
अथेश्वरेच्छया सृष्टिः स्वस्मिन्नपरिणामिनि।
असतस्तर्हि सद्भावादपसिद्धान्त आपतेत्॥१६०॥
न च स्वे प्रलये लीनान् प्रादुर्भावयतीश्वरः।
लीनानां किं स्वरूपं स्यादीश्वरो वाऽन्यदेव वा॥१६१॥
आद्ये स्यात्परिणामीशः द्वैतमन्त्ये प्रसज्यते।
सर्वं ब्रह्मेत्यादिकाया व्याकोपश्च श्रुतेर्भवेत्॥१६२॥
अथानिर्वचनीयं चेदुच्यते भवता सता।
मिथ्यात्वं भो तदेवेति कुतस्तद्विरुरुत्सति॥१६३॥
दुःखं चिकीर्षति कुतः करुणावरुणालयः।
सापेक्षत्वे स्वतन्त्रत्वं तस्य हंति न संशयः॥१६४॥
लीलेति चात्यनिर्वाच्ये शब्दान्तरमुदीर्यते।
अलं ततो विवादेन श्रुत्युक्तमवधार्यताम्॥१६५॥

पू. - ब्रह्म का ही परिणाम जगत है। मिट्टी जैसे घटरूप से परिणत होती है। परिणामी होने से नाशवान होगा। नहीं। सुवर्ण से कुण्डल बना तो क्या सुवर्ण नष्ट होगा? उ. - सुनो। परिणाम सावयव का ही होता है। अवयवों का आगे पीछे संयोग होने करने से परिणाम होता है। सोना अणुपुञ्ज है। इसी प्रकार ब्रह्म भी अणुपुञ्ज हो तो पुञ्ज खलास होने पर अणु अलग-अलग हो जायेंगे। सोने की डली नष्ट होने पर, गलने पर कुण्डल बनता है। पिण्डरूप ब्रह्म हो तो वह भी गलने पर दूसरा आकारात्मक जगत बनेगा। यदि अवयवों को ही ब्रह्म मानोगे तो एकत्व अद्वितीयत्व दोनों को तिलाञ्जलि देना पडेगा। क्योंकि अवयव अनेक होते हैं। इस दोष के वारणार्थ पिण्ड जो एक है उसे ब्रह्म मानोगे तो पिण्डनाश से ही जगदुत्पत्ति होगी। जैसे सुवर्ण की डली गल जाये तो कुण्डल बनेगा। तब

सदैव तीनों कालों में एकरूप रहनेवाला ब्रह्म है यह बात समाप्त होगी। ब्रह्म यदि परिणामी नहीं तो अविकृत परिणामी मानने के विरुद्ध है। और सुवर्ण कुण्डल दृष्टान्त भी विषम होगा। यह कहें कि स्वयं अपरिणामी अपने में स्वेच्छया जगत को ब्रह्म बनाता है तो उपादान के बिना उत्पन्न होने पर असत् से सदुत्पत्ति मानने से अपसिद्धान्त होगा। अपने में लीन का प्रादुर्भाव ब्रह्म करता है तो वह लीन ब्रह्म से अभिन्न है या भिन्न? यदि अभिन्न है तो परिणामी होगा। भिन्न है तो द्वैतापत्ति होगी। सर्वं ब्रह्म यह सिद्धान्त हानि भी होगी। यदि अनिर्वचनीय कहते हैं तो यही तो मिथ्यात्व है। फिर क्यों विरोध करते हैं। अनिवर्चनीयत्वं मिथ्यात्वं यही हमारा लक्षण है। करुणासागर भगवान ने स्वेच्छा से दुःख क्यों उत्पन्न किया? कर्म सापेक्षता है तो ईश्वर स्वतन्त्र कैसे? लीला कहेंगे जहां निर्वचन नहीं वही तो लीला का मतलब हुआ। विवाद छोडो। जो श्रुति में लिखा उसी पर श्रद्धा कर चलो।

भक्ताः पुनरिह प्राहुः पूर्णा सृष्टिरियं प्रभोः।
शब्दश्चेद्धरिणा सृष्टः सृष्टं तेन श्रवोपि च॥१६६॥
पिपासा चेज्जलं सृष्टं बुभुक्षोरन्नमेव च।
हस्ती नन्तुं न शक्नोति दीर्घः शुण्डोऽस्य निर्मितः॥१६७॥

भक्त लोग दूसरे ढंग से व्याख्या करते है। इदं रूप यह सृष्टि पूर्ण है। भगवान ने शब्द बनाया। वह बेकार हो जाता। अतः श्रोत्र भी बनाया। प्यास बनाया तो पानी भी बनाया। भूख बनायी तो अन्न भी बनाया। हाथी झुक नहीं पाता तो सूंडा लंबा उसका बनाया। देखो पूर्ति कैसे की गयी है।

पुमान् सृष्टोऽर्धबृगलस्तत्पूर्त्यै स्त्री च वेधसा।
स्त्रिया पूर्यत आकाशोऽपरार्ध इति हि श्रुतिः॥१६८॥

भगवान ने अर्ध बृगल (मूंग, चना आदि के अर्ध विदल समान) पुरुष बनाया। वह अधूरा था तब अर्ध पूर्त्यर्थ स्त्री को भी बनाया। 'तस्मादिदमर्धबृगलमिव' 'तस्मादयमाकाशः स्त्रिया पूर्यते' ऐसी श्रुति है।

कूष्माण्डं सूक्ष्मवल्लीषु कथं हन्त महत् फलम्।
सूक्ष्मं फलं कथं चाम्रवृक्षे महति तद्वद॥१६९॥

दो मित्र जा रहे थे। देखा कोहडा पतली बेल पर भारी-भारी लगा है। आगे गया तो देखा बडे-बडे आम के पेड। उस पर छोटे-छोटे फल। एक मित्र ने कहा, भगवान विचारहीन है। बडे-बडे पेड पर बडे फल, छोटी लता पर छोटे फल बनाते।

तस्याम्रच्छायसुप्तस्य नासोपर्यपतत्फलम्।
कूष्माण्डं चेदस्फुटिष्यन्मुखमित्याह तत्सखः॥१७०॥

वे दोनों आम्र की छाया में लेटे। एक फल पेड से उस तार्किक की नाक पर गिरा। दूसरे मित्र ने कहा कोहडा जैसा बडा फल होता, नाक पर गिरता तो क्या हालत होती? इसलिये भगवान की सृष्टि त्रुटिरहित है, पूर्ण है।

पुत्रे जाते जीवनाय मातुः स्तन्यं विनिःसरेत्।
नात्युष्णं नातिशीतं च पूर्णा सृष्टिः प्रजापतेः॥१७१॥

बच्चा पैदा हुआ। भूख लगी। रोटी आदि नहीं खा सकता। तब पूर्त्ति के लिये माताओं के स्तनों में दूध की सृष्टि की। अति उष्ण पिया न जाता, अति शीत वायु दोषादिकारक होता। अतः मन्दोष्ण दूध बनाया।

येन शुक्लीकृता हंसाः शुकाश्च हरितीकृताः।
मयूराश्चित्रिता येन स ते वृत्तिं विधास्यति॥१७२॥
सूर्यखण्डानिवालोक्य हंसान् श्येनादयो दिवि।
नाक्रामन्ति निलीयन्ते कीरा वृक्षे हरिद्दले॥१७३॥
न हन्ति चित्रितान् वीक्ष्य मयूरान् नृत्यतो भुवि।
सिंहव्याघ्रादयोऽप्येव रूपसौन्दर्यमोहिताः॥१७४॥

बच्चे को जंगल में त्याग कर आगे जाते हुए मां-बाप को देखकर बच्चे ने पूछा मेरा जीवन निर्वाह कौन करेगा? मां ने कहा-जिस ने हंस को सफेद बनाया, तोतों को हरा बनाया, मोरों को चित्रविचित्र बनाया वह तेरी रक्षा करेगा। हंस बहुत सारे आसमान में उडते हैं, दूर से उन्हें सूर्य खण्ड

समझकर बाज आदि उन पर आक्रमण नहीं करते हैं। वृक्षों के हरे पत्तों में तोते ऐसा छिप जाते हैं कि किसी को दिखते नहीं। मयूर नाचता है तो उस की सुन्दर चित्रित छत्राकार पंख देखकर जानवर मुग्ध होते हैं। मारते नहीं।

पूर्णात्पूर्णमुदच्यते

अदः पूर्णमिदं पूर्णमिति पूर्णद्वयं कथम्।
पृथक् पूर्णद्वयं वक्तुः पूर्णं नैकंचनापि भोः॥ १७५॥

अदः पूर्णं इदं पूर्णं ये दो पूर्ण कैसे? दो पूर्ण कहो तो एक भी पूर्ण नहीं होगा।

बालैश्च बालिकाभिश्च पूर्णा शालेत्युदीरिते।
पूर्णा बाला न शालायां नैव पूर्णाश्च बालिकाः॥ १७६॥

बालक और बालिकाओं से शाला पूर्ण है कहने पर न बालक ही पूर्ण है और न बालिकायें ही। दोनों आधे-आधे होंगे।

ननु चासंगतमिदं शाला पूर्णेति भण्यते।
बालका बालिकाश्चैव करणार्थतृतीयया॥ १७७॥
तन्न सत् पुरुषेणेदं सर्वं पूर्णमिति श्रुतेः।
पूर्णत्वादेव पुरुष इत्येवं दर्शनादपि॥ १७८॥

बालैः पूर्णा इत्यादि दृष्टान्त संगत नहीं है। बालकादि करण है। तृतीयान्त है। यहां तो ब्रह्म पूर्ण ऐसा प्रथमान्तकर्ता है। यह दोष नहीं है। येनेदं पूर्ण पूरुषेण ऐसा श्रुति में भी तृतीयान्त है। पूर्णः पुरुषः ऐसा प्रथमान्त भी है। पूर्णत्वात् पुरुषः ऐसा अर्थ भी दिखाते हैं।

द्वितीयो नादिमो नाद्यो द्वितीय इति हेतुतः।
परिच्छिन्नस्वरूपत्वादपूर्णमुभयं भवेत्॥ १७९॥

अदः पूर्ण इदं पूर्णं ऐसे दो हैं। अदः इदं नहीं। अतः दोनों परिच्छिन्न हो गये। दोनों पूर्ण नहीं हुए।

अत्रोच्यते नैष दोषः पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
मृत्तिकातो घट इव ततो द्वित्वं न विद्यते॥ १८०॥

इस के उत्तर में कहा जा रहा है पूर्ण से पूर्ण उत्पन्न हुआ। जैसे मृत्तिका से घट।

अदः पूर्णमुपादानमभिन्नं तु ततो भवेत्।
इदं पूर्णमुपादेयं ततो द्वैतं न विद्यते॥ १८१॥

अदः पूर्ण उपादान है। इदं पूर्ण उपादेय है। अतः द्वैत नहीं है, जिस से दोनों अपूर्ण हो। क्योंकि उपादान और उपादेय अभिन्न होता है।

ननूपादानतः कार्यं भिन्नं कारणसंज्ञितात्।
कार्यकारणयोर्भेदो लोकानुभवसाक्षिकः॥ १८२॥
मृदि न भ्रियते तोयं भ्रियते तु घटेऽन्वहम्।
ऐक्ये मृद्घटयोः कस्माद् भ्रियते नैव मृद्यपि॥ १८३॥
न च मृन्न घटाकारस्ततो न भ्रियते मृदि।
तत् किं भ्रियत आकारे स मृदः किं प्रभिद्यते॥ १८४॥
नाकारो नाम वस्त्वस्ति यस्मिन् स्याज्जलधारणम्।
घट एव स आकारो भिद्यते घट एव तत्॥ १८५॥

पू. - कारण से कार्य भिन्न होना चाहिये। मिट्टी में पानी नहीं भरते। घडे में भरते हैं। यदि कहो कि मृत् में घटाकार नहीं अतः पानी मृत्तिका में नहीं भरते। तो वह आकार मिट्टी से अलग है या मिट्टी ही है। यदि मिट्टी ही है तो वही बात दुहराना है। यदि भिन्न है तो वह आकार ही तो घट है। वह मिट्टी से भिन्न सिद्ध हुआ।

उत्पाद्यते घटो यत्नात् स्वयंसिद्धा तु मृत्तिका।
ब्रूते घटं कुर्व इति कुर्वे मृदमितीह कः॥ १८६॥

घट उत्पन्न किया जाता है। मिट्टी स्वयं सिद्ध है। घट को बनाते हैं मिट्टी को नहीं।

अनुत्पादे घटो नास्ती-त्युत्पादेऽस्तीति चोच्यते।
एकस्यां मृदि नास्तीति ह्यस्तीति च विरुध्यते॥ १८७॥

घटोत्पत्ति से पहले घट नहीं है बोलते हैं, उत्पन्न होने पर घट है बोलते हैं। एक ही मृत्तिका में है, नहीं है ये दोनों विरुद्ध हो जायेगी।

बहवस्तन्तवस्तत्र पटमेकं जना विदुः।
एकत्वं च बहुत्वं च विरुद्धं त्वेकवस्तुनि॥१८८॥

तन्तु बहुत है कपडा एक है। एकत्व और बहुत्व विरुद्ध एकत्र कैसे?

मैवमेकपलं स्वर्णं तज्जन्यैकपलोर्मिका।
तयोर्भेदे मिलित्वा स्याद्गुरुत्वं द्विपलं तयोः॥१८९॥

उ. - कार्यकारण भेद उचित नहीं है। यदि दोनों भिन्न है तो एक तोला सोने से अंगूठी बनायी तो एक तोला सोने का वजन और अंगूठी का वजन एक तोला, मिलाकर दो तोला होना चाहिये।

नन्वम्बुधारी कलशो न मृदत्रोत्तरं वद।
अञ्जलौ धार्यते तोयं न पुनर्विरलाङ्गुलौ॥१९०॥
संयुक्ताङ्गुलिकस्तत्र किमस्त्यवयवी पृथक्।
तत्र यत् कारणं तच्च घटादावपि वीक्ष्यताम्॥१९१॥

प्र. - यह ठीक है। परंतु घट में जलधारण होता है, मृत्तिका में नहीं। जो यह पहले कहा था उस का उत्तर यहां सुनो-दो हाथ से अञ्जलि बनाते हैं तो उस में जल धारण होता है, तर्पण होता है। यदि हाथ अलग हो या अंगुलियां विरल हो तो उस में जलादि धारण नहीं होता। तो क्या दो हाथ मिलकर अंजलि नाम का एक अलग अवयवी द्रव्य उत्पन्न होता है? कोई भी महानैयायिक भी वहां पृथक् अवयवी नहीं मानता। जो वहां कारण वही घटादि में जलधारण में भी समझो।

यथाऽच्छिद्रेऽञ्जलौ तोयं तथाऽच्छिद्रघटेऽम्ब्वपि।
तस्मान्नावयविद्रव्यभेदे किमपि कारणम्॥१९२॥

जैसे अच्छिद्र अंजलि में जलधारण होता है वैसे अच्छिद्र घट में भी है। या जैसे छिद्राञ्जलि में जल नहीं ठहरता वैसे छिद्र घट में भी नहीं। अतः अवयविद्रव्य की भिन्नता में कोई कारण नहीं है।

अस्तु नामाञ्जलिद्रव्यं पृथगेवेति चेन्न तत्।
विभागे खण्डपटवत्खण्डदेहप्रसङ्गतः॥१९३॥

अञ्जलि को अलग द्रव्य मान लीजिये क्या हर्जा? हर्जा यह है हस्त

विभाग होने पर पूर्व शरीर नाश खण्डाञ्जलि उत्पत्ति आदि मानना पडेगा जो अपसिद्धान्त है।

विजातीयस्तु संयोगोऽ-वयव्युत्पत्तिकारणम्।
तदभावादञ्जलेर्हि न द्रव्यान्तरतेत्यसत्॥१९४॥
एवं सति कथं तावदञ्जलौ जलधारणम्।
माभूत्तथैव कुम्भादिरपि द्रव्यान्तरं वृथा॥१९५॥

अवयवी-उत्पत्ति के प्रति विजातीय (विलक्षण) संयोग कारण है उस के न होने से अञ्जलि नया अवयवी नहीं है कहो तो बताओ तब अञ्जलि में जलधारण कैसे? वैसे घटादि भी अवयवीरूप द्रव्यान्तर क्यों मानना?

हेतुर्योऽसमवाय्याख्यो यन्नाशात्कार्यनाशनम्।
स विलक्षणसंयोग इति चेदञ्जलौ समम्॥१९६॥

जो असमवायिकारण है, जिस के नाश से कार्यनाश है वह विजातीय संयोग है। कहो तो ये सब लक्षण अञ्जलि में (करद्वय संयोग में) भी बराबर है।

विनाऽऽयासं न यन्नाशः स संयोगस्तथेत्यपि।
पटवेष्टितकुम्भस्य कार्यान्तरविधां नयेत्॥१९७॥
दृढसंयोगजं कार्यं स्यात्तथेत्यप्यसांप्रतम्।
महाजलादिकं स्यान्नावयवि त्वन्मते तदा॥१९८॥
निर्यासश्लेषितं स्यात्ते मते घटपटादिकम्।
कार्यद्रव्यान्तरे तस्माद् वैजात्यं तव दुर्वचम्॥१९९॥

बिना प्रयास आसानी से जिस का नाश न होता है। वह असमवायिकारण संयोग माने तो कपडा लपेटकर घडा बांधा तो बिना आयास वह अलग नहीं होगा तो एक अलग कार्यद्रव्य हो जायेगा। दृढ संयोग बोलो तो महा जल कार्यद्रव्यान्तर नहीं होगा। गोंद से वस्त्र घट चिपकाया तो अलग द्रव्य होगा।

एतेन कारणद्रव्ये विश्लिष्येते यथात्मके।
न येन स विजातीय इत्यादि च पराकृतम्॥२००॥

इस विवेचना से यह असमवायि लक्षण भी परास्त हो जाता है कि जिस संयोग के होने पर कारण स्वरूप कभी भी साबूत पृथक् नहीं होता। अंजलि में दोनों हाथ साबूत पृथक् किये जा सकते हैं अतः अंजलि कार्यद्रव्यान्तर नहीं।

न निर्यासविशेषेण दृढश्लिष्टा यथात्मकम्।
विश्लिष्यन्ते ततः कार्यं भवेद् द्रव्यान्तरं तव॥ २०१॥
शक्यन्ते तन्तवः कर्तुं पृथग् वस्त्राद् यथात्मकम्।
द्व्यणुकाच्च पृथक् कर्तुं शक्या हि परमाणवः॥ २०२॥

ऐसा गोंद आजकल निकला है कि जिस से चिपकाने पर घट से कपडा फटे बिना अलग नहीं हो पायेगा। कपडे का कारण तन्तुओं का संयोग। एक-एक तन्तुओं को खींचकर साबूत अलग किया जा सकता है। दो परमाणुओं से द्व्यणुक होता है। द्व्यणुक टूटने पर दोनों परमाणु बिलकुल साबूत होते हैं।

इदन्तु बोध्यं विद्यन्ते बहुधाऽर्थेषु शक्तयः।
तदाकर्षविकर्षादेः कार्यं नानाविधं भवेत्॥ २०३॥

इतनां अवश्य जानना है कि पदार्थों में शक्तियां नाना प्रकार की होती है। कोई आकर्षण करती कोई विकर्षण करती है। परिणाम उस का नाना प्रकार का होता है। शक्ति कार्यानुमेय होती है।

पराऽस्य शक्तिर्विविधेत्येवं सा वर्णिता श्रुतौ।
अव्यक्तमायादिपदामनिर्वाच्यां विदुर्बुधाः॥ २०४॥
न चेश्वरस्य शक्तिः सा नार्थानामिति सांप्रतम्।
ईशो जगदुपादानं कार्येष्वर्थेषु चैव सा॥ २०५॥

'परास्य शक्ति र्विविधैव श्रूयते' अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिः ऐसे वचन हैं। ईश्वर जगदुपादान होने से कार्य जगत में भी नानारूप से वह शक्ति रहेगी ही।

उपादानात्मकं पूर्णमद इत्युदितं तथा।
उपादेयात्मकं पूर्णमिदमित्युच्यते ततः॥ २०६॥

कारणं मृत्तिका यस्य तत्कार्यं घट उच्यते।
घटोऽपि मृत्तिकः किन्तु नैवास्ते मृत्तिकाद्वयम्॥२०७॥
तथैव कारणं पूर्णं कार्यं पूर्णमिदं तथा।
इति पूर्णद्वयं नास्ति येनाऽपूर्णं द्वयं भवेत्॥२०८॥

पूर्णमदः से उपादानात्मक पूर्ण बताया। पूर्णमिदं में उपादेयात्मक कहा। कारण मृत्तिका है। कार्य घट भी मृत्तिका है किन्तु दो मृत्तिका नहीं हैं। वैसे कार्यकारणरूप होने से पूर्णद्वय नहीं, जिस को लेकर दोनों की अपूर्णता की प्रसक्ति हो।

तदनन्यत्वमारम्भशब्दादिभ्य इति स्वयम्।
सूत्रकृत् प्राह कार्याणा-मुपादानादनन्यताम्॥२०९॥

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः इस प्रकार ब्रह्म सूत्र में भी कार्यकारण की अनन्यता-एकता बतायी है।

मृद उद्गम्यते कुम्भो नासतः सत्त्वमिष्यते।
उद्गतिश्चासतो नैव पूर्णे पूर्णं स्थितं ततः॥२१०॥

मिट्टी में घट उद्गत होता है। असत् न सत् होता है और न उद्भूत होता है। जो अंदर है वही ऊपर उठेगा। पूर्ण में पूर्ण है वही ऊपर उठता है।

अत एवोद्भवत्यादिमप्रयुज्य श्रुतिः स्वयम्।
उदच्यत इति प्राह पूर्वसत्त्वविवक्षया॥२११॥

इसीलिये पूर्णात् पूर्णं प्रजायते उद्भवति आदि का प्रयोग न कर उदच्यते का प्रयोग किया। क्योंकि पूर्व अस्तित्व श्रुति को सूचित करना था।

नृत्यत्युदञ्चितपद इति लोके प्रयुज्यते।
पदं पूर्वं स्थितं नीचैः क्रियते समुदञ्चितम्॥२१२॥

उदञ्चितपाद होकर नृत्य करता है ऐसा व्यवहार करते हैं। तो पहले से नीचे पद है तब तो वह उदञ्चित किया (उठाया) जाता है।

नन्वस्ति मृदि कुम्भः प्राक् कथं नावेक्षितस्तदा।
अस्थौल्याददितिचेत् स्थौल्यं प्रागसत् तदजायत॥२१३॥

पू. - यदि मृत्तिका में घट पहले से था तो दिखा क्यों नहीं? यदि कहो स्थूलता नहीं रही; तो पहले जो स्थूलता असत् थी वह बाद में सत् हुई।

मैवं दूरेऽणवः कुम्भे दृश्याः काचविशेषतः।
कुम्भरूपं ततस्तत्र मिथ्या लोकैर्विलोक्यते॥ २१४॥

उ. - ऐसा नहीं। घट में मेग्निफाईंग ग्लास से देखने पर दूर-दूर अणु बहुत सारे दिखते हैं। उन्हीं में उस ग्लास के हटने पर स्थूलता आदि घटरूप मिथ्या ही लोग देखते हैं।

विरलेषु हि वृक्षेषु घनश्यामवनं यथा।
दूरतो दृश्यते तद्वदणुषु स्थूलतादिकम्॥ २१५॥

दूर-दूर वृक्षों में दूर से देखने पर सघन श्याम जंगल दिखता है। इस प्रकार दूर-दूर अणुओं में स्थूलता आदि का मिथ्या दर्शन होता है।

नानाशक्तिविशेषाश्च सर्वत्रेति निरूपितम्।
व्याकृताऽव्याकृतेत्यादि बहुधा भेदकल्पना॥ २१६॥

नाना शक्ति विशेष सर्वत्र है यह पहले ही कहा जा चुका इसी से व्याकृत अव्याकृतादि नाना भेद कल्पना होती है।

कार्ये निजोद्गते पूर्णे मूलं पूर्णं स्वयं स्थितम्।
मृदः कुम्भे समुत्पन्ने कुम्भे मृदिव वर्तते॥ २१७॥

अपने में (मूल पूर्ण में) उत्पन्न जो कार्य है उस मूल पूर्ण स्वयं रहता है। जैसे मिट्टी में उत्पन्न घट में वही मिट्टी रहती है।

अन्योन्याश्रयता तर्हि दोष आपद्यते द्वयोः।
तस्मान्मृद्येव कुम्भो, न कुम्भे मृदिति तार्किकाः॥ २१८॥
तन्न प्रतीतेः प्रामाण्या-दुभयप्रत्ययेक्षणात्।
प्रत्युत प्रत्ययः प्रायः तार्किकाणां विरोधनः॥ २१९॥
कुण्डले स्वर्णमित्याहुः को ब्रूते हेम्नि कुण्डलम्।
शाखापत्रादयः सन्ति वृक्षे इति जना विदुः॥ २२०॥
शाखापत्रादिषु तरुस्तिष्ठतीति वदेन्नु कः।
तुष्यतु न्यायतोऽन्योन्य-मन्योन्यस्मिन् प्रचक्ष्महे॥ २२१॥

अन्योन्य में अन्योन्य रहे (मृत्तिका में घट एवं घट में मृत्तिका रहे) तो अन्योन्याश्रयता दोष अवश्यंभावी है। अतः घट में मिट्टी नहीं, घट मिट्टी में है ऐसा नैयायिकादि कहते हैं। परंतु अनुभव प्रमाण होने से मिट्टी में घट एवं घट में मिट्टी है। बल्कि नैयायिकों का विपरीत है। इस कुण्डल में सोना है बोलते हैं। दो तोला, चार तोला कुण्डल में सोना है। सोने में कुण्डल कौन कहता है? वृक्ष में शाखा-पत्ते आदि हैं कहते हैं न कि शाखा-पत्ते आदि में वृक्ष है। तुष्यतु दुर्जन न्याय से उभय में उभय हम कह रहे हैं।

अन्योन्याश्रयतादोषः कथं तर्हि निवार्यताम्।
तादात्म्यादिति वक्ष्यामस्तार्किकाणां च तद् मतम्॥ २२२॥
वर्तते तार्किकाग्र्याणां तादात्म्येन घटो घटे।
नात्माश्रयो न च त्वं तैस्तत्रह्युरीकृतम्॥ २२३॥
त्यक्तोऽनुभूत्या युक्त्या च तार्किकाणां घटे घटः।
सयुक्तिकं सानुभवं वयं तदभिदध्महे॥ २२४॥

पूर्वोक्त स्थिति मानेंगे तो अन्योन्याश्रय दोष होगा। नहीं। तादात्म्य होने से वह दोष नहीं है। नैयायिक लोग भी तादात्म्य सम्बन्ध से घट में घट मानते हैं। न वहां आत्माश्रयता है और न घट पर घडा ही वहां है। बल्कि नैयायिकों का घट में घट युक्ति अनुभव दोनों से रहित है। हम सयुक्तिक एवं सानुभव कहते हैं।

महाकाशाद् घटाकाशो घटोपाधिवशाद्भवेत्।
व्यापके हि महाकाशे घटाकाशः प्रवर्तते॥ २२५॥
तादात्म्येन घटाकाशे महाकाशश्च वर्तते।
अनिर्वाच्याभिदोपाधि - वशात्समनुभूयते॥ २२६॥
नाधाराधेयताबुद्धि - रत्यन्ताऽभेददर्शिनाम्।
घटे घट इति ब्रूयात् कोनु वाऽनुभवत्यपि॥ २२७॥

महाकाश में घटोपाधि के कारण घटाकाश तैयार होता है। महाकाश व्यापक होने से घट में भी महाकाश रहेगा ही। ऐसा नहीं कि

महाकाश घट में से निकल जायेगा। घटाकाश में तदात्म्येन महाकाश रहता है। क्योंकि उपाधि के कारण एक अनिर्वचनीय भेद भी आ जाता है। अत्यन्त अभेद हो तो आधार-आधेय बुद्धि नहीं होगी। घट में घट (वही घट) है ऐसा न कोई बोलता है और न ऐसा अनुभव ही किसी को होता है।

सर्वसामान्यसुगमां प्रक्रियां श्रयता मया।
व्याख्यायतेऽस्य मन्त्रस्य पूर्वार्धमधुना पुनः॥२२८॥

सर्व सामान्य के लिये सुगम प्रक्रिया को लेकर इस मन्त्र के पूर्वार्ध की व्याख्या फिर से मैं करता हूं।

तत्त्वमव्याकृतोपाधि ह्यदः पूर्णमुदीर्यते।
व्याकृतोपाधिकं तत्त्वमिदं पूर्णं निगद्यते॥२२९॥

पूर्णमदः का अर्थ है - अव्यकृतोपाधिवाला तत्त्व। इदं पूर्णं का अर्थ है - व्याकृतोपाधिवाला तत्त्व।

तद्ध सर्वमिदं तर्हि आसीदव्याकृतं जगत्।
तद् व्याक्रियत वै नामरूपाभ्यामिति च श्रुतिः॥२३०॥

श्रुति-तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत पहले सभी अव्याकृत था। वह नामरूप से व्याकृत हुआ।

अव्याकृतं बीजशक्तिर्माया सत्तदुपाधिकम्।
सदुज्जीवितमेवेदं व्याक्रियेत जगद्विधम्॥२३१॥

अव्याकृत को ही बीजशक्ति माया आदि कहते हैं। सत्तत्त्व उस से उपहित होता है। सत् के योग से वह उज्जीवित होता है चेतनवत् होता है। तब नामरूपात्मक जगत् रूप से वह व्याकृत होता है। अतः

सत्तत्त्वं तु पुरस्कृत्य सन्मूलं जगदुच्यते।
मायामेव पुरस्कृत्य मायिकं जगदीर्यते॥२३२॥

सत्तत्त्व को आगे रखकर जगत को सन्मूल सदायतनादि कहते है। माया को आगे करके जगत् को मायिक कहते हैं। मिथ्या कहते हैं। यहां सत्तत्त्व के आगे रखकर पूर्ण अस्ति भाति प्रिय कहते हैं।

अस्ति भाति प्रियं नाम रूपं चेत्यंशपञ्चकम्।
आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं मायारूपं ततो द्वयम्॥ २३३॥

अस्ति, भाति, प्रिय, नाम, रूप इन में प्रथम तीन ब्रह्म के, द्वितीय दो माया के रूप हैं।

तथा चाव्याकृतोपाधि परोक्षतया स्थितम्।
जगतः कारणं ब्रह्म पूर्णं सच्चित्सुखात्मकम्॥ २३४॥
तथैवेदं नामरूपोपाधि दृश्यतया स्थितम्।
पूर्णं कार्यात्मकं ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणम्॥ २३५॥

तब प्रथमपाद का अर्थ यह होता है कि अदः-परोक्षरूप से स्थित जगत् कारण ब्रह्म पूर्ण है, सच्चिदानन्दरूप है। तथा इदं-दृश्यरूप से स्थित नामरूप कार्यात्म ब्रह्म पूर्ण है, सच्चिदानन्दरूप है।

द्वे द्रव्ये जन्यजनके घटदण्डौ यथा तथा।
द्वे पूर्णे किं नु? नेत्याह पूर्णात् पूर्णमुदच्यते॥ २३६॥
न जलोर्मी पृथग् द्रव्ये जलादूर्मिरुदच्यते।
उपादेयं न भिन्नं यद् उपादानादुदच्यते॥ २३७॥

कार्य और कारण दो द्रव्य होते हैं जैसे घट और दण्ड। वैसे अदः और इदं ऐसे दो पूर्ण हैं क्या? उत्तर है-नहीं। क्योंकि पूर्ण से पूर्ण उद्गत होता है। उठता है। जैसे पानी और तरङ्ग दो द्रव्य नहीं। पानी से तरंग उठती है। उपादान कारण से उदीयमान कार्य उपादान से भिन्न नहीं होता।

तत्सृष्ट्वा च तदेवानु प्राविशत् पूर्ण एव सः।
प्रवेशोऽपि च तादात्म्यान्न संयोगादितो मतः॥ २३८॥

श्रुति कहती है शरीरादि सृष्टि कर पूर्ण परमात्मा ने उस में अनुप्रवेश किया। प्रवेश भी तादात्म्य से, न कि संयोगादि सम्बन्ध से।

जीवेनानुप्रविश्येति श्रुत्यन्तरमपि स्थितम्।
अतोऽनुप्रविशन्नन्यो जीवोऽन्य इति मा गदीः॥ २३९॥
सहार्थेऽत्र तृतीयाऽस्तु जीवेन सह सोऽविशत्।
जीवरूपेण सोऽविक्षदात्मनेति विशेषणात्॥ २४०॥

जीवात्मा और परमात्मा दो द्रव्य है। जीवात्मा के ग्रहणार्थ आत्मना जोड़ा। नहीं। अन्त में तत्त्वमसि ऐसा एकत्वोपसंहार किया है। उपक्रम में भी एकमेवाद्वितीयं ऐसा एकत्वावधारण और द्वितीय निषेध है।

व्याकृताऽव्याकृतोपाधी भिद्येते नैव पूर्णतः।
सामानाधिकरण्येन द्वयोर्निर्देशदर्शनात्॥ २४१॥

अदः शब्दार्थ अव्याकृत उपाधि और इदं शब्दार्थ व्याकृतोपाधि भी पूर्ण संभिन्न नहीं है। पूर्णम् अदः पूर्णम् इदम् ऐसा सामानाधिकरण्य निर्देश है।

सामानाधिकरण्यं तु भवेद् बाधे विचारतः।
भेदाभेदोऽपि नो तेन शङ्कनीयो मनीषिभिः॥ २४२॥

विचार करने पर सामानाधिकरण्य भी बाध में ही होगा? जैसे सर्पोऽयं रज्जुरेव बोलते हैं। अतः भेदाभेद मत भी अस्वीकृत है।

उपाधिहाने पूर्णैक्यं सच्चिजानन्दलक्षणम्।
उपाधिबाधेऽखण्डं च सच्चिदानन्दमद्वयम्॥ २४३॥

अदः इदं इन उपाधियों के त्यागने से सच्चिदानन्दरूपी पूर्ण की एकता है। उपाधि का बाध होने पर अखण्ड अद्वय सच्चिदानन्द स्वरूप है।

एतत्स्पष्टयितुं ह्यग्र उत्तरार्धं प्रवर्त्स्यति।
प्रसङ्गशुद्धयेऽत्रैव मया किंचिदुदीरितम्॥ २४४॥

उत्तरार्ध में यह स्पष्ट है। प्रसङ्ग शुद्ध्यर्थ हमने थोडा यहां निदर्शन किया।

अन्योऽसावन्य एवाह-मिति जीवोऽभिमन्यते।
भ्रान्तिर्भवति तस्येयं पशुत्वेन स निन्दितः॥ २४५॥

इस प्रकार स्पष्ट ऐक्य प्रतिपादित होने पर भी जो द्वैतवादी परमात्मा भिन्न है, मैं भिन्न हूं ऐसा भेद दर्शन करते हैं वे भ्रान्त है। उस की पशु कहकर श्रुति में ही निन्दा की है।

तत्राद इदमित्येवं द्वितयं भ्रान्तिगोचरम्।
पूर्णद्विरुक्तिस्तद्भ्रान्त्यै पूर्णद्वित्वाद्यसंभवात्॥ २४६॥

उस पूर्ण में अदः इदं ये दोनों भ्रान्ति से प्रतीत हो रहे हैं। इसलिये पूर्ण शब्द की द्विरुक्ति है कि वह भ्रान्ति मिट जाये। क्योंकि पूर्णद्वय संभव नहीं है। दो पूर्ण मानने पर दोनों ही परिच्छिन्न होकर अपूर्ण होंगे। अतएव दो पूर्ण का ज्ञान भी अभ्रान्त नहीं हो सकता।

अपरिच्छिन्नतत्त्वं हि पूर्णशब्देन गम्यते।
तत्रादइदमित्येवं परिच्छेदः क्व संभवी॥ २४७॥

क्योंकि पूर्ण शब्द से अपरिच्छिन्न तत्त्व ही उपस्थित होता है। वहां अदः इदं इत्यादि परिच्छेद कहां संभव है?

मालारज्जुः फणीरज्जुर्भूछिद्रो रज्जुरम्बुनः।
धारा रज्जुरिति ह्याहुः सर्वभ्रान्तिनिवृत्तये॥ २४८॥
अत्रादइदमित्याभ्यां संगृहीतमशेषतः।
द्वयोः पूर्णत्वकथनात् सर्वाऽपूर्वभ्रमच्छिदिः॥ २४९॥

जो माला दिख रही है वह रज्जु है, सर्प रज्जु है, भूछिद्र रज्जु है, जलधारा रज्जु है ऐसी सर्व की भ्रान्ति निवृत्त की जाती है। प्रकृत में अव्याकृत व्याकृत दो ही तो हैं। दो को पूर्ण बताया तो सर्व अपूर्ण भ्रमच्छेदन फल है।

अपश्यद् विश्वमुदरे मार्कण्डेयः पुरा हरेः।
बहिश्च मात्रयाऽद्वैत-मप्यन्ते हरिरूपतः॥ २५०॥

मार्कण्डेयजी ने बाहर विश्व को देखा फिर बाल मुकुंन्द के उदर में देखा। बाद में हरिमय देखा। अर्थात् व्याकृत अव्याकृत दोनों जाना फिर सर्व बाध से ब्रह्ममात्र अनुभव किया।

अचष्टाऽऽस्ये बहिश्चैव यशोदा युगपज्जगत्।
मृद्भक्षणकलीलायां सर्वं हरिमयं तथा॥ २५१॥

यशोदा माता ने भी बाहर तथा हरिमुख में साथ-साथ जगत् को देखा-मृद्भक्षण लीला प्रसङ्ग में। अन्त में सब को हरिमय हरिरूप देखा। वहां भी व्याकृत अव्याकृत तथा पूर्णदर्शन का ही वर्णन है। 'मृत्सामत्सीहेति यशोदा' इत्यादि गोविन्दाष्टक में भगवत्पादाचार्य ने भी उसका वर्णन किया है।

पूर्णस्य पूर्णमादाय

कारणस्य हि सत्त्वेन कार्येऽस्तित्वं प्रतीयते।
तन्तुसत्त्वेन हि पटे सत्ता याऽस्तीतिधीपदा॥ २५२॥

कारण की ही सत्ता से कार्य में अस्तित्व की प्रतीति होती है। तन्तु सत्ता से ही पट की सत्ता है जो अस्ति (है) ऐसी बुद्धि का विषय है।

आदीयेरन् यदि पटात् तन्तवः सर्व एव हि।
तदा किंनु पटस्य स्यात् किं च तत्राविशिष्यते॥ २५३॥
पटस्य शून्यतेव स्यात् सत्ताराहित्यतस्तदा।
तन्तुसत्त्वे हि तत्सत्ता नैव सा तन्तुनिर्गमे॥ २५४॥

पट (कपडे) से सभी तन्तुओं को खींच-खींच कर ले लेंगे तो पट का क्या होगा? क्या बाकी बचेगा? पट तो शून्य ही होगा। तन्तु सत्ता से ही पट सत्ता थी। तन्तु निकल गये सत्ता आयेगी कहां से?

ननु सत् स्यात् कथमसत् नाभावो विद्यते सतः।
पटोऽस्तीत्यभवत् पूर्वं सत्प्रतीतिर्हि वाससि॥ २५५॥
न चाऽसत्येव वसने सत्त्वधीरिति सांप्रतम्।
असतो नैव भवति बुद्धिगोचरता क्वचित्॥ २५६॥
सत्त्वप्रकारताका हि वाच्याऽसति विशेष्यता।
कथं विशेष्यताऽऽधारो भवेदसदितीर्यताम्॥ २५७॥

पू. - सत् पट से तन्तुओं के निकलने पर पट असत् कैसे होता है? गीता में कहा है सत् का अभाव नहीं होता। पहले पट अस्ति (है) ऐसी सद्बुद्धि थी। वह सत् पट असत् कैसे होगा? यह कहें कि असत् पट में सत् प्रतीति हो रही थी। नहीं। असत् बुद्धि विषय नहीं होता। उस में सत्त्व भ्रम नहीं होगा। पटः सत् यहां विशेष्यता पट में कहना होगा। पर पट असत् हो तो विशेष्यता का आधार कैसे होगा?

न चासन्न विशेष्यं स्यादिति ब्रूते भवान् कथम्।
अविशेष्यताधिकरणं कथं तदिति सांप्रतम्॥ २५८॥

· दिकल्पवृत्तिरेवात्र शब्दज्ञानानुपातिनी।
वस्तुशून्या भवेदेषा सद्बुद्धिपरिपन्थिनी॥ २५९॥

शब्द ज्ञानानुपाती वस्तु शून्यो विकल्पः इस पातञ्जल सूत्र के अनुसार सद्बुद्धिविरोधी विकल्पवृत्तिमात्र वहां होगी। अर्थात् अक्षत पट में सत्ता बुद्धि हुई ऐसा ज्ञान रुक जायेगा।

तस्मात् शून्यं कथं सत् स्यान्नाभावो विद्यते सतः।
मैवं न सत् परो नापि शून्यं तन्त्वात्मकः स तु॥ २६०॥
पट इत्युच्यते यद्धि वाचारम्भणमेव तत्।
पटप्रतीतिरपि च मिथ्यैव न हि सा सती॥ २६१॥
अपागादग्नितोऽग्नित्वं वाचारम्भणमेव तत्।
त्रीणि रूपाणीति सत्यमित्यवोचत च श्रुतिः॥ २६२॥
शुक्ललोहितकृष्णानि तेजोऽबन्न स्वयुज्यतः।
अपागादग्नितोऽग्नित्व बुद्धिर्विभ्रमरूपिणी॥ २६३॥

इसलिये पट से तन्तुओं को हटाने पर पट शून्य हो जायेगा कहना सही नहीं है। सत् का अभाव नहीं होता।

उ. - पट सत् नहीं है असत् भी नहीं है। पट तन्तु स्वरूप ही है। 'पट' से ऐसा वाचारम्भणमात्र है। पट प्रतीति भी मिथ्या है। इसलिये श्रुति में कहा अपागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् तेज-जल-अग्नि (पृथ्वी) के लाल-सफेद-कृष्ण ये तीन वर्ण अग्नि में है। इन तीन के निकलने पर अग्नि का अग्नित्व ही निकल जायेगा। अग्नित्व बुद्धि मिथ्या बुद्धि मात्र होगी।

अन्वानाहे हि दृश्यन्ते तन्तवः पटरूपतः।
पटत्वबुद्धिर्मिथ्यैव तदुत्पत्तेरसंभवात्॥ २६४॥
न चैकत्वमहत्त्वादिबोधोद्भावकरूपतः।
पटो ह्यवयवी कश्चिद् मन्तव्य इति सांप्रतम्॥ २६५॥
पदातिसेना महती योद्धुं वेगेन गच्छति।
इत्येवं योधसां व्यूहे महत्वादिमतीक्षणात्॥ २६६॥

न योधसो मिलित्वैकोऽवयवी किल जायते।
न तार्किकमहावीरोऽप्येतत् साधयितुं क्षमः॥२६७॥
एकैके योधसो नैव पराजेतुं परान् क्षमाः।
नैकैकाण्व्यो जलं धर्तुं, क्षमासेना क्षमो घटः॥२६८॥
अतश्चावयवी नान्यः सेनावदिति निश्चयः।
तथैकत्वमहत्त्वादि वाचारम्भणमेव तत्॥२६९॥
तन्तुभिन्नत्वत्तः शून्यं पटो नैवात्र संशयः।
योद्धृभिन्नत्वतः शून्यं सेना नाम यथा तथा॥२७०॥

तानाबाना करने पर तन्तु ही कपडे के रूप में दिखते हैं। पटत्व बुद्धि मिथ्या हैं। पटत्व की यहां उत्पत्ति नहीं हो सकती। यह कहें कि एक महान् वस्त्र है ऐसे एकत्व महत्त्वादि का आश्रय अवयवी मानना चाहिये। नहीं। यह बड़ी पदाति सेना जा रही है इस प्रकार एकत्व महत्त्वाश्रय योद्धाओं का भी अवयवी तब मानिये। क्या कोई तार्किक महावीर भी अतिरिक्त योद्धा समुदायजन्य अवयवी मान.पायेगा? बिखरे हुए अणुओं में पानी नहीं भरते, घट में पानी भरते हैं। अतः घट अलग है तो एक-एक बिखरे योद्धा शत्रुओं को परास्त नहीं करते। संगठित सेना शत्रुओं को परास्त करते हैं, अतः सेना भी योद्धा से अलग होगी। अतः एकत्व महत्त्व पटत्व सेनात्वादि सभी वाचारम्भण है। पट तन्तुरूप से है मानो तो मान्य है, तन्तु भिन्न पट वाचारम्भण है जैसे योद्धाओं से भिन्न सेना है कहो तो वाचारम्भण ही है।

तन्तुष्वप्यंशुसत्तैवाऽसन्तोंऽश्वपगमे च ते।
वाचारम्भणमात्राः स्युस्तन्तवोऽपि न संशयः॥२७१॥
अंशुष्वप्यणुसत्तैवऽसन्तोंऽण्वपगमेंऽशवः।
वाचारम्भणमेवातो ह्यंशवोऽपि न संशयः॥२७२॥
तन्मात्रांशत्रयीसत्ता ह्यणौ तत्पृथगीक्षणे।
अपागादणुताणूनां त्रीणि रूपाणि सन्ति तु॥२७३॥
अन्नमात्रासु चाम्मात्रा तेजोमात्रैव तत्र च।
वाचारम्भणमेवातोऽन्नाम्भोमात्रे च निश्चयः॥२७४॥

तेजोमात्रास्थसत्ता च ब्रह्मसत्तैव नापरा।
तेजस्त्वं तेजसोऽपागाद् वाचारम्भणमेव तत्॥ २७५॥
सन्मूलं सकलं विश्वं सत्सत्ता परमा सती।
तदादाने च तत्सत्ता भिन्नं शून्यं न किंचन॥ २७६॥

तन्तुओं में अंशु (तन्तु का पूर्वरूप धागा निर्माण योग्यतापन्न रूई) की सत्ता है। अंशु निकल जाये तो तन्तु असत् ही है। वाचारम्भण मात्र है। अंशु अणु से बना तो उस में अणु की सत्ता है। अंशु वाचारम्भण है। अणु त्रिवृत्कृत तेज, जल, पृथिवी समुदाय है। वे हट जायें तो अणु भी शून्य है। तीन भागों में पृथिवी मात्रा में जलमात्रासत्ता, जलमात्रा में तेजोमात्रासत्ता होने उन के क्रमशः हटने पर वे दोनों शून्य वाचारम्भण है। तेजोमात्रा सद् ब्रह्म सत्ता से सत् है। ब्रह्म सत्ता हटी तो तेज भी शून्य। यह सब कैसे? क्योंकि 'सन्मूलाः सोम्येनाः प्रजाः' ऐसी श्रुति है। प्रजायमान-उत्पद्यमान ही प्रजा। सब का मूल सत् ब्रह्म है। कारण सत्ता ही कार्य में सत्ता है। कारण हट जाये सभी सत्ताशून्य होंगे शून्य होंगे। सत् सत्ता अन्य कुछ भी नहीं रहेगा।

तथा च श्रुतिरप्याह नेह नानास्ति किंचन।
इह नानेदमर्थान्यद् नैव किंचन विद्यते॥ २७७॥

श्रुति भी कहती है - नेह नानास्ति किंचन। नञ् (न) से नाना शब्द है। इह में इदं शब्द है। 'इदं के अर्थ ब्रह्म से अन्य' यह इह नाना का अर्थ है। वह कुछ भी नहीं है, शून्य है।

नानेत्यनेकवाचित्वेऽप्येतमेवार्थमानयेत् ।
द्वितीयसत्त्वे नानात्वं तत् स्वास्मिन्नपि वर्त्स्यति॥ २७८॥

नाना का अनेक अर्थ करेंगे तो भी वही अर्थ आयेगा। द्वितीय आ गया तो ब्रह्म और द्वितीय दोनों मिलकर नाना हो गये वह नानात्व ब्रह्म में भी आयेगा।

तन्निषेधो द्वितीयस्याप्यसत्त्वादेव युज्यते।
एकमेवाद्वितीयं स-दिति श्रुत्या समर्थितात्॥ २७९॥

उस नानात्व का निषेध द्वितीय भी न हो तभी संभव है। एकमेवाद्वितीयं यह श्रुति द्वितीय सत्त्वाभाव का समर्थन करती है।

नानात्मना दृश्यमाने भवे नानेह नास्ति हि।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति यो नानेवेह पश्यति॥ २८०॥
नानेवेतीवकारेण मिथ्यात्वं तस्य दर्शितम्।
तथा च परमं सत्यमेकमेव सदद्वयम्॥ २८१॥

'इह' का संसार अर्थ करें तो भी वही अर्थ है। नानारूपेण दृश्यमान इस संसार में वस्तुतः नाना नहीं है। नाना जैसा देखनेवाला मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता रहेगा। यहां 'इव' जैसा नाना का मिथ्यात्व सूचित होता है। जैसे शुक्ति चांदी जैसी दिख रही है इत्यादि में तात्पर्य यह है कि परम सत्य एक ही है वह सत्=सत्तारूप है, अद्वितीय है।

तत्सत्तयैव जगतः सत्ता या पूर्णलक्षणा।
तदादाने तदाच्छेदे किमेवात्रावशिष्यते॥ २८२॥

नानाविध कार्यों में कारण की ही सत्ता निश्चित है। कारण ब्रह्म की सत्ता ही इसलिये जगत की सत्ता है, स्वतः वह तो सत्ताहीन मृषा ही है।

घटो भातीतियद्भानं न स्वयंप्रभतावशात्।
न चैतन्यं घटोऽतो न चैतन्याश्रयतावशात्॥ २८३॥
चक्षुरादिगतं भानं वीक्षते चक्षुरित्यतः।
तत्संयोगाद्धि विविदुर्घटभानं मनीषिणः॥ २८४॥
चक्षुः सत्त्वे घटो भाति न भानं चक्षुषा विना।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां भानं सिध्यति चाक्षुषम्॥ २८५॥
श्रोत्रसत्त्वे शाब्दभानं न तद्भानं श्रुतेर्विना।
अन्वयो व्यतिरेकश्च ततोऽन्यत्रापि वीक्ष्यताम्॥ २८६॥

घट भास रहा है ऐसा घटमान जो प्रतीत हो रहा है वह घट स्वयं प्रकाशरूप होने से नहीं, और स्वयं प्रकाश चैतन्याश्रय होने से भी नहीं है। क्योंकि घट जड है उस में चैतन्य नहीं है। तब घट कैसे भास रहा है? चक्षु से भास रहा है। चक्षु में चैतन्य है। पूरे शरीर में चैतन्य शक्ति

है। अतः आंख में भी है ही। चक्षु है तो घट भासता है, नहीं तो नहीं ऐसा अन्वय व्यतिरेक भी है। इसी प्रकार श्रोत्र हो तो शब्दभान होता है अन्यथा नहीं इत्यादि समझना चाहिये।

न वा चाक्षुषचैतन्यप्रयुक्तं घटभासनम्।
मनसोऽन्यत्र गमने न तद्भानं भवेद्यतः॥२८७॥
हन्ताऽन्यत्रमना आसं नाऽद्रक्षमिति दर्शनात्।
नाश्रौषमहमन्यत्रमना इति च दर्शनात्॥२८८॥

किन्तु चाक्षुष चैतन्य प्रयुक्त भी घट भान नहीं है। मेरा मन अन्यत्र गया मैंने नहीं देखा, मैंने नहीं सुना। श्रुति भी कहती है - 'अन्यत्रमना अभूवं नाद्राक्षम् अन्यत्र मना अभूवं नाश्रौषम्' इत्यादि।

तस्मान्मानसचैतन्यप्राप्तं पश्यति वीक्षणम्।
श्रवणादिकमप्येवं मनश्चैतन्यसंयुतम्॥२८९॥
न च सत्त्वेऽपि मनसो नाऽचक्षुर्वीक्षते घटम्।
विनापि चक्षुःसाहाय्यं स्वप्ने यद् वीक्षते घटम्॥२९०॥

परंतु चक्षु के बिना भी घट नहीं दिखता। कौन बोला? सपने में चक्षु काम नहीं करती। अथ च मन घटादि को देखता है, शब्दादि सुनता है।

सतो विशेषदृष्ट्यर्थं मनसो दृष्ट्यपेक्षिता।
दूरवीक्षणभिन्नादेः चैतन्यं स्यात्तवान्यथा॥२९१॥

विद्यमान वस्तुओं के विशेष दर्शनार्थ मन को नेत्र की अपेक्षा होती है। जैसी सूक्ष्म दर्शन के लिये दूरबीन की अपेक्षा होती है। तो क्या दूरबीन में चैतन्य रहता है?

सूक्ष्मव्यवहितादीनि पश्यन्ति किल योगिनः।
योगमन्त्रौषधीनां स्याच्चैतन्यं तत्प्रयोजिनाम्॥२९२॥

सूक्ष्म व्यवहित विप्रकृष्टादि का भी योगियों को दर्शन (मानसिक दर्शन) होता है। तो योग, मन्त्र, औषधि आदि प्रयोजक चेतन होने लगेंगे।

मनसा पश्यति ह्येष शृणोति मनसा तथा।
इत्यादि श्रुतितः सिद्धं चक्षुरादि सहायकम्॥२९३॥

मनसा ह्येष पश्यति, मनसा शृणोति, मनसा विजानाति इत्यादि श्रुति से मुख्य दर्शनादिकारी मन है। चक्षु आदि सहायक मात्र है यह सिद्ध होता है।

न चैव भानसामान्ये मनो भवति कारणम्।
अस्वाप्सं सुखमित्येवं सुषुप्तावपि भानतः॥ २९४॥
भाने नानाविधाकारसमर्पणकरं मनः।
प्रकाशरूपं भानं तु मतं केवलमात्मनः॥ २९५॥

सामान्य भान में मन भी कारण नहीं है। सुषुप्ति में मन नहीं रहता। सुखस्वापभान होता है। आत्मा ही भानात्मक है। उस में मन भी केवल आकार समर्पक है।

स्वाकारमादधात्यक्ष्णि घटो मनसि चाक्षि तत्।
मनस्तदात्मन्यादध्याद् घटभानमिदं मतम्॥ २९६॥
कलशच्छायसंयोगादक्षि स्यात्कलशाकृतिः।
तत्संयोगान्मनश्चैवं तद्योगाद् भानमेव च॥ २९७॥

ऐसा समझो घट अपना आकार आंख में डालता है, आंख मन में, मन आत्मारूपी प्रकाश में। यही घटभान है। अथवा घट की छाया के संयोग से आंख घटाकार होती है। यही घटाकार चाक्षुषवृत्ति कहलाती है।

चलचित्रप्रभायां हि छायासंयोगतो यथा।
छायाकारो भवेदक्षि-त्विषि तद्वद्घटाकृतिः॥ २९८॥
तद्योगाच्च तदाकारः सम्पद्येत मनस्त्विषि।
तद्योगेन भवेदात्म-प्रकाशे च तदाकृतिः॥ २९९॥
अक्ष्यादौ भौतिकी त्विट् स्याज्ज्ञानात्मा पुनरात्मनः।
यद्वा तत्तदवच्छिन्नचितिस्तत्तत्त्विडिष्यताम्॥ ३००॥

जैसे सेनेमा की विद्युत्प्रभा में या नाटक दीप में छाया (मनुष्यादि की फिल्म) के संयोग से चित्राकार में प्रकाश दिखता है वैसे वस्तुच्छाया के संयोग से अक्षि प्रभा वस्त्वाकार हो जाती है। उसके संयोग से मनः-प्रभा वस्त्वाकार हो जाती है। उस के संयोग से आत्मप्रकाश वस्त्वाकार हो जाता है यही घटमान है। उस में अक्षिप्रभा आदि भौतिक प्रभा है।

आत्मप्रभा चैतन्य है। अथवा अक्षिप्रभा आदि भी अक्षि आदि अवच्छिन्न आत्मप्रकाश ही है।

आत्मभानमतो भाति सर्वत्रेति विनिश्चयः।
विषयेन्द्रियभेदादेर्भाति नानेव वस्तुषु॥ ३०१॥
तमेव भान्तमनुभात्येतत् सर्वमशेषतः।
तस्य भासा सर्वमिदं विभातीतिवचः श्रुतेः॥ ३०२॥

अतः यह सिद्ध हुआ कि आत्मभान ही सर्वत्र 'भाति' शब्द से कहा जाता है। विषय एवं इन्द्रियादि से वह एक होने पर भी नाना सी हो जाती है। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति यह श्रुति भी है।

आत्मचैतन्यमूलं हि सकलं संप्रकाशते।
तदादाने तु जगतो जगदन्धं प्रसज्यते॥ ३०३॥
नासदासीन्नो सदासीत्तम असीदिति श्रुतिः।
तमसा गूढमग्रेऽभूद् यत्किंचित्सचराचरम्॥ ३०४॥

आत्मचैतन्यमूलक सकल जगत का प्रकाशन है। आत्मचैतन्य जगत् से हट जाये तो जगत अन्ध हो जायेगा। आत्म चैतन्य प्रसार से पूर्व न असत् था न सत् था तम ही था। तम से पूरा जगत् अदृश्य हो गया था। श्रुति।

प्रकाशते तमश्चापि स्वप्रकाशेन तेन हि।
राहुग्रस्तेन सूर्येण यद्वद् राहुः प्रकाशते॥ ३०५॥

वह तम भी उसी आत्मप्रकाश से प्रकाशित होता है। जैसे राहुग्रस्त सूर्य उसी राहु को प्रकाशित करता है।

द्रष्टुर्दृष्टेर्न विपरि-लोपः खलु कदाचन।
तेन भातं जगत् तस्याऽऽदाने किमवशिष्यते॥ ३०६॥

द्रष्टा की दृष्टि का लोप नहीं होता। उससे जगत् भासित है। उसको लेने पर क्या अवशिष्ट रहेगा?

आलोक्य सुन्दरं रूपमानन्दं लभते परः।
अपूपं मिष्टमास्वाद्य मज्जत्यानन्दसंप्लवे॥ ३०७॥

चन्दनागुरुगन्धादेः प्रियादिस्पर्शतोऽपिच।
भैरवीरागललित - संगीतादि श्रुतेरपि॥ ३०८॥
विषयेष्वत आनन्द- स्तन्नानैकान्तिकत्वतः।
बुक्कन्ति कुक्कुरा राज-कुमारीमकभि संमुखम्॥ ३०९॥
खादन्ति मृतकं गृध्राः त्यक्त्वा मिष्टान्नसौरभम्।
रागालापं विलापं तु मन्यन्ते ग्राम्यजीवनाः॥ ३१०॥
श्रुत्वा पुत्रमृतिं सर्वं नीरसं जगदीक्षते।
न सुखं भोजने नापि स्वापे गीतादिके तथा॥ ३११॥

सुन्दर रूप देखने पर आनन्द होता है। मालपुआ आदि के खाने में आनन्द मिलता है। सुगन्धि द्रव्य से आनन्द मिलता है। प्रिय दारपुत्रादि स्पर्श से आनन्द मिलता है। भैरवी मालकौस आदि रागयुक्त संगीत श्रवण से आनन्द मिलता है। अतः विषयों में सुख है। नहीं। यह सब अनिश्चित है। सुन्दर राजकुमारी को देखकर कुत्ता भोंकता है। उसको रूप से सुख क्यों नहीं मिला? गिद्ध मिष्टान्न छोड़कर शव खाता है। उसे सूंघने में उस को सुख मिलता है। मनुष्यों में भी कोई अपने प्रिय पुत्र की मृत्यु की खबर सुनी तो उस को सारा जगत् नीरस हो जाता है। उस को न भोजन से सुख मिलता है, न शयन से, और न गीत नृत्यादि से।

ननु तर्हीन्द्रियेषु स्यादानन्दश्चक्षुरादिषु।
न च रूपाद्यभावेऽपि सुखं स्यादिति सांप्रतम्॥ ३१२॥
विषया व्यञ्जका यस्मात् सुखस्येन्द्रियवर्तिनः।
व्यञ्जकत्वं फलबलात् कल्प्यते तु पृथक् पृथक्॥ ३१३॥
स्वप्नेषु विषयाभावेऽप्यस्त्यानन्दो मृषार्थतः।
विषये सत्यपि सुखं जायते न वियोगिनः॥ ३१४॥
भवेदिन्द्रयशैथिल्यं - पुत्रदारवियोगतः।
तदभावविशिष्टार्थसंयोगो व्यञ्जकस्ततः॥ ३१५॥
मैवं स्वप्ने न विषया नेन्द्रियाण्यपि तर्हि भोः।
सुखं तदापि भवति तस्मान्नेन्द्रियमाश्रयः॥ ३१६॥

मिथ्यार्थेषु न चेत् सौख्यं नैव मिथ्येन्द्रियेष्वपि।
आनन्दमय कोशेऽत आनन्द इति युज्यते॥३१७॥
अस्ति जाग्रति कोशोऽसावस्तिस्वप्नेऽप्यसंशयः।
इष्टार्थदर्शनं तस्मिन्नानन्दव्यञ्जनं मतम्॥३१८॥
इष्टार्थः सन्नसन् वा स्यान् मृषातत्प्राप्तिवृत्तितः।
चित्तवृत्तिरुताज्ञान - वृत्तिरानन्दमानयेत् ॥३१९॥

तो इन्द्रियों में आनन्द माना जा सकता है। इन्द्रियों में आनन्द हो तो सुन्दर रूप, मिष्ट भोजनादि के बिना ही आनन्द क्यों नहीं होता? इसलिये कि ये विषय इन्द्रियगत आनन्द के अभिव्यञ्जक हैं। फल बल से आनन्द व्यञ्जक की कल्पना करो। स्वप्न में विषय न होने पर भी आनन्द होता है। जाग्रत में विषयों के होने पर भी पुत्रादि वियोगकाल में आनन्द नहीं होता। अतः कार्यानुसार व्यञ्जक कल्पना है। गृध्रादि में शवादि सुखव्यञ्जक है। वियोगकाल में इन्द्रियां शिथिल पड़ जाती है इसलिये सुख नहीं होता। ये सारी बातें भी सही नहीं है। सपने में विषय नहीं है तो इन्द्रियां भी तो नहीं है और स्वप्न कल्पित दारसुतादि से सुख होता है। अतः विषयों में नहीं इन्द्रियों में भी नहीं, आनन्दमय कोश में आनन्द है। वह कोश जाग्रत एवं स्वप्न दोनों में है। इष्टार्थ दर्शन ही आनन्द का अभिव्यञ्जक है। चाहे वह इष्टार्थ प्रातिभासिक ही क्यों न हो। इष्टार्थप्राप्ति वृत्ति चाहे चित्त वृत्ति हो चाहे अज्ञान वृत्ति। उससे सुखाभिव्यक्ति होगी ही।

मैवमानन्द आनन्दमयकोषेऽपि नास्ति भोः।
नानन्दमयकोशोऽस्ति सुषुप्तौ सुखमस्ति च॥३२०॥

आनन्दमय कोश में सुख है यह भी मत सही नहीं है। सुषुप्ति में आनन्दमय कोश नहीं है फिर भी सुखानुभव होता है।

दुःखाभावे सुखमतिः सुषुप्तौ किं न मन्यताम्।
भाराभावे सुखी जात इति प्रैष्या यथा विदुः॥३२१॥

पू. - सुषुप्ति में दुःखाभाव होने से उसी से यह सुखमति है। जैसे मजदूर भार नीचे उतारकर समझता है मैं सुखी हो गया। भाराभाव में यह

सुखमति है।

मैवं निदुःखमस्वाप्समिति नो वक्तिकश्चन।
भावस्मृतिर्हि सर्वेषां सुखमस्वाप्समित्यसौ॥ ३२२॥

उ. - कौन ऐसा बोलता है कि मैं बिन दुःख सोया। अभावरूप से कोई नहीं करता। भावरूप से ही सभी स्मरण करते हैं - मैं सुखपूर्वक सोया। सानन्द सोया इत्यादि।

कथं च भवति ज्ञानं सुषुप्तौ प्रतियोगिनः।
अभावधीर्न भवति प्रतियोगिधियं विना॥ ३२३॥

और यह बताईये दुःखाभावपूर्वक सोया ऐसा ही ज्ञान मान लो परंतु प्रतियोगिज्ञान कैसे हुआ? प्रतियोगिज्ञान के बिना अभावज्ञान नहीं होता।

तर्कालङ्कारविदुषाप्युक्तं दीधितिटिप्पणे।
नेति ज्ञानं न भवति प्रतियोगिनमस्पृशत्॥ ३२४॥

जगदीश तर्कालंकार ने भी दीधिति की व्याख्या में शास्त्रार्थ के साथ यह निर्णय दिया है कि प्रतियोगी का स्पर्श किये बिना 'न' इत्याकारक अभावज्ञान नहीं होता है।

सुषुप्तौ यदि दुःखस्य ज्ञानं चेत् प्रतियोगिनः।
कथं सुषुप्तिरेवेयं सप्रकारकधीयुता॥ ३२५॥
न चानुभवरूपं तद् दुःखज्ञानं सुषुप्तिगम्।
दुःखभावमतिस्तर्हि विरोधाज्जायतां कथम्॥ ३२६॥
कश्च वा कस्य वा तत्र संनिकर्षो निगद्यताम्।
पुरीतत्स्थस्य मनसः संनिकर्षो न विद्यते॥ ३२७॥
न स्मृतिर्नैव संस्कारो-द्बोधकः कोपि विद्यते।
अस्ति चेत् सस्मृतिर्नैव सुषुप्तिपदभागिति॥ ३२८॥

सुषुप्ति में दुःखाभाव ज्ञान मान लो तो प्रतियोगि दुःख का ज्ञान भी होगा। तब वह काहे की सुषुप्ति है जो सप्रकारक ज्ञानवाली है। अच्छा, प्रतियोगिज्ञान-दुःखज्ञान अनुभवरूप है या स्मरणरूप? यदि अनुभवरूप है तो दुःख रहा तो विरोधी के होने से दुःखाभाव ज्ञान कैसे होगा? फिर

अनुभव के लिये संनिकर्ष भी कहना पडेगा। क्योंकि ज्ञानाकरणक ज्ञान प्रत्यक्ष ही होगा। ज्ञानकरणक होगा। एक अतिरिक्त ज्ञान भी मानना पड़ेगा। अतः कौन सा संनिकर्ष किसका संनिकर्ष। मन तो सुषुप्ति में पुरीतत् नाड़ी में चला गया। उस का संयोग समवायादि सभी संनिकर्ष सुषुप्ति में अमान्य है। अतः प्रतियोगी दुःख का स्मरण मानो। तो स्मरण के लिये उद्बुद्ध संस्कार चाहिये। संस्कारोद्बोधक वहां कौन है? यदि उद्बोधक रहा तो स्मृति हो गयी सुषुप्ति में तब उसको सुषुप्ति शब्द से बोलना बेकार होगा।

तस्मात्तां स्वप्रकाशात्माऽऽनन्दस्फुर्तिं हि मन्महे।
यतोऽस्वाप्सं सुखमिति परामर्शोऽनुजाग्रतः॥ ३२९॥
अविद्यायास्तदा सत्त्वान्न स्पष्टस्फुरणं चितः।
ततो न परमानन्द-स्फुरणं तु तदा भवेत्॥ ३३०॥
सति संपद्य न विदुरित्यविद्यां श्रुतिर्जगौ।
तद्वृत्त्या स्मरणं चैव जाग्रतोऽस्योपपद्यते॥ ३३१॥

तब मोक्ष और सुषुप्ति में क्या फरक? सुनो। सुषुप्ति में अविद्या के होने से परमानन्द का स्पष्ट स्फुरण नहीं होता। 'सति संपद्य न विदुः' इस श्रुति में 'न विदुः' अर्थ अविद्या है। उस अविद्यावृत्ति के होने से जाग्रत में सुख स्मृति है।

तस्मादात्मन आनन्द आत्मैवानन्दलक्षणः।
ततो विषयपर्यन्तसुखप्रत्यय इष्यते॥ ३३२॥
एतस्यैवान्यभूतानि ह्यानन्दस्य परात्मनः।
उपजीवन्ति मात्रामि-त्यूचे भगवती श्रुतिः॥ ३३३॥

इसलिये आत्मा का ही आनन्द है या बोलिये आत्मा ही आनन्दरूप है। वहां से नीचे विषय पर्यन्त सुख प्रत्यय उस आत्मानन्द से ही है। शब्द स्पर्शादि आनन्द, चाक्षुष श्रवणादि आनन्द, मानस आनन्द ये सभी आत्मानन्द की मात्रा ही है। एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति यह श्रुति है।

एतेभ्योह्यन्यभूतेभ्य आनन्दच्छेदनं यदि।
क्रियते तर्हि तेष्वेव किं नु नामावशिष्यते॥ ३३४॥

आत्मानन्द की मात्रा के उपजीवी इन विषयों से लेकर आनन्दमय कोशपर्यन्त समस्त भूतों से यदि आनन्द को छीन लें तो क्या अवशिष्ट रहेगा? [एतेभ्यः=पूर्वोक्त रूपरसादि आनन्दमयकोशपर्यन्त - अन्य भूतेभ्यः= अन्यानिभूतानिमात्रामुपजीवन्ति में बताये भूतों से]

पूर्णमेवावशिष्यते

पूर्णत्वं सच्चिदानन्दस्वरूपं प्राङ् निरूपितम्।
तदेव परमं ब्रह्म वेदान्तेषु प्रकीर्तितम्॥ ३३५॥
तद्ध्युपादानमेतस्य जगतः कार्यलक्ष्मणः।
कार्यं च तेन भवति सच्चिदानन्दालक्षणम्॥ ३३६॥
तथा चोक्तं पूर्णमिदमिदंकारास्पदं जगत्।
पूर्णस्य तत आदाने किं तावदवशिष्यते॥ ३३७॥

पूर्ण का अर्थ पूर्व सच्चिदानन्द बताया वही परब्रह्म वेदान्त में बताया। वह जगत् का उपादान है इसलिये जगत् भी सच्चिदानन्द है। यही पूर्णमिदं का अर्थ है। इदंकारास्पद जगत् से पूर्ण निकाले तो क्या बचेगा?

अत्राहुः सद्धि सत्यं स्यात् सत्यतापगमे सति।
मिथ्या विलोकते लोको मिथ्या तेनावशिष्यते॥ ३३८॥
न च सत्त्वं हि सत्यत्वं तस्य निर्गमने सति।
असन्नृभृङ्गवन्नूनमवेद्यमिति सांप्रतम्॥ ३३९॥
असत्त्वेऽपि खनीलिम्नो ह्यस्तीति प्रत्ययेक्षणात्।
तथा जगदसच्चापि नैवास्त्यन्तमसद् भवेत्॥ ३४०॥
एतदुक्तं भवत्येतत् सदसद्भिन्नलक्षणम्।
जगत् सन्निर्गमे सर्वं भवेन्मिथ्यापदास्पदम्॥ ३४१॥
खनैल्यमाद्यं दृष्टान्तोऽपरं दार्ष्टान्तिकं जगत्।
प्रातिभासिकसत्त्वाद्यं व्यावहारिकसत् परम्॥ ३४२॥

इस पर विद्वान् लोग कहते हैं सत् का सत्य अर्थ है। सत् निकलने पर मिथ्या रहेगा। पर सत् निकला तो नरशृंगवत् जगत असत् होगा। नहीं।

असत् होने पर अस्ति (है) ऐसा रहेगा। जैसे आकाशनीलिमा। अर्थात् जगत् सदसद्भिन्न रहेगा, न कि अत्यन्त असत्। यही मिथ्या पदार्थ है। आकाशनीलिमा दृष्टान्त और जगत् दार्ष्टान्तिक है। प्रथम प्रातिभासिक सत्तावाला है। द्वितीय व्यावहारिक सत्तावाला है।

अथैतस्माच्चितोऽपाये किं तावदवशिष्यते।
अत्राहुश्चित आदाने जडमेवावशिष्यते॥ ३४३॥
न चाधुनापि च जगद् जडमेवावलोक्यते।
चिद्योगे चिदपाये चाऽविशेष इति सांप्रतम्॥ ३४४॥
मनुष्यपशुपक्ष्याद्या द्रष्टृदृश्योभयात्मकाः।
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं सर्वमेव जगत्तथा॥ ३४५॥
न चास्ति दृष्टता क्वापि मृदादेरिति सांप्रतम्।
मृदब्रवीदिति गिरा देवतादात्म्यसत्त्वतः॥ ३४६॥
प्रसिद्धा पृथिवी देवी तथैव जलदेवता।
अग्निदेवो वायुदेव इति शास्त्रेषु वर्णितम्॥ ३४७॥
जडाजडात्मकमिदं यत्किंचित् सचराचरम्।
चिदपाये पुनरिदं जडमेवावशिष्यते॥ ३४८॥

अब पूर्णरूप से स्थिज जगत् से चित् का निर्गम होने से क्या रहेगा? जड मात्र रहेगा। पर अब भी मिट्टी पत्थर आदि जड ही है। चित् के रहने न रहने में क्या फरक? नहीं। मनुष्य, पशु, पक्षी आदि जड चेतन उपभयात्मक है। ब्रह्मा से स्तम्ब पर्यन्त सभी जड चेतन उभयात्मक है। सभी द्रष्टदृश्य उभयात्मक है। यह कैसे? मिट्टी पत्थर आदि केवल दृश्य है द्रष्टा नहीं। ऐसी बात नहीं। मुदब्रवीत-मिट्टी बोली इत्यादि श्रुति है। पृथिवी देवी, जल देवता, अग्नि देवता, वायु देवता यह सब शास्त्रों में प्रसिद्ध है। अतः जगत् जडाजडरूप है। उस में से चित् निकलेगा तो जड मात्र बचेगा।

अथानन्दापगमने किं तावदवशिष्यते।
आहुरानन्दविगमे दुःखमेवावशिष्यते॥ ३४९॥

सुखदुःखात्मकमिदं जगदेतच्चराचरम्।
नूनं तस्मात् सुखादाने युक्तं दुःखावशेषणम्॥ ३५०॥
न च वाच्यं चिदादानात्कस्य दुखं जगद् भवेत्।
न ह्यज्ञाते सुखे दुःखे किंचिन्मानं भवेदिति॥ ३५१॥
यतः पृथक्कृत्य यदा ह्यानन्दं ब्रह्म वीक्षते।
तदा द्रष्टुर्भवेद् दुःख-मेव सर्वं विवेकिनः॥ ३५२॥

अब आनन्दरूपी पूर्ण के आदान से क्या अवशिष्ट होता है यह देखें। इस पर भी विद्वान् लोग कहते हैं आनन्दापगम होने से दुःख बचेगा। क्योंकि जगत् सुखदुःखात्मक है। यह कहें कि चित् का आदान हो गया तो जगत् दुःखरूप किस के लिये होगा? अज्ञात सुख या दुःख में प्रमाण माना नहीं गया है। चित् गया तो ज्ञाता कौन होगा? सुनो जब विवेकी जगत् से आनन्दरूपी ब्रह्म को पृथक् करके देखेगा तब उसको सारा संसार दुःखरूप दिखेगा। 'दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' यह पातञ्जल सूत्रांश है।

इदं पुनरिह ज्ञेयं साधकस्येदमीरितम्।
ज्ञानयुक्तस्य च प्राय इयमेव स्थितिर्मता॥ ३५३॥

अब विशेष ज्ञातव्य बात आगे करते हैं। यह जो विवरण पूर्णादान का दिया यह साधक साधुओं का है। शास्त्रविषयक निश्चयात्मक ज्ञान पायें हुओं की भी प्रायः यही स्थिति है। वे भी इस संसार को देखते हुए ही इसे मिथ्या, जड एवं दुःखरूप समझते हैं।

सिद्धः पुनः पृथक्कृत्य यदा पश्यति निर्मलम्।
परं ब्रह्म तदा तस्य पूर्णमेवावशिष्यते॥ ३५४॥

जो सिद्ध पुरुष है वह जगत् से पृथक् करके संसारमलरहित ब्रह्म का दर्शन करता है तब पूर्णमात्र ही अवशिष्ट रहता है। वह मिथ्या जड एवं दुःखरूप से भी जगत् को नहीं देखता है।

देहं च पश्यति न स स्थितमुत्थितमेव वा।
स्वरूपाधिगमात् सिद्ध इत्याह कपिलो मुनिः॥ ३५५॥

इस विषय में कपिल भगवान् का यह वचन महत्त्वपूर्ण है। भागवत में

देहं च तं न चरमः स्थितमुत्थितं वा।
सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत् स्वरूपम्॥
दैवादुपेतमथ - दैववशादपेतं।
वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः॥

चरम निवृत्ति को प्राप्त ज्ञान सिद्ध पुरुष इस शरीर को भी नहीं देखता कि यह बैठा है कि खडा है। क्योंकि उस ने अपने स्वरूप को प्राप्त कर लिया है। उस का व्यवहार ऐसा लगेगा कि वह कदाचित् मदिरामत्त तो नहीं है। जैसे वह होश न होने से कपडा पहना है या गिर गया है नहीं देखता। वैसे ज्ञान सिद्ध भी यह शरीर चल रहा है या समाप्त हो गया है नहीं देखता।

देहं चेति चकारेण गृहीतं सकलं जगत्।
तच्च कैमुतिकन्यायलभ्यं द्योतयतेऽपि च॥ ३५६॥

'देहं च' यहां चकार से पूरे विश्व का ग्रहण है। क्यों? कैमुतिकन्याय सूचक है वह।

बाह्यं सर्वमबुध्यंश्च देहं स्वं बुध्यते नरः।
देहस्यापि न बोधश्चेत् किमुतान्यस्य भण्यताम्॥ ३५७॥

बाहर दुनिया को न बूझे तो भी मनुष्य अपने शरीर को बूझता ही है। अपने शरीर को भी न बूझ रहा हो तो दूसरे के बूझने की बात ही क्या (यह कैमुतिक न्याय है)।

यदा देहं जगच्चैव ज्ञानसिद्धो न पश्यति।
तदाऽसज्जडदुःखात्मरूपेण कथमीक्ष्यताम्॥ ३५८॥

जब स्वशरीर और जगत् को भी सिद्ध पुरुष नहीं देखता तब शरीरादि के धर्म मिथ्यात्व जडत्व दुःखत्वादि को कैसे देखेगा?

नन्वस्मात् पूर्णतः पूर्णादाने शून्यमिदं भवेत्।
तथा सति पुमान् कोऽपि नेदमीक्षिष्यते जगत्॥ ३५९॥

पू. - अस्मात्-इदंकारास्पद पूर्ण से यदि पूर्ण का आदान करे तो शून्य हो जायेगा। तब कोई भी जगत् को देखेगा नहीं।

न हि वस्त्राद् गुणादाने वस्त्रं केनापि दृश्यते।
दृश्यते तु जगत् पूर्णाऽऽदातुरन्यैरशेषतः॥ ३६०॥

वस्त्र तन्तुपूर्ण है उन तन्तुओं को खींच लें तो कोई भी वस्त्र देख नहीं पायेगा। प्रकृत में जगत् ब्रह्मपूर्ण होने से उस पूर्ण ब्रह्म को हटा लेने पर भी हटानेवाले से अतिरिक्त सभी जगत् को देखते हैं।

मैवं स्थवीयान् दृष्टान्तो लोकानां तन्तुवाससोः।
रज्जुपन्नगदृष्टान्तं रोचयन्ते मनीषिणः॥ ३६१॥

उ. - पूर्वोक्त दोष नहीं है। तन्तु और वस्त्र का दृष्टान्त सामान्य लोगों को समझाने का स्थूल उदाहरण है। तन्तु से पूर्ण वस्त्र है। तन्तु स्वयं वस्त्र में पूर्ण है। उस वस्त्ररूपी पूर्ण से तन्तु को हटाये तो, तन्तु का आदान करे तो तन्तु ही रह जायेगा। वैसे आत्मपूर्ण जगत् से आत्मारूपी पूर्ण का आदान करे तो आत्मा ही रहेगा। यह सब को झट समझ में आता है। परंतु वेदान्तनिष्णात तो रज्जुसर्प दृष्टान्त को अधिक श्रेष्ठ मानते हैं। कल्पित सर्प में रज्जु ही भरी है वह रज्जु पूर्ण है। उस पूर्ण सर्प से रज्जु को हटा लें तो रज्जुरूपी पूर्ण ही बाकी बचेगा।

अत्राऽऽदानं पुना रज्जोः प्रत्यक्षावेक्षणं भवेत्।
रज्जुप्रत्यक्षणेऽसर्पा रज्जुरेवावशिष्यते॥ ३६२॥

इस दृष्टान्त के अनुसार आदान प्रत्यक्ष दर्शन ही है। सर्प में रज्जु को प्रत्यक्ष किया तो रज्जु ही अवशिष्ट रहेगी, सर्प गायब हो जायेगा।

एकस्य रज्जुप्रत्यक्षात् रज्जुमात्रावशेषणात्।
नैव सर्पतदाध्यक्ष्ये अन्येषां मुह्यतामुभे॥ ३६३॥

एक व्यक्ति रज्जु का प्रत्यक्ष करता है और रज्जुमात्र उस के लिये रह जाता है। न उस के लिये सर्प है और न सर्प प्रत्यक्ष है। किन्तु अन्य मुग्ध जो अज्ञानी हैं उन के लिये सर्प भी रहता है सर्प प्रत्यक्ष भी होता रहता है।

यथैव भुजगो रज्जा-वविद्वद्भिः प्रकल्पितः।
तथैव सकलं द्वैतं सति पूर्णे प्रकल्पितम्॥ ३६४॥

जैसे रज्जु में अविद्या से सर्प कल्पित है वैसे द्वैत पूर्ण ब्रह्म में कल्पित है।

रज्जुमात्रेक्षणं यद्वद् रज्ज्वादानं भुजङ्गमात्।
पूर्णमात्रेक्षणं तद्वत् पूर्णादानं च पूर्णतः॥ ३६५॥

सर्प में रज्जु का आदान (आच्छेदन) जैसे रज्जुमात्र दर्शन है वैसे पूर्ण जगत् से पूर्णादान पूर्णब्रह्ममात्रेक्षण है।

रज्ज्वादाने यथा सर्पो ह्यदृश्यः शून्यमात्रकः।
पूर्णादाने तथा विश्वमदृश्यं शून्यमेव वा॥ ३६६॥

रज्जु का आदान होने पर सर्प अदृश्य वा शून्य हो जाता है वैसे पूर्ण ब्रह्म का आदान होने पर जगत् भी अदृश्य वा शून्य हो जाता है।

एकेन रज्ज्वादानेपि सर्पोऽन्येन यथेक्ष्यते।
एकेन पूर्णादानेऽपि जगदन्येन वीक्ष्यते॥ ३६७॥

एक ने रज्जु का आदान किया तो भी दूसरा सर्प को देखता है वैसे एक ने पूर्ण का आदान किया तो भी दूसरा जगत् को देखेगा।

ननु पूर्णेक्षणान्नष्टं जगदेकस्य चेत्तदा।
अनष्टं कथमन्यस्य कथमन्येन वीक्ष्यताम्॥ ३६८॥
देवदत्तस्य पुत्रौ द्वौ चैत्रमैत्रौ सहोदरौ।
मृतः पिता तु चैत्रस्य न मैत्रस्येति भो कथम्॥ ३६९॥

पू. - पूर्णेक्षणरूपी पूर्णादान से पूर्णमात्र रह जाता है, जगत् समास होता है जो पूर्णदर्शी है उसके लिये नष्ट होता है जो पूर्णदर्शी नहीं है उसके लिये नष्ट नहीं होता यह विलक्षण बात है। देवदत्त के दो पुत्र हैं दोनो सहोदर है। एक के लिये पिता मर गया दूसरे के लिये जिंदा है ऐसा कहीं देखा है?

उच्यते पन्नगो रज्जौ स्वस्वाज्ञानविनिर्मितः।
पृथक् पृथगतो नैकज्ञानादन्यस्य नश्यति॥ ३७०॥
एवं जगदिदं सर्वं स्वस्वाज्ञानविनिर्मितम्।
पृथक् पृथगतो नैकज्ञानादन्यस्य नश्यति॥ ३७१॥

उ. - सुनो चार आदमियों को रज्जु में सर्प दिखा। अपने-अपने अज्ञान से उत्पादित सर्प है। एक को रज्जु ज्ञान हो गया तो उसी का सर्प समाप्त होता है सब का नहीं। इसी प्रकार संसार भी आपना-अपना अलग-अलग कल्पित है। एक को बोध हो गया तो उसी का संसार नष्ट होगा। दूसरे का नहीं।

घटादिकं जगत्सर्वं सर्वेषां चेत् पृथक् पृथक्।
त्वया दृष्टो घटो दृष्टो मयापीति कथं भवेत्॥ ३७२॥
न च वाच्यं त्वया दृष्टः सर्पो दृष्टो मयापि च।
इतिवत् स्यादिति यतो रज्जुरेकैव तत्र यत्॥ ३७३॥
यदि चात्राप्यधिष्ठानं ब्रह्मैकमनुभाषसे।
भिन्नेष्वपि घटेष्वेवं प्रत्यभिज्ञा भवेत्तव॥ ३७४॥

पू. - घटादि जगत् सब का अलग-अलग है तो तुमने जो घट देखा वही मैंने भी देखा यह प्रत्यभिज्ञा कैसे होगी? यह कहें कि रज्जु में भिन्न-भिन्न व्यक्ति के लिये सर्प भिन्न होने पर भी जैसे कहते हैं-तुमने जो सर्प देखा उसे मैंने भी देखा वैसे यहां भी होगा तो नाना घटों में अलग-अलग घडे को देखने पर भी तुमने जो घट देखा वही मैंने भी देखा बोलने लगेंगे। क्योंकि घटाधिष्टान ब्रह्म एक है।

उच्यते ज्ञातृभेदेन प्रत्यभिज्ञा कदाचन।
ऐक्यधीपरिभाषा चेत्तस्यामेतद्विचार्यते॥ ३७५॥

उ. - ज्ञाता भिन्न होने पर प्रत्यभिज्ञा ज्ञान नहीं माना जाता। सोऽयं देवदत्तः यहां पूर्व पर ज्ञान ज्ञाता एक है वह प्रत्यभिज्ञा प्रमाण है। तुमने जो देखा वही मैं देख रहा हूं यहां पर ज्ञाता भिन्न हो रहे है। यदि ऐक्यज्ञान में पारिभाषिक शब्द प्रत्यभिज्ञा आप कहते हैं तो वह यथावत् प्रमाण नहीं होगा। फिर भी पारिभाषिक प्रत्यभिज्ञा लेकर हम विचार थोड़ा कर ही लेते हैं।

स्पष्टभेदग्रहाभावे क्वचिज्जायत ऐक्यधीः।
अनुमानादितश्चापि क्वचिदैक्यमतिर्भवेत्॥ ३७६॥
श्रूयमाणस्त्वया शब्दो मयापि श्रूयतेऽत्र हि।
शब्दाच्छन्दान्तरोत्पत्तौ भिन्नौ कर्णद्वये रवौ॥ ३७७॥

यूथीगन्धस्त्वयाऽऽघ्रातो मयाप्याघ्रायते शुभः।
नासिकागतगन्धानां भिन्नत्वं सर्वसम्मतम्॥ ३७८॥
वस्तुच्छायैव नयनाऽऽगता दर्शनगोचरा।
इति वैज्ञानिकमते नैक्यं दृश्यस्य विद्यते॥ ३७९॥
यत्ते तदेव मम च काशीमुद्रितपुस्तकम्।
इत्यैक्यं स्पष्टभेदेऽपि प्रत्ययव्यवहारयोः॥ ३८०॥

स्पष्ट भेद ग्रहण न होने पर कहीं ऐक्य ज्ञान होता है। कहीं अनुमानादि अंदाज आदि से ऐक्य ज्ञान होता है। तुम जो शब्द सुन रहे हो उसे मैं भी सुन रहा हूं। शब्द से शब्दान्तरोत्पत्ति माननेवालों के मत में भिन्न कर्णों में उत्पन्न शब्द भिन्न हैं। जुही की सुगन्धि जो तुमने सूंघी वही मैं भी सूंघ रहा हूं। गन्ध या गन्धाणु नाम में पहुंचनेवाले अलग-अलग है। वस्तुच्छाया नेत्र में आती है वही प्रत्यक्ष विषय है इस वैज्ञानिक मत में भिन्न-भिन्न ही छाया नयनों में आती है। तुम्हारे पास काशी में मुद्रित जो उपनिषत् पुस्तक है वही मेरे पास भी है ऐसा समझते और बोलते हैं तब कि दोनों के पास दो पुस्तक अलग-अलग है।

एवंविधैक्यमतितो नैवैक्यं सेद्धुर्महति।
कल्पनाभेदेतस्तज्जं भिन्नं भिन्नं जगत्ततः॥ ३८१॥

ऐसी ऐसी ऐक्य बुद्धि से किसी के मत में वस्तु-ऐक्य सिद्ध नहीं होता। अतः तत्तत्पुरुष कल्पित जगत् भी कल्पना भेद से भिन्न-भिन्न ही है।

एकस्य पूर्णसम्बोधात्तस्य जाते जगल्लये।
तिष्ठत्येव जगत्सर्व-मज्ञानां स्वस्वकल्पितम्॥ ३८२॥

एक ज्ञानी को पूर्ण ब्रह्म बोध होने से उस पूर्णमात्रावशेष होने के कारण जगत्-लय हो जाये तो भी दूसरों के स्व-स्व कल्पित जगत् रहेगा ही।

अज्ञाः पश्यन्तु भूच्छिद्रसर्पमालाद्यनेकशः।
किं रज्जुदर्शिनस्तेन किं पुनः पूर्णदर्शिनः॥ ३८३॥

अज्ञानी भूमि विवर, सर्प, माला आदि अनेक वस्तु भले देखें। उस यथार्थ रज्जुदर्शी के लिये क्या होनेवाला है, अनेक कहां से आनेवाला है।

वैसे पूर्णतत्त्वदर्शी के लिये भी पूर्णातिरिक्त क्या आनेवाला है। उसके लिये पूर्णब्रह्म ही अवशिष्ट रहेगा।

वाससस्तन्तुवत् पूर्णं शक्यादानं न संसृतेः।
अनंशत्वात् पर महेः रज्जुवत्स्यात् प्रबोधतः॥ ३८४॥
पूर्णादाने ननु कथं पूर्णमेवावशिष्यते.।
पूर्णादानं पूर्णबोधो मनोऽप्यत्रावशिष्यते॥ ३८५॥
विना मनो न भवति बोधो दर्शनलक्षणः।
श्रुतिश्च मनसैवानुद्रष्टव्यमिति भाषते॥ ३८६॥
मनोऽभावे कथं दृष्टिस्तत्सत्त्वे पूर्णता कथम्।
अवश्यं मनसा वस्तुपरिच्छेदो भविष्यति॥ ३८७॥

कार्यात्मक पूर्ण से कारणात्मक पूर्ण का आदान कपड़े से तन्तु को खींच लेने के समान नहीं है। क्योंकि वह परिणामी कारण नहीं है। विवर्तकारण है। सर्प से रस्सी को लेने का अर्थ है रस्सी को जानना-पहचानना। इसी प्रकार पूर्णब्रह्म को जानना ही पूर्णादान है। तब केवल पूर्णमात्र कैसे अवशिष्ट होगा? मन भी तो रहेगा। 'मनसैवानुद्रष्टव्यं' इस श्रुति से पूर्णदर्शन मन से ही होगा। तब मन के बिना दर्शन कैसे हो। यदि मन है तो मन से ही वस्तु परिच्छेद आयेगा। तब पूर्णत्व नहीं रहेगा।

दर्शनं स्वप्रकाशत्वाद् भवेदिति न सांप्रतम्।
अनादितः स्वप्रभत्वेन भवाभावप्रसङ्गतः॥ ३८८॥
अखण्डाकारवृत्तिर्हि ततः स्यात्पूर्णदर्शनम्।
तदेव पूर्णादानं च मानसी वृत्तिरेव सा॥ ३८९॥

मन के न होने पर भी स्वयंप्रकाश होने से आत्मदर्शन (पूर्ण दर्शन) हो जायेगा ऐसा कहना भी संगत नहीं है। क्योंकि अनादिकाल से आत्मा स्वयंप्रकाश है। तब अनादिकाल से आत्मदर्शन हो जाने से संसार आज तक रहता ही नहीं। अतः पूर्णात्मदर्शन अखण्डाकार वृत्ति को लेकर ही स्वीकार करना है। वह तो मानस वृत्ति ही है।

सत्यं ज्ञानसमुत्पतिक्षणेऽज्ञानं विनश्यति।
तदैवच मनोऽज्ञानकार्यं विलयमाप्नुयात्॥ ३९०॥
न च तर्ह्याश्रयाभावाद् वृत्तिश्च लयमाप्नुयात्।
वृत्त्यात्मकज्ञानविरहान्नाज्ञानमनसोर्लयः ॥ ३९१॥
इति वाच्यं विनाऽधारं वृत्तिः सा तिष्ठति क्षणम्।
अस्तु वा मनसः सत्त्वं क्षणं किं तेन हीयते॥ ३९२॥
न चाज्ञानं च तर्ह्यस्तु, ज्ञानाज्ञानविरोधतः।
न हि प्रकाशतमसी युगपत् क्वपि तिष्ठतः॥ ३९३॥

बात यथार्थ है। ज्ञानोत्पत्तिक्षण में अज्ञान तथा तत्कार्य मन दोनों लीन होंगे। तब मन न होने से वृत्ति भी नहीं होगी। वृत्ति के न होने से अज्ञान और मन दोनों का लय भी नहीं होगा। नहीं। अज्ञान और मन के न होने पर भी वृत्ति क्षणभर के लिये उत्पन्न होकर रहेगी। बिना आधार ही रहेगी। अथवा वृत्तिज्ञान से अज्ञान नाश होगा। क्योंकि ज्ञान और अज्ञान का विरोध है जैसे प्रकाश और अन्धकार एकत्र एक क्षण में नहीं रहते। मन के साथ विरोध न होने से मन तथा वृत्ति दोनों क्षणभर के लिये रहेंगे।

नन्वज्ञानमुपादानं कथं तेन विना मनः।
तद्वृत्तिश्चावतिष्ठेतां कथं नाशस्तयोः पुनः॥ ३९४॥

पू. - अज्ञान उपादान कारण है उसके बिना मन और मनोवृत्ति दोनों कैसे रहेंगे? तन्तु के बिना पट और पटरूप कैसे रहेंगे? और रह गये तो उन का नाशक कौन होगा? यदि कोई नया नाशक आया तो पूर्णात्मावशेष नहीं रहेगा।

शृणु तन्तुविनाशेन पटनाशः सतां मतः।
तन्तुनाशः कारणं स्यात्पटनाशस्त्वनन्तरम्॥ ३९५॥
तन्तुनाशक्षणे तर्हि पटोऽस्तीति तदाऽऽगतम्।
कथं तदाश्रयाभावान्नैयायिकविपश्चिताम्॥ ३९६॥

सुनो। तन्तुनाश से पटनाश होता है ऐसा नैयायिक मानते है। मतलब तन्तुनाश कारण प्रथम क्षण में होगा तो द्वितीय क्षण में कार्य पट का नाश

होगा। अर्थात् प्रथम क्षण में पट रहेगा। जब तन्तुनाश हुआ तब आश्रय तन्तु के बिना पट कैसे रह गया? जवाब नैयायिक दें।

प्रमाणविरहेऽप्येवं तर्केणावोचि तार्किकैः।
कार्यकारणभावो हि तर्कस्तेषां मते स्थितः॥३९७॥

नैयायिकों के पास कोई ठोस प्रमाण नहीं है। फिर भी तर्क के बल पर उन्हों ने यह माना। कारण कार्य से पूर्व होता है यहीं उन का तर्क है।

वयं श्रुतिप्रमाणेन तर्केणाप्यभिदध्महे।
श्रूयते पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥३९८॥
ल्यबादिः पूर्वकालीनक्रियार्थाद्धातुतः स्मृतः।
पूर्णादानोत्तरमतः सिध्येत् पूर्णविशेषणम्॥३९९॥

हम तो श्रुतिप्रमाण और तर्क दोनों से कह रहे है। श्रुति है - पूर्णमादाय पूर्णमवशिष्यते। 'समानकर्तृकयोः पूर्वकालेक्त्वा', 'सामसेऽनञ् पूर्वेक्त्वोल्यप्' ऐसे पाणिनीय सूत्र है। 'पूर्णादानोत्तरकालीनावशेषाश्रयः पूर्ण' ऐसा शाब्दबोध होगा। अर्थात् पूर्णादान पूर्वकाल में होता है, उत्तरकाल में पूर्णावशेषण। प्रथम साक्षात्काररूप पूर्णादान होगा। उत्तर कल्पित सर्व की निवृत्ति से पूर्णावशेषण होगा। यह श्रुति और तर्क को मिलाये बिना तो प्रथम क्षण पूर्णावबोध होगा। द्वितीय क्षण में अज्ञान, मन एवं वृत्तिरूप स्वयं की और पूर्णेत्तर कल्पित जगत् की निवृत्ति एक साथ हो जाती है। एवकार से इतना अर्थ सामने आता है। पूर्णेतरानवशेषण तथा पूर्णावशेषण एवार्थ है।

समानकर्तृकत्वे हि जगौ क्त्वाप्रत्ययं मुनिः।
मात्रावशेषणादानक्रियाकर्त्रैक्यमीक्ष्यते ॥४००॥
पूर्णस्य जगतः पूर्णमादधादेष साधकः।
ब्रह्मावशिष्यते तत्र कर्तृ ब्रह्म न साधकः॥४०१॥

पाणिनि मुनि ने दो क्रियाओं की एक कर्ता हो तब पूर्वकालीन क्रियावाचक धातु से क्त्वा-ल्यप् आदि का विधान किया है। यहां आदान क्रिया और अवशेषण क्रिया दो हैं। आदान क्रिया मुमुक्षु साधक की है,

अवशेषण क्रिया ब्रह्म की है।

सत्यं साधकसाध्यौ स्तामबुद्धानां हि भिन्नवत्।
बोधे त्वादाय पूर्णं हि नैव भेदोऽवतिष्ठते॥४०२॥

बात सत्य है। अज्ञानियों के लिये साधक और साध्य भिन्न है। बोध होने पर पूर्ण से स्वयं पूर्ण समझनेवाला वही आदानकर्ता एवं अवशेषाश्रय होता है। अतः कर्तृ (पारिभाषिक) भेद नहीं रहता।

यः पूर्णमद इत्यादे - र्भाष्येऽर्थः संप्रदर्शितः।
व्याख्यां तदानुकूल्येन संप्रति प्रस्तुमो वयम्॥४०३॥

पूर्णमद इत्यादि मन्त्र का जो अर्थ भाष्य में सम्यक् दिखाया है उस के अनुकूल व्याख्या अब हम प्रस्तुत करते हैं।

ब्रह्म वा इदमग्रेऽभूत् तदात्मानमवैत् स्वयम्।
अहं ब्रह्मास्मि तस्मात्त-दभूत् सर्वमिति श्रुतिः॥४०४॥

'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मामेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत् सर्वमभवत्' ऐसी बृहदारण्यक श्रुति है।

पूर्णमित्यादिमन्त्रस्य स एवार्थो विवक्षितः।
ब्रह्म पूर्णमदोऽथेदं नामरूपाद्युपाधिकम्॥४०५॥

ब्रह्म वा इदमग्रे इत्यादि श्रुति का जो अर्थ है वही पूर्णमदः इत्यादि मन्त्र का है। 'ब्रह्म' का अर्थ है - पूर्णमदः। ब्राह्मण वाक्य में जो 'इदं' शब्द आया उसका अर्थ है - पूर्णमिदम्। इदं माने नामरूपोधिवाला।

एतदुक्तं परं ब्रह्म ब्रह्मशब्देन भण्यते।
इदं शब्देन जीवश्च नामरूपाद्युपाधिकः॥४०६॥

यूं समझिये - ब्रह्मैवेदमग्रआसीत् में ब्रह्म शब्द का परब्रह्म अर्थ है। इदं शब्द का नामरूपोपाधिक जीव अर्थ है।

सृष्टेः प्राक्खल्वयं जीवो ब्रह्मैवाभून्न चापरः।
मन्त्रे प्रथमपादस्या-प्ययमर्थोऽवसीयते॥४०७॥

ब्रह्मैवेदमग्रआसीत् का वाक्यार्थ है - यह जीव सृष्टि से पहले ब्रह्म ही था अन्य नहीं यही अर्थ पूर्णमदः मन्त्र के प्रथम पाद का भी

प्रतीत होता है।

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।
इति श्रुतावयं ह्यर्थो भवति प्रतिपादितः॥४०८॥
अत्रेहेतीदमोरूप - ममुत्रेत्यदसस्तथा।
कार्योपाधाविह हि यच्चैतन्यं जीवसंज्ञितम्॥४०९॥
तदेव कारणोपाधौ ब्रह्म स्वात्मनि वा स्थितम्।
यदमुत्रात्मगं ब्रह्म स जीवः सृष्टिमन्विह॥४१०॥
अदः पूर्णमिदं पूर्णमित्यनेनैतदीरितम्।
तद्ब्रह्म वा इदं ह्यग्र इत्यनेनापि वर्णितिम्॥४११॥

'यदेवेह तदमुत्र' यहां इह पद इदं का रूप है। अमुत्र यह अदः का रूप है। इह=इस शरीररूपी कार्योपाधि में जो चैतन्य जीवात्मक है वही अमुत्र=कारणोपाधि में या अपने आप में स्थित ब्रह्म है। और वह जो ब्रह्म है वही इस कार्योपाधि में है। अदः पूर्णम् इदं पूर्णं इस में यही बात कही गयी है। ब्रह्म वा इदमग्रआसीत् इस वाक्य में भी है। (मतलब-इदं पद सुनकर झुंझलाना नहीं कि सर्वत्र सदेवेदमग्रआसीत् इत्यादि में जगत अर्थ है। यहां जीव अर्थ कैसे किया? क्योंकि इदं पद का अन्यत्र जीव में पर्यवसायिता देखी जाती है।)

पूर्णस्य पूर्णमादाये-त्यहं ब्रह्मेत्यवेत्य च।
स सर्वमभवन्नाम पूर्णमेवावशिष्यते॥४१२॥

'पूर्णस्य पूर्णमादाय' का अर्थ है-अहं ब्रह्मास्मि जानकर और तत्सर्वमभवत् का अर्थ है-पूर्णमेवावशिष्यते।

पुनः संक्षिप्य कथयाम्यर्थोपप्लवहानये।
सर्ववेदान्तसारार्थ - संग्रहात्मत्वतो मनोः॥४१३॥
परं पूर्णमदोब्रह्म निरुपाधि स्वयंप्रभम्।
कार्यं जीवात्मकं चेदं पूर्णं वस्तुस्वरूपतः॥४१४॥
स्वरूपं परमात्मैव जीवस्याप्यस्य वस्तुतः।
परमात्मस्वरूपेण पूर्णं तज्जीवसंज्ञितम्॥४१५॥

पूर्णादुदच्यमानं हि पूर्णमेव स्वरूपतः।
घटव्योम यथाव्योम्न उद्धृतं व्यापि वस्तुतः॥४१६॥
तस्य पूर्णत्वमुद्धृत्यादाय मोहान्धकूपतः।
अखण्डं सच्चिदानन्दं पूर्णमेवावशिष्यते॥४१७॥

कन्फ्यूजन न हो एतदर्थ पुनः कहता हूं। अदःपूर्ण ब्रह्म है। इदं पूर्ण जीव है कयोंकि पूर्ण ब्रह्म से उद्धृत हुआ जीव वस्तुतः ब्रह्म ही है ना? जैसे व्यापक आकाश से उद्धृत घटाकाश वस्तुतः महाकाश ही तो है। उस जीव का पूर्ण अज्ञानकूप से उठा लेते हैं तो पूर्ण ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है। अब ब्रह्मैवेदमग्रआसीत् इत्यादि का अर्थ देखो।

इदमर्थः श्रुतौ जीवो नामरूपाद्युपाधिकः।
ब्रह्मैवाग्रेऽभवत्सोऽय-मविद्याकामकर्मयुक्॥४१८॥

श्रुत्युक्त नामरूपोपाधिक इदमर्थ जीव जो अविद्या कामादियुक्त है पहले (सृष्टि से पूर्व) ब्रह्म ही था।

ननु ब्रह्मैव पूर्वं चेत् कथं तत्समजायत।
अजमेव श्रुतं ब्रह्म श्रुतिषु, स्मृतिषु स्मृतम्॥४१९॥

पू. - यदि ब्रह्म ही अकेला पहले था तो वह उत्पन्न होकर जीव कैसे हुआ। श्रुति स्मृति आदि में ब्रह्म को अजन्मा बताया है।

न च देहं विना जीवोऽप्यासीद् देहं धरन् पुनः।
उच्यते जायत इति सन्नजोपीति सांप्रतम्॥४२०॥
ब्रह्मैवेत्येवकारार्थः कथं तर्ह्युपपद्यताम्।
जीवा अप्यभवंस्तर्हि नानेति हि समागतम्॥४२१॥
अत्रोच्यतेऽस्त्यनिर्वाच्या मायाऽविद्यादिशब्दिता।
तया जन्मलयादीनां भवेद् ब्रह्मणि कल्पना॥४२२॥
न च सैव द्वितीयैवमेवकारविरोधिनी।
यतो न ब्रह्मतो भिन्ना नाभिन्ना नोभयात्मिका॥४२३॥
न सती नासती नोभ-यात्मिकाऽस्तीति चोच्यते।
तत्कार्यमपि निर्वक्तुं न शक्यं तन्मृषैव सा॥४२४॥

यह कहें कि प्रलय में बिना देह के सभी जीव भी थे। सृष्टि में देहधारण होने पर 'जनमा' ऐसा कहा जाता है। नहीं। तब 'ब्रह्मैवासीत्' यहां एवकार अनुपपन्न होगा। जीव भी अनेक थे ही। उ. - उत्तर सुनो। अनिर्वचनीय माया से ब्रह्म में जन्मलयादि कल्पना होती है। वही माया प्रलय में रही तो 'ब्रह्मैव' यह एवकार असंगत होगा। नहीं। वह ब्रह्म से भिन्न.नहीं है। तथा अभिन्न नहीं, भिन्नाभिन्न भी नहीं। सती या असती या सदसती भी नहीं। वह अनिर्वचनीय है। उसका कार्य जगत भी अनिर्वचनीय है। मिथ्या है। अतः द्वैत नहीं है।

निर्वक्तुं न त्वया शक्यं किं तेनाऽऽगोऽस्ति वस्तुनः।
भिन्नमेव सदेवेति निर्वच्यो व्यवहारतः॥४२५॥

आप निवर्चन नहीं कर सकते हैं तो यह वस्तु का अपराध थोडा ही है? हम यही कहेंगे ब्रह्म से भिन्न जगत है। वह सत् ही है। यही निर्वचन है। व्यवहार देखने में आ रहा है। व्यवहार से जगत चल रहा है वह द्वैत में ही संभव है।

ब्रह्मभेदो जगति यः स भिन्नोऽभिन्न एव वा।
भिन्नेऽनवस्थाऽभिन्ने च ब्रह्मैव जगदागतम्॥४२६॥

सुनिये - जगत मे जो ब्रह्म का भेद है वह भेद ब्रह्म से भिन्न है या अभिन्न? यदि भिन्न है तो बीच में एक भेद और आ गया। वह भेद ब्रह्म से भिन्न है या अभिन्न यह प्रश्न उठेगा। और अनवस्था में पर्यवसान होगा। यदि ब्रह्म से अभिन्न है तो ब्रह्म ही हुआ? भेद से अभिन्न उसी युक्ति से जगत को मानना पडेगा। तब ब्रह्मरूपी भेद से अभिन्न जगत ब्रह्म ही हुआ।

भेदोऽस्ति व्यवहाराणामन्यथानुपपत्तितः।
इति चेत् को हि नेत्याह मृषा तमभिदध्महे॥४२७॥

व्यवहार की अन्यथानुपपत्ति से भेद है कहो तो ना किसने कहा? उस भेद को हम मिथ्या बोलते हैं। असत् और मिथ्या पर्यायवाची नहीं है।

दृष्टा कर्गलखण्डेषु रूप्यव्यवहृतिः सताम्।
राज्ञा निरस्तमूल्यं च कर्गलं कर्गलं स्थितम्॥४२८॥

अभूतां प्रथमं येन भूम्यादिक्रयविक्रयौ।
तदेवाद्य पथि क्षिप्तं नेक्षितुं कोऽपि काङ्क्षति॥४२९॥
तस्माद् व्यवहृतिर्नैव भवेत् सत्यत्वसाधिका।
स्वप्ने व्यवहृतिर्दृष्टा तद्वदेव च जाग्रतः॥४३०॥

कागज के टुकडों में रूप्य (चांदी को रूप्य कहते हैं) रुपये का व्यवहार करते हैं। सरकार ने नोट केन्सल किया तो कागज कागज ही रह जाता है। जिस से प्रथम जमीन जायदाद वस्तुओं का क्रय-विक्रय होता था, केन्सल होने पर रास्ते में हजार का नोट पडा तो भी कोई उठाने में उत्सुक नहीं होता। अतः व्यवहार के लिये वस्तु की सत्यता आवश्यक नहीं है। स्वप्न में भी व्यवहार होता है। बिना वस्तुसत्यता नहीं।

ये तु गर्वमखर्वं तु दधुर्निर्वचने जनाः।
खण्डिताः खण्डनेऽद्वैत-परिशुद्धौ च शोधिताः॥४३१॥

जो निर्वचन करने में गर्व रखते हैं उनका खण्डन खण्डनखण्डखाध में किया है और अद्वैत परिशुद्धि में शोधन भी कर लिया है।

न च ब्रह्मापि नो सिद्ध्येत् स्वयंसिद्धं हि तद्यतः।
तन्निष्ठस्यैव मोक्षं चोपदिशत्यम्बिका श्रुतिः॥४३२॥

ऐसा फिर ब्रह्म भी सिद्ध नहीं किया जा सकेगा। न हो। वह स्वयं सिद्ध है। तन्निष्ठ को ही मोक्ष श्रुति बताती है।

विज्ञेयमिदमप्यत्र महावाक्यार्थ एव च।
सर्ववेदरहस्यार्थो मन्त्रेणानेन दर्शितः॥४३३॥

यह बात भी यहां जानना आवश्यक है महावाक्यार्थ भी, जो सर्व वेद रहस्यार्थ है इस मन्त्र से दिखाया गया है।

अदस्तत्पदवाच्यार्थ-स्त्वंवाच्यार्थो भवेदिदम्।
लक्ष्यार्थः पूर्णशब्दाभ्या-मुभयत्र प्रदर्शितः॥४३४॥

'अदः' यह तत्पदवाच्यार्थ अर्थात् तत्पदवाच्यार्थबोधक है। तथा 'इदं' यह त्वंपदवाच्यार्थ है। दोनों के साथ में आया हुआ पूर्ण शब्द दोनों का लक्ष्यार्थ बोधनार्थ है।

अदसो विप्रकृष्टार्थः संनिकृष्टस्तथेदमः।
तौ पूर्णशब्दसांनिध्याज्ज्ञायेते चेतनावपि॥४३५॥

अदः का विप्रकृष्ट अर्थ है और इदम् का संनिकृष्ट अर्थ है।

इदमस्तु संनिकृष्टं समीपतरवर्त्ति चैतदो रूपम्।
अदसस्तु विप्रकृष्टं तदिति परोक्षं विजानीयात्॥४३६॥

ऐसी कहीं की कारिका है। पूर्ण शब्द पर पूरा विचार करने से पूर्व ही चैतन्य उपस्थित होता है। उसके सांनिध्य से अदः शब्द का अर्थ और इदं शब्द का अर्थ चेतनत्वेन रूपेण उपस्थित होता है।

न स वाच्यार्थ इति चेत् सर्वनाम्नी हि ते तयोः।
बुद्धिगोचरधर्मावच्छिन्ने शक्तिर्मता यतः॥४३७॥

अन्य शब्द सांनिध्य से प्राप्त अर्थ वाच्यार्थ नहीं होगा। ऐसी शंका अस्थाने है। क्योंकि दोनों सर्व नाम है। अतः बुद्धिविषयतावच्छेदक धर्मावच्छिन्न में शक्ति होती है।

वेदे वक्तुरभावेऽपि शब्दसामान्यकल्पिताम्।
बुद्धि मीमांसयाऽऽदाय क्रियते शक्तिनिर्णयः॥४३८॥
सा पूर्णशब्दसांनिध्यात् स्यात्सचैतन्यगोचरा।
लभ्येते दर्शितावर्थौ तेनेदमदसोरिति॥४३९॥

वेद में वक्ता के न होने पर भी लोक वेद सामान्य शब्दावली होने से मीमांसानुसार वैसी बुद्धि की कल्पना कर शक्ति निर्णय किया जाता है। तब पूर्ण शब्द सांनिध्य से विप्रकृष्ट एवं संनिकृष्ट चैतन्य अर्थ अदः और इदं से लभ्य होंगे।

न हि क्रतुवसिष्ठादि चैतन्यानुगतिस्ततः।
सृष्टिपूर्वेशचैतन्यमेकं सदसतः पदम्॥४४०॥

व्यास, क्रतु, वसिष्ठादि चैतन्य अननुगत होने से सृष्टि पूर्व जो एकमेवाद्वितीय सत् चैतन्य है वही अदः शब्द का आस्पद होगा।

आसीदग्रे सदेवैकं ब्रह्मैवाग्रेऽभवत् परम्।
इत्याद्यर्थानुसन्धानादप्यदः पदमीश्वरः॥४४१॥

सृष्टि से पूर्व सत ही एक था ब्रह्म ही था इत्यादि वाक्यार्थानुसन्धान से भी अदः पद का ब्रह्म अर्थ निकलता है।

सविशेषेणशब्दो हि संकुचद्वृत्तिको भवेत्।
निर्विशेषणशब्दस्तु स्वार्थव्याप्यार्थवृत्तिकः॥ ४४२॥
कान्यकुब्जेश्वर इति व्यावृत्त इतरेश्वरात्।
किन्त्वीश्वर इति प्रोक्तो भवेत् सर्वेश्वरो हरः॥ ४४३॥
निर्विशेषणमत्रोक्तं विप्रकृष्टार्थकं ततः।
तत् सर्वविप्रकृष्टार्थबोधकं जायते पदम्॥ ४४४॥
सृष्टौ यावत्पदार्थाः स्युर्विप्रकृष्टं ततः खलु।
तत् पूर्वस्थं परं ब्रह्म जगतः सृष्टिकारणम्॥ ४४५॥

सविशेषण शब्द संकुचितार्थक होगा। जैसे कान्यकुब्जेश्वर कहने पर इतर भद्रेश्वर दिल्लीश्वरादि से पृथक् संकुचित होगा। ईश्वर इतना कहते हैं तो 'ईश्वरः सर्व ईशानः' में बताया सर्वेश्वर हर अर्थ होगा। 'अदः' यह विर्विशेषण है। अतः सर्व विप्रकृष्ट अर्थ होगा। इन्द्रौऽसौ कुबेरोऽसौ इत्यादि के समान संकुचित नहीं। सर्व से सृष्टिस्थ सर्व आयेंगे। उस में विप्रकृष्ट तो सृष्टि पूर्वस्थ परमात्मा ही है जो अद्वितीय होने से सर्वसृष्टिकारण है।

अन्यस्य विरहादेव सृष्टेस्तद्ध्येव कारणम्।
यः सर्वज्ञः सर्वविच्च सर्वशक्तिश्च सिध्यति॥ ४४६॥

सृष्टि हुई है। अतः सृष्टि का कारण अवश्य कोई होगा। सर्व विप्रकृष्ट होने से अन्य कोई है नहीं। अतः सर्वविप्रकृष्ट वही जगत कारण है अतएव उसे सर्वज्ञ सर्वावित् सर्वशक्ति मानना ही होगा। यही यः सर्वज्ञ सर्ववित् इत्यादि श्रुतियों में बताया।

एतदाहेशचैतन्यं सर्वकर्त्र्यप्यलौकिकम्।
विप्रकृष्टतमं सर्व-प्राग्भावित्वाददः पदम्॥ ४४७॥

सारार्थ यह है कि सर्व कर्ता होने पर भी जो अलौकिक (लोक दृष्टिगोचर नहीं) ऐसा ईश्वर चैतन्यं जो समस्त कार्य प्रपञ्च से पहलेवाला होने से विप्रकृष्टतम है वही अदः शब्द से बोध्य है।

संनिकृष्टार्थकमिद - मविशेषणमत्र च।
संनिकृष्टतमं यत्तद् बोधयेद्वस्तु पूर्ववत्॥ ४४८॥

पूर्णमिदं में इदं पद का संनिकृष्ट अर्थ है। और यहां भी विशेषण न होने से संनिकृष्टतम अर्थ होगा।

सर्वेषामपि चात्मैव संनिकृष्टतमो निजः।
तच्चैतन्यं पूर्णशब्द-साहित्यान्न पूनर्वपुः॥ ४४९॥

सब के लिये संनिकृष्टतम तो आत्मा ही है। पूर्ण शब्द साहचर्य से चैतन्य है। देह नहीं।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्येत्यादौ तु वपुरादिकम्।
यद्यप्यर्थोऽस्त्यचैतन्यन्न ग्राह्यमिह तत् ततः॥ ४५०॥

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य इत्यादि में मन शरीरादि भी आत्मा भी आत्मा है तथापि अचेतन होने से यहां इदं पदार्थ नहीं है।

अहमित्येव किं नोक्तमिति चेन्नर्षिणोच्यते।
मा ग्राह्यर्थः स इत्यस्यादिदमित्येव चोदितम्॥ ४५१॥

यदि आत्मा ही लेना था तो 'पूर्णमदः पूर्णमहं' ऐसा क्यों नहीं कहा? अरे यह मन्त्र ऋषि बोल रहे हैं। वही ऋषि अहं पद से लेने न लग जाये इसलिये इदं कहा।

समीतरवर्त्येतत् पदं प्रायोजि नो कुतः।
असंनिकृष्टं मा ग्राहि समीपतरमेव तु॥ ४५२॥

अधिक समीप अर्थ के लिये एतत्पद का प्रयोग करते, समीपतरवर्त्ति चैतदो रूपम्। नहीं। असंनिकृष्ट भी समीपतर हो सकता है।

संनिकर्षस्तु संयोग-तादात्म्यादिरुदीर्यते।
संनिकृष्टतरस्तेन चात्मैवायाति चेतनः॥ ४५३॥

समीप एवं संनिकृष्ट समानार्थक नहीं है। संयोग तादात्म्य इत्यादि संनिकर्ष है उससे संनिकृष्टतम आत्मा ही है।

स्वानुभूत्यास्पदं दृश्यं परिच्छिन्नमिदंपदम्।
अल्पज्ञमल्पशक्त्यल्प-चैतन्यं कार्यलक्षणम्॥ ४५४॥

इदं वह है जो दृश्य है, स्वानुभव विषय है, परिच्छिन्न है वही इदं शब्द का अर्थ है। वह अल्पज्ञ अल्प शक्ति, अल्प चैतन्य, उपाधि विशिष्टरूप से कार्यात्मक भी है।

इत्येवं हीदमदसोः शक्यार्थौ सद्भिरीक्षितौ।
लक्ष्यार्थं पूर्णमेवाह शब्दाभ्यां च स्वयं श्रुतिः॥४५५॥

इस प्रकार इदं और अदः का शक्यार्थ मनीषियों ने देखा। लक्ष्यार्थ क्या है यह स्वयं श्रुति पूर्णं पूर्णं ऐसे दो बार कहकर दोनों का दरसाया।

अदः पूर्णमिदं पूर्णं न परोक्षमदस्त्वतः।
इदं पूर्णमदः पूर्णं नाल्पं कार्यमिदंत्वतः॥४५६॥

अदः पूर्ण ही इदं पूर्ण है। और इदं पूर्ण ही अदः पूर्ण है ऐसा परस्पर उद्देश्य विधेयभाव है। अदः पूर्ण परोक्ष न हो इस के लिये इदं पूर्ण कहा। इदं पूर्ण परिच्छिन्न कार्यात्मक ही न हो एतदर्थ अदः पूर्ण कहा।

यदि कार्यं भवेज्जीवो वाचारम्भणमापतेत्।
मृत्पिण्डे मृन्मयस्याह वाचारम्भणतां श्रुतिः॥४५७॥

पू. - यदि जीव कार्य है तो वाचारम्भण मिथ्या होगा। 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' यह श्रुतिवचन है। मृत्तिका ही सत्य है कार्य घटादि मिथ्या है।

न च मिथ्यार्थमादाय सत्यशोधनसंभवः।
न हि नैल्यापरोक्ष्येण व्योम्नः पारोक्ष्यवारणम्॥४५८॥
नाप्यङ्कुरापरोक्ष्येण बीजशक्त्यपरोक्षता।
न शक्तेर्व्यापकत्वेन सिध्येद् वा व्यापकोऽङ्कुरः॥४५९॥
तदर्थपारोक्ष्यहृतिः त्वमर्थस्यापरोक्ष्यतः।
तदर्थस्याऽपरिच्छित्त्या त्वमर्थस्य तथाविधा॥४६०॥
इत्यादिकमशेषं हि भज्यते कार्यकारणे।
तस्मान्न दर्शनमिदं बुद्धिमारोहतीति चेत्॥४६१॥

मिथ्या अर्थ को लेकर सत्यशोधन करना संभव नहीं है। आप कहते

है तत् त्वं त्व तत् यहां त्वमर्थ की अपरोक्षता से तदर्थ की परोक्षता निवृत्त होगी। तदर्थ की अपिरिच्छन्नता से त्वमर्थ की परिच्छिन्नता निवृत्त होगी। हम कहते हैं, क्या आकाश में नीलिमा प्रत्यक्ष है तो आकाश भी प्रत्यक्ष है? बीजशक्ति व्यापक है तो अङ्कुर भी व्यापक माना जायेगा? या आकाश व्यापक है तो नीमिला भी व्यापक होगी?

विपरीतं हि किं नस्याद नैल्यं मिथ्येति खं मृषा।
अङ्कुरोऽस्त्यल्प इत्यस्मादल्पा शक्तिरपीत्यहो॥ ४६२॥

और विपरीत भी तो हो सकता है। नीलिमा मिथ्या है तो आकाश भी मिथ्या। अंकुर अल्प है तो शक्ति भी अल्प इत्यादि।

मैवं जीवो नैव कार्यं ब्रह्मणो, घटवन्मृदः।
खनैल्यमिव वा किन्तु पूर्णात् पूर्णमपदच्यते॥ ४६३॥

उ. - पूर्वोक्त दोष यहां नहीं है। जैसे मृत्तिका कार्य घट है वैसे ब्रह्म का कार्य जीव नहीं है। जैसे आकाश में नीलिमा कल्पित है वैसे ब्रह्म में जीव कल्पित नहीं है। तो फिर कैसा? पूर्ण ब्रह्म से पूर्ण जीव उदञ्चित अद्रिक्त होता है।

उद्रिच्यत इति व्याख्या कृता भाष्य उदच्यतेः।
केनाप्यतिशयेनेदं पूर्णमेव प्रकाशते॥ ४६४॥
तथा हि सच्चिदानन्दं पूर्णमित्युदितं पुरा।
नाना विधैरतिशयैस्तदेवात्र प्रकाशते॥ ४६५॥
नामरूपातिशयतः स्वयं पूर्णं प्रकाशते।
घटादौ सच्चिदानन्द-मज्ञानेनावृतं स्थितम्॥ ४६६॥
घटोऽस्ति भाति प्रिय इ-त्यस्ति भाति प्रियात्मकम्।
पूर्णं प्रकाशते नामरूपातिशयसंयुतम्॥ ४६७॥
देवदत्तोऽस्मि जानामि सुखंस्म स्वपिमीति च।
वृत्त्याऽज्ञाने निरस्ते तु सच्चिदानन्ददीपनम्॥ ४६८॥
सच्चिदानन्दमहमोऽनावृतं प्रायशो मतम्।
भासतेऽतिशयेशनैव प्रायः खलु दहिनाम्॥ ४६९॥

न चात्र सच्चिदानन्दजन्य कुत्रापि विद्यते।
नातः खनैल्यतौल्यं मृद्-घट साम्यं हिवेदमः॥ ४७०॥

उदच्यते का उद्रिच्यते ऐसा अर्थ भाष्य में किया है। उद्रेक अतिशय को कहते हैं जिस में कुछ उलटा सीधा कार्य होता है। कामोद्रेक क्रोधोद्रेकादि प्रसिद्ध है। जिस में कुछ अस्वाभाविक सा कार्य होता है। 'गतो भक्त्युद्रेकः परिणतिमसौ' इत्यादि महिम्नः स्तुति प्रयोग में विष्णु ने भक्त्युद्रेक में आकर अपने नैत्रकमल को ही कमलरूप में भगवान शंकर को चढाया। क्रोधोद्रेक में विवेकहीन होकर मातृपितृ ताडनादि करते हैं पूर्णोद्रेक में ही संसार बना। पूर्ण माने सच्चिदानन्द पहले बताया। उस में ही संसार कार्य हुआ घटोऽस्ति भाति प्रियः इस सच्चिदानन्द में नामरूपमय घट आ गया। देवदत्तोस्मि जानामि सानन्द में अस्ति भाति प्रिय में देवदत्त नामरूप घुसा भेद भासित होने लगा। घटादि में सत चित् आनन्द आवृत रहता है। वृत्ति से (चित्तवृत्ति से) अज्ञान निरास होने पर सत् चित् आनन्द दीप्त होता है। अहं से सत् चित् आनन्द प्रायः अनावृत रहता है। और अतिशय नामरूप के साथ प्रकाशित रहता है। हां, इतना निश्चित है कि सत् चित् आनन्द का जन्म कहीं भी नहीं होता इसलिये इदं में आकाश नीमिला की तुल्यता नहीं और मृद्घट तुल्यता भी नहीं है।

असत्त्वापादिकाऽभाना-ऽऽपादिका चावृती मते।
अज्ञानस्य ह्यनानन्दापादिकां च परे विदुः॥४७१॥
आभिर्हि सच्चितदानन्दं पूर्णं नो दीप्यतेऽनिशम्।
परोक्षज्ञानतोऽसत्त्वापादिनी विनिवर्तते॥ ४७२॥
अपरोक्षात्तथाऽसत्त्वाऽभानापाधावुभे स्यतः।
प्रेमवृत्त्या त्वनानन्दापादिन्या निवृत्तिं विदुः॥४७३॥

अज्ञान में दो आवरण हैं। असत्त्वापादक और अभानापादक। अनानन्दापादक को भी कुछ लोग मानते हैं। इन से सच्चिदानन्द आवृत्त होता है। परोक्ष ज्ञान से असत्त्वापदक की निवृत्ति होती है। अपरोक्ष ज्ञान

से असत्त्वापादक अभानापादक दोनों की निवृत्ति होती है। प्रेमवृत्ति से अनानन्दापादक की निवृत्ति मानते हैं।

घटाऽपरोक्षवृत्त्या हि निवर्तेते तदावृती।
तदा घटोऽस्ति भातीति स्फुरतो घटसच्चितौ॥ ४७४॥
संनिकृष्टोऽहमर्थस्तु नित्यस्तेन तदावृती।
धूते ततस्तत्स्फुरणान्न संशयविपर्ययौ॥ ४७५॥
नानन्दो दुःखसंसारवृत्त्या विद्धः प्रकाशते।
सुषुप्तौ दुःखविरहादुद्भूतः स प्रकाशते॥ ४७६॥

घट विषयक अपरोक्षवृत्ति से असत्त्वापादक और अभानापादक दोनों आवरण निवृत्त होंगे तब घट है भास रहा है। ऐसे सत् चित् दोनों का स्फुरण होता है। अहं (मैं) संनिकृष्ट होने से मैं हूं जान रहा हूं ऐसे सत् और चित् का नित्य प्रकाशन होता है। इसीलिये मैं हूं कि नहीं, मैं हूं ही नहीं, ऐसा न संशय होता और न विपर्यय होता है। तो आनन्द की भी अभिव्यक्ति हमेशा क्यों नहीं होती? इसलिये कि संसार दुःखरूप होने से दुःखवृत्ति से आनन्द अभिभूत होता है। सुषुप्ति में दुःख न होने से आनन्द अभिभूत नहीं रहता उद्भूत होता है। आनन्द का भी प्रकाश होता है।

ननु दुःखात्मकोऽयं चेत् संसारो भवतां मते।
दारपुत्रधनादिभ्य आनन्दः स्यात् कथं नृणाम्॥ ४७७॥

पू. - यदि संसार आप के मत मं दुःखरूप है, उससे स्वानन्द अभिभूत होता है तो पत्नी, पुत्र, धन आदि से कैसे सुख मिलता है?

न च तत्तद्गतानन्दमात्रा स्फुरति नात्मनः।
इति वाच्यं तेऽप्रियाश्चेदप्यानन्दप्रसङ्गतः॥ ४७८॥

यदि कहें - 'अस्यैवानन्दस्यान्यानि मात्रामुपजीवन्ति' के अनुसार तत्तद् दारादि स्थित आनन्द मात्रा का स्फुरण होता है, आत्मानन्द स्फुरण नहीं। तो दारसुतादि अप्रिय होने पर भी उन में आनन्दभान होने लगेगा।

न च वाच्यं प्रेमवृत्त्याऽऽनन्दभानं भवेदिति।
तस्याः सुषुप्तौ विरहान्नानन्दस्फुरणं भवेत्॥ ४७९॥

यह कहें कि प्रेम वृत्ति से आनन्द स्फुरण होता है। अप्रिय होने पर प्रेमवृत्ति न होने से आनन्द स्फुरण नहीं होता। नहीं। सुषुप्ति में प्रेमवृत्ति के न होने से आनन्द स्फुरण नहीं होना चाहिये।

न च स्फुरेत् परानन्दः प्रेमवृत्त्येति सांप्रतम्।
अन्योन्याश्रयता, प्रेम्णा सुखं, प्रेम सुखादिति॥४८०॥

ऐसा मानेंगे कि अन्य (दारादि) वृत्ति आनन्द मात्रा प्रेमवृत्ति से स्फुरित होगी (आत्मानन्द स्वंय स्फुरित होगा) तो यह भी सही नहीं। क्योंकि इस में अन्योश्रयता दोष है। प्रेम से सुख स्फुरण होगा, सुख स्फुरण से प्रेम होगा।

अत्रोच्यते न संसारो दुःखात्मैवेति भण्यते।
परिणामादिदुःखेन दुःखरूपमुदीर्यते॥४८१॥
तथा चाह मुनिः सर्वं दुःखमेव विवेकिनः।
दुःखं विवेकिनां भाति सुखं चैवाऽविवेकिनाम्॥४८२॥
दुःखहेतुत्वतो दुःखं क्वचिद् दुःखात्मकत्वतः।
जन्म दुःखं जरा दुःखमित्यादि बहुधेरितम्॥४८३॥

उ. - इस पर हमारा कहना यह हैं कि संसारदुःखाभाव ऐसा नहीं कहते परिणाम तापादि दुःख से दुःखरूप कहते है। परिणाम-ताप-संस्कार-दुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुखमेव सर्वं विवेकिनः इस पातञ्जल सूत्र में विवेकियों को दुःखरूप भासता है। अविवेकियों को सुखरूप भासता है यह भी अर्थ सिद्ध है। दुःख हेतु होने से बहुत चीज को दुःख बताया। और किसी को दुःखात्मक होने से।

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्॥४८४॥
परिणामे विषमिवेत्यादिकं बहुधेरितम्।
विविच्य दर्शितं तेन सर्वं भगवता स्वयम्॥४८५॥

'यत्तदग्रे विषमिव विषयेन्द्रियसंयद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्' इत्यादि गीता श्लोकों में इस का स्पष्टीकरण है।

मिष्टान्नरसनायोगात् सुखं प्रेमानपेक्षणम्।
तत्सापेक्षं प्रवयसः श्मश्रवाकर्षः सुखं शिशोः॥४८६॥
स एव शात्रवकृतः दुःखं भवति तस्यू हि।
तत् प्रेमोत्तेजकं क्वापि क्वापि चोत्कर्षकारणम्॥४८७॥

मिठाई का रसना से संयोग होने पर प्रेम की अपेक्षा रखे बिना ही सुख होने लगता है। बच्चा वृद्ध की दाढी खींचता है तो सुख प्रेमापेक्ष होता है। इसलिये प्रेम कहीं उत्तेजक है और कहीं उत्कर्ष कारण है। उत्तेज-काभावविशिष्ट होकर बाधकतत्त्व बाधा उत्पन्न करता है।

संसारवृत्तिसामान्य - मानन्दस्फूर्त्तिबाधनम् ।
योगिनां तन्निरासेन ह्यानन्दः स्फुरति स्फुटः॥४८८॥
मनः प्रत्यगिति श्लोके पुष्पदन्तो हि योगिनाम्।
निमज्जत इवाऽऽह्लादो ह्रदेऽमृतमये जगौ॥४८९॥

संसारविषयक समस्त वृत्ति आनन्द स्फुरण में बाधक (प्रतिबन्धक) है। योगी लोग संसारवृत्ति निरोध करते हैं तो उन को स्पष्ट आनन्द स्फुरण होता है। 'मनः प्रत्यक् चित्ते' इत्यादि महिम्नः श्लोक में पुष्पदन्तजी ने योगियों को अमृतम आनन्द सरोवर में गोता लगाने का आनन्द बताया है।

नाङ्गीचक्रुरनानन्दा-ऽऽपादिकामावृतिं पृथक् ।
संसारवृत्त्या स्वानन्दस्फुरणप्रतिबन्धनात्॥४९०॥
मेघवद् भववृत्तीनां गाढाऽगाढविभागतः।
आनन्दः सूर्यवद् भाति क्वापीषत् क्वापि नैव च॥४९१॥

इस प्रकार कई संतों ने अनान्दापादक आवरण को नहीं माना। निरन्तर संसार वृत्ति से आनन्द का स्फुरण प्रतिबन्ध हो जायेगा। हां ये संसार वृत्तियां मेघ के समान कहीं गाढ होती हैं। कहीं पतली होती है, जिस से कभी अल्पानन्द स्फुरित होता है कहीं नहीं। जैसे सूर्य अल्पमेघ में थोडा स्फुरित होता है गाढ मेघ में नहीं।

भक्तानां त्यागिनां वार्ताऽनानन्दपादकाऽऽवृतेः।
प्रेमवृत्त्याऽऽवृतेर्भङ्गादानन्दो भजतां स्फुरेत्॥४९२॥

जो त्यागी भक्त हैं अननान्दापादक आवरण की वार्ता उनकी है। प्रेम वृत्ति से उस आवरण के हटने से भक्तों को बडा आनन्द आता है।

निद्रायां ननु वृत्तीनां सर्वसां विलये सति।
पूर्णाऽऽदानेन परमा-नन्दः कस्मान्न मोक्षवत्॥४९३॥
न चास्वाप्सं सुखमिति सुखप्रत्यवमर्शतः।
अस्त्येव परमानन्दप्रतीतिरिति सांप्रतम्॥४९४॥
दीर्घनिद्रां तदा सर्वोऽप्याकाङ्क्षेदौषधादिना।
तत्रैव दारपुत्रादि - सुखमन्तर्भवेद्यतः॥४९५॥
यावानर्थ उदयाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु लोकेषु निद्रालोः स्याद्भवन्मते॥४९६॥
दुःखाभावे सुखप्रज्ञां ततो नैयायिका जगुः।
सुखमल्पावृतं त्वन्य इति चेदत्र योगिनः॥४९७॥

पू. - निद्रा (सुषुप्ति) में समस्त वृत्तियों का विलय होता है। तब पूर्णस्य पूर्णमादाय यह पूर्णादानानन्द होगा तो मोक्षानन्द प्राप्त क्यों नहीं होता। यह कहें कि मैं सानन्द सोया ऐसा परम आनन्दानुभव होता ही है। तो सब लोग औषधादि सेवन कर दीर्घ निद्रा में पडे रहने लगेंगे। दारपुत्रादि सुखेच्छा से जगना चाहते हैं यह समाधान भी नहीं होगा। पूर्णादानात्मक मोक्ष सुख में सर्व सुखान्तर्भाव होता है। यावानर्थ उदपाने यह गीता श्लोक यहां चरितार्थ हो जायेगा। इतना बदलना होगा - 'तावान् सर्वेषु लोकेषु निद्रालोः'. ऐसी दुर्गति न हो इसलिये नैयायिकों ने दुःखाभाव में सुख बुद्धि बतायी। दूसरा ईषदावृत सुख बताया।

अभावप्रत्ययालम्बा वृत्तिर्निद्रेतिगद्यते।
जाग्रद्वृत्त्याद्यभावे हि निद्रावृत्तिर्हि काचन॥४९८॥
प्रत्ययः पौरुषेयः स्याद् वृत्तिसारूप्यलक्षणः।
तस्यालम्बो वृत्तिरेव सारूप्यं न तया विना॥४९९॥

इस पर योगियों का कहना है निद्रा में वृत्तियों का सर्वथा अभाव नहीं है। जाग्रदादि वृत्ति के अभाव काल में निद्रा नामक वृत्ति होती है (अतएव

वृत्तिरूप आनन्दभान प्रतिबन्धक होने से परमानन्द प्रकाश नहीं होता, पूर्णादान भी नहीं होता) 'अभाव प्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा' यह पातञ्जल सूत्र है। जाग्रदादिवृत्त्यभाव में - सुप्त पुरुष का जो प्रत्यय होता है उस का आलम्बन निद्रावृत्ति है। प्रत्यय पौरुषेय बोध को कहते हैं। जिसे वृत्तिसारूप्य बताया गया है। वृत्ति पर ही आधारित है वृत्तिसारूप्य। अतः उस बोध का आलम्ब वृत्ति। अभावे जाग्रदादिवृत्त्यभावे प्रत्ययस्य पौरूषेय बोधस्य आलम्बना=आलम्ब करनेवाली वृत्ति निद्रा है यह भगवत्पादानुसारी व्याख्या है। श्रीवाचस्पति एवं तदुपजीवी व्याख्याताओं की व्याख्या प्रकारान्तर से है। परंतु वह व्यासभाष्यानुरूप न होने से अधिक ध्यानयोग्य नहीं है।

अस्वाप्सं सुसुखं, चित्तं प्रसन्नं, लघ्वभूद्वपुः।
दुर्निद्रो दुःखमस्वाप्सं स्त्यानं चेतोऽनवस्थितम्॥५००॥
गाढं मूढोऽहमस्वाप्सं क्लान्तं चित्तं वपुर्गुरु।
त्रैगुण्यं तत्फलं चैवं परामृशति जाग्रति॥५०१॥
न हि प्रत्यवमर्शोऽयं भवेदनुभवं विना।
अस्ति वृत्तिरतः सुप्तौ पूर्णादानं न विद्यते॥५०२॥

मैं सानन्द सोया, चित्त प्रसन्न हो गया, शरीर हलका हो गया ऐसा किसी को होता है। बडी खराब नींद आयी, मन खराब हो गया, शरीर कांप रहा है ऐसा किसी को होता है। बेखबर सोया, माथा भारी हुआ ऐसा किसी को होता है। सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों के भावों से ऐसा स्मरण है शरीर के हल्कापन आदि उसका फल है यह स्मरण अनुभव के बिना जाग्रत में कैसे होगा? अतः सुषुप्ति में ऐसी अनुभवात्मक वृत्तियां निश्चित हैं। इसलिये सुषुप्ति में वृत्तियां है अतएव पूर्णादान वहां नहीं माना जा सकता।

चित्तवृत्तिनिरोधस्य प्रसङ्गे मुनिनोदितम्।
चित्तमप्यस्त्यतः सुप्तौ योगिनामिति गम्यते॥५०३॥

योगनिश्चितवृत्तिनिरोधः इस प्रसङ्ग में वृत्तियों के पांच प्रकार मुनि ने

बताये। अतः सुषुप्ति में योगियों के मत में चित्त भी रहता है ऐसा ज्ञात होता है।

श्रुत्यन्तचिन्तकाः सुप्तौ जगुस्तमसि तल्लयम्।
सुषुप्तिकाले सकले विलीन इति दर्शनात्॥५०४॥

वेदान्त चिन्तनपर सन्तों का कहना है कि सुषुप्ति में मन का अज्ञान में लय होता है। 'सुषुप्तिकाले सकले विलीने' ऐसा कैवल्योपनिषत् सुषुप्ति में सर्वलय बताया है।

मनः सर्वैः सहाप्येति ध्यानैरिति च दर्शितम्।
कौषीतक्यां हि गार्ग्याय काश्येनाजातशत्रुणा॥५०५॥

मन समस्त ध्यान वृत्ति के साथ विलीन हो जाता है ऐसा कौषीतकि में भी गार्ग्याजातशत्रुसंवाद में दिखाया है।

येऽन्ये पुरीतति मन ईयते न तु लीयते।
इति तेषामपि ज्ञानवृत्तिः सुप्तौ न विद्यते॥५०६॥
संकल्पनिश्चयाद्यात्म मनोबुद्ध्यादिकं विदुः।
तदात्मविरहे तिष्ठेत् तत्सर्वं कारणात्मना॥५०७॥
कम्बुग्रीवादिमद्रूपहाने कुम्भो मृदेव सः।
कारणं तत् किमिति चेदज्ञानं संप्रचश्महे॥५०८॥
नाऽभावरूपमज्ञानं भावरूपं तदैरयन्।
अव्यक्तं प्रकृतिः शक्तिरित्यादि पदगोचरम्॥५०९॥

दूसरे लोग जो यह मानते हैं कि सुषुप्ति में मन पुरीतत् नाडी में चला जाता है, लीन नहीं होता है उन के मत में सुषुप्ति में ज्ञान नहीं ही होता। और संकल्पविकल्पात्मकं मनः निश्चयात्मिका बुद्धिः इत्यादि लक्षणानुसार संकल्पादियुक्त ही मन बुद्ध्यादि है। सुषुप्ति में संकल्पादि नहीं है तो स्वरूप नहीं रहा तो यहीं तो लीन होना है। घट का स्वरूप है कम्बुग्रीवादिमत्त्व, वह न रहा, फिर भी घट रहेगा क्या? कम्बुग्रीवादिमत्त्व रूप छूट गया तो वह मिट्टी ही है, कारणमात्र है। वैसे संकल्प विकल्पादि न रहा तो कारणमात्र रह गया। वह कारण क्या है? अज्ञान। अज्ञान को अभावरूप

मत समझो। उसे भावरूप ही जान लो। उसी का नामान्तर है माया अव्यक्त प्रकृति शक्ति इत्यादि। यही हम कहते हैं कि सुषुप्ति में केवल अज्ञान ही कारणरूप से रहता हैं। सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोभिभूतः इस श्रुति का भी यही अर्थ है। तम माने अज्ञान माया।

अज्ञानेनावृत्तं सुप्तौ ज्ञानानन्दादिकं यतः।
ईषत् प्रकाशो भवति स्वज्ञानानन्दयोगतः॥५१०॥
राहुग्रस्तो यथा सूर्यः राहुं स्वं चाऽऽप्रकाशयेत्।
मोहग्रस्तस्तथात्मा च मोहं स्वं चाऽऽप्रकाशयेत्॥५११॥

सुषुप्ति में अज्ञान से आत्मा का ज्ञान आनन्दादि का आवरण हो जाता है अतः अल्प प्रकाशमात्र स्वीय ज्ञान आनन्दादि का होता है। राहुग्रस्त सूर्य राहु को और अपने को थोडा थोडा प्रकाशित करता है वैसे अविद्याग्रस्त आत्मा भी अपने आनन्दादि एवं अज्ञान को थोडा प्रकाशित करता है। (आ=ईषत्=अल्प)

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।
ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः॥५१२॥
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्।
हरिः स्पष्टीचकारैवं व्याख्यातं च मया पुरा॥५१३॥
पूर्णादानं तु पूर्णस्य ज्ञानेनाज्ञानहेलनम्।
तेषामादित्यवदिति पूर्णमात्रावशेषणम्॥५१४॥

यही गीता में कहा-अज्ञान से स्वस्वरूप ज्ञान आनन्दादि आवृत्त होता है। तत्त्वमस्यादि वाक्य श्रवणजन्य ज्ञान से उस अज्ञान का नाश किया जाता है वही स्वस्वरूप ज्ञान आनन्दादि मेधापात्र होने पर आदित्य के समान प्रकाशमान हो जाता है, अपने परम स्वरूप को प्रकाशित करता है इत्यादि हम पहले व्याख्या कर चुके हैं। पूर्ण का पूर्णादान अज्ञाननाशन पूर्ण प्रकाशन है। आदित्य के समान स्वयं प्रकाशरूपेण प्रकाशस्थिति पूर्णावशेषण है।

लोकानामथ रुच्यर्थं किंचिदन्यच्च भण्यते।
मन्त्रस्य तद् दर्शयितुं सर्वतोमुखतां मया॥५१५॥

पूर्णं तदपरिच्छिन्नं ब्रह्म दिक्कालवस्तुभिः।
कल्पितत्वाद्दिगादीन्तं तैः परिच्छित्त्यसंभवात्॥५१६॥
एतत्कालं समारभ्य ह्येतत्पर्यन्तमस्त्यदः।
इति कालावधिर्नास्ति मध्यं पूर्णस्य तत्कुतः॥५१७॥
एतद्देशं समारभ्य चैतत्पर्यन्तमस्त्यदः।
नैवंदेशावधिःपूर्णे मध्यो देशः कुतो भवेत्॥५१८॥
आह चानादिमध्यान्तं विश्वरूपेक्षणेऽर्जुनः।
अनन्तवीर्यमित्यादि वदन्नेवाऽपरिच्छिदाम्॥५१९॥
सर्वं समाप्नोषि ततः सर्वोऽसीत्यभिधानतः।
चिच्छिदे च परिच्छेदं वस्तुनोऽपि धनञ्जयः॥५२०॥
देशकाल्यऽपरिच्छिन्नं पूर्णमेवमिदं जगत्।
कदारब्धं कदाऽन्तोऽस्येत्यवधिर्नैव विद्यते॥५२१॥
अनादिसृष्टिरेषान्तहीना मध्यमतः कुतः।
अधश्चोर्ध्वं कियद्दूरं पूर्वादिषु दिशास्वपि॥५२२॥
तथा च मध्यबिन्दुः कः को लोको मध्यसंस्थितः।
सर्वश्चेत्किंनु बहवो भवेयुर्मध्यबिन्दवः॥५२३॥
अधश्चोर्ध्वं प्रसृतता स्वयं भगवतोदिता।
कियत्पर्यन्ततानुक्तेः ज्ञायते कृत्स्नशस्तथा॥५२४॥
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठेति स्फुटोक्तितः।
सर्वत्र सर्वदेत्येवमर्थतः प्रतिभासते॥५२५॥

भाष्यदर्शित दिशा में व्याख्या हो जाने पर यद्यपि अन्य अर्थ की ओर झांकने की आवश्यकता नहीं है। फिर भी लोगों की रुचि वृद्ध्यर्थ तथा मन्त्र की सर्वत्तोमुखता प्रदर्शनार्थ अन्य अर्थ भी दिखाते हैं ॥ ५०९ ॥ पूर्ण का अर्थ है देशकाल वस्तु से अपरिच्छिन्न ऐसा वह ब्रह्म है। देशादि उसी ब्रह्म में कल्पित होने से उनसे परिच्छेद नहीं हो सकता इस सन् से इस सन् तक ऐसी कालावधि न होने से उस का मध्य भी नहीं है। इस देश से लेकर इस देश तक ऐसी देशावधि न होने से दैशिक मध्यस्थान भी

नहीं है। जैसे भारत का नागपुर इत्यादि। यही अर्जुन ने कहा-अनादिमध्यान्तम्। दैशिक तथा कालिक दोनों प्रकार का आदि अन्त मध्य नहीं है ॥ ५२३॥ 'सर्वं समाप्नोति' से वस्तु परिच्छेद को हटाया ॥ ५१४॥ यह जगत पूर्ण दृष्टि से देशकालादि परिच्छिेद रहित है। कब से सृष्टि शुरु हुई कब तक चलेगी यह कालावधि कही नहीं जा सकती। अतः अनादि अनन्त होने से इस का भी मध्य नहीं है। देशावधि भी नहीं है। ऊपर कहां तक संसार नीचे कहां तक, पूर्वादि दिशा की ओर कितनी दूर तक यह कहा नहीं जा सकता। तब मध्य बिन्दु कौन? मध्यम लोक कौन? जिसे देखो वही मध्य है। क्या बहुत सारे मध्य बिन्दु होते हैं। भगवान अधश्चोर्ध्वं प्रसृताः कहा। किन्तु कहां तक? यह बताया नहीं। अतः सर्वशः यही अर्थ होगा। स्पष्ट शब्दों में भी कहा-नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा (संप्रतिष्ठा=मध्य) फलतः सर्वदेश सर्वकाल व्याप्त संसार है ॥ ५१९ ॥

अत्रैव हेतुमप्याह पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णादेव न पूर्णांशात् न वा कालविशेषतः ॥५२६ ॥

इस में हेतु है-पूर्ण से पूर्ण हुआ। पूर्ण के किसी अंश से नहीं। किसी कालविशेष में नहीं। अतः जगत पूर्ण ही होगा।

पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।
इति श्रुतेर्भवेदंशान्न पूर्णादिति चेन्न तत् ॥५२७॥
अर्थान्तरं भवेत्तस्याः श्रुतेर्न तु यथाश्रुतम्।
यतः पूर्णेव्यवस्था न शक्या पादत्रिपात्त्वयोः ॥५२८॥
व्योम्नः पादस्त्रिपात्त्वं च कीदृशं स्यादुदीर्यताम्।
पादत्रिपात्त्वे शक्येते परिच्छिन्ने हि वस्तुनि ॥५२९ ॥

पादोऽस्य सर्वाभूतानि, त्रिपादस्यामृतं दिति इस श्रुति से इदमर्थ जगत पादात्मक अंश से पैदा होता है पूर्ण से नहीं यह शंका उचित नहीं। इस श्रुति का अन्य अर्थ है यथाश्रुत नहीं, क्योंकि पूर्ण में पाद तथा त्रिपाद की व्यवस्था ही नहीं हो सकती। परिच्छिन्न में ही पाद और त्रिपाद हो सकता है।

सहस्त्रशीर्षा पुरुषः पूर्णत्वात् पुरुषो मतः।
श्रुतिश्च पूर्णं येनेदं पिपर्तीति पुरः कुषन्॥५३०॥

इस में पूर्व मन्त्र सहस्त्रशीर्षा पुरुषः इत्यादि। वहां पुरुष का पूर्ण अर्थ है। 'येनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वं' ऐसी अन्य श्रुति पॄ पालनपूरणयोः धातु है। 'पिपर्तीति पुरुषः' ऐसी व्युत्पत्ति है। पुरः कुषन् इस उणादि सूत्र से रूप सिद्धि है।

स भूमिं सर्वतो वृत्त्वा ह्यत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्।
भवनाद् भूमिरिति हि सर्वं कार्यजगद् भवेत्॥५३१॥
न दशाङ्गुलवृद्ध्यैव त्रिपात्त्वं तस्य संभवेत्।
अनन्तं हि जगत् स्पष्टं कियत्तत्र दशाङ्गुलम्॥५३२॥

'स भूमिं' इत्यादि प्रथम श्रुति का उत्तरार्ध है। भूमि अर्थात् भवति उत्पद्यत इस व्युत्पत्ति से कार्य जगत। यही पृथिवी नहीं। इस दस अगुंल ज्यादा होने पर भी सूर्य आदि तक वह नहीं ही रहेगा। अस्तु। वह कार्य जगत अनन्त है। यह जगत कहां समाप्त होगा उस के आगे क्या? अतः अनन्त स्पष्ट है। अनन्त जगत में दस अंगुल (दस इंच) कितना होगा? वह तीन पाद हो जायेंगे। अनन्त में दस अंगुल शून्यप्राय होता है।

यथाश्रुतार्थग्रहणे विरुद्धे स्तामुभे श्रुती।
तस्मादर्थान्तरं श्रुत्योरुभयोरपि निश्चितम्॥५३३॥
अनन्तेऽप्यणुमात्रं चेत्स्यादनन्तं मृषा ततः।
अपारमार्थ्यमाहास्य ह्यत्यतिष्ठदिति श्रुतिः॥५३४॥

यथाश्रुत अर्थ लेंगे तो दोनों श्रुतियां परस्पर विरुद्ध होंगी। इसलिये दोनों श्रुतियों का अन्य अर्थ है। अनन्त में दस अंगुल क्या एक तिलभर ज्यादा होगा तो अनन्त मिथ्या हो जायेगा। इसलिये अत्यतिष्ठत् से जगत मिथ्यात्व कहा जा रहा है।

पूर्णं तु व्यापकं ब्रह्म पादेऽप्यस्यास्तिता ध्रुवा।
किन्त्वाच्छन्नो जगति स भूतेन तददर्शनात्॥५३५॥

पूर्णमेव किमाच्छन्नं मैवं स्वप्रमेव तत्।
लोकदृष्ट्याल्पमाच्छन्नं पारमार्थ्ये स्वयंप्रभम्॥५३६॥

ब्रह्म पूर्ण है। वह एक पाद में न रहा तो व्यापक नहीं होगा। अतः एक पाद में भी वह है परंतु वहां माया से आवृत है इन भूतों के दर्शन में वह छिपा सा हो जाता है। क्या पूर्ण ब्रह्म आच्छादित है? नहीं। वह स्वयं प्रकाश है। अज्ञानियों की दृष्टि में आच्छादित परमार्थ दृष्टि से नित्य प्रकाश है।

अधिकं भेदनिर्देशात् पारमार्थिकसत्तया।
तद्बोधान्नाहिताद्यल्पसत्त्वे तत्तदबोधतः॥५३७॥

'अधिकं तु भेदनिर्देशात्' सुत्र में बताया है-पारमार्थिक सत्ता ही त्रिपात् में अधिक सत्ता है जो ब्रह्म की है। वह ब्रह्म एकपाद भूतों में भी है। पारमार्थिक सद्ब्रह्म बोध होने पर हिताहितकरणादि जो अपारमार्थिक है भासेगा ही नहीं। उस ब्रह्म के अबोध से अल्प सत्ता अर्थात् व्यावहारिक सत्ता को लेकर एकपाद में अहितकारणादि प्रतीत होता है। शेष भाष्य में।

ननु पूर्णं निजोद्भूतै - रिदमर्थैः प्रवत्स्यीति।
स्वोद्भूतैस्तनयैर्यद्वत् कुटुम्बं वर्धते यथा॥५३८॥
मैवं न वर्धते पूर्णं नैव क्वापि च लिश्यते।
अब्धिरद्भिः प्रविष्टाभिर्हृताभिश्च यथाऽचलः॥५३९॥

पू. - पूर्ण से इदमर्थ उदञ्चित-उत्पन्न होते हैं तो उनसे पूर्ण की वृद्धि होगी। जैसे अपने से उद्भूत पुत्र पौत्रादि से कुटुम्ब बढता है। उ. - नहीं। पूर्ण तो पूर्ण ही है, न वह बढता है और न घटता है। जैसे नदियों से पानी भरता रहता है, भाप के रूप में उससे पानी निकलता भी रहता है, फिर भी समुंदर अचल प्रतिष्ठ रहता है।

शताच्छतहृतौ शून्यं लक्षाल्लक्षहृतौ तथा।
पूर्णात् पूर्णहृतौ तद्वच्छून्यं स्यादिति चेन्न तत्॥५४०॥
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।
द्वित्रादिहरणे किं नु वक्तव्यं पूर्णतास्थितौ॥५४१॥

पूर्ण से कुछ वस्तु निकालने पर पूर्ण के घटने की बात दूर। पूर्ण से पूर्ण भी निकालें तो भी पूर्ण ही अवशिष्ट रहेगा। सौ से सौ निकला तो शून्य होगा। लाख से लाख निकालो तो शून्य होगा। पर पूर्ण से पूर्ण भी निकालो तो पूर्ण रहेगा।

गवाश्वं महिमेत्याहुश्चैत्रादेर्भिन्नदर्शिनः।
पूर्णं जगदिदं नूनं ब्राह्मणस्य महात्मनः॥५४२॥
एतद् ब्रह्मविदः प्रोक्तं का वार्ता ब्रह्मणः पुनः।
एष नित्यो हि महिमा पूर्णस्य परमात्मनः॥५४३॥
न कर्मणा वर्धते न कनीयानिति हि श्रुतिः।
पूर्णत्वं महिमा नास्य वर्धते नापि लिश्यते॥५४४॥

गो अश्व, दास भार्य इत्यादि भेददर्शी चैत्रादि की महिमा है। ब्राह्मण महात्मा की महिमा तो यह पूर्ण जगत होगा। यह ब्रह्मवेत्ता की बात हुई तब ब्रह्म के लिये कहना ही क्या है। परमात्मा की यह महिमा नित्य है-कालअवधि रहित है। देशवस्तु अवधि रहित भी है। क्योंकि कर्म से वह बढता नहीं है और घटता भी नहीं है। मतलब पूर्णत्व ही उस की महिमा है जो घटता बढता नहीं।

कस्मिन् प्रतिष्ठितः स स्यात् स्वे महिम्नीति युज्यते।
यदि वा न महिम्नीति पूर्णमात्रावशेषणात्॥५४५॥

पूरा जगत उसी की महिमा हो गयी (उस में ही रहेगी) वह पूर्ण परमात्मा किस में प्रतिष्ठित है? अपनी महिमा में। अथवा अपनी महिमा में भी नहीं। वह स्वयंप्रतिष्ठ है। पूर्णमात्र अविशिष्ट होने से आधाराधेय चिन्ता ही नहीं। पूर्णमात्र स्वरूप है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

आध्यात्मिकोपसर्गाणा-माधिभौतिकहृद्रुजाम्।
आधिदैविककोपानां शान्तिं त्रिः प्राह शान्तये॥५४६॥

मानस एवं शरीर आध्यात्मिक उपसर्गों की (विघ्नकारी पीडा विकारों की) शान्ति के लिये, बाह्य भूतों से होनेवाले आधिभौतिक हृदयाघातादि

रोगों की शान्ति के लिये तथा अतिवृष्टि अनावृष्टि बुद्धि चाञ्चल्यादि आधिदैविक दैवीकोपों की शान्ति के लिये तीन बार शान्ति का पाठ उच्चारण किया जा रहा है।

व्याध्याद्यन्तर्निमित्तोत्थक्लेशानां शान्तिरस्तु मे।
स्त्यानादिदौर्मनस्यादि कृच्छ शान्तिस्तथास्तु मे॥५४७॥
बाह्यैर्दंशादिभिर्ग्राम्यै - र्वन्यैर्व्याघ्रादिभिस्तथा।
जायमानस्यचोद्वेग-प्रभृतेः शान्तिरस्तु मे॥५४८॥
देवानामप्रियंयस्मान्मनुष्यास्तत्पदं विदुः।
ते विघ्नान् बहुधा कुर्यु-स्तत्तेषां शान्तिरस्तु मे॥५४९॥
इति विद्यार्थिनामेष शान्तिपाठो विधीयते।
कृतकृत्यतया चैषा शान्तिर्ज्ञानिभिरुच्यते॥५५०॥

आध्यात्मिक उपसर्ग क्या है? जो अपने शरीरादि के अंदर जिन का निमित्त हैं जैसे शरीर में वात, पित्त, कफ, वैषम्य के कारण व्याधि आदि होते हैं। उनसे उत्पन्न क्लेश जिस के कारण अध्ययनादि बराबर नहीं हो पाते उन की शान्ति हो। वैसे ही मानसिक भी है। स्त्यानादि मानस है। स्त्यान माने अकर्मण्यता, चित्त आगे बढता नहीं, लगता नहीं। दौर्मनस्य माने मन खराब होना, जैसे झगडा देखकर मन खराब हो जाता है। आधिभौतिक क्या है? बाहर के आक्रमण से जो क्लेश होता है। ग्राम में मच्छर आदि से, जंगल में बाघ सियार आदि से। आधिदैविक क्या है। देवता नहीं चाहते कि मनुष्य ज्ञानी मुक्त होकर हमारे लिये यज्ञादि न करें। वे अतिवृष्टि अनावृष्टि आदि कई प्रकार से विघ्न डालते हैं। इन तीनों की शान्ति हो यह विद्यार्थी की प्रार्थना है। विद्वान तो कृतकृत्यता बोधनार्थ शान्तिपाठ करते हैं। तीनों ताप अहा शान्त हो गया।

तन्मामावीत् परं ब्रह्म ह्यावीद्वक्तारमेव च।
इत्येवं कृतकृत्यत्वं श्रुतावन्यत्र दर्शितम्॥५५१॥

इसीलिये तैत्तिरीय में तन्मामावीत इत्यादि कृतकृत्यत्व भी दिखाया है।

व्याधिः स्त्यानं संशयश्च प्रमादोऽलसतापि च।
तथैवाऽविरतिर्भ्रान्ति - दर्शनाऽलब्धभूमिते॥५५२॥
अनवस्थितता चैव विक्षेपा मुनिनोदिताः।
दुःखं च दौर्मनस्यं चा-प्यङ्गमेजयतापि च॥५५३॥
श्वासप्रश्वासवेगश्च विक्षेपसहभाविनः।
पृथगुक्ता इमे सर्वे विघ्ना आध्यातिमका मताः॥५५४॥

व्याधि और स्त्यान व्याख्यात है। शान्तिपाठ से कुछ फायदा होगा कि नहीं ऐसा संशय है। प्रमाद आलस्य प्रसिद्ध है। चित्त मनोराज्यादि से उपरत होता ही नहीं यह अनुपरति है। कुछ न कुछ उलटा पुलटा मन में आना भ्रान्तिदर्शन है। किसी भूमिका तक पहुंच न पाना अलब्धभूमिकत्व है। प्राप्त होने पर भी न टिकना अनवस्थितत्व है। ये सब विक्षेप है। किसी बात को लेकर दुःख होता रहे, मन खराब हो, शरीर कांपने लगे, भारी श्वास चलना ये विक्षेप के साथ होनेवाले अन्य दोष हैं। ये सभी आध्यात्मिक उपसर्ग हैं।

आगमिष्यन्त एते चेदन्ये वा माऽऽगमन्निति।
आगताश्चेन्निवर्तन्तापिति शान्तिः प्रपठ्यते॥५५५॥

ये आध्यात्मिक यदि आनेवाले हो, अन्य भी आधिभौतिक या आधिदैविक आनेवाले हो तो न आयें एतदर्थ शान्तिपाठ है। ये सब या इन में कुछ आ चुके हों तो निवृत्त हो जिस से अध्ययन सम्यक् संपन्न हो एतदर्थ शान्ति का विशेष रूप से प्रपठन किया जाता है। सिद्ध पुरुषों का आदत से स्वभाव से प्राप्त का पठन किया जा रहा है।

इति श्रीकाशिकानन्दगिरिणा कृतिना कृतम्।
पञ्चमं शुक्लयजुषः शान्तिव्याख्यानवार्तिकम्॥५५६॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥



ॐ

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो
बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि। सर्वं ब्रह्मौपनिषदं।
माहं ब्रह्म निराकुर्याम्।
मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु।
तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

मम=मेरे (सर्वाणि=सभी) अङ्गानि=मुख उरस् उदरादि अङ्ग आप्यायन्तु=परिपुष्ट विद्याग्रहण सहयोगी हो। वाक् प्राणः चक्षुः श्रोत्र=वाणी, प्राण, नेत्र एवं श्रोत्र (आप्यायन्तु) परिपुष्ट हो। अथो=और बलं=बल शक्ति च=और सर्वाणि इन्द्रियाणि=समस्त इन्द्रियां (आप्यायन्तु परिपुष्ट हो) सर्वं=सभी औपनिषदं=उपनिषत् प्रतिपाद्य शुद्ध ब्रह्म=ब्रह्म स्वरूप हैं। अहं=मैं ब्रह्म=ब्रह्म का, मा निराकुर्यां=निराकरण न करूं - ब्रह्म विमुख न होऊं। ब्रह्म=ब्रह्म भी मा=मेरा मा निराकुर्यात्=निराकरण न करे-मेरे सामने ओझल न हो। अनिराकरणम् अस्तु=ब्रह्म का निराकरण न हो। मे अनिराकरणम् अस्तु=मेरा भी निराकरण न हो। तदात्मनि=उपनिषत् प्रसिद्ध उस आत्मा में निंरते=नित्य तत्परता से लगे हुए मयि=मुझ में उपनिषत्सु=उपनिषत् प्रतिपादित ये धर्माः=शमदमादि जो धर्म हैं ते=वे (धर्म है ते=वे) मयि=मुझ में सन्तु= सम्पन्न हो, आविर्भूत हो। ॐ शान्तिः ३ ॥ त्रिविध ताप की शान्ति हो। अस्तु।

नमः सकलकल्याणतायिने जगदात्मने।
अमेयायौपनिषद - पुरुषाय परात्मने॥ १ ॥

सकल कल्याणकारी 'सर्वं ब्रह्मौपनिषदं' के अनुसार जगदात्मा अमेय होने पर भी उपनिषन्मेय औपनिषद पुरुष परमात्मा को प्रणाम हो।

स्वस्थमस्तु सकलं कलेवरम्।
स्वस्थमिन्द्रियकदम्बकं मम॥ २ ॥
ब्रह्मणि स्वयमसान्यहं सदा।
ब्रह्म चास्तु मयि बोधधर्मणि॥ ३ ॥

अङ्ग प्रत्यङ्ग चक्षुः श्रोत्रादि सहित सर्व कला सहित शरीर मेरा ब्रह्म विद्या ग्रहणयोग्य स्वस्थ हो। अन्य भी समस्त इन्द्रिय समुदाय ब्रह्म ग्रहणोपकारी स्वस्थ हो। पूर्वोदित औपनिषद पुरुषरूपी ब्रह्म में मैं सदा स्थित होऊं वह निराकरणात्मक शून्य मेरे लिये न हो। और वह उपनिषत् प्रोक्त बोध रूप धर्म युक्त मुझ में रहे मैं निराकृत शून्यरूप न बनूं।

व्याख्यातं यन्मया पूर्वं कथायां लोकबोधतः।
तत्रैव वार्त्तिकमिदं करोमि परिशुद्धये॥४॥

कथा प्रवचनादि समय में पूर्व लोकबोधार्थ जो व्याख्यान किया उसी का परिशुद्ध रूप उपस्थित करने उसी पर यह वार्त्तिक लिख रहा हूं।

श्रेयांसि बहुविघ्नानि साम श्रेयो महत्तमम्।
वेदानां सामवेदाऽस्मीत्याह स्म भगवान् स्वयम्॥५॥
सहस्रशाखः कथितः सामवेदो मुनीश्वरैः।
विघ्नसंभावनाऽत्रातः शान्तिरेषाऽत्र पठ्यते॥६॥

श्रेयस्कर कार्य में बहुत सारे विघ्न होते हैं। महत्तम श्रेय सामवेद हैं क्योंकि भगवान ने स्वयं गीता में सामवेद को अपना स्वरूप बताया। और सामवेद को हजार शाखावाले महामुनि पतञ्जलि ने बताया। उस में विघ्नों की संभावना है ही अतः संभावित सर्व शान्ति निवृत्त्यर्थ यह (आप्यायन्तु) शान्ति पढी जाती।

पन्नैच्छद्बदरीं गन्तुं न प्राभूद्दीर्घकालतः।
सन्नद्धा तु यदा गन्तुं कालगोचरतामगात्॥७॥

पन्ना नाम की एक बडी भक्त हुई। वह बदरीनारायण जाने के लिये सोचती रही। तैयार होते ही विघ्न आ जाता था। लडकी की शादी है। फिर लडके की। फिर तैयार हुई तो लडके की सन्तान हुई। इस प्रकार लंबा समय बीता। अन्त में उस ने दृढ निश्चय किया कि अब सब छोडकर जाना ही है। निकलनेवाली ही थी। किन्तु काल ने कवलित किया।

गङ्गास्नाने विघ्नकरान् योद्धॄन् लक्षं हरिर्जगौ।
भीमस्तान् हन्तुकामः सन् व्यस्मार्षीत्स्नानमेव च॥८॥

भगवान ने कहा-गंगा स्नान करने कोई जाये तो एक लाख योद्धा विघ्न डालने रास्ता रोकते हैं। भीमसेन ने कहा मैं देखता हूं कौन कितने आते हैं। दिनभर आगे से आ रहे हो पीछे से आ रहे हो करता रह गया। वापिस आकर कहा - मेरे डर से एक भी नहीं आया। भगवान ने कहा-स्नान आपने कितनी बार किया। भीम सोच मे पडा। बोला-एक बार भी नहीं। भगवान ने कहा-ये ही तो विघ्न हैं।

प्रतिबन्धकरा ब्रह्म-विद्यायां स्वजना अपि।
मा त्याक्षीदेष न इति मोहपाशकृताब्दुकाः॥ ९ ॥

ब्रह्म विद्या में तो स्वजन भी प्रतिबन्धक बन जाते हैं। वे सोचते हैं कि यह ब्रह्मविद्या पा लेगा तो हम को छोडकर चला जायेगा। मोहपाश को ही उन्हों ने बेडी बनाकर विविदिषु को बांध देते हैं।

विशेषस्त्वत्र देवाश्च विघ्नान् भीमान् प्रकुर्वते।
अन्यत्वदर्शिनस्तेषां पशवो हि दिवौकसाम्॥ १० ॥

सब से अधिक विशेष बात यह है कि ब्रह्म विद्या में देवता लोग भी बडे-बडे भयानक विघ्न डालते हैं। उसमें कारण यह है कि भेददर्शी देवताओं के पशु होते है। **'अन्योऽसावन्योऽहमिति स पशुरेव देवानाम्'** ऐसा श्रुति भी कहती है।

तथात्वं च द्विधा विघ्न-करणे तात् प्रयोजयेत्।
कथं तदिति च ब्रूमः कारणं बुधसम्मतम्॥ ११ ॥

अन्यत्वदर्शियों का पशुत्व विघ्नोत्पादन में देवताओं को प्रेरित करता है। वह कैसे इस में विघ्नत्सम्पत कारण हम बताते हैं।

पुशुत्वादुद्गता नेमे करिष्यन्ति हिं नः सुशम्।
अत्युद्गताः स्वतन्त्रान्नः शासिष्यन्ति पराजितान्॥ १२ ॥

ये पशुभाव से ऊपर उठेंगे तो सेवा उपकारादि नहीं करेंगे। और अधिक उद्वेग तो हमें पराजित कर हम पर शासन करने लगेंगे।

ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदादिकं तथा।
परं न शोकमतरं घोरं संसारलक्षणम्॥ १३ ॥

श्रुतं मया तु तरति शोकमात्मविदुत्तमः।
मां तारयतु शोकस्य पारमित्याह नारदः॥१४॥

श्री नारदजी ऋग्वेदादि सकल विद्या प्राप्त होने पर भी शोक नहीं तर सके। शोक माने संसार। वे बोले (सनत्कुमार को) मैंने सुना है आत्मज्ञानी शोक को पार कर सकता है सो आप मुझे शोक से पार कराईए।

सनत्कुमारो मृदित-कषायायाधिकारिणे।
भूमानं परमात्मानं व्याचचक्षे मुमुक्षवे॥१५॥
हतविघ्नाय भगवान् नारदाय महात्मने।
शोकस्याऽदर्शयत् परिमित्येवं श्रुतिरीक्ष्यते॥१६॥

भगवान सनत्कुमार मृदितरागादिकषाय अतएव अधिकारी मुमुक्षु नारदजी को जिन के विघ्न नष्ट हो गये भूमा परमात्मा की व्याख्या करके शोक का पार दिखाया और पहुंचाया ऐसी श्रुति छान्दोग्य में है।

एवं सत्यधिकारी चेदुपदेशाप्तिमात्रतः।
शक्नोति तमसः पारं द्रष्टुमित्यवगम्यते॥१७॥

इस प्रसंग से मालूम पडता है कि यदि मृदित कषाय अधिकारी हो तो आत्मोपदेश प्राप्ति मात्र से शोकरूपी तम का पार पाया जा सकता है।

ऋग्वेदादिकमध्येमीत्युक्त्वा तत्रैव दर्शितैः।
कर्मादिभिश्च नो शोकक्षय इत्यवगम्यते॥१८॥
नोचेत्तत्रोक्तकर्मादि कुर्वित्युपदिशेद्गुरुः।
नोपादिष्टं ततस्तत्र तदनास्थैव सूच्यते॥१९॥
इत्थं च ब्रह्मविद्यार्थी यज्ञादि न तनिष्यति।
दूरतः खलु तद्विद्वानिति प्रकटितं भवेत्॥२०॥
तदेतन्नैव देवानां कथंचिदपि हि प्रियम्।
यज्ञादिभिर्हि यत्तेषां तृप्तिः श्रुतिषु विश्रुता॥२१॥

'ऋग्वेदं भगवो अध्येति यजुर्वेदं भगवोऽध्येमि' इत्यादि नारदजी ने कहा। ऋग्वेदादि से शोक नहीं तर सके। उसीसे सूचित होता है कि

ऋग्वेदादि ज्ञान से नहीं, और वहां बताये हुए कर्मादि से भी शोकतरण नहीं होता है। अन्यथा सनत्कुमारजी कहते-ऋग्वेदादि ज्ञान ठीक है, परंतु वहां बताये हुए कर्मादि करो तो शोकतरण होगा। परंतु ऐसा कहा नहीं। अतः कर्मादि में अनास्था ही सूचित होती है। तब ब्रह्मविद्यार्थी यज्ञादि करेगा नहीं। ब्रह्मज्ञानी की बात दूर। पर यह देवताओं को अप्रिय है। क्योंकि यज्ञादि में जो आहुति दी जाती है उसी से देवताओं की तृप्ति होती है।

द्वे अन्ने खलु देवानां हुतं प्रहुतमेव च।
अग्नौ देवान् समुद्दिश्य हवनं हुतमुच्यते॥ २२॥
हुत्वा तेभ्यो ह्यनु बलिहरणं प्रहुतमीर्यते।
विना न चान्नं कस्यापि तृप्तिर्भवितुमर्हति॥ २३॥
नैते विदध्युर्यज्ञादि वेदाध्यायिन एव चेत्।
अन्नप्राप्तिः किलान्यस्माद् देवा आशासतां कुतः॥ २४॥

देवताओं के दो अन्न प्रसिद्ध है - हुत और प्रहुत (बृहदारण्यक) अग्नि में हवन हुत है। उस के बाद बलि प्रदान प्रहुत है। बिना अन्न भला कौन तृप्त होगा? ये वेदाध्ययनकारी ही यदि हवनादि न करे तो देवता दूसरे किस से अन्न की आशा रख सकते हैं? दूसरे को यज्ञादि में अधिकार ही नहीं है।

ब्रह्मविद्यार्थिनां तेन तदध्यापयतामपि।
विघ्नं कुर्वन्ति देवास्ते नानारिष्टादिकारिणः॥ २५॥

इसलिये जो ब्रह्म विद्या पढने लगते हैं और जो पढाने लगते है दोनों का ये देवता नाना अरिष्टों से विघ्न डालते हैं।

ब्रह्मास्तीति न विज्ञान-मज्ञानमसुखं हि तत्।
ब्रह्मास्मीति तु विज्ञान-मानन्दैकरसत्वतः॥ २६॥

'ब्रह्म है' इतना जानना विज्ञान नहीं, यह तो अज्ञान ही है। यह आनन्द प्रापक नहीं है। 'ब्रह्म हूं' यह ज्ञान विज्ञान है आनन्दैकरस है।

अलकायां निधिगणाः सन्त्येतेन तु किं तव।
स्वतादात्म्ये सुखं तेन न त्वस्तीत्येव तत्तथा॥ २७॥

अलकापुरी (कुबेर की नगरी) में निधियों का ढेर है यह ज्ञान हुआ तो उस से तुम्हारा क्या होगा? अपने साथ तादात्म्य हो तो सुख उससे होगा। 'वह है' इतने मात्र से वह सुखदायी नहीं होगा।

कथं नु निधितादात्म्यं ममत्वातिशयात्तथा।
आध्यासिकं तु भवति तदित्यन्यत्तदास्ति तु॥ २८॥
पुत्रादौ विकले चैव सकले च यथा पिता।
विकलः सकलश्चेति मनुतेऽध्यासहेतुना॥ २९॥

निधि का तादात्म्य अपने में नहीं है तो क्या कुबेर में है? है। ममत्वातिशय से है। हां वह आध्यासिक है यह बात अलग है। किन्तु तादात्म्य है सही। जैसे पुत्रादि विकल या सकल होने पर पिता उसका तादात्म्य कर अपने को विकल सकल समझता है। भले अध्यासतः हो।

ब्रह्मैक्यं वस्तुतश्चास्ति तच्च ज्ञानात् प्रकाशते।
न पशुत्वं तदाऽस्य स्यात्तन्न देवप्रियं भवेत्॥ ३०॥

पुत्रादि तादात्म्य आध्यासिक है इतने से साकल्यारोप मात्र से सुख होता है। यहां ब्रह्मात्मैक्य वास्तविक है। उसका अनुभव होने से परमानन्द होगा ही। तब पशुत्व नहीं रहेगा। वह देव प्रिय नहीं हो सकता।

न पश्यति शृणोत्यन्यन्न विजानाति यत्र हि।
स भूमा तस्य विज्ञानं ब्रह्मज्ञानमुदीरितम्॥ ३१॥

'यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' ऐसा छान्दोग्य में है। जहां अन्य दर्शन, अन्य श्रवण, अन्य विज्ञान नहीं रहता वही भूमा है। उसी का विज्ञान ब्रह्मज्ञान कहलाता है।

ब्रह्मास्तीति वदन् क्वापि वैकुण्ठादौ विकल्पते।
कथं भवेत्तद्विज्ञानं ब्रह्मास्मीत्येव तत्ततः॥ ३२॥

ब्रह्म अस्ति बोलनेवाला समझता है वैकुण्ठादि में कहीं पर है। परोक्षत्वेन परदेशस्थत्वेन कल्पनाविषय वह ब्रह्म ही नहीं तो वह ब्रह्मविज्ञान कैसे होगा? अतः 'ब्रह्मास्मि' यही ब्रह्मज्ञान है। दूसरा अन्यत्व विशिष्ट अज्ञान ही है।

ये त्वन्यदर्शिनस्ते हि पशवो नाकिनां प्रियाः।
नोपकुर्वन्त्यपशवो देवानामप्रिया हि ते ॥ ३३ ॥

जो अन्यदर्शी हैं वे ही पशु हैं, वे ही देवताओं को प्रिय हैं। क्योंकि जो अपशु है, अन्यादर्शी है, भूमादर्शी है वे देवताओं के उपकारकारी न होने से उनको अप्रिय है।

सेवाभिरुपकुर्वन्ति प्रभूनिभ्यान् हि सेवकाः।
अन्नवेतनदानेन प्रभवः सेवकानपि ॥ ३४ ॥
पशवश्चोपकुर्वन्ति दुग्धाद्यैः स्वान् पतीन् भृशम्।
स्वामिनश्चोपकुर्वन्ति तृणचारादिभिः पशून् ॥ ३५ ॥

नौकर या सेवक पादसंवाहन तैलमर्दनादि से मालिक का उपकार करते हैं। भोजन वेतनादि देकर मालिक लोग नौकरों का उपकार करते हैं। पशु-गाय आदि दूध आदि से मालिक का उपकार करते हैं और मालिक भी घास-चारा आदि देकर पशुओं का उपकार करते हैं।

इत्थं यज्ञादिभिर्मर्त्या अमर्त्यानुपकुर्वते।
वृष्ट्यादिभिरमर्त्याश्च मर्त्यानामुपकुर्वते ॥ ३६ ॥
देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ३७ ॥
इत्याह भगवान् स्पष्टं गीतायामर्जुनं प्रति।
परस्परोपकारित्वं सम्मतं तद् हरेरपि ॥ ३८ ॥

उसी प्रकार यज्ञादि में मनुष्य देवताओं का उपकार करते हैं। वृष्टि आदि से देवता मनुष्यों का उपकार करते हैं। 'देवान्भावयतानेन' इत्यादि गीता श्लोक में परस्परोपकारित्व स्पष्ट कहा भी है।

आदीयमाने ह्येकस्मिन् पशावप्यप्रियं भवेत्।
देवानामप्रियं तस्मान्नराणां ब्रह्मवेदनम् ॥ ३९ ॥

एक भी पशु खो जाये तो मालिकों को वह अप्रिय होता है। अतः मनुष्यों का ब्रह्मवेदन देवताओं को प्रिय नहीं है।

समत्वमपि नेच्छन्ति श्रेष्ठिनः परिचारिणाम्।
अधिकत्वं कुतस्तत्र सर्वाधिक्यं कुतस्तराम्॥४०॥
समत्वं भावि चावेक्ष्य पृथोश्च सगरस्य च।
अश्वमेधशते विघ्नं चकार च पुरन्दरः॥४१॥
प्राजापत्यं समधिकं कर्मोपास्तिसमुच्चयात्।
ब्रह्मभावेऽनतिशये का वार्तात्र सुपर्वणाम्॥४२॥

दूसरा कारण यह है कि परिच्छिन्न मतिवाले सेठ आदि अपने सेवकों को अपने बराबर भी देखना नहीं चाहते, अधिकता की बात क्या, और सर्वाधिक हो तो कहना ही क्या? राजा पृथु ने सौ अश्वमेध करने का संकल्प किया। वैसे सगर राजा ने भी किया था। इन्द्र ने देखा ये शतक्रतु होंगे तो मेरे समान होंगे तो अन्तिम अश्वमेध के अश्व का ही अपहरण इन्द्र ने किया। जब समानता में ही विघ्न डाले तो अधिकता में भी निश्चित है। इन्द्र से अधिक प्रजापति लोक बताया है। सर्वाधिक तो ब्रह्म भाव है। वह वाचामगोचर। **यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह** ऐसी श्रुति है। तदर्थ तो विघ्न डालेंगे ही।

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति भास्करः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥४३॥
एतत्प्रशासने सूर्यचन्द्रौ कर्त्तव्यनिष्ठितौ।
भेतव्यमेभ्यः स्थातव्यं भवेच्चैतत्प्रशासने॥४४॥

इस ब्रह्म के भय से अग्नि तपती है, सूर्य तपता है, इन्द्र और वायु स्वकार्य करते हैं, पांचवी मृत्यु दौडती रहती है। इसी के प्रशासन में सूर्यादि स्वकर्त्तव्यनिष्ठ हैं ये पशु ऊपर पहुंचेंगे तो इन से डरना होगा, इनके भी शासन में हमें रहना होगा।

तस्मात् विघ्नान् करिष्यन्ति देवाश्चैतन्निवृत्तये।
स्वाध्यायाध्यापनरताः शान्तिपाठं प्रकुर्वते॥४५॥

इसलिये देवता भी विघ्न करते हैं। अतः अध्ययन में और अध्यापन में संलग्न मनीषी अवश्य शान्तिपाठ करते हैं और करें।

आप्यायन्तु ममाङ्गानी-त्यङ्गानां पुष्टिरर्थ्यते।
आप्यायनं वर्धनं च तर्पणं तृप्तिरेव च॥ ४६॥
आपीनमूध इत्याहाऽऽप्यायतेर्मुग्धबोधकृत्।
आह वार्त्तिकारोऽप्याङ्पूर्वस्यान्धूधसोरिति॥ ४७॥
घटोघ्नीनां दुग्धभृतमूधः पुष्टं च पुष्टिदम्।
एवमङ्गादिकं पुष्टं पुष्टिदं स्यादर्थौचित्तम्॥ ४८॥
विद्यार्थिनामस्तु पुष्टं गुरुणामस्तु पुष्टिदम्।
शरीरमाद्यं भवति सर्वेषां धर्मसाधनम्॥ ४९॥
पुष्टिं प्रार्थयते तस्य तत्रत्यस्य च मन्मगीः।
आप्यायन्तुममाङ्गानीत्यादिना सामगामिनी॥ ५०॥

आप्यायन्तु ममाङ्गानि इत्यादि से अङ्गादि की पुष्टि की प्रार्थना की जा रही है। आप्यायन का वर्धन, तर्पण, तृप्ति आदि अर्थ है। आङ्पूर्वक प्याय धातु का 'आपीन' रूप है। **'आपीनमूधः आपीनोऽन्धुः'** ऐसा मुग्ध बोध में तत्त्वस्थल में दो ही अर्थ स्वीकृत किये हैं। **'आपीनभारोद्वहनप्रयत्नीत्'** इस रघुवंशीय श्लोक में इसीलिये विशेष्य वाचक पद के बिना धेनु (नन्दिनी) के वर्णन में आपीन शब्द का प्रयोग किया। अमर कोश में ऊधस्तु क्लीबमापीनम्। **'आङ्पूर्वस्यान्धूधसोः'** इस वार्त्तिक में दोनों अर्थों में निष्ठानत्व बताया। जो भी हो प्रकृत में दुग्धपूर्ण गोस्तन आपीन का अर्थ होने से और उस का यहां लिङन्त प्रयोग होने से आपीन समान पुष्टिद दुग्धपूर्णोपलक्षित पुष्ट पुष्टिद अङ्गादि हो यह यहां पर अर्थ होगा। विद्यार्थियों के लिये पुष्ट एवं आचार्यों के लिये पुष्टिद ऐसा विविक्तार्थ ज्ञातव्य है। धर्म साधन सर्व प्रथम शरीर है। अतः शरीर की और शरीरस्थ वाक् प्राणादि की पुष्टि के लिये यह प्रार्थना है।

पुष्टिर्ह्यनुग्रहो योगाद् भोगाद् रोगस्तु निग्रहः।
अङ्गेषु लाघवं कार्य-साधनं समनस्कता॥ ५१॥

पुष्टि अनुग्रह है योग से होता है। भोग से अनुग्रह नहीं, निग्रह है, रोग से होगा। अंगों में हल्कापन आयेगा (जो सात्त्विकता है)। कार्य में

मन लगेगा।

रोदनं शोकवेगेन हसनं हर्षवेगतः।
ज्वलनं क्रोधवेगेन स्तवनं भक्तिवेगतः॥५२॥
उत्साहवेगाद् यतनं तद् भवेत् कार्यसाधनम्।
स चाङ्गलाघवात्तस्मात् तदाशास्त्यत्र साधकः॥५३॥

शोक का वेग होने से मनुष्य रोने लगता है। हर्ष के वेग से हसने लगता है। क्रोध के वेग से जलन पैदा होती है। भक्ति के वेग से स्तुति करने लगता है। उत्साह के वेग से महेनत खूब करने लगता है जो इष्ट कार्यसाधक है। परंतु वह उत्साह तो अंगलाघव में होता है। भारी शरीर हो उत्साह बराबर नहीं होता इसी अंगलाघव की यहां प्रार्थना है जो सत्त्वगुण है। न कि पुष्टि माने भारी शरीर होना, मेदवृद्धि होना।

ध्रुवादीनां कथां श्रुत्वा बालाः पत्रादिभक्षणैः।
तपसा शोषयन्तोऽङ्गान्यद्यत्वे क्लेशमश्रयन्॥५४॥

ध्रुवादि की कथा सुनकर कईं बालकों ने पत्रादि खाते हुए तप किया, अंगशोषण किया किन्तु कुछ हाथ नहीं लगा, सिर्फ वे क्लेशभागी बने।

कृते युगेऽप्यपुष्टाङ्गाः श्रुत्याप्यायन्त्वितीरणात्।
अनादिश्रुतिबोध्यार्थः कृते नापोद्यते युगे॥५५॥

सत्य युग में भी अपुष्टाङ्ग क्लेश ही पाते रहे होंगे। श्रुति स्वयं अंगपोषण बतलाती है। अनादि श्रुति का सत्य युग में अपवाद नहीं हो सकता।

ध्रुवादीनां कथा तस्मादर्थवादपरा भवेत्।
क्लेशं सोढ्वापि कर्तव्यं तपः सिद्धिमभीप्सुभिः॥५६॥

ध्रुवादि कथा अर्थवादरूप है। क्लेश सहकर तप करो यदि सिद्धि चाहते हो।

आसाद्य नारदाद् योगविशेषं चेद् ध्रुवस्य सा।
तथाप्यसर्वसामान्यात् कृतेऽपि श्रुतिरक्षता॥५७॥

नारदजी से योग सीखकर ध्रुव ने वायु भक्षणादि से तप किया कहो तो भी वह सर्व सामान्य नहीं है। सर्व सामान्य तो आप्यायन्तु ममाङ्गानि

श्रुति प्रोक्त ही ठीक है।

अस्थिः प्राणाः कृते, मांसे त्रेतायां द्वापरे पुनः।
धमनीषु, कलावन्न इतिगीश्चार्थवादिकी॥५८॥

सत्य युग में हड्डी में प्राण थे। त्रेता में मांस में थे। द्वापर में धमनियों में, कलियुग में अन्न में प्राण रहते हैं इत्यादि वचन भी अर्थवादिक है।

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥५९॥
इत्येवं हरिणोक्तेश्च योग्यं नैवाङ्गकर्शनम्।
भगवत्क्लेशनं तत्र स्वात्मज्योतिःप्रकर्शनात्॥६०॥

शरीर को जो सुखाते हैं उन्हें श्रीकृष्ण ने असुर बताया है। आत्मज्योतिकर्शनरूपी भगवत्कर्शन भी उससे होता है।

न चाप्यायनमङ्गानां मेदोवर्धनमिष्यते।
निद्रालस्यप्रमादादि-भूरिदोषप्रसक्तितः॥६१॥

मेदोवृद्धि भी आप्यायन नहीं है। उससे प्रमाद आलस्यादि अनेक दोष ही होंगे।

तस्मादनुग्रहः पुष्टिस्तदेवाप्यायनं मतम्।
यतो लाधवमङ्गेषु कर्तव्ये समनस्कता॥६२॥

इसलिये अनुग्रह ही पुष्टि है जिस से अङ्गों में हल्कापन हो, कार्य में मन लगा रहे।

युक्ताहारविहारेण युक्तचेष्टेन कर्मसु।
युक्तस्वप्नादिकेनानु-गृह्यन्तेऽङ्गानि धीमता॥६३॥

गीतोक्त-युक्ताहारविहारता, कर्म उपयुक्त चेष्टता, युक्त नींद एवं युक्त जागरणादि पुरुष ही अपने अंगों पर अनुग्रह करते हैं।

वाक्

वागाद्याप्यायनं चात्र प्रार्थ्यते परमात्मनः।
गुरूपसदनादूर्ध्वं वागेवाद्यं प्रवर्तते॥६४॥

वाणी आदि के आप्यायन की भी प्रार्थना है। गुरुपसदन के बाद प्रथम वाणी ही प्रवृत्त होती है।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन तत्र च।
वाच आप्ययनादेव परिप्रश्नस्य संभवः॥६५॥

गुरुपसदन-नमस्कार तक अङ्गाप्यायन से होगा। तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया-यहां उसके बाद परिप्रश्न कहा। उसके लिये वाणी का आप्यायन आवश्यक है।

नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः।
जानन्नपि च मेधावी जडवल्लोकमाचरेत्॥६६॥
अधर्मेण च यः प्राह यश्चाधर्मेण पृच्छति।
तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं वाधिगच्छति॥६७॥
इत्येवं मनुनोक्तत्वात्प्रश्नः कार्यो मुमुक्षुणा।
माभूत् सोऽधर्मत इति वागाप्यायनमर्थ्यते॥६८॥
अब्रुवन् विब्रुवन् वापि नरः पतनमृच्छति।
इत्यप्युक्तमतोऽप्येव वागाप्यायनमिष्यते॥६९॥
स्वामिन्नमो नमद्बन्धो भवाब्धिपतितोऽस्म्यहम्।
दयासिन्धो दयादृष्ट्या मामुद्धर तवास्म्यहम्॥७०॥

न पूछने पर या अन्याय से पूछने पर तत्त्व वर्णन न करें। अधर्म से पूछनेवाला या बोलनेवाला मृत्यु को या विद्वेष को प्राप्त होगा ऐसा मनुवचन होने से प्रश्न करें सो भी न्याय और धर्म के अनुसार। स्वामिन्नमस्ते नतलोकबन्धो इत्यादि से आचार्य ने प्रश्न शैली बतायी है यही वागाप्यायन है।

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतमिति धर्मं प्राह सनातनम्॥७१॥

सत्यं ब्रूयात् इत्यादि कहकर मनु ने कहा यही सनातन धर्म है।

ईश्वरस्तवने सम्यगीश्वरोऽपि प्रसीदति।
ततश्चानुग्रहस्तस्य सर्वकार्येषु जायते॥७२॥

सम्यक् ईश स्तुति से ईश प्रसन्न होकर अनुगृहीत करेंगे। जो सर्व कार्य साधक है।

मन्त्रादिपाठः शुद्धश्च वाचा सम्पद्यते नृणाम्।
ततः संजातपुण्यस्य वेदान्ते स्यात् प्रवेशनम्॥७३॥

वाणी से शुद्ध वेदपाठ होने पर जो पुण्य होगा उससे वेदान्त में प्रवेश होता है।

वेदानुवचनेनैते विप्रा विविदिषन्ति तम्।
इति श्रुत्यावगमितं कार्यं वाक्पोषणं ततः॥७४॥

गुरु मुख से सुनकर वैसा वेदपाठ करनेवाले विविदिषु विद्या पाता है ऐसा श्रुति में कहा है अतः वाक्पोषण होना चाहिये।

/स्वरवर्णादिहीनस्तु न सम्यक् फलदायकः।
तद्युक्तं वदितुं शक्तः समाप्यायितवाक् पुमान्॥७५॥

वर्णस्वरादिच्युति होने पर वेदपाठ सम्यक् फलदायी नहीं होता। वर्णस्वरादियुक्त पाठ आप्यायित वाणीवाला मनुष्य ही कर सकता है।

स्वाध्यायान् मा प्रमद इति व्याहरति श्रुतिः।
स्वाध्यायो वेदपाठश्च मन्त्राणां जप एव च॥७६॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥७७॥

स्वाध्याय से प्रमाद मत करो यह श्रुति है। स्वाध्याय माने वेदपाठ और मन्त्र जप। 'अनुद्वेगकरं' इत्यादि गीता श्लोक स्वाध्यायाभ्यास को वाङ्मय तप बताया है।

यत् प्रब्रवाम शरदः शतं प्रवचनं तु तत्।
ततोऽपि स्यान्महत् पुण्यं ज्ञानदानसमुद्भवम्॥७८॥

प्रब्रवाम शरदः शतं मन्त्र में प्रवचन करने बताया (ब्रुवोवचिः) उस से ज्ञानदान होता है जो महान पुण्य कार्य है।

एतत् सम्पद्यते सर्वं वागाप्यायनतः सताम्।
कथमाप्यायिता वाक् स्यादिति प्रश्नस्तु तिष्ठति॥७९॥

नन्वनेनैव भवति शान्तिपाठेन सा तथा।
सत्यं पृच्छामि समुपोद्बलकं शृणु तर्हि तत्॥८०॥
ऋचं वाचं प्रपद्येऽहं प्रपद्येऽहं मनो यजुः।
इत्येवमाह मातेव श्रुतिः सर्वहितैषिणी॥८१॥

पूर्वोक्त परिप्रश्नादि सभी वाणी के आप्यायन से संपन्न होगा। परंतु वाणी का आप्यायन कैसे होगा यह प्रश्न रहेगा। क्यों प्रश्न रहेगा? **'आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्'** इत्यादि प्रार्थनारूपी शान्तिपाठ से हो जायेगा। बात सत्य है। प्रार्थना के साथ उपोद्बलक-साथी भी चाहिये। सुनो, ऋतं वाचं प्रपद्ये मनो यजुः प्रपद्ये इत्यादि श्रुति स्वयं माता के समान अभिनीत कर तदर्थ उपासना बताती है।

वाणी ममैषा भवति स्फुरदृङ्मन्त्ररूपिणी।
इत्यृग्रूपेण वाणी स्वो-पास्याप्यायनसिद्धये॥८२॥
प्रपत्तिरत्र व्याख्याता बहुभिः शरणागतिः।
दृढभूमिर्दीर्घकाल - सत्कारासेविता भवेत्॥८३॥
ऋचं वाचं प्रपश्यंस्तां न कश्चिद्दूषयिष्यति।
तस्यां ततः पटुत्वं स्यादित्याहुः कविपुङ्गवाः॥८४॥

यह मेरी वाणी ऋक् मन्त्र स्वरूपा है, ऐसी अपनी ही वाणी की उपासना करो। प्रपत्ति शरणागति है ऐसा बहुत सारे विद्वान मानते हैं। दीर्घकाल वैसा आलेखन करने पर वह दृढ भूमि हो जायेगी। अपनी वाणी को ऋग्वेद रूप में देखने लगते हैं उसमें कोई दोष वह सहन न करेगा। तब वाणी में पटुता आप्यायन होगा यह क्रान्तदर्शियों का कहना है।

मन आप्यायनं चात्र प्रपत्तिश्रुतिवीक्षणात्।
मनःप्रसादसौम्यत्व-मौनाद्यैस्तच्च सिध्यति॥८५॥
यजुष्ट्वभावो मनसि तत्रोपोद्बलको मतः।
पूर्ववत् सकलं तत्र तदुपास्त्योपपद्यते॥८६॥
मनसोऽनिन्द्रियत्वं चे - देवमत्रोपलक्ष्यताम्।
इन्द्रियाणि च सर्वाणी-त्यत्र शेषमवेक्ष्यताम्॥८७॥

वाणी के साथ मन का भी आप्यायन प्रकृत शान्ति में उपलक्षणीय है क्योंकि मनो यजुः प्रपद्ये इस प्रपत्ति श्रुति में मन में यजुर्दृष्टि बतायी है। मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रह इत्यादि गीतोक्त सभी मन का आप्यायन ही है। प्रकृत शान्तिपाठ मन के आप्यायनार्थ है उसका उपोद्बलक प्रपत्ति-श्रुति-कथित उपासना है। अन्य सभी पूर्ववत् है। मन को अनिन्द्रिय माननेवालों के लिये यह उपलक्षण है। इन्द्रिय हो तो 'इन्द्रियाणि च सर्वाणि' में समझना।

प्राणः

आप्यायतु मम प्राणस्ततः स्याद्दीर्घजीविता।
चिरजीवनसंसाध्या ब्रह्मविद्या निगद्यते॥८८॥

मेरे प्राण आप्यायित हो। उससे दीर्घ जीवन की प्राप्ति होती है। लंबे जीवन से ही ब्रह्मविद्या सम्पन्न होती है।

बहुनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
दीर्घजीवनयुक्तानां न द्वित्रशरदायुषाम्॥८९॥

भगवान कहते हैं-बहुत जन्मों के अन्त में ज्ञानवान मुझे प्राप्त होता है। क्या दो-तीन साल की आयु तक के बहुत जन्मों के? नहीं। दीर्घ जीवन जन्मों के।

बाल्यमज्ञानतो याति यौवनं च कियच्चन।
दीर्घजीवनतो ज्ञानं किंचित् किंचित्प्रवर्धते॥९०॥
उत्तरोत्तरमेवं स वर्धमानात्मवेदनः।
बहूनां जन्मनामन्ते पूर्णज्ञानमवाप्नुयात्॥९१॥

शुरुआत में बाल्यकाल प्रायः अज्ञान में ही बीत जाता है। यौवन का भी कुछ अंश ऐसा ही है। दीर्घ जीवन हो तो धीरे-धीरे आत्मज्ञान बढता है। ऐसा बढते-बढते कई जन्मों में वह पूर्ण ज्ञानी होता है।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
इत्युक्तः पूर्वजन्मीयोऽप्यभ्यासो वृद्धिकारणम्॥९२॥

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकल्मकः।
अनेकजन्मसंसिद्ध इत्यप्याह हरिः स्वयम्॥९३॥

पूर्वाभ्यास से ही आगे-आगे मनुष्य बढता है यह पूर्वभ्यासेन, प्रयत्नाद्यतमानस्तु इत्यादि गीता श्लोकों में स्पष्ट है।

जिजीविषेच्छतमिह समा इत्यब्रवीच्छ्रुतिः।
धात्वर्थं शाब्दिका आहुर्यज्जीव प्राणधारणे॥९४॥

सौ वर्ष जीने की बात जिजीविषेच्छतं समाः यह श्रुति भी कहती है। जीव प्राणधारणे ऐसा धात्वर्थनिर्देश है अतः प्राणधारण ही जीवन है।

गुरोर्गिरः पञ्चदिना-न्यधीत्यादिरीतितः।
न शक्या ब्रह्मविद्येयं प्रासुं केनापि यत्नतः॥९५॥

'गुरोर्गिरः पञ्चदिनान्यधीत्य' इत्यादि मजाक में कहा जाता है।

अनादिकालसंसार - हेत्वविद्यापसारणम्।
अनेकजन्मसंसिद्धः कर्तुं कश्चन कल्पते॥९६॥

अनादिकालीन संसार को पैदा करनेवाली अविद्या अनेक जन्मों में सिद्धि पाने पर सिद्धि पाये कोई कोई मिटा पाता है।

उत्पन्नापि च विद्येय-मज्ञानेनाभिभूयते।
चिराभ्यसात् स्थिरा सास्याद् विद्या कालेन पच्यते॥९७॥

उत्पन्न हुई भी विद्या परोक्षप्राय होने से अविद्या से अभिभूत होती है। लंबा अभ्यास से ही वह परिपक्व अपरोक्षरूप होती है। विद्या कालेन पच्यते यह प्रसिद्ध है।

मारुतस्तूरसि चरन् मन्दं जनयति स्वरम्।
इति वाक्प्राणयोरत्र सहपाठः समादृतः॥९८॥

प्राणवायु हृदय में विचरता हुआ मन्द स्वर उत्पन्न करता है इसलिये वाक् और प्राण को साथ में श्रुति ने पाठ किया।

वाचः परा च पश्यन्ती मध्यमा वैखरीति च।
चतस्रो मारुतस्तत्र समुद्भावयिता मतः॥९९॥

परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी ऐसी चार प्रकार की वाणी को मारुत

ही उत्पन्न करता है।

प्राणायामादिभिर्योगैः प्राणस्याप्यायनं भवेत्।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमोमित्येकाक्षरं जपेत्॥१००॥

प्राणायामादि योग से प्राणाप्यायन होता है। मरण समय में मूर्धा में प्राणों को लाकर ॐकार जप करने को बताया है।

आप्यायन्त्विति पाठेन प्राणस्याप्यायनं मतम्।
तत्रोपोद्बलकं प्राह प्राणोपास्तिमपि श्रुतिः॥१०१॥

आप्यायन्तु ममाङ्गानि - प्राण इस प्रकार शान्तिपाठ श्रुति ने लिङ्ग प्रमाण से प्रकृत शान्तिपाठ प्राणाप्यायन का भी कारण बताती है। इसमें बल लाने के लिये प्राणपोषण के लिये विशेष उपासना का वर्णन भी श्रुति में आया है।

साम प्राणं प्रपद्येऽह-मित्यूचे याजुषी श्रुतिः।
समदृष्टिः प्रकर्तव्या प्राणे पाटवसिद्धये॥१०२॥

प्राण में समबुद्धि करूं, उसकी शरणागत होऊं ऐसी प्राणपाटवार्थ श्रुति है।

प्राणं ज्येष्ठं जगौ श्रेष्ठं प्राणदृष्टिर्हि साम्न्यतः।
मैवं वेदो हि भगवान् कर्मब्रह्मावबोधकः॥१०३॥
ऋगादिसाहचर्येण वेद एवेह गृह्यते।
रथन्तरादिगीत्या च गीयते सासगैः स हि॥१०४॥
वाङ्मनश्चक्षुरादीनामाश्रयत्वस्य निश्चयात्।
तत्साहचर्यतः प्राण आश्रयत्वेन गृह्यते॥१०५॥
कर्तुं प्राणदृशं साम्नि यद्यप्यन्ये बभाषिरे।
प्रक्रमाननुकूलत्वात् प्राणे सामदृशं वयम्॥१०६॥

प्राण को ज्येष्ठादि श्रुति में वर्णित है। अतः उत्कर्ष होने से साम में प्राण दृष्टि उचित है ऐसी शंका नहीं है। क्योंकि वेद भगवान है, कर्म ब्रह्मावबोधक है। प्राण का ज्येष्ठत्वादि वाचनिक है। साम से सामवेद ही लेना है न कि गीतिमात्र। क्यों? ऋगादि साहचर्य से वेद ही उपस्थित होता

है। वाक्, मन, चक्षु आदि आश्रयत्वेन निश्चित होने से उनके साहचर्य से प्राण भी आश्रय ही होगा।

भाष्यं चाप्रतिकूलं नः सायणाचार्यभाषितम्।
तत्रोक्तं पाटवं त्वेत - च्छ्रुतेराप्ययनं मतम्॥१०७॥

साम प्राणं प्रपद्ये इत्यादि पर श्री सायणाचार्यकृत भाष्य हमारे अनुकूल है। वहां वागादि पाटव जो फल बताया है वह आप्यायन्तु श्रुति के अनुसार आप्यायन बताया है।

चक्षुः

चक्षुराप्यायनं चैव ध्यानार्थमुपयुज्यते।
वरेण्यं सवितुर्भर्गो ध्यायेमेत्यब्रवीच्छ्रुतिः॥१०८॥

चक्षु का भी आप्यायन ध्यानार्थ आवश्यक है। गायत्री में सूर्य के वरणीय तेज का ध्यान बताया है।

आदित्यवर्णं तमसः, परस्तात् पुरुषं परम्।
उपास्य हि स्वयंज्योतिः परं सम्पद्यते पुमान्॥१०९॥

आदित्य समान प्रकाश वर्णयुक्त, तम से उपरिस्थ परम पुरुष की उपासना करके ही स्वयंज्योति परम पद को मनुष्य प्रास होता है।

तद्दर्शनं चक्षुषैव ततो ध्यानं तदाकृति।
तेनोपलक्षितं ब्रह्म साधकानां प्रकाशते॥११०॥

आदित्यवर्णं बताया तो आदित्यवर्ण प्रकाशदर्शन चक्षु से ही होगा। उसके आकार में अंदर ज्योतिश्चिन्तन किया जाता है। उस ध्यान से उस ज्योति से उपलक्षित ब्रह्म साधकों को प्रकाशित होने लगता है।

प्रकाशात्मक एवेशो ध्यातव्योऽस्ति शुभेच्छुना।
अन्धकारमयो देवो न ध्यातव्यः कदाचन॥१११॥
इत्थमभ्यस्यतस्तस्य बुद्धिः संजायते स्थिरा।
ततः सर्वमपास्यैव तिष्ठेद् ब्रह्मात्मना बुधः॥११२॥

तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।
इत्यत्रैव क्रमः प्रोक्तो न चिरं सूर्यवीक्षणम्॥११३॥

एक बार दृष्ट प्रकाश को लेकर प्रकाशात्मक परमात्मा का ध्यान शुभाकांक्षी को करना चाहिये। अन्धकारमय देव का नहीं। ऐसा अभ्यास करनेवालों की बुद्धि स्थिर हो जाती है तब प्रकाशता धर्म को भी छोडकर ब्रह्मभाव से स्थित होना चाहिये। **'तत्त्वं पूषन्नपावृणु'** इस मन्त्र में ही क्रम बताया है। न कि बहुत देर तक सूर्य को देखकर तुम अपने इस प्रकाशमयरूप हटाने की प्रार्थना करना। सूर्य को ज्यादा देर तक देखते रहने से आंख खराब होने की अधिकतर संभावना रहती है।

सूर्यप्रकाशविरहे दीपं प्रज्वाल्य चिन्तयेत्।
पूजादावत एवेष्टं दीपप्रज्वालनं सताम्॥११४॥

जहां सूर्य प्रकाश नहीं वहां दीपक जलाकर पूर्वोक्त क्रम संपादन करें। पूजा आदि में इसीलिये दीपक जलाने का नियम सत्पुरुष रखते हैं।

चक्षुः श्रोत्रं प्रपद्येऽत्र प्रपत्तिरुभयान्विता।
चक्षुः प्रपद्ये श्रोत्रं च प्रपद्य इति योजना॥११५॥

ऋचं वाचं प्रपद्ये में वाणी की ऋक्‌रूप से उपासना अर्थ है वेसे चक्षुः श्रोत्रं प्रपद्ये का चक्षु को श्रोत्ररूप से या श्रोत्र चक्षुरूप से उपासना अर्थ नहीं, किन्तु चक्षु की उपासना और श्रोत्र की उपासना ऐसी दो अलग है।

विधेयविषयस्तर्हि कोऽन्यत्र भवतीति चेत्।
अत्राहुः सायणाचार्यास्तथाधिष्ठातृदेवता॥११६॥

यदि दो अलग है तो विधेय उपासना का विषय क्या होगा? इस पर श्री सायणाचार्य कहते हैं - तत्तदधिष्ठातृ देवता विधेय विषय है।

चक्षुषो दर्शिता शास्त्रे सूर्योऽधिष्ठातृदेवता।
एवमेवोत्तरत्रापि श्रोत्रादिष्ववबुध्यताम्॥११७॥

चक्षु के अधिष्ठाता शास्त्रों में सूर्य बताया है। आगे भी ऐसा ही समझना।

चक्षुरामर्दने ज्योतिर्गोलकोऽन्तः प्रकाशते।
सूर्यरूपं विचिन्त्यैतं प्रत्ययावर्तनं मतम्॥११८॥

आंख थोडी दबायें तो गोलाकार ज्योति प्रकाशित होती है उसे सूर्यरूप से विशाल स्वरूप चिन्तन करना चक्षु उपासना है।

किं चाक्ष्युपनिषत्प्रोक्ता क्रियतां तदुपासना।
ततोऽपि सम्यग्भवति चक्षुराप्यायनं यतः॥११९॥

अक्ष्युपनिषत् में कथित उपासना से भी चक्षु का आप्यायन होगा।

सा त्वों नमो भगवते श्रीसूर्यायाक्षितेजसे।
खेचराय नमस्तुभ्यं महासेनाय ते नमः॥१२०॥
तमसे रजसे तुभ्यं सत्त्वाय च नमो नमः।
असतो मा सद्गमय तमसोज्योतिरेव च॥१२१॥
मृत्योर्माऽमृतं गमये-त्येवं मन्त्रैः स्तुयाद्रविम्।
नमो भगवते सूर्यायादित्यायाक्षितेजसे॥१२२॥
तवाहोवाहिनी रश्मिसमूहो वाहिनीव ते।
स्वाहाऽक्षिरोगनाशाय भेदबुद्धिं जुहोमि वा॥१२३॥

यह स्तुति बोलें, इस का मूल मन्त्र भी लगभग ऐसा ही है। मूलानधिकारी के लिये पुराणादि में किंचिद्भेद के साथ पढा जाता है।

श्रोत्रम्

श्रोत्रस्याप्यायनं चेष्टं मन्त्राणां श्रवणं यतः।
गुरुभ्योऽश्रुतमन्त्राणां न वीर्यमवकल्पते॥१२४॥

श्रोत्र का आप्यायन मन्त्रादि श्रवणार्थ आवश्यक है। गुरुओं से श्रवण करने पर ही मन्त्रवीर्य होता है।

पुस्तकप्रत्ययाधीतं नाधीतं गुरुसंनिधौ।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा॥१२५॥

गुरुओं के बिना पुस्तक के भरोसे अध्ययन करनेवाला हंसों के बीच में बगलों के समान शोभा नहीं पाता।

श्रुत्वा धर्मं विजानाति श्रुत्वा त्यजति दुर्मतिम्।
श्रुत्वा ज्ञानमवाप्नोति श्रुत्वा मोक्षमवाप्नुयात्॥ १२६॥
श्रुत्वा वेदमथो धर्मजिज्ञासाचार्यचोदिता।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥ १२७॥
अधर्मस्यापि जिज्ञासा विचाराख्या श्रुतेर्मता।
निषिद्धकार्यताबुद्धि - र्दुर्मतिर्विनिगद्यते॥ १२८॥

श्रवण से धर्मज्ञान होता है। श्रवण से दुर्मतित्याग होता है। श्रवण से ज्ञान होता है। श्रवण से ही मोक्ष प्राप्ति होती है। वेद श्रवणोत्तर धर्मजिज्ञासा की कर्तव्यता बतायी है। न्याय के साथ अनुसन्धान करने पर ही ठीक धर्मज्ञान होगा। अधर्म का भी ज्ञान श्रवणोत्तर विचाररूप जिज्ञासा से होता है। निषिद्ध को करने योग्य समझना दुर्मति है।

ननु स्वयंपठनतो ज्ञानं नूनं प्रजायते।
न्यायश्च जैमिनीयादिः शक्यते पठितुं स्वयम्॥ १२९॥
शिष्टाचारान् विलोक्यापि लभन्ते धर्मसन्मतिम्।
श्रवणावश्यकार्यत्वं कथं तस्माद्धि सिध्यति॥ १३०॥
सत्यं सामान्यधर्मास्तु शक्या बोद्धुं तथा नरैः।
यागादिधर्माः शक्यन्ते कर्तुं न श्रुतिमन्तरा॥ १३१॥
कृता अपि न कल्पन्ते सफलत्वाय तेन हि।
वीत्येष उपसर्गोऽयं विजानातिपदे कृतः॥ १३२॥

स्वयं पढने पर भी तो धर्म ज्ञान होता है। जैमिनीयादि न्याय को भी स्वयं पढ सकते हैं। शिष्टाचार देखकर भी धर्मज्ञान पाया जा सकता है। श्रवण की अवश्य कर्त्तव्यता कैसे सिद्ध होगी? बात सत्य है। सामान्य धर्म तो वैसे जाना भी जा सकता है, किया भी जा सकता है। परंतु यागादि धर्म सवेद श्रवणं बिना नहीं हो सकता। करने पर भी सफल नहीं होगा। इसलिये वि उपसर्ग है वि-जानाति।

मास्तु स्वर्गादिजनक-धर्मज्ञानादिकं तथा।
सामान्यधर्ममात्रेण जन्मादि सुधरिष्यति॥ १३३॥

स्वर्गादिजनक धर्म का ज्ञान एवं निष्पादन न हो, हम को स्वर्गादि नहीं चाहिये। उसकी निन्दा भी की है। सामान्य धर्म के करने से ही जन्म सुधर सकता है।

मैवं न जन्ममरणसन्तानस्तेन नो भवेत्।
नानायोनिषु जन्मादि-दुखं नैव निवर्तते॥१३४॥

उ. - बात सही नहीं है। सामान्य धर्म करने मात्र से जन्म मरण परम्परा की निवृत्ति नहीं होगी। नाना योनियों में जन्म लेकर दुःख संसार में भटकना ही होगा।

ननु ज्ञानाय बहुधा प्रयतिष्यामहे वयम्।
तच्च धर्मप्रवृत्ताना-मप्यावश्यकमेव नः॥१३५॥

प्र. - जन्म-मरण परम्परा से छुटकारा पाने के लिये ज्ञानसंपादनार्थ हम प्रयत्न करेंगे। धर्मनिष्ठों को भी अन्त में वहीं आना ही पडेगा।

मैवं विविदिषन्त्येतं यज्ञेनेति श्रुतत्वतः।
यज्ञोऽपि हेतुस्त्येवं वेदनादौ न संशयः॥१३६॥

उ. - पर, 'विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा' ऐसा श्रुति कहती है अतः यज्ञ करना भी आवश्यक है। वह श्रवण से ही हो सकता है।

यज्ञदानादिकेष्वन्य-तमेनास्त्विति चेन्न तत्।
वैकल्पिकत्वाश्रवणात् त्रयाणां कार्यता यतः॥१३७॥

पू. - यज्ञ-दान-तप से एक-दो से ही विविदिषा या वेदन संपादन हो। नहीं। श्रुति में विकल्प नहीं बताया है।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
इत्थं भगवताप्येवं त्रयाणां कार्यतोदिता॥१३८॥

गीता में भी यज्ञ-दान-तप तीनों की अवश्य कर्तव्यता बतायी है।

महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः।
ब्रह्मग्रहणयोग्या हि ब्राह्मीत्येतेन भण्यते॥१३९॥

पांच महायज्ञ एवं अन्य यज्ञों से ब्रह्मग्रहणयोग्यता स्मृतियों में बतायी हैं।

गुरोरधीतवेदस्य यज्ञादावधिकारिता ।
श्रुत्वा धर्मं विजानातीत्येतत् सुष्ठूदितं ततः ॥ १४० ॥

गुरु से अधीतविदों को ही यज्ञादि में अधिकार हैं। अतः श्रुत्वा धर्मं विजानाति यह कहा।

अधर्मे धर्मधीर्मा भून्मा धर्मेऽधर्मधीश्च भूत्।
जातापि त्यज्यते सद्भिः श्रुत्वा सम्यक्छ्रुतिस्मृती ॥ १४१ ॥

अधर्म को धर्म न समझ ले और धर्म को अधर्म, कदाचित वैसा समझा तो उसे त्यागें यह श्रुति स्मृति श्रवण से संभव है।

श्रुतीनां श्रवणाल्लिङ्गैः षड्भिर्ज्ञानं च जायते।
असंप्रदायविन्नैव लभते ज्ञानमुत्तमम् ॥ १४२ ॥

छह लिंगों से श्रुति श्रवण करने पर ही ज्ञान होता है। असंप्रदायी को उत्तम ज्ञान नहीं होता।

गुरुमेवाभिगच्छेत् स तद्विज्ञानार्थमत्र हि।
एवकारादनाचार्यविद्या व्यावर्तिता श्रुतौ। ॥ १४३ ॥

'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्' यहां एवकार (गुरु के ही पास जाये ऐसा) कहकर आचार्य के बिना विद्या प्राप्ति का व्यावर्तन किया है।

तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थसाक्षात्कारो हि मोक्षदः।
शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वात्ततस्तच्छ्रवणं मतम् ॥ १४४ ॥

तत्त्वमसि आदि वाक्य से उत्पन्न साक्षात्कार ही मोक्षदायी है। शब्दशक्ति अचिन्त्य होती है अतः उसी का श्रवण इष्ट है।

श्रोत्रस्याप्यायनं तत्र श्रवणायास्त्यपेक्षितम्।
तत्प्रार्थ्यतेऽत्र च श्रोत्र-माप्यायत्विति योजना ॥ १४५ ॥

श्रवणार्थ श्रोत्र के आप्यायन की प्रार्थना है। श्रोत्रं मम आप्यायतु ऐसी योजना है।

श्रोत्रं प्रपद्य इत्येषोपासना बलकारिणी।
श्रोत्रं नित्यमुपासीत भक्त्या दिग्देवतात्मना ॥ १४६ ॥

श्रोत्रं प्रपद्ये इस मन्त्र में श्रोत्रोपासना बतायी है। वह श्रोत्रा-

प्यायन में शक्तिकारिणी है। श्रोत्र को दिग्देवतारूप से उपासना की जाती है।

ननु दिग्देवता केय-मेका वा बह्व एव वा।
बह्वो बहुत्वनिर्देशात् पञ्चीकरणवार्त्तिके॥ १४७॥
एकां वैशेषिकाः प्राहुः पुराणेषु दशेरिताः।
वाराहे शृणु राजन्नि-त्यादिना विस्तरोदिताः॥ १४८॥

पू. - यह दिग्देवता कौन है? वह एक देवता है या बहुत? उ. - पञ्चीकरण वार्त्तिक में वार्त्तिककार ने-'**श्रोत्रमध्यात्मनित्युक्तं श्रोतव्यं शब्दलक्षणम्। अधिभूतं तदित्युक्तं दिशस्तत्राधिदैवतम्**' ऐसा 'दिशः' बहुवचन प्रयोग करते हैं अतः दिग्देवता बहुत हैं। वैशेषिक एक ही दिक् मानते हैं। बहुत्व को औपाधिक कहते हैं। पुराणों में दस दिशायें बतायी हैं। वराह पुराण में 'शृणु राजन्' इत्यादि प्रारंभ कर विस्तार से उन का वर्णन किया है।

ब्रह्मणः सृजतः सृष्टिमादिसर्गे समुत्थिते।
चिन्ताऽभून्महती को मे प्रजाः सृष्टाः धरिष्यति॥ १४९॥
एवं चिन्तयतस्तस्य ह्यवकाशं व्रजत्विति।
प्रादुर्बभूवुः श्रोत्रेभ्यो दश कन्या महाप्रभाः॥ १५०॥
पूर्वा च दक्षिणा चैव प्रतीची चोत्तरा तथा।
ऊर्ध्वाध एव षण्मुख्याः कन्या ह्यासंस्तदा नृप॥ १५१॥
तासां मध्ये चतस्रश्च कन्या परमशोभनाः।
ब्रह्मांडमेतत् सुश्रोण्यः शतकोटिप्रविस्तरम्॥ १५२॥
तस्यान्ते स्वेच्छया तुष्टा उष्यतां मा विलम्बथ।
भर्तॄंश्च वः प्रयच्छामि सृष्ट्वा रूपस्विनोऽनघाः॥ १५३॥
यथेष्टं गम्यतां देशो यस्या यो रोचऽतेधुना।
ब्रह्मा ससर्ज तूर्णं तान् लोकपालान् महाबलान्॥ १५४॥
विवाहं कारयामास ब्रह्मा लोकपितामहः।
एकमिन्द्राय स प्रादा - दग्नयेऽन्यां यमाय च॥ १५५॥

निर्ऋताय च देवाय वरुणाय महात्मनें।
वायवे धनदेशाय ईशानाय च सुव्रत।
ऊर्ध्वं स्वयमधिष्ठाय शेषायाधोव्यवस्थिताम्॥ १५६॥

ब्रह्माजी सृष्टि कर रहे थे। उन को चिन्ता हुई प्रजा को कौन धारण करेगा। उस समय उनके श्रोत्र से दस कन्यायें प्रगट हुई-पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ऊर्ध्व और अधः। ऐसी छः मुख्य कन्यायें प्रथम हुई। प्रथम चार कन्याओं के बीच-बीच में चार और कन्याएं भी हुई। ब्रह्माजी ने उनको कहा हे सुन्दरियों! सौ करोड विस्तारवाले ब्रह्माण्ड है वहां जो पसंद है वहां रहो, तुम्हें तेजस्वी पतियों की सृष्टि कर देता हूं। ब्रह्माजी ने लोकपालों की सृष्टि कर उनके साथ विवाह कराया। इन्द्र, अग्नि, यम, निर्ऋत, वरुण, वायु, कुबेर और ईशान को एक-एक कन्या दी। ऊर्ध्व दिशा को स्वयं ब्रह्मा ने अधिष्ठित किया। अधो दिशा शेष भगवान को दी।

ननु चानवक्लृप्तास्तु दिशः सापेक्षवृत्तयः।
काश्या दक्षिणतोऽवन्तिः काञ्च्या उत्तरतः किल॥ १५७॥

पू. - दिशायें निश्चित रूप नहीं है। अवन्ति काशी से दक्षिण है, कांची से उत्तर है।

मैवं ब्रह्माण्डदृष्ट्या हि क्लृप्तस्याता दिशोऽखिलाः।
मध्ये तूपाधिभेदेन स्याद्दिग्व्यवहृतिः पृथक्॥ १५८॥

उ. - बात सही है। ब्रह्माण्ड दृष्टि से दिशायें निश्चित है। बीच उपाधिभेद से दिशा व्यवहार अलग हो जाता है।

सर्वेषामेव वर्षाणां मेरुरुत्तरतः स्थितः।
इति वाक्यादुत्तरा दिगुत्तरध्रुववत् स्थिरा॥ १५९॥
याम्यां तद्विपरीतार्धं दक्षिणध्रुववत्ततम्।
सुमेरुं वामतः कृत्वा प्रागदिशाऽण्डान्तमीक्षितुः॥ १६०॥
अधे तद्विपरीतं च वारुणं पश्चिम भवेत्।
सुमेरुं पृष्टतः कृत्वा पश्यती दक्षिणं समम्॥ १६१॥

याम्यार्धं पृष्ठतः कृत्वा पश्यतः सर्वमुत्तरम्।
इत्युपाधि भिदैकत्र दक्षिणोत्तरते इति॥१६२॥

मेरु पर्वत सब के लिये उत्तर है जैसे आजकल उत्तर ध्रुव। उससे विपरीत स्थान अर्थात् मेरु को पीठ की ओर करके ब्रह्माण्ड का छोर देखने पर जो स्थान आता है वह याम्य-दक्षिण है, जैसे दक्षिण-ध्रुव। सुमेरु बायीं ओर करके खडे हो तो सामने की छोर पूर्व है। दाहिनी ओर करके खडे हो तो सामने की छोर तक पश्चिम है। बीच की ओर किस ओर पीठ करके देख रहे हैं उस पर आधारित है।

दुर्गादिवदिमाश्चिन्त्याः शक्तिरूपाः सतेजसः।
श्रोत्रे तादात्म्यबुद्ध्या च तदीयाप्यायनं भवेत्॥१६३॥
देवतानुगृहीताः स्युः समर्था इन्द्रियादयः।
अनुग्रहश्च तद्भक्त्या तत्सत्ता ह्यैतदर्थ्यतः॥१६४॥

दुर्गा लक्ष्मी आदि के समान ये शक्तिरूप हैं, तेजस्विनी हैं। श्रोत्र में इन का तादात्म्य चिन्तन से श्रोत्राप्यायन होगा। क्या यह सब निरर्थक कल्पना मात्र नहीं है? नहीं। देवतानुगृहीत होने पर ही इन्द्रियादि स्वकार्य समर्थ होते हैं। विशेष अनुग्रह उनका भक्तिपूर्वक चिन्तन से होगा। ऐसा न हो तो वेदान्त शास्त्र में इन देवता का अस्तित्व स्वीकार करना ही निरर्थक एवं अन्ध परम्परा मात्र होगा।

मर्यादातिक्रमे नृणां साक्षिभूता इमा इति।
श्रीधरस्वामिनो व्याख्यन् पञ्चमे हि चतुर्दशे॥१६५॥

ये दिग्दवेता मनुष्य के मर्यादातिक्रमण में साक्षिरूप हैं ऐसा श्रीधरस्वामी ने भागवत पञ्चम स्कन्ध में चतुर्दशाध्याय के नवम श्लोक में व्याख्या की है।

अनुग्रहीतृता सर्वस्वीकृता देवतास्वतः।
मर्यादारक्षणद्वारा श्रोत्राप्यायनतोऽस्तु सा॥१६६॥

देवता अनुग्राहक है यह सर्वसम्मत है। मर्यादा साक्षी मर्यादारक्षण द्वारा श्रोत्राप्यायन से वह प्रकृत में होगा। अतः कोई विरोध नहीं।

अथो बलम्

बलाप्यायनमप्येव शरीरादेरपेक्षितम्।
न लभ्यो बलहीनेन सोऽयमात्मेति गीः श्रुतेः॥१६७॥

शरीरादि बल का आप्यायन भी अपेक्षित है। बलहीन को आत्मा प्राप्त नहीं होती ऐसी श्रुति है।

शारीरं बलमप्येष्यं परिप्रश्नेन सेवया।
न चाशुश्रूषवे वाच्य-मित्यादि स्मृतिदर्शनात्॥१६८॥

शरीर बल के बिना सेवा शुश्रूषा नहीं होती। उसके बिंना विद्या नहीं दी जाती।

द्वारमाहुर्महत्सेवां विमुक्तेरित्यपि स्मृतिः।
शरीरबलहीनस्तु स्वसेवां कारयिष्यति॥१६९॥

महत्सेवा को मुक्ति द्वार बताया है। शारीर बलहीन अपनी सेवा करायेगा।

नन्वाप्यायन्तु मेऽङ्गानीत्येतेनैतद्गतार्थता।
बाह्याङ्गपुष्टिरुक्ता प्रा-गिहान्तर्बलमुच्यते॥१७०॥

शरीर बल की प्रार्थना आप्यायन्तु ममाङ्गानि से गतार्थ है। नहीं। वहां बाह्याङ्ग पुष्टि विवक्षित है। यहां आन्तरिक बल पुष्टि की प्रार्थना है।

हृदो बलमिहार्थ्यं वा तथा चाह हरिः स्वयम्।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥१७१॥
अस्त्यङ्गपुष्टिः पार्थस्या-ऽसीदन् गात्राणि तस्य तु।
हृच्छैथिल्ययप्रयुक्तं तस्माद्धृद्बलमर्थ्यते॥१७२॥

अथवा हृदय बल की यह प्रार्थना है। क्षुद्रहृदय दौर्बल्य छोडने भगवान ने भी अर्जुन को कहा। अर्जुन की अङ्गपुष्टि में कोई कमी नहीं थी। फिर भी कहने लगे-मेरे गात्र अवसन्न हो रहे हैं। वह हृदयशैथिल्यसे प्रयुक्त ही था।

व्युत्थानमेषणाभ्यश्च हृद्बलादेव शक्यते।
इयादरण्यमित्याह पादौ न चलतः परम्॥१७३॥

उत्तिष्ठत प्राप्य वराननुबोधत जाग्रत।
भवोत्थानं गुरौ वासः समाधिश्च बले सति॥ १७४॥

पुत्रादि एषणात्रय से व्युत्थान हृदय बल से ही शक्य है। 'अरण्यमियान्' श्रुति कहती है। किन्तु अरण्य जाने के लिये पांव आगे नहीं बढते। उतिष्ठत जाग्रत इत्यादि श्रुति है। संसारजाल से उठना, गुरु सांनिध्य में रहना, फिर समाधिरूप परम जागरण पाना बल के बिना नहीं हो सकता। हृदय बल चाहिये।

पाण्डित्यं प्राप्य बाल्येन तिष्ठासेदिति च श्रुतिः।
पाण्डित्यं श्रवणं प्राप्तुर्विधत्ते मननादिकम्॥ १७५॥

'तस्मात्पाण्डित्यं निर्विध बाल्येन तिष्ठासेत्' यह श्रुति से श्रवणरूप पाण्डित्य प्राप्त करनेवालों के लिये मननादिका विधान करती है।

बलस्य भावो बाल्यं चाऽनात्मदृष्टितिरस्कृतिः।
तस्मान्मननमेवेति संप्रदायविदो विदुः॥ १७६॥
मौनं न मननं किन्तु निदिध्यासनमीरितम्।
बलशब्देन प्रकृते ग्रहीतुं तच्च शक्यते॥ १७७॥

भाष्य में बलस्य भावो बाल्यं ऐसी व्युत्पत्ति कर अनात्म दृष्टितिरस्कारण अर्थ किया। वह मनन ही है ऐसा संप्रदायवेत्ता कहते हैं। उस के आगे मौन बताया वह निदिध्यासन है। बल शब्द से शान्ति मन्त्र में उसका ग्रहण भी शक्य है।

यतो यतो निश्चरति मनस्तच्च नियम्यते।
बलादेव बलं तस्मान्निदिध्यासनमेव तत्॥ १७८॥

ध्यानकाल में जहां जहां से यह चंचल मन निकलता है वहां वहां से उसे वापिस आत्मा में लाना बल से ही संभव है वही निदिध्यासन भी है।

इन्द्रियाणि च सर्वाणि

इन्द्रियाणि तथान्यानि ममाप्यायन्तु सर्वशः।
सर्वेषामुपकारो हि ब्रह्मज्ञाने प्रवर्तते॥ १७९॥

चक्षु एवं श्रोत्र से अन्य इन्द्रिय भी आप्यायित हो। ब्रह्मज्ञान में सब का उपकार है।

इन्द्रियं हीन्द्रलिङ्गं स्या-दिन्द्रेण परमात्मना।
दृष्टं सृष्टं तथा जुष्टं दत्तं चेत्याह पाणिनिः॥१८०॥

इन्द्र-परमात्मा का लिंग, दृष्ट, सृष्ट, एवं दत्त होने इन्द्रिय नाम है।

इन्धो हि ब्रह्मनामेदं तमिन्धं त्विन्द्रमाजगुः।
तद्भासा भासमानानि खानि यान्त्यस्य लिङ्गताम्॥१८१॥

'इन्धी-दीप्तौ' इन्ध ब्रह्म का नाम है। परोक्षतया इन्द्र कहने लगे। उसी इन्द्र के प्रकाश से दीप्त होने से इन्द्रिय हैं। वह दीप्ति परमात्मा का लिङ्ग अनुमापक है। जैसे प्रातः वस्तुओं की प्रकाशमानता से सूर्योदय का अनुमान होता है।

सर्वस्येन्द्रेण दृष्टत्वात् को विशेषोऽस्मदिन्द्रिये।
शृणु चेतनवत्तत्स्याद् येनस्मिन्नात्मधीर्भवेत्॥१८२॥

सारा जगत इन्द्र दृष्ट हैं-आत्मप्रकाशित है। इन्द्रियों में क्या विशेषता है। सुनो। इन्द्रियां चेतनवत् होती है जिससे उस में आत्मत्व भ्रम होता है।

ननु चेतनवत्तावत् शरीरमपि भासते।
तन्न प्रकाशनं कुर्या-दिन्द्रियं न पुनस्तनुः॥१८३॥

चेतन प्रकाशित शरीर भी तो चेतनवत् भासता है। इन्द्रियों में क्या विशेषता? नहीं। इन्द्रिय अर्थप्रकाशन करती है। शरीर नहीं।

ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिरिति द्वय्यात्मनीरिता।
आद्या ज्ञानेन्द्रिये दृष्टा दृष्टा कर्मेन्द्रियेऽपरा॥१८४॥
मलिनाऽमलिनौ भागौ अन्तःकरणयोगिनौ।
क्रिया ज्ञानं च भवतस्तत्रात्मप्रतिबिम्बतः॥१८५॥
ज्ञानशक्तिः स्फुटेक्ष्येत ज्ञानेन्द्रियमुपागता।
कर्मशक्तिः स्फुटेक्ष्येत कर्मेन्द्रियमुपागता॥१८६॥

ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति आत्मा में हैं। ज्ञानेन्द्रिय में ज्ञानशक्ति और कर्मेन्द्रिय में कर्मशक्ति अनुभव की जा सकती है। दर्पण में एक ओर

मलिन और दूसरी ओर शुद्ध हो वैसे अन्तःकरण में दो भाग हैं। उन में क्रिया और ज्ञान का प्रतिबिम्ब पडता है जो कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय में स्फुट अनुभूत होती है॥

बाह्यक्रियात्मना बाह्यस्फूर्त्यात्मना च ते।
बहिरिन्द्रियमागत्य स्पष्टं भातः शरीरिणाम्॥१८७॥

बहिरिन्द्रियों में आकर बाह्यक्रिया एवं बाह्य स्फुरणरूप से लोगों को भासित होती है।

अक्ष्णाभिवीक्ष्यते वस्तु स्वोपेत प्रतिबिम्बतः।
इन्द्रियेणेक्ष्यते चात्मा स्वेतततत्प्रतिबिम्बतः॥१८८॥

आंख में आगत प्रतिबिम्ब से वस्तु (घटादि) का प्रत्यक्ष होता है। अपने में आये प्रतिबिम्ब (आत्म प्रतिबिम्ब) से आत्मा का दर्शन होता है।

ननु चानुमितेस्तौल्याद् भेदः को लिङ्गदृष्टयोः।
शृण्वाद्येऽनुमितिः स्पष्टा प्रत्यक्षमिव चापरा॥१८९॥
दर्शनश्रवणादिर्न सुप्तस्याऽपि तु जाग्रतः।
श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादि तत आत्मानुमीयते॥१९०॥

इन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टं इन दो में क्या फरक है? दोनों में अनुमान ही काम करता है। सुनो प्रथम में अनुमान स्पष्ट है। द्वितीय में प्रत्यक्ष जैसा है। सोया आदमी के कान-आंख प्रत्यक्ष है। किन्तु सुप्त व्यक्ति न देखता है और न सुनता है अतः जरूर श्रोत्र का भी कोई श्रोत्र है, नेत्र का भी कोई नेत्र है। वही आत्मा है ऐसा श्रवणादि लिङ्ग से आत्मा का अनुमान होता है।

द्वितीये चक्षुरायातं प्रतिबिम्बं हि वीक्ष्यते।
तदेव वस्तुज्ञानं च प्रत्यक्षमिव तत्ततः॥१९१॥
अक्षणा समीक्ष्यते वस्तु स्वागतप्रतिबिम्बतः।
इन्द्रियेणेक्ष्यते चात्मा - स्वेतततत्प्रतिबिम्बतः॥१९२॥

इन्द्र दृष्ट में, चक्षु आदि में आया हुआ प्रतिबिम्ब जो देखते है वही वस्तु ज्ञान है। वह प्रत्यक्षसा होता है। अपने में आये हुए घटादि प्रतिबिम्ब

से वस्तु दिखती है। इन्द्रिय में आये हुए आत्म प्रतिबिम्ब से आत्मदर्शन है।

किं चास्तिभातिरूपेण प्रत्यक्षं सच्चिदादिकम्।
परिछिन्नात्मना भागत्यागाच्छुद्धात्मदर्शनम्॥१९३॥

दूसरी बात यह है कि अस्तिभातिरूप से सच्चिदानन्द आत्मा घटादि परिच्छिन्नरूप से प्रत्यक्ष है। घटादि भागत्याग से ही शुद्धात्म दर्शन होता है।

अनाप्यायितदृक् पश्येत् सकलं कामिनीमयम्।
आप्यायिताक्षो वीक्षेत्त सर्वं ब्रह्ममयं जगत्॥१९४॥

अनाप्यायित दृष्टिवाला जगत को कामिनीमय देखता है। आप्यायित चक्षुवाले समस्त जगत् को ब्रह्ममय देखता है।

इन्द्रसृष्टत्वहेतोश्च चक्षुरादिकमिन्द्रियम्।
एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च॥१९५॥

इन्द्र परमात्मा से सृष्ट होने से भी इन्द्रिय है। **'एतस्माज्जायते'** इत्यादि श्रुति है।

ननु सर्वं जगदिदम् इन्द्रसृष्टं भवेदिति।
इन्द्रिये को विशेषोऽस्ति येनास्यैवेन्द्रियाख्यता॥१९६॥

पू. - समस्त जगत् इन्द्र (ब्रह्म) सृष्ट है तो सभी इन्द्रिय क्यों नहीं? केवल श्रोत्रादि को क्यों इन्द्रिय कहते हैं?

स्वस्वोपादानसम्बन्ध-संयमाद् दिव्यमिन्द्रियम्।
जायमानं परं मूलं गमयेत् सदपत्यवत्॥१९७॥
दिव्यं श्रोत्रं भवेच्छ्रोत्राकाशसम्बन्धसंयमात्।
दिव्यं चक्षुस्तथा चक्षुस्तेजःसम्बन्धसंयमात्॥१९८॥
पराञ्चि खानि व्यतृणत् कः पराग्दर्श्यतो जनः।
ऐक्षत प्रत्यगात्मान-मावृत्ताक्ष इति श्रुतिः॥१९९॥

उ. - अपने-अपने उपादान के साथ जो सम्बन्ध उस में संयम करने से इन्द्रियां दिव्य होकर मूल तक पहुंचायेगी जैसे उत्तम पुत्र है। **'श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम्'** ऐसा पातञ्जल सूत्र है। तुल्यन्यायं से चक्षुस्तेजसोः सम्बन्धसंयमाद्दिव्यं चक्षुः इत्यादि समझना

चाहिये। यह बात प्रायः सभी व्याख्याताओं ने बताया है। दिव्यश्रोत्र उत्तरोत्तरोपादन सम्बन्ध से आत्मा पर्यन्त जाकर आत्मा का अवगमन करायेगा। वैसे अन्य इन्द्रियां भी है। इसीलिये श्रुति में कहा-'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्।'

इन्द्रसृष्टत्वतो हीन्द्रो मूलोपादानमुच्यते।
तदीक्षित्रिन्द्रियं दिव्यं तत्स्वसम्बन्धसंयमात्॥ २००॥

इन्द्र सृष्टं कहने से इन्द्र इन्द्रियोपादान सिद्ध होता है। उसके साथ इन्द्रिय सम्बन्ध संयम करने से इन्द्रिय दिव्य होकर इन्द्रेक्षिता (ब्रह्मदर्शक) बनेगा।

इन्द्रियाप्यायनादेव स्यात्तत्सम्बन्धसंयमः।
ततश्चाप्यायनं तेषामिन्द्रियाणमिहार्थ्यते॥ २०१॥

इन्द्रियाप्यायन से ही सम्बन्ध संयम होगा। अतः उसकी यहां प्रार्थना की जा रही है।

इन्द्रजुष्टं तथा सर्व-मिन्द्रियं कार्यदर्शनात्।
कार्यं प्रकाशनं तच्च विशेषेणाक्ष्णि दक्षिणे॥ २०२॥

इन्द्रिय इन्द्रजुष्ट (ब्रह्मसेवित) भी है। क्योंकि प्रकाशन कार्य इन्द्रियों में देखा जाता है। विशेषरूप से दाहिनी आंख में प्रकाशन कार्य रहता है।

प्रीतिसेवनयोः प्राह जुषिं श्रीपाणिनिर्मुनिः।
प्रसन्नता भवेत् प्रीत्या प्रसन्नं ब्रह्म चाक्षणि॥ २०३॥
प्रीतियुक्ते प्रसन्नो हि स्थाने सर्वोऽपि दृश्यते।
अन्यत्र मलिनप्रायो न तु वस्तुस्वरूपतः॥ २०४॥
वीक्ष्यो दशरथः कुत्र कैकेय्यावासतौ तथा।
वीक्ष्यं ब्रह्म प्रसन्नं क्व सर्वेषां दक्षिणेऽक्षणि॥ २०५॥
स्थानमाप्यायितं चेत् स्यात् सुप्रसन्नं न संशयः।
घटादिषु सदप्येव ब्रह्म स्यान्मलिनायितम्॥ २०६॥

'जुषी प्रीतिसेवनयोः' ऐसा धातुपाठ है। प्रीति हो तो प्रसन्नता होगी। दाहिनी आंख में ब्रह्म प्रसन्न है। अन्यत्र प्रायः मलिन सा होता है। दशरथजी कहां दिखेंगे? कैकेयी के भवन में। क्यों? वहां प्रीति है। ब्रह्म कहां दिखेगा? दाहिनी आंख में और स्थान आप्यायन हो तो कहना क्या। वहां प्रसन्न ही नहीं, सुप्रसन्न दि़खेगा। घटादि में भी ब्रह्म है। किन्तु मलिनरूप से मिलेगा।

सर्वत्र वीक्ष्यते ब्रह्म ह्यस्तिभातिप्रियात्मना।
परं मलिनरूपेणे-तीन्द्रियाप्यायनं जगौ॥ २०७॥

पूरे जगत में अस्ति भाति प्रियरूप से ब्रह्म दिखता है। किन्तु मलिनरूप से। इसलिये इन्द्रियाप्यायन बताया जहां प्रसन्नतारूप से ब्रह्म दिखे।

आप्यायितेष्विन्द्रियेषु मनस्याप्यायिते तथा।
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र परं पदम्॥ २०८॥
यद्यत्पश्यति चक्षुर्भ्यां तत्तदात्मेति भावयेत्।
यद्यच्छृणोति कर्णाभ्यां तत्तदात्मेति भावयेत्॥ २०९॥
लभते नासया यद्यत् तत्तदात्मेति भावयेत्।
जिह्वया यद्रसं ह्यत्ति तत्तदात्मेति भावयेत्॥ २१०॥
त्वचा यद्यत् स्पृशेद्योगी तत्तदात्मेति भावयेत्।
इति श्रुतीरितं सर्व-मिन्द्रियाप्यायनाश्रयम्॥ २११॥

इन्द्रिय एवं मन आप्यायित होने पर जहां भी मन जाये वहीं परम पद दिखता है। चक्षु से जो देखे, श्रोत्र से जो सुने, नासिका से जो सूंघे, जिह्वा से जो रसास्वाद करे, त्वचा से जो छुए सब आत्मा ही यह धारण इन्द्रियाप्यायनाधीन है।

श्याममैक्षिषत श्यामवासनाप्यायितेक्षणाः।
गोप्यः, सन्तः, परं ब्रह्मवासनाप्यायितेक्षणाः॥ २१२॥

वृन्दावनवासी गोपियां श्याम वासना से आप्यायित चक्षु होने से 'जित देखे तित श्याममयी है' बोलने लगी। सन्तलोग ब्रह्म वासना से आप्यायित

नेत्रवाले होने से 'सर्व ब्रह्म' बोलने लगते हैं।

लिङ्गं सम्बन्धसामान्यात् सम्बन्ध्यस्तित्वबोधकम्।
पिपीलिकाण्डचरणं भाविवृष्ट्यनुमापकम्॥ २१३॥
स्वसत्तानन्यसत्ताकं स्वसृष्टं मुद्घटो यथा।
मृत्सत्तानन्यसत्ताको घटादिः सृज्यते मृदा॥ २१४॥
सत्ता न जायते नित्या मृत्सत्ताविर्भवेद् घटे।
समानदेशवृत्तित्वा-दिति युक्तं मनीषिणाम्॥ २१५॥
नन्विन्द्रेणैव सृष्टत्वाद् घटादिः स्यात्तवेन्द्रियम्।
मैवं मृदादिद्वारा सा मृदाद्याधिक्यतोऽपि च॥ २१६॥

सामान्य सम्बन्ध से सम्बन्धी का अस्तित्व मालूम हो वह लिङ्ग है। जैसे चींटियों के अणु संचरण भाविवृष्टि का लिङ्ग है। लिङ्गिसत्ता से अनन्य सत्ता होने पर इन्द्र सृष्ट होगा। जैसे मृत्तिका सत्ता से अनन्य सत्तावाला घट मृतिकासृष्ट है। सत्ता की उत्पत्ति नैयायिक भी नहीं मानते। अतः मृत्सत्ता घट में आविर्भूत होना उचित है। क्योंकि दोनों का समान देश है। प्रश्न होगा-इन्द्र सृष्ट घटादि भी इन्द्रिय होगा। नहीं। मिट्टी आदि के द्वारा यह इन्द्र सृष्ट है किन्तु साक्षात् नहीं। दूसरी बात घटादि में मिट्टी आदि का ही वर्चस्व है।

इन्द्रियं ज्ञानजनकमिन्द्रप्राधान्यतावशात्।
न घटादि तथात्यन्तजडत्वादिति सन्मतम्॥ २१७॥

इन्द्रियां इन्द्र प्रधान होने से ज्ञानजनक है। घटादि नहीं। वह अत्यन्त जड है। इन्द्र=आत्मा।

मदीयचितितादात्म्यान्मया दृष्टो घटो भवेत्।
तथेन्द्रचितितादात्म्यादिन्द्रदृष्टं किलेन्द्रियम्॥ २१८॥
नन्विन्द्रदृष्टं भुवनमिन्द्रियं ते भविष्यति।
मैवं विशेषचितिमत् प्रकाशकरमिन्द्रियम्॥ २१९॥

मैंने घट देखा - यहां घट में मद्दृष्टता मद्दृष्टि तादात्म्य है। इन्द्रिय इन्द्र दृष्ट है वहां इन्द्रदृष्टितादात्म्य है। शंका होगी - सारा जगत इन्द्रदृष्ट होने से

इन्द्रिय होगा। नहीं। इन्द्रियों में इन्द्रचिति विशेषतः है। अतएव इन्द्रिय ज्ञान प्रकाशकारी है। घटपटादि घटित जगत ज्ञान प्रकाशदायी कहां है?

जुष्टमानन्दरूपत्त्वात् प्रीतमिन्द्रेण सेवितम्।
दक्षिणाक्षि विशेषेण तथान्यानीन्द्रियाण्यतः॥२२०॥

'जुषी प्रीतिसेवनयोः' के अनुसार जुष्ट का प्रिय और संवित अर्थ है। दक्षिणाक्षि विशेषरूप से इन्द्र का प्रिय और सेवित है। अन्य इन्द्रियां भी उसको प्रिय है सेवित है। अतः ये सब इन्द्रिय कहलायी।

सच्चिदानन्दतादात्म्यादिन्द्रियत्वं ततः स्थितम्।
इन्द्रियाप्यायनात् सच्चिदानन्दावाप्तिरञ्जसा॥२२१॥

उक्त व्युत्पत्ति से (इन्द्र सृष्ट, इन्द्र वृष्ट और इन्द्र जुष्ट) होने से इन्द्रियां सच्चिदानन्दरूप है। इन्द्रियों का आप्यायन होने पर सच्चिदानन्द की प्राप्ति सरलता से होगी।

इन्द्रेण दत्तं तेनास्य भवेदादरणीयता।
महद्भिर्दत्तमल्पं चाप्यादरार्हं यतो मतम्॥२२२॥

इन्द्रेण दत्तं यह अन्तिम व्युत्पत्ति दिखायी है। इन्द्र दत्त होने से इन्द्रिय आदरार्ह है। महापुरुष छोटी वस्तु भी दे तो वह प्रसादरूप आदरार्ह होता है। यह इन्द्रिय महोपकारक है। महद् ब्रह्म का दत्त है। इसका समादर होना ही चाहिये।

तच्च दत्तं भगवता सद्बोधाय दयालुना।
इन्द्रियैस्तेन लब्धव्यो बोध इन्द्रस्य धीमता॥२२३॥

इन्द्र (परमात्मा) ने आपको इन्द्रियां क्यों दी? अपना परमार्थ स्वरूप बोधार्थ। इसलिये इन्द्रियों से परमात्म बोध ही बुद्धिमान को पाना चाहिये।

ननु भोगार्थमेवेदं दत्तं भगवतेति चेत्।
किं तदुक्त्या फलं शान्ति-पाठो भोगाय नेष्यते॥२२४॥

इन्द्रियां भोगार्थ भगवान ने दी ऐसा क्यों नहीं। नहीं। ऐसा कहने पर यहां क्या फायदा? यह शान्तिपाठ भोगार्थ पढा नहीं जा रहा है।

ननु भोगाद्भवेन्नृणां नैष्कर्म्यमिति चेन्न तत्।
अनादिकालभोगेन किं नैष्कर्म्यमभूत्तवा?॥२२५॥
भगवद्बोधतश्चैव नैष्कर्म्यं लभते नरः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे इति श्रुतेः॥२२६॥

यह कहें कि भोग से भी कर्मनाश और नैष्कर्म्य होगा। नहीं। अनादिकाल से भोग करते आ रहे हो। आज तक नैष्कर्म्य हुआ? भगवद्बोध से नैष्मकर्म्य होता है। श्रुति है-उस परमात्मदर्शन से कर्म क्षय होता है।

यथेष्टमुपयुङ्क्ष्वां तद् दत्तत्वान्नान्तरायता।
माऽऽथा दुरुपयोगं तु न दास्यति पुनर्न सः॥२२७॥

इन इन्द्रियों का उपयोग कर सकते हो। इन्द्र ने दिया तो बीच में वह अडचन नहीं डालेगा। किन्तु दुरुपयोग न करो। दुबारा वह देगा नहीं यह ख्याल रखना।

प्रेष्याय शिशिरे स्वामी प्रेम्णैवोर्णापटं ददौ।
सोऽग्नौ प्रज्वाल्य हस्तौ स्वौ तापयन्नाप तत्सुखम्॥२२८॥
परं द्वितीयवारं तु जीर्णं वस्त्रं स दास्यति।
न वा दास्यति कस्मात्तद्? अतदर्हो हि दुर्मतिः॥२२९॥

भृत्य को सेठ ने ठंडी के दिन प्रेम से ऊन का कपडा दिया। नौकर ने ठंडी में उसे आग में डालकर हाथ सेका और आनन्द पाया। क्या सेठ दुबारा उसको ऐसा कीमती वस्त्र देगा? वह पुराना कपडा देगा, शायद वह भी नहीं देगा। क्यों? वह दुर्मति भृत्य मूल्यवान कपडे का योग्य नहीं है।

नादाय्यश्लीलविषय - दर्शनश्रवणादये।
इन्द्रेण हीन्द्रियं स्वीय-दर्शनायैव मन्मते॥२३०॥

जो श्री को (ब्रह्म विद्या को) लानेवाली नहीं ऐसे अश्लील विषयों के दर्शन-श्रवणादि के लिये इन्द्र (परमात्मा) ने इन्द्रियां नहीं दी किन्तु स्व (परमात्म) दर्शन पर्यवसायी श्रवण दर्शनादि के लिये ही ऐसा हम मानते हैं।

रत्नस्थाल्यां पचत्येष जर्तिलान् चन्दनेन्धनैः।
अर्कमूलाय खनति स्वर्णलाङ्गलतो भुवम्॥ २३१॥
कर्पूरतरुखण्डैश्च कुरुते कोद्रवावृतिम्।
भोगान् भुङ्क्ते तपोऽकृत्वैवेन्द्रियैर्यो नराधमः॥ २३२॥

रत्नजडित बर्तन में जंगली तिल को यह भून रहा है सो भी चन्दन की लकडी इंधन बनाकर जलाता हुआ, यह आकड की जड खोद निकालने के लिये कपूर के वृक्ष को काटकर वाड लगा रहा है, कौन? तप न कर इन्द्रियों से अश्लील भोगों को जो नराधम भोग रहा है।

मन्यन्ते ये तु मनस इन्द्रियत्वं महाशयाः।
इन्द्रियाणीत्यनेनैव संग्रहस्तस्य जायते॥ २३३॥

मन को जो इन्द्रिय मानते हैं उनको इन्द्रियाणि से मन संग्रह होगा।

तदनिन्द्रियतावादे प्राणोक्त्या तस्य संग्रहः।
मनो यजुः साम प्राणमित्यत्र विवृतं पुरा॥ २३४॥

मन को जो इन्द्रिय नहीं मानते उनके मत में मनो यजुः प्रपद्ये सामं प्राणं प्रपद्ये इन सांनिध्य से प्राण से मन का संग्रह या उपलक्षण जानना चाहिये।

विषयो नोदितो येषामुपास्तौ देवतैव सः।
तदेतत्सायणाचार्यभाष्योक्त्या प्रतिपादितम्॥ २३५॥

उपासना का विषय जहां नहीं कहा वहां तत्तद्देवता ही विषय हो सकता है यह सायणाचार्य भाष्यानुसारेण हमने पहले बताया।

उत्कर्षाधिक्यतः कर्तुं पाणिपादादिकेऽपि च।
इन्द्रविष्ण्वादिदृष्टिश्च शक्याऽऽप्यायनहेतवे॥ २३६॥

अधिक उत्कर्षार्थ पाणि-पादादि में इन्द्र-विष्णु आदि की दृष्टि कर उपासना भी तत्तदाप्यायनार्थ की जा सकती है।

उपासनार्थमेवैता देवताः श्रुतिषूदिताः।
अन्यथा कथनं तासां निष्प्रयोजनतामियात्॥ २३७॥

इन देवताओं का श्रुतियों में वर्णन इन्द्रियादि में तदुपासनार्थ ही है।

अन्यथा नद्यास्तीरे पञ्च फलानि के समान व्यर्थ कथन मात्र होगा।

सर्वं ब्रह्मौपनिषदम्

सर्वंब्रह्मौपनिषद-मित्येषाऽऽप्यायनान्मतिः।
यच्चौपनिषदं ब्रह्म परं ब्रह्म तदेव तु॥२३८॥

अंग एवं वागादि के आप्यायन का जो कार्य गुरु सेवा श्रवणादि योग्यता है उसका चरम फल यह सारा जगत ब्रह्म ही है ऐसा ज्ञान ही है। कौनसा ब्रह्म? औपनिषद ब्रह्म। ब्राह्मणादि को भी ब्रह्म कहते हैं वह नहीं।

वेदानुवचनाद् यज्ञाद् दानात्तं तपसापि च।
विप्रा विविदिषन्तीति तज्ज्ञानं सर्वतोऽधिकम्॥२३९॥

'तमेतं वेदानुवचनेन' इत्यादि से वेदाध्ययन यज्ञ दान एवं तपस उसे जानने की इच्छा करने को बताया है। अर्थात् सर्वाधिक श्रेष्ठ वही ब्रह्म ज्ञान है।

दृष्टं ह्युपनिषत्स्वेव ब्रह्मौपनिषदं ततः।
द्रष्टुं चोपनिषद्भिस्तच्छक्यं तेनापि तत्तथा॥२४०॥

'उपनिषदि दृष्टं' उपनिषदों में देखा गया ब्रह्म है। वही औपनिषद है। उपनिषदों में ही जो देखा जा सकता है वह औपनिषद है।

ननु लौकिकवाक्यैश्च ज्ञानं संभवतीति चेत्।
ज्ञानं संभवतीत्यस्तु दर्शनं तु न संभवेत्॥२४१॥

लौकिक वाक्यों से भी तो ब्रह्म का ज्ञान होगा। ज्ञान होगा, किन्तु ब्रह्म का दर्शन नहीं होगा।

दर्शनं श्रुतिवाक्यैश्च नेक्ष्यते बहुधा श्रुतैः।
सत्यं किन्त्वन्यसामग्रीविरहातु तथा नृणाम्॥२४२॥

बहु प्रकार से श्रुतिवाक्य श्रवण से भी तो दर्शन देखने में नहीं आता है। बात सत्य है। अन्य सामग्री के न होने से नहीं हो पा रहा है।

नन्वेवं निरपेक्षत्वं व्याहन्येत श्रुतेस्तव।
मैवं कार्यं न भवति सति हि प्रतिबन्धके॥२४३॥

मायाविना ह्यक्षिबन्धे पुरःस्थोऽपि स नेक्ष्यते।
प्रतिबन्धापनीतौ च संमुखं सोऽभिवीक्ष्यते॥ २४४॥
मायाऽभावो ननु तदा दर्शने कारणान्तरम्।
तन्नाभावो न हेतुः स्यादवस्तुत्वादिति स्थितिः॥ २४५॥

यदि सामग्री के न होने से कार्य न हुआ तो श्रुति सापेक्ष हो जायेगी। नहीं। प्रतिबन्धक हो तो कार्य नहीं होता है। मायावी ने नेत्रबन्ध किया तो स्वयं वह सामने खडा है तो भी नहीं दिखता। तो यों कहिये कि प्रतिबन्धक मायादि का अभाव भी कारण है। नहीं। अभाव अवस्तु है। वह कारण नहीं हो सकता। प्रतिबन्धक कार्य के होने में अडचन डालता है।

पाके किं कारणं ब्रूहि ज्वलनः कारणं मतम्।
मन्त्रजापे कथं नैषः मन्त्राभावोऽपि कारणम्॥ २४६॥

पाकदाहादि में क्या कारण है? अग्नि। मन्त्र जप होने पर पाक क्यों नहीं होता? मन्त्राभाव भी कारण है।

ऋगाद्यभावः किं? मन्त्रः विशेषाभाव उच्यते।
गण्यन्तां तर्हि मन्त्रास्ते दुर्गणास्ते बहुत्वतः॥ २४७॥

सभी वेद मन्त्रों का अभाव कारण है क्या? नहीं। खास खास मन्त्रों का अभाव कारण है। गिनकर बताओ। गिनना संभव नहीं क्योंकि वे बहुत हो सकते हैं।

प्रतिबन्धक सामान्याभावं वक्ष्यामि कारणम्॥ २४८॥

प्रतिबन्धक सामान्याभाव को हम कारण कहेंगे।

नानौषध्यादिकानां चाऽभावानुगमनं ततः।
भविष्यति ततो हेतु-ज्ञानं सुकरमेव मे॥ २४९॥

नाना औषधि, नाना मणि आदि के अभाव का प्रतिबन्धाभावत्वेन संग्रह होने से कारणज्ञान सुलभ है।

शृणु भो कारणीभूत-विरह प्रतियोगि हि।
प्रतिबन्धकमित्युक्तं प्रतिबन्धकवेदिभिः॥ २५०॥

अभावे हेतुताबोधे बुध्येत प्रतिबन्धकम्।
प्रतिबन्धकबोधेऽस्या-ऽभावे हेतुत्वनिश्चयः॥ २५१॥
इत्यन्योन्याश्रयत्वेन दुर्घटो हेतुनिश्चयः।
हेतुधीविरहे हन्त प्रवृत्तिः कथमुच्यताम्॥ २५२॥

सुनिये - प्रतिबन्धक का लक्षण है - कारणीभूताभावप्रतियोगित्वम्। मण्यभाव कारण है दाह का। उसका प्रतियोगी मणि प्रतिबन्धक है। प्रथम मण्यभाव को कारण पर रखो। तब प्रतिबन्धक का पता लगेगा। प्रतिबन्धक का पता पहले लगाओ तब प्रतिबन्धकाभाव कारण है यह मालूम पडेगा। इस प्रकार अन्योन्याश्रय होने से प्रतिबन्धकता और कारणता दोनों का ज्ञान न होने से प्रवृत्ति नहीं होगी।

अग्न्यादि कारणं पाके लौकिकं स्वानुभूतिगम्।
अभावस्तु न नो हेतुर्न तदर्थं तु यत्यते॥ २५३॥
अग्न्यादिकं समाहृत्य पाके यत्नो विधीयते।
आगतः प्रतिबन्धश्चापाकर्तुं यत्यते लघु॥ २५४॥
प्रतिबन्धकमेष्यच्च ज्ञातं चेन्निजिघांस्यते।
एवं चानियतत्वेन यत्क्लृप्तं तद्धि कारणम्॥ २५५॥

दाह पाकादि में अग्नि आदि कारण है यह लोक प्रसिद्ध है, स्वानुभूतिगम्य भी है। अतः अग्नि आदि संपादन में यत्न निश्चित है। अभाव हेतु न होने से मण्यभाव मन्त्राभावादि संपादनार्थ कोई यत्न नहीं करता। हां प्रतिबन्धरूप से आ गया तो हटाने का प्रयास करेंगे। प्रतिबन्धक आनेवाला है जानने पर भी उसको हटाने की चेष्टा करेंगे। अर्थात् अनियत होने से जो क्लृप्त (निश्चित है) वही कारण है तत्संपादनार्थ ही यत्न होता है।

विघातकं वा कार्यस्यानुत्पत्तौ वा प्रयोजकम्।
प्रतिबन्धकमस्माकं नैव तत्रातिचिन्त्यते॥ २५६॥
यदीयाद्बाधकस्तर्हि द्रक्ष्यामीत्येव चिन्तयेत्।
लोकः प्रवर्तते कार्ये न त्वेवं हेतुसंग्रहे॥ २५७॥

आपने भी प्रतिबन्धक माना तो अभाव में कारणता मान लिया, क्योंकि कारणीभूताभाव प्रतियोगी ही प्रतिबन्धक है। नहीं। प्रतिबन्धक माने कार्य को बिगाडनेवाला या कार्यानुत्पत्ति में प्रयोजक है। उस पर अति चिन्ता नहीं होती। प्रतिबन्धक आया तो देखा जायेगा इतना सोचकर लोग कार्य शुरू करते हैं। कारण तो कार्य के लिये जरूर ही संपादित करना होगा।

नहियु र्भिक्षव इति न स्थाली श्रीयते बुधैः।
इति चाभाणकोऽभावकारणत्वं व्यपोहति॥ २५८॥

'भिखारी आयेंगे इसलिये चूल्हा न चेताओ' ऐसा नहीं होता। भिखारी आना चूल्हा जलाने में प्रतिबन्धक है क्योंकि अनाज सीमित है। सब का पेट भरेगा नहीं। अनाज ज्यादा खर्चा होने का भय है। परंतु फिर भी चूल्हा जलायेंगे ही। भोजन न हो तो जीवन नहीं होगा। परंतु भिखारियों का आगमनाभाव स्थालीश्रयण में कारण नहीं है। कारण हो तो भोजन बनेगा नहीं, भूखे मरेंगे।

ननु निर्वह्निताज्ञानेऽप्यग्निधीः पर्वते भवेत्।
तदभावस्य हेतुत्वाभावात् सत्यं क्वचिद्भवेत्॥ २५९॥
अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हि।
ह्रदोऽग्निमानिति गिरा बोधो बाधेऽपि जायते॥ २६०॥
तज्ज्ञानानुद्भवे तत्र स्थापनानवबोधनात्।
निगृहीतोऽप्रतिभया प्रतिपक्षी भवेद् ध्रुवम्॥ २६१॥

पू. - यदि बाधाभाव कारण नहीं है तो पर्वत में वह्नि नहीं है ऐसा बाध (प्रतिबन्धक) के होने पर भी पर्वतो वह्निमान यह ज्ञान को होगा। सच्ची बात है। होगा क्या, होता है। शब्द से अत्यन्त असत् का भी बोध होता है ऐसा आचार्यों ने श्लोक वार्त्तिकादि में बताया है। ठीक है। ह्रद में वह्नि नहीं है। फिर भी वादी ने ह्रदो वह्निमान बोल दिया तो आपको कुछ बोध होगा कि नहीं? यदि बोध नहीं हुआ तो खण्डन कैसे करेंगे? कुछ समझ में नही आया तो अप्रतिभा नामक निग्रह स्थान से आप निगृहीत होंगे। अतः बाध ज्ञानाभाव ह्रदो वह्निमान इस (झूठे ही सही) वाक्य से

होनेवाले ज्ञान में कारण नहीं है।

ब्रह्म ह्युपनिषन्मात्रसाक्षात्कार्यं भवेदिति।
आहौपनिषदं ब्रह्मेत्यपरिच्छिन्नमद्वयम्॥ २६२॥
प्रतिबन्धकसद्भावे कार्यं प्रायो न जायते।
न साक्षात्क्रियते तेन कृतेऽपि श्रवणे परम्॥ २६३॥
ब्रह्मदर्शनलाभे च पापादि प्रतिबन्धकम्।
पापापहरणार्थं च यज्ञो दानं तपो मतम्॥ २६४॥
यज्ञं दानं तपश्चैव पावनानि जगौ हरिः।
वेदानुवचनं चैव प्रथमं चरमं तथा॥ २६५॥
स्वाध्यायश्रवणं तावत् प्रथमं कारणं भवेत्।
तत्त्वमस्यादिवाक्यानां चरमं श्रवणं भवेत्॥ २६६॥
प्रज्ञामान्द्यं कुतर्कश्च विपर्ययमयदुराग्रहः।
विषयासक्तिरित्येते ज्ञानस्य प्रतिबन्धकाः॥ २६७॥
तेषां हानावुपनिषद्वाक्येन ब्रह्मदर्शनम्।
तस्मादुपनिषन्मात्रवेद्यं ब्रह्मेति निश्चयः॥ २६८॥

ब्रह्म का उपनिषत् से ही साक्षात्कार हो सकता है। इसलिये 'ब्रह्मौपनिषदं' ऐसा अपरिच्छिन्न अद्वैत ब्रह्म के लिये कहा। तो उपनिषत् श्रवण करते ही ब्रह्म साक्षात्कार क्यों नहीं होता? प्रतिबन्धक पाप के रहने से प्रायः नहीं हो पाता। उन पापों के नाशार्थ यज्ञ, दान और तप को गीता में कर्तव्य बताया। तमेतं वेदानुवचनेन इसे श्रुति में अधिक कहा। प्रथम तथा अन्तिम वही साधन बताया है। स्वाध्यायमधीयीत यह प्रथम कहा। अन्त में कहा-द्रष्टव्यः श्रोतव्यः। तत्त्वमसि आदि का अन्तिम श्रवण है। बुद्धिमान्द्य कुतर्कशीलता, विपरीतार्थ का दुराग्रह और विषयासक्ति ये भी प्रतिबन्धक है। इन प्रतिबन्धकों के प्रायः हटने पर ब्रह्मदर्शन उपनिषद् वाक्य से होगा।

वर्तेते ननु भो याव-ज्जीवनं पुण्यपाप्मनी।
सुखदुःखेक्षणान्नृणां प्रारब्धमुभयात्मकम्॥ २६९॥

प्रतिबन्धकसद्भावात् कथं स्याद् ब्रह्मदर्शनम्।
मैवमुक्तं न हेतुस्तु प्रतिबन्धकशून्यता॥ २७०॥
यज्ञादिपुण्यबाहुल्यात् पापं शैथिल्यमाप्नुयात्।
तदा पापं तिरस्कृत्यो-पनिषद् ब्रह्म दर्शयेत्॥ २७१॥

पू. - यज्ञदानादि कुछ भी करो लेकिन पाप सर्वथा निवृत्त नहीं होगा। यावत्जीवन पुण्यपाप रहेंगे। सुख-दुःख ज्ञानी-अज्ञानी सबके देखने में आते हैं। प्रारब्ध पुण्य-पाप उभयात्मक है। तब प्रतिबन्धक पाप के होने से ब्रह्मदर्शन जीवन में कैसे होगा? (मरने के बाद मोक्ष की बात छोडो।) **'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति'** बताया है। यहीं ब्रह्मदर्शन होना चाहिये। सुनो। इसीलिये हम प्रतिबन्धकाभाव को कारण मानने के खिलाफ बोलते आ रहे है। यज्ञादि पुण्य भारी होने पर पाप शिथिल हो जायेगा। तब तत्त्वमसि आदि वाक्य पाप को तिरस्कृत कर ब्रह्मदर्शन करायेगा।

भोगेऽबोधे चाद्यभेद-कल्पनायां तु गौरवम्।
एकस्यैवेक्ष्यते नाना-फलं शास्त्रेषु कर्मणः॥ २७२॥

तार्किक लोग तर्क करेंगे-दुःखभोगकारक पाप अलग है, बोध प्रतिबन्धक पाप अलग है। अतः दुःख को देखकर बोध प्रतिबन्धक रहा कहना अनुचित है परंतु यह तर्क मात्र है। कल्पनागौरव है। एक ही कर्म के अनेक परिणाम पुराणों में वर्णित है। ब्रह्महत्यादि पाप से अमुक को श्रवणादि जपादि करने पर भी हरिदर्शन नहीं हुआ, उसी से नाना रोग हुए इत्यादि।

बोधबाधकमेनस्तु यावज्जीवं प्रवर्त्स्यति।
न भोगस्तत्फलं येन शाम्येद्रोगादिदुःखतः॥ २७३॥

बोधबाधक पाप अलग है तो उसका पूरा जीवन अनुवर्तन होगा। रोगादि दुःखभोग से उसका शमन नहीं होगा। प्रारब्ध होने से एक जीवन अन्त में शायद नष्ट हो। अथवा जन्मजन्मान्तर में भी वह बाधा करता रहे। या फिर एक क्षण बाध करके दूसरे क्षण में नष्ट हो और तीसरे क्षण में बोध हो किन्तु ऐसा कभी देखा नहीं गया।

बोधबाधकमप्येव भोगनाश्यं भवेत्ततः।
भोगोऽपि तत्फलमिति प्रागुक्तं हि समञ्जसम्॥ २७४॥

इसलिये जो बोधप्रतिबन्धक पाप है वह भोगनाश्य मानना होगा। अतएव रोगादि दुःखभोग भी उसका फल है ही।

निराह भगवांश्चैव गहना कर्मणो गतिः।
अतो यज्ञादयः कार्याः पापशैथिल्यहेतवे॥ २७५॥
शिथिलान्यसमर्थानि प्रतिबन्धुं धियं सतः।
नश्यन्त्यपि यथाकाले तस्मिन्दृष्टे परावरे॥ २७६॥

भगवान ने भी अन्त में यही निर्वचन किया कि कर्म की गति गहन है, दुरूह है। इसलिये यज्ञादि पापशैथिल्यार्थ करना चाहिये। पाप शिथिल होने पर ज्ञान बन्धन में असमर्थ होंगे। तब ब्रह्मदर्शन होने पर 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' इस श्रुति के अनुसार कर्म क्षीण और नष्ट हो जायेंगे।

महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः।
धनशुद्धिश्च दानेनासद्धनादन्नदूषणम्॥ २७७॥
मनसोऽशुद्धिरन्नात् स्या-न्मनो ह्यन्नमयं श्रुतम्।
दोषोद्भवनिवृत्त्यर्थं दानमेव निरूपितम्॥ २७८॥

यज्ञों से तनशुद्धि विशेष रूप से होती है। दान से धनशुद्धि एवं तद् द्वारा अन्नशुद्धि एवं मनशुद्धि होती है। क्योंकि अन्नमय मन माना है। अन्य दोषोत्पत्ति निवारणार्थ भी धनशुद्धि आवश्यक है (विविदिषुको फलान्तरेच्छा नहीं हो सकती)।

जातदोषनिवृत्तिश्च मनसस्तपसा भवेत्।
तपोभिः क्षीणपापानामित्याहाचार्यतल्लजः॥ २७९॥

आगामी मनोदोष निवृत्यर्थ दान है। उत्पन्न मनोदोष निवृत्यर्थ तप है। तप से जिन का पाप क्षीण हुआ ऐसा आचार्यों ने स्वप्रसंग में बताया है।

एवं क्षीणेषु दोषेषूपनिषच्छ्रवणाद् भवेत्।
ब्रह्मसाक्षात् कृतिस्तस्माद् ब्रह्मोपनिषदं मतम्॥ २८०॥

इस प्रकार दोषक्षय से शुद्ध चित्त पुरुष उपनिषत श्रवण करता है तो उसको ब्रह्म साक्षात्कार होता है। अतः उसे औपनिषद ब्रह्म कहा।

ननुचोपनिषत्प्रोक्त-मित्येवार्थोऽत्र भण्यताम्।
मैवं यतः परं ब्रह्म पुराणादिष्वपीरितम्॥२८१॥
न चापरमपि ब्रह्म पुराणादौ निरूपितम्।
हिरण्यगर्भप्रभृतिः श्रुतावपि निरूपितः॥२८२॥
श्रुतेः परमतात्पर्यं ब्रह्मण्येवेति चेन्मतम्।
पुराणादेश्च तत्रैव तात्पर्यं परमं मतम्॥२८३॥
इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्।
इत्युक्तेस्तद्विरुद्धार्थे तात्पर्यं हि तयोः कथम्॥२८४॥

औपनिषदं का उपनिषत् कथित इतना ही अर्थ क्यों नहीं? इसलिये कि पुराणादि में भी ब्रह्म का वर्णन है। पुराणादि में सगुण ब्रह्म का भी वर्णन है, उसकी व्यावृत्ति के लिये विशेषण हो सकता है। नहीं। उपनिषदों में हिरण्यश्मश्रुः हिरण्यवर्ण इत्यादि में सगुण ब्रह्म का वर्णन है। श्रुति का परम तात्पर्य सगुण ब्रह्म में नहीं परब्रह्म में ही है कहते हैं तो पुराणादि का भी परम तात्पर्य परब्रह्म में ही है। इतिहास एवं पुराणों से वेदार्थोपबृंहण करने के लिये स्मृतियों में कहा। तब श्रुति विरुद्ध सगुण परम तात्पर्यता पुराणों की कैसे मानी जायेगी?

तस्मादुपनिषद्भिर्हि यस्य साक्षात्कृतिर्भवेत्।
तदेवात्रौपनिषदमित्युक्तं ब्रह्म साशयम्॥२८५॥

इसलिये उपनिषदों से ही जिसका साक्षात्कार हो वही औपनिषद शब्द से कहा है। विशेष अभिप्राय हृदय में रखकर ब्रह्म को यह विशेषण दिया है।

तं त्वौपनिषदं पृच्छा-मीति वाजसनेयिनाम्।
तन्नामनुत शाकल्योऽनधीतोपनिषत्त्वतः॥२८६॥

याज्ञवल्क्यजी ने 'तत्त्वौपनिषदं पृच्छामि' कहा परंतु उपनिषत् श्रवण न होने से शाकल्य समझ नहीं सके।

ननु शब्दः कथंकारं साक्षात्कारं तु कारयेत्।
सत्यं नित्यापरोक्षत्वाद् दशमस्त्वमसीतिवत्॥ २८७॥

शब्द कैसे साक्षात्कार करायेगा? प्रश्न मार्के का है। किन्तु आत्मारूपी ब्रह्म नित्यापरोक्ष होने से 'दशमस्त्वमसि' इस वाक्य जैसे स्व साक्षात्कार होता है वैसे तत्त्वमसि आदि से साक्षात्कार हो जायेगा।

तर्हि लौकिकवाक्येन साक्षात्कारः कथं नहि।
सुदृढद्वैतसंस्काराऽऽवेशादिति विभाव्यताम्॥ २८८॥
यथा दिग्भ्रमसंस्कारात् प्राचीवेक्ष्येत पश्चिमा।
तथाहंकार संस्काराद् बृहद् ब्रह्माल्पमीक्ष्यते॥ २८९॥
जीवो ब्रह्मेति वाक्यानां शतशः श्रवणेऽपि च।
परिच्छेदाऽपरित्यागाद् ब्रह्म साक्षात् न वीक्ष्यते॥ २९०॥

यदि ब्रह्म नित्यापरोक्ष है तो लौकिक वाक्य से भी साक्षात्कार क्यों नहीं होता? सुदृढ द्वैत संस्कार के आवेश से। जैसे दिग्भ्रम संस्कार से पूर्व को पश्चिम और पश्चिम को पूर्व देखने लगते हैं वैसे परिच्छेदक अहंकार संस्कार से अपरिच्छिन्न ब्रह्म को अल्प (परिच्छिन्न) देखने लगते हैं। जीव ब्रह्म है इत्यादि लौकिक वाक्य सैंकडों बार सुनने पर भी परिच्छेद न छूटने से ब्रह्म साक्षात्कार नहीं हो पाता।

ननु भो तत्त्वमस्यादेः शतशः श्रवणेऽपि च।
न जायते ब्रह्मसाक्षात्कृतिस्तुल्यमिदं श्रुतौ॥ २९१॥

पू. - यह बात तो तत्त्वमसि आदि में भी समान है। सैंकडो बार 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य सुनने पर भी ब्रह्म साक्षात्कार नहीं होता। परिच्छिन्न अहंकार संस्कार दोनों जगह बराबर है।

शृण्वाऽऽवेदानुवचना-ऽऽनिदिध्यासनसाधनैः ।
संस्कृते स्यान्महावाक्यै-र्ब्रह्मसाक्षात्कृतिर्हृदि ॥ २९२॥

सुनो 'तमेतं वेदानुवचनेन' से लेकर 'निदिध्यासितव्यः' तक बताये हुए साधनों से संस्कृत मन में ही तत्त्वमस्यादि वाक्यों से साक्षात्कार होता है।

ननु लौकिकवाक्यैश्च चित्ते साधनसंस्कृते।
स्याद् ब्रह्मसाक्षात्करणमिति किं नोपगम्यताम्॥ २९३॥
भगवद्वार्त्तिकाचार्यैरेतद् हेतुतयोदितम्।
शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वात् श्रौतः शब्दो विवक्षितः॥ २९४॥

चित्त यज्ञदानादि से संस्कृत होने पर लौकिक वाक्यों से भी ब्रह्म साक्षात्कार मानने में आपको क्या हर्ज है? इस पर वार्त्तिककार भगवत्सुरेश्वराचार्य का कहना है कि शब्द शक्ति अचिन्त्य होती है। शब्दशक्ति माने श्रौत शब्दों की शक्ति।

अत्रौपनिषदं ब्रह्मेत्युक्तिर्मानमिहेक्षितम्।
तं पृच्छाम्यौपनिषदं पुरुषं त्वेत्यपि श्रुतिः॥ २९५॥

श्रौत शब्दों की ही शक्ति ऐसा क्यों? इसलिये कि यहीं पर श्रुति ब्रह्मौपनिषदं बताया। तथा तत्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि ऐसा बृहदारण्यक में भी बताया। उभयत्र औपनिषदं यह विशेषण उपनिषत्-मात्र-वेद्यता को लेकर ही सार्थक बनता है।

मन्त्रायुर्वेदवद् वेद-गिरः प्रामाण्यमब्रवीत्।
तत्र तत्र यथार्थक्रमनुभूमैव गौतमः॥ २९६॥

गौतम ऋषि भी 'मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यं' ऐसा कहकर समर्थन करते हैं। मन्त्र से तथा आयुर्वेद से फल प्रत्यक्ष सिद्ध है वैसे अन्य वेदवचन भी है यह गौतम सूत्र का अर्थ है। क्योंकि दृष्टान्त उभयवादि सम्मत अनुभूत विषयक ही होता है।

एवमेवानुभूयैव शब्दशक्तेरचिन्त्यताम्।
जगाद वार्त्तिकाचार्य इति मन्यामहे वयम्॥ २९७॥

इसी प्रकार श्री सुरेश्वराचार्य भी शब्द शक्ति की अचिन्त्यता एवं अलौकिकता का अनुभव करके ही 'शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वात्' कहा ऐसा हम मानते हैं।

ननु भाषासु विद्यन्ते मन्त्रा विषहरादयः।
सत्यं तत्रापि तदनु-वादे शक्तिर्न मन्यते॥ २९८॥

एवं तत्त्वमसीत्यादे-रनुवादे न वर्तते।
शक्तिरित्युररीकारे का नाम तव वेदना॥ २९९॥

पू. - हिन्दी-उर्दू आदि भाषा में भी लोग मन्त्र मानते है और ऐसा मन्त्र बोलकर जहर उतारते हैं, पीलिया रोग मिटाते हैं प्रत्यक्ष है। उ. - बात सत्य है। किन्तु उन्हीं मन्त्रों में पर्यायवाची शब्द जोडें या अनुवाद वाक्य बनाये तो शक्ति नहीं रहती है ऐसी मान्यता है। उसी प्रकार तत्त्वमसि आदि वाक्यों के अनुवाद वाक्य में शक्ति नहीं रहती मानने में आपको क्या तकलीफ है?

भाषामन्त्रं गुरोः श्रुत्वा साफल्यं लभते जनः।
गुरोःश्रुत्वा तत्त्वमसि साफल्यं लभतां कृती॥ ३००॥

भाषा मन्त्र भी गुरु से सुनकर लोग सफलता पाते हैं। वैसे गुरु से तत्त्वमसि सुनकर अधिकारी सफल हो जायेगा।

भाषामन्त्रे क्वचिद्याति साफल्यं नापि च क्वचित्।
मन्त्राद् भावप्रकर्षाद् वा फलं तत्रेत्यनिश्चयः॥ ३०१॥

भाषामन्त्र में कहीं सफलता मिलती है तो कभी सफलता नहीं भी मिलती है। तब फल मन्त्र से हुआ या भावना के प्रकर्ष से यह निश्चय नहीं होता है (पीलिया में मन्त्र से तेल पीला सा होता है किन्तु पीलिया प्रायः मिटता नहीं है)।

संशयस्तत्त्वमस्यादौ श्रुतिप्रामाण्यतो न नः।
क्वचित्फलविलम्बस्तु साधने न्यूनतावशात्॥ ३०२॥

तत्त्वमस्यादि में वैसा संशय नहीं है। क्यों? दृढ श्रुति प्रमाण है। कहीं पर फल में विलम्ब यज्ञदानादि साधनवैकल्य से ही प्रतिबन्धक के कारण ही है।

मदालसादि विदुर-धर्मव्याधादि धीमताम्।
ब्रह्मज्ञानं ननु कथं श्रुतिश्रवणमन्तरा॥ ३०३॥
पुराणादेर्यदि तदा भाषाग्रन्थोदितोऽपि च।
कथं नैवौपनिषद-नियमस्य व्यतिक्रमात्॥ ३०४॥

पू. - मदालसा गार्गी आदि स्त्रियों को और विदुर धर्मव्याधादि महानुभावों को श्रुति सुने बिना ही ज्ञान कैसे हो गया? यदि पुराणादि श्रवण से ज्ञान हुआ तो भाषाग्रन्थों से भी ज्ञान क्यों नहीं होगा? ओपनिषद श्रुति का व्यतिक्रम तो हो ही गया।

निषादस्थपतिन्यायात् पत्नीमन्त्रादिदर्शनात्।
सिद्धमध्ययनं श्रुत्याः स्त्रीशूद्रादेर्न संशयः॥३०५॥

उ. - निषादादि को यज्ञ कराने की विधि है। याग में यजमान पत्नी को बोलने के लिये कईं मन्त्र आते हैं। अतः श्रुति के अध्ययन में स्त्रीशूद्रादि को भी अधिकार सिद्ध होता है।

तत्रोपयोगिमन्त्राणा - मधीतावधिकारिताम् ।
मीमांसका जगुस्तेन नान्येषामिति वक्षि चेत्॥३०६॥
अन्यथानुपपत्त्यैव वक्तव्यं तन्मनीषिणा।
अन्यथानुपपत्यैव ब्रह्मज्ञानेऽपि भण्यताम्॥३०७॥
ब्रह्मज्ञानमभूद् गार्ग्या मैत्रेय्यादेश्च योषितः।
शूद्रस्य विदुरादेश्च तत्र नैवास्ति संशयः॥३०८॥
विनोपनिषदं ज्ञानं न चौपनिषदश्रुतेः।
तथा चोपनिषद्वाक्य-श्रवणेऽस्त्यधिकारिता॥३०९॥

निषाद स्थपति याग में उपयोगी मन्त्रों के अध्ययन में ही निषादों को अधिकार है। पत्नी वक्तव्य मन्त्रों के अध्ययन में ही स्त्रियों को अधिकार है अन्य वेदाध्ययन में नहीं ऐसा मीमांसा शास्त्रकार कहते हैं। किस प्रमाण से उतने मन्त्रों में अधिकार आप मान रहे हैं? **'निषादस्थपतिं याजयेत्'** इस श्रुति की अन्यथानुपत्ति से कहते हैं, कहना ही पडेगा, तो उसी अन्यथानुपपत्ति से वेदान्त श्रवण में भी स्त्रीशूद्रादि को अधिकार हम कहते हैं। गार्गी ज्ञानी थी इस में संशय नहीं, बृहदारण्यक उपनिषत् में स्पष्ट है। मैत्रीयी भी याज्ञवल्क्योपदेश से ज्ञानी थी इस में संशय नहीं। तं त्त्वौपनिषदं इस श्रुति से उपनिषद वाक्य से ही ज्ञान होगा यह भी निश्चित है तब गार्ग्यादि के ज्ञानान्यथानुपपत्त्या उपनिषदध्ययन और उसमें अधिकार उनको

सिद्ध होता है।

ननु व्यक्तिविशेषाणां सिध्येत्तेनाधिकारिता।
न स्त्रयादिजातिमात्रस्य सेति चेत्तन्न युज्यते॥३१०॥
यतो ह्यनित्यसंयोगाद-प्रामाण्यं श्रुतेर्भवेत्।
परं तु शब्दमात्रं तदित्यूचे जैमिनिर्मुनिः॥३११॥

पू. - विदुर को ज्ञान हुआ तो विदुर को ही अन्यथानुपपत्ति से अधिकार सिद्ध होगा। गार्गी मैत्रेयी आदि को ज्ञान हुआ तो गार्गी मैत्रेयी आदि को उपनिषत अध्ययन से अधिकार रहा यही अन्यथानुपपत्ति से कल्पना होगी, न कि स्त्री जाति को, सबको, शूद्र जाति के सबको। नहीं। ऐसा नहीं होगा। व्यक्तिमात्र का कथन हो तो अनादि अपौरुषेय श्रुति में अनित्य संयोग नहीं होगा। यदि है तो वह सादि होने से उपनिषत् अप्रमाण होगा। अतः स्त्री जाति के और शूद्र जाति के सभी विवक्षित होंगे। महर्षि जैमिनी ने भी व्यक्तिवाचक शब्दमात्र कहकर उत्तर दिया है।

न च पूर्वभवाधीतसंस्कारोद्भवतो भवेत्।
स्वयंप्रभातोपनिषत् तेषामिति च सांप्रतम्॥३१२॥
गार्ग्यादेः पूर्वजनुषि पुंस्त्वाधीत्यादिकल्पना।
गुर्वी अपि च मैत्रेय्या अत्रैव श्रवणं श्रुतेः॥३१३॥

गार्गी आदि के पूर्वजन्म में अधीत शास्त्र संस्कार के उद्बोध से उपनिषत स्वयं भासित है इत्यादि कल्पना में गौरव स्पष्ट है। पूर्वजन्म में वे पुरुष रही फिर अध्ययन किया। किसी प्रतिबन्ध से ज्ञान और मोक्ष नहीं हुआ। फिर जन्म लिया इत्यादि ऊटपटांग है। कल्पना है। और मैत्रेयी को अपने इसी जन्म में याज्ञवल्क्य ने उपदेश दिया।

विज्ञंमन्यो मोपदेष्टाऽसच्छूद्रो भूदतो जगौ।
विदुरः श्रुतवाक्योऽपि नाहं तद्वक्तुमुत्सहे॥३१४॥

सुत्सुजातीय में-धृतराष्ट्र ने प्रश्न किया - अब तक अनुक्त कोई बात रही हो तो सो भी कहो। विदुरजी ने कहा - 'शूद्रयोनावहं जातो नाहं तद्वक्तुमुत्सहे' में शूद्र योनि में पैदा हुआ। अतः उस अनुक्त तत्त्व को कहने

का उत्साह नहीं करूंगा। इससे शूद्र को ज्ञानाधिकार नहीं ऐसा अर्थ लगाते हैं। पर ब्रह्मसूत्रभाष्य में भाष्यकार ने विदुर को ज्ञानी बताया। वह 'श्रुतवाक्यः' इसका उपनिषत् वाक्य श्रवण किया हुआ ऐसा भाष्यकार कहते हैं (बहरेपन की व्यावृत्ति के लिये नहीं) अतएव ज्ञानं यहां करणल्युट्। ज्ञानजनक वाक्य कहने का उत्साह नहीं रखता। क्योंकि मेरे आचरण देखकर पण्डित सभी असच्छूद्र भी (मांसादिभक्षी) गुरु बनने लगेंगे। इतना ही अर्थ है।

सर्वाधिकारविच्छेदि ज्ञानस्योपगतत्त्वतः।
आचारदर्शनार्थं तन्नोत्सीदेयुर्जना इति॥३१५॥
किं च दोषः किमध्येतु-रध्यापयितुरेव वा।
ज्ञानिनः कर्तृताऽभावान्न द्वितीयस्य युज्यते॥३१६॥
ज्ञानं संपत्स्यतेऽध्येतु-र्ज्ञाननिधूर्तपाप्मनः।
तस्य दोषो न वर्तेत निर्दोषमुभयोरतः॥३१७॥
अद्यत्वे यतयः प्राज्ञाः कुर्वन्त्युपनिषत्कथाम्।
शृण्वन्ति च जनास्तत्र न दोषं मन्वते बुधाः॥३१८॥
पूजार्थिनस्तु ये रागद्वेषलोभमदान्विताः।
तेषां कर्तृत्वभोक्तृत्व-सत्त्वाद् दोषं प्रचक्षते॥३१९॥

और यह बताइये कि उपनिषत् श्रवण में अध्येता को दोष लगेगा या अध्यापयिता को। अध्यापयिता ज्ञानी है। उसमें कर्तृत्वादि भाव न होने से उनको दोष नहीं लगेगा। जो अध्येता है उसको पाप लगेगा माना जाये परंतु श्रवण से उसको ज्ञान हो जायेगा। तब कर्तृत्वादि बाध हो जाने से उसका भी दोष ज्ञान से नष्ट हो जायेगा। 'ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः'। ऐसा गीता में कहा है। और ज्ञान अनियतफल नहीं है यह सर्वत्र उद्घोषित है। आजकल बडे पूज्य संत वर्ग उपनिषत् कथा करते हैं। जनता सुनती है। इसमें कोई दोष कोई भी नहीं मानता। हां जो कथाकार अपनी पूजा के लिये धन लोभ से रागादिदोषदूषितचित्त है उनके मन में कर्तृत्व भोक्तृत्व दोनों लबालब भरा है तो उनको दोष लगता ऐसा कहा जाता है। ऐसे वक्त और ऐसे वक्तृपाती

श्रोता दोनों को दोष लगता है।

यत्तूपनिषदध्याया-ददृष्टं जायते फलम्।
तेनात्मबोधो न स्त्र्यादेर्निषेधादिति तन्न सत्॥ ३२०॥
दृष्टे फले संभवति नादृष्टपरिकल्पना।
बोधोऽधीतेः फलं दृष्ट-मूचुर्मीमांसका अपि॥ ३२१॥

कुछ लोग कहते हैं - उपनिषत् के अध्ययन से अदृष्ट (पुण्य) फल होगा। उससे अर्थ बोध होगा। निषेध होने से स्त्री आदि को बोध नहीं होगा। किन्तु उनका यह कहना गलत है। दृष्ट फल जहां संभव है वहां अदृष्ट कल्पना को मीमांसक भी अन्याय्य मानते हैं। अध्ययन का फल बोध दृष्ट फल है। तो उपनिषत् के सुनने पर सबको ब्रह्मज्ञान क्यों नहीं होता? कौन बोला नहीं होता? ब्रह्मज्ञान होता ही है। ब्रह्म साक्षात्कार नहीं होता यह मेरे कहने का तात्पर्य है कहो तो भी गलत है। 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' इस श्रुति के अनुसार ब्रह्म नित्य अपरोक्ष है।

यत् साक्षादपरोक्षादित्याह ब्रह्मापरोक्षताम्।
परोक्षं तत्र न ज्ञानमिति वेदान्तविदिनः॥ ३२२॥

उस साक्षात् नित्य अपरोक्ष में परोक्ष ज्ञान होता ही नहीं है ऐसा वेदान्तवेत्ताओं का कहना है।

किन्तु दोषविशेषेण तत्तिष्ठति परोक्षवत्।
परोक्षे वाऽपरोक्षापि शुक्ती रूप्याशयात्मनः॥ ३२३॥

किन्तु दोषविशेष के कारण अपरोक्ष भी परोक्षवत् हो जाता है। जैसे सीप प्रत्यक्ष है फिर रजत वासनामय पुरुष को नहीं दिखती।

शुक्तिरस्त्यक्षिसंयुक्ता संयुक्तसमवेतता।
शुक्तित्वेऽस्त्यस्ति चालोकस्तथाप्येव परोक्षवत्॥ ३२४॥

शुक्ति सामने है वह चक्षुः संयुक्त है। शुक्तित्व में चक्षुः संयुक्तसमवायध्या चक्षुः संयुक्त तादात्म्य है। आलोक भी है। फिर भी वह परोक्षवत् रह गयी।

वर्तते तत्र काचिद्धि दृढा रजतवासना।
केनचिच्छुक्तिरित्युक्तेऽप्येषा नैव निवर्तते॥ ३२५॥
आप्तेन पुरुषेणोक्ते शुक्तिरेषेति भारतः।
साक्षात्करोति शुक्तिं स शब्दशक्तिविशेषतः॥ ३२६॥

क्यों परोक्षवत् रही? दृढ रजत वासना द्रष्टा में रही। साधारण कोई बोले कि यह शुक्ति है तो भी वह मानता नहीं। किन्तु कोई आप्त पुरुष जोर देकर बोले - अरे मूर्ख यह शुक्ति है तब शब्दशक्तिविशेष से वह शुक्ति देखने लगता है।

एवं दोषविशेषेण ब्रह्म चाभूत् परोक्षवत्।
त्वं ब्रह्मेत्यादिसामान्य-वचसोऽपि न किंचन॥ ३२७॥
यदा तु सद्गुरुस्तत्त्वमस्यादि श्रुतिवाक्यतः।
ब्रूते तदा शब्दशक्त्या-ऽचिन्त्यया बुध्यते बुधः॥ ३२८॥

शुक्ति के समान ब्रह्म भी वासनादि दोषविशेष से परोक्षवत् हो गया। जब सद्गुरु देव तत्त्वमसि आदि महावाक्य से जोर देकर समझाता है तब अचिन्त्य शब्दशक्ति से वह ब्रह्म साक्षात्कार करता है।

श्रुत्याप्यशुद्धचित्तस्य साक्षात्कारो न दृश्यते।
साक्षादेवापरोक्षेऽपि दोषहेतोरितीरितम्॥ ३२९॥
तपोभिः क्षीणपापानां शान्तानां वीतरागिणाम्।
मुमुक्षूणामदोषाणां साक्षात्वं जायते सताम्॥ ३३०॥
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषीणाम्।
यथासंभवमाधेयान्य-दोषायैव तान्यतः॥ ३३१॥
सा शक्तिर्न स्वकार्याय पुंविशेषमपेक्षते।
मानाभावात्ततो वाक्याद् ज्ञानं सर्वस्य जायते॥ ३३२॥
[विज्ञंमन्यो मोपदेष्टाऽसच्छूद्रो भूदतो जगौ।
विदुरः श्रुतिवाक्योऽपि नाहं तद्वक्तुमुत्सहे॥
सर्वाधिकारविच्छेदि ज्ञानस्योपगतत्वतः।
आचारदर्शनार्थं तद् नोत्सीदेयुर्जना इति॥]

श्रुतिश्रवण से भी अशुद्ध चित्त को अपरोक्ष ब्रह्म में अपरोक्ष ज्ञान नहीं हो पाता। क्योंकि दोश हृदय में बैठे हैं। तप आदि से चित्त शुद्ध होने पर ही साक्षात्कार होगा। अर्थात् शब्द शक्ति दोषों से कुण्ठित होती है। वह शक्ति अपना कार्य करने के लिये पुरुष उसमें भी पुरुष विशेष द्विजादि की अपेक्षा नहीं रखती। क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है। (अशुद्धि दोष प्रतिबन्धक है। पुरुषविशेष के कारणत्व में प्रमाण नहीं इसकी चर्चा पूर्वकृत प्रतिबन्धक विचार में द्रष्टव्य है।) शूद्रत्वादि को प्रतिबन्धक मानेंगे तो गार्गी विदुरादि को ज्ञान ही न होता।

वेदान्ताध्ययनस्यार्थ धीर्दृष्टं फलमुच्यते।
परोक्षार्थे परोक्षा धीरपरोक्षेऽपरोक्षधीः॥३३३॥

इसलिये वेदान्ताध्ययन का अर्थज्ञान ही दृष्ट फल है। परोक्ष अर्थ में परोक्ष ज्ञान और अपरोक्षार्थ में अपरोक्ष ज्ञान दृष्ट फल है।

अपरोक्षं श्वेतकेतो - रुद्दालकवचःश्रुतेः।
तथा चोवाच तद्धास्य विजज्ञाविति हि श्रुतिः॥३३४॥
ज्ञानं विज्ञानसहितमित्यादौ पृथगीरणात्।
विज्ञानमपरोक्षात्म - ज्ञानमेवाभिधीयते ॥३३५॥
वदन्तमेव प्रोवाच नारदाय श्रुतेरियम्।
सनत्कुमारस्तमसः पारं दर्शयतीति गीः॥३३६॥

उद्दालक ऋषि के वचन का श्रवण करने से श्वेतकेतु को साक्षात्कार हुआ। तद्धास्य विजज्ञौ यहां विज्ञान आत्मसाक्षात्कार है। क्योंकि ज्ञानविज्ञान तृप्तात्मा इत्यादि में ज्ञान से अलग विज्ञान को कहा है। सनत्कुमारजी नारदजी को बोल रहे थे उसका अनुवाद है-तमसस्पारं दर्शयति-ब्रह्मदर्शन करा रहै हैं।

निवृत्त्यै विपरीतायाः वासनायास्तु प्रायशः।
आवृत्त्या कथ्यते तच्च लौकिकं तच्छ्रुतावपि॥३३७॥

विपरीत भावना निवृत्ति के लिये उपदेशावर्तन किया जाता है यह लोकानुभव विषय है। अतः तत्त्वमसि का आवर्तन श्रुति में है।

आत्मज्ञानस्य च फलं दृष्टमेवोपगम्यते।
परो ह्युपशमस्तेन प्राप्यते मोक्षलक्षणः॥ ३३८॥

आत्मज्ञान का फल भी दृष्ट ही है। वह है परम उपशम, जिसको मोक्ष कहते हैं।

जीवन्मुक्तिरिहाध्यक्षा कैवल्यं तु स्वयंप्रभम्।
तथा चाह श्रुतिरपि विमुक्तश्च विमुच्यते॥ ३३९॥

जीवन्मुक्ति सुख यहीं अपरोक्ष है। विदेह कैवल्य स्वयं प्रकाश अपरोक्ष ही है। इन्हीं को ही श्रुति ने क्रमशः विमुक्तश्च विमुच्यते से कहा।

पुंविशेषमनाश्रित्य सर्वमेतच्छ्रुतिर्जगौ।
आहौपनिषदं ब्रह्मा-ऽविशेषं श्रुतिरीश्वरी॥ ३४०॥

पुरुष उसमें भी अवशिष्ट द्विजाति का निर्देश किये बिना ही यह सब श्रुति ने कहा। यही भगवती श्रुति ब्रह्मौपनिषदं से कह रही है।

स्वर्गादिकमदृष्टं तु कर्मकाण्डफलं श्रुतम्।
तदर्थाध्ययनस्यापि नियमादृष्टमिष्यते॥ ३४१॥
तत्राधिकारिचिन्तां तु न वयं वर्तयाममहे।
प्रकृतानुपयोगित्वादिति बोध्यं मनीषिभिः॥ ३४२॥

कर्मकाण्ड में यज्ञादि का फल अदृष्ट स्वर्गादि है। अध्ययन भी दृष्टफल होने पर भी नियमादृष्ट से जुडा है। वहां अधिकार स्त्रीशूद्रादि को है या नहीं इस पर चिन्तन हम यहां करना नहीं चाहेंगे। क्योंकि यह प्रकृतोपयोगी नहीं है। यहां अध्ययन का दृष्ट फल है। ज्ञान भी अनैकान्तिक दृष्टफलक है।

स्यात् संयोगपृथक्त्वेन यज्ञादेर्ज्ञानहेतुता।
तस्मात्तत्रापि चिन्त्यं स्या-दितिचेत्तन्न युज्यते॥ ३४३॥
समुच्चयपदाभावात् कर्तुं यावद्धि शक्यते।
ततो विविदिषन्तीति न द्विजत्वादिचिन्तनम्॥ ३४४॥

यह पूर्व पक्ष हो सकता है कि 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा' इत्यादि श्रुति यज्ञादि को ज्ञानोद्भव सहकारी बताया है। तब यज्ञ में जो अधिकारी होगा वही ज्ञान में भी होगा।

नहीं। यज्ञेन दानेन इत्यादि वाक्य में समुच्चायक चकारादि पढ़ा नहीं है। अतः सबके सब करना आवश्यक नहीं है। जितना किया जा सकता है उतना सत्कर्म ज्ञानार्थ करो इतना ही तात्पर्य है।

अन्तरा चापि तद्दृष्टेरिति सूत्रे तदीरितम्।
न ज्ञानं विधुरादेः स्या-दयज्ञस्येति शङ्किते॥ ३४५॥

यज्ञ दानादि में जो संभव है उतने मात्र से विविदिषा एवं वेदन होगा यह 'अन्तराचापि तद्दृष्टेः' इस सूत्र में व्यासजीने ही कहा। विधुरादि को यज्ञ में अधिकार न होने से उनको ज्ञान नहीं होगा यह पूर्वपक्ष था।

तद्दृष्टेरिति तद्रैक्व-वाचक्नव्याद्युदाहृतिः।
तत्रैव दर्शिता भाष्ये शक्यं चैवं प्रदर्शितम्॥ ३४६॥
जप्येनैव हि संसिद्ध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते॥ ३४७॥
किं विप्रमात्रो नेत्याह मैत्रो ब्राह्मण उच्यते।
सर्वत्र मित्रभावः स्याद् यस्यासौ मैत्र उच्यते॥ ३४८॥
इति मन्वर्थमाहुःस्म व्याख्यातारोविपश्चितः।
तस्मान्न ज्ञानराहित्यमयज्ञत्वेन हेतुना॥ ३४९॥

सूत्र में तद्दृष्टं का अर्थ भाष्य में बताया रैक्व वाचक्नवी (गार्गी) आदि यज्ञरहित होने पर उनमें ज्ञान देखा गया। भाष्य में मनु का भी उदाहरण दिया है। जप मात्र से ब्राह्मण ज्ञान प्राप्त कर लेता है। कौन? ब्राह्मण जाति जो पैदा हुआ वह? नहीं। मैत्र। सर्वत्र मित्रभाव रखनेवाला ऐसी व्याख्या सभी प्रसिद्ध व्याख्याताओं की है।

तत् स्वाध्यायमधीयीत स्वाध्यायोऽध्येय इत्यपि।
अनारम्भ विधिश्चास्ति सर्वस्याधीतिरप्यतः॥ ३५०॥

तस्मात् स्वाध्यायमधीयत स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इत्यादि अनारम्भ विधि है। अतः अधिकारी विशेषण न होने से अध्ययन भी सब को प्राप्त है।

नन्वाध्यापयिता नास्ति ह्युपनेतैव तादृशः।
समं ह्युपनयीताध्या-पयीतेति श्रुतौ श्रुतम्॥ ३५१॥

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेदिति।
स्मृतावप्येककर्तृत्वमुभयोरिति चेन्न तत्॥ ३५२॥

पू. - स्त्रीशूद्रादि को पढानेवाला कोई नहीं है इसलिये अध्ययन उनका नहीं बनता क्योंकि जो उपनयनकर्ता होता है वही अध्यापयिता भी होता है। **उपनीयत तमध्यापयीत** इस प्रकार उपनयनकर्ता और अध्यापनकर्ता एक ही श्रुति में बताया है। **'उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेत'** इस प्रकार स्मृति समान कर्तृत्व अर्थ में ल्यप् प्रत्यय से वह स्पष्टतर है।

एह्यास्स्वेत्यादिवचन-मत्रोपनयनं मतम्।
मैत्रेयीं याज्ञवल्क्यः स्वामुपानैषीत्तथा प्रियाम्॥ ३५३॥

उ. - सुनो वेदान्त में उपनयन इतना ही है कि गुरु बोले-आओ, बैठो इत्यादि। याज्ञवल्क्यजी ने मैत्रेयी का इतना ही उपनयन किया-**'एह्यास्व व्याख्यास्यामि ते व्याचक्षणस्य तु मे निदिध्यासस्व'**।

वेदान्तेषूपनयनं समीपप्रापणं मतम्।
यज्ञोपवीतकरणं यज्ञार्थं कर्मकाण्डिनाम्॥ ३५४॥

वेदान्त में उपनयन माने-उप-समीप में नयन=प्रापण है। समीप में बुलाकर बैठाना, जो प्रिय आदेशरूप होता है। (क्वचित शिष्य से छोटा हवन कराना भी शुद्ध्यर्थ होता था।)

उद्दालकादयः षड्ये जग्मुरश्वपतिं पुरा।
ते महाश्रोत्रिया आसन् महाशालाश्च निर्मदाः॥ ३५५॥
तान् किलानुपनीयैव विद्यामश्वपतिर्जगौ।
यज्ञोपवीतशून्याः किं गृहस्थाः श्रोत्रियाश्च ते॥ ३५६॥

राजा अश्वपति के पास उद्दालक प्राचीनशालादि जो छह महाश्रोत्रिय महाशाल विद्यार्थ गये उनका उपनयन किये बिना ही अश्वपति ने उपदेश किया था। तो क्या वे यज्ञोपवीत धारण किये बिना ही वेद पढ गये थे (श्रोत्रिय बने थे) और गृहस्थ हो गये थे? अतः वेदान्त में उपनयन समीप प्रापण ही है।

कथायां समुपागन्तुमाह्वन्ते यतीश्वराः।
तेनोपनयनेनैवोपनिषच्छ्रवणं सताम्॥ ३५७॥
रामायणपुराणादी — नेव शृण्वन्त्विहाऽद्विजाः।
इत्याग्रहः कस्यचिच्चेत् समाधिस्तत्र चोच्यते॥ ३५८॥
परिवर्त्य पुराणादावक्षराणि कियन्त्यपि।
मन्त्रास्त एव पठिता दृश्यन्ते बहुशः किल॥ ३५९॥
एकवाक्येऽक्षरभिदा नोचेन्मन्त्रत्वमक्षतम्।
पुराणस्थत्वतस्तच्च पठितुं शक्यतेऽखिलैः॥ ३६०॥
आत्मावास्यमिदं विश्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥ ३६१॥
पूर्वार्धे मास्तु मन्त्रत्वं तुर्यपादे कथं न तत्।
प्रत्यभिज्ञानसत्त्वेन वाक्यैकत्वाच्च तत् स्थितम्॥ ३६२॥
श्रद्धान्वितस्तत्त्वमसीत्येषा या रामभाषिता।
अध्यात्मरामायणगी-र्मन्त्रत्वं तत्र विद्यते॥ ३६३॥
पदार्थशोधनाद्यत्र रामेणैवानुबोधितः।
ब्रह्मौपनिषदं तस्माद् भाषाग्रन्थेऽपि तत्तथा॥ ३६४॥

स्त्रीशूद्रादि रामायण-पुराणादि ही पढें ऐसा यदि आपका आग्रह है तो भी औपनिषद ज्ञान होगा। क्योंकि रामायणादि में भी कुछ अक्षरों का परिवर्तन कर मन्त्र पढे हैं। जैसे भागवत में 'आत्मावास्यमिदं' इत्यादि। जिस वाक्य में अक्षर परिवर्तन नहीं है वह उपनिषत मन्त्र ही है। जैसे **'मा गृधः कस्यस्विद्धनम्'** अध्यात्म रामायण में **'श्रद्धयान्वित-स्तत्त्वमसीति वाक्यतो गुरोः प्रसादादपि शुद्धमानसः विज्ञाय चैकत्म्यम्'** इत्यादि कहकर तत्पदार्थ और त्वंपदार्थ का शोधन भागलक्षणा आदि बताया। यहां 'तत्त्वमसि' यह रामायण और उपनिषद दोनों में है। इस महावाक्य के श्रवण से विज्ञान=साक्षात्कार हो जायेगा। भाषा ग्रन्थों में भी 'तत्त्वमसि' लिखकर पदार्थ शोधनपूर्वक समझाया है। उससे भी औपनिषदत्व हो जायेगा।

किं चाचार्यत्वकामस्य ह्यात्मनेपददर्शनात्।
कृपयाध्यापने क्वापि दोषो नैवावलोकितः॥ ३६५॥
तत्त्वोपदेशं कुर्यात् स कृपयैवेत्यवोचत।
विवेकचूडामण्याख्ये ग्रन्थे चाचार्यसद्गुरुः॥ ३६६॥

दूसरी बात - उपनयीत इस आत्मनेपद से आचार्यत्वकाम के लिये वह विधि है। कृपा से स्त्री आदि को पढाये। **'तत्त्वोपदेशं कृपया स कुर्यात्'** ऐसा विवेक चूडामणि में कहा है।

साक्षात्कारविरोध्येनोनाशनाऽदृष्टमेव च।
तत्र चास्त्वौपनिषदश्रुतेरर्थोपपादकम्॥ ३६७॥
साधनान्युपयुज्यन्ते विवेकादीनि तत्र च।
गुरुवेदान्तवाक्येषु श्रद्धाभक्ती तथैव च॥ ३६८॥
शान्तो दान्तोऽप्युपरतस्तितिक्षुः श्रद्धयान्वितः।
आत्मानं पश्यति परं स्वात्मन्येवेत्यतः श्रुतेः॥ ३६९॥

इस उपनयनपूर्वक श्रुति श्रवण से आत्म साक्षात्कारविरोधी पाप का नाशक अदृष्ट होता है यह मानना भी सुसगंत है। जो कि औपनिषद श्रुति के उपनिषत से आत्मदर्शन होता है इस अर्थ का उपपादक है। इसी श्रुति औपनिषद आत्मदर्शन में विवेकादि साधनों का भी उपयोग है। गुरु एवं वेदान्त के वचन में श्रद्धा एवं भक्ति भी इसमें आवश्यक है। इसी बात को श्रुति ने कहा - **'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धावित्तो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति'**। इस श्रुति में शमदम उपरम श्रद्धा आदि को आत्मदर्शन का प्रयोजक स्पष्ट बताया है।

बृहत्त्वाद्बृंहणत्वाच्च ब्रह्मेत्यात्मा निगद्यते।
बृंहयत्यखिलं विश्वं परमात्मा स्वशक्तितः॥ ३७०॥
अयमात्मा च देहस्थो देहं बृंहयति स्वकम्।
मूलं स्वरूपमात्मेति शास्त्रे लोके च गीयते॥ ३७१॥
ब्रह्मात्मकं जगत् सर्वं ब्रह्ममूलकमित्यतः।
तत्रैवं बृंहितं सर्वं निजशक्त्यात्ममायया॥ ३७२॥

सुवर्णमेव कटककर्णिकाकुण्डलादिकम्।
ब्रह्मैव सकलं व्योमानिलानलजलादिकम्॥ ३७३॥

बृहत् होने से और विस्तृतकार्यजनक होने से ब्रह्म आत्मा को कहते हैं। जगत को यह फैलाता है, आत्मा भी देहस्थित होकर देह को फैलाता है। अतः आत्मा ब्रह्म एक ही कार्य का जो मूल स्वरूप है वही आत्मा है। जगत ब्रह्मात्मक है। जैसे कटक कुण्डलादि सुवर्ण बृंहित होने से सुवर्ण ही है वैसे ब्रह्म बृंहित होने से जगत ब्रह्मरूप है।

ननु बीजमिवाल्पं किं ब्रह्म संसारशाखिनः।
नेत्याह बृहदप्येत् परिच्छित्तिविवर्जितम्॥ ३७४॥

वृक्ष की अपेक्षा बीज अल्प है। वैसे संसारवृक्ष बीज अल्प है क्या? नहीं वह बृहत् है। अर्थात् त्रिविध परिच्छेदरहित है।

अयमात्मा परात्मैव तत्परिच्छित्त्यभावतः।
अत एवैकता वस्तुपरिच्छेदविधूननात्॥ ३७५॥

त्रिविध परिच्छेद न होने से ही जीव पर एकता भी क्योंकि वस्तु परिच्छेद नहीं है।

अस्थूलमनणुह्रस्व मित्यादिश्रुतिदर्शनात्।
कथं बृहत्त्वं धर्मोऽस्य सर्वत्वं भेदगर्भितम्॥ ३७६॥

अस्थूलमनणु आदि श्रुति है। तब बृहत्व धर्म ब्रह्म में कैसे? भेद घटित सर्वत्व भी कैसे?

परिच्छेदविहीनत्वाद् बृहत्त्वेनोपलक्षितम्।
सामानाधिकरण्यं च बाधे तावद्विदुर्बुधाः॥ ३७७॥

बृहत्त्व से उपलक्षित होने से परिच्छेदरहित को बृहत् कहा। **सर्वं नास्ति ब्रह्मैवास्ति** ऐसा बाधसामानाधिकरण्य है, ऐसा विद्वान कहते हैं।

सर्पोऽयं शेत इत्युक्तो बालेनाऽब्रूत तत्पिता।
सर्पोऽयं रज्जुरेतस्मान्मा भैषीरग्रतश्चल॥ ३७८॥

रास्ते में चलते समय किनारे पडा हुआ पतला, लम्बा, टेढा जन्तु जैसा देखकर लडके ने बाप को कहा यह साँप पडा है। पिता ने कहा-

मत डरो यह सर्प रस्सी है।

हस्तिनं दूरतः पश्याम्यग्रतोऽयमितीरितः।
भ्राताऽवोचदयं हस्ती पर्वतोऽस्ति कुमारक॥३७९॥
व्योम्नि गङ्गेयमित्युक्तो जनैर्वैज्ञानिको जगौ।
इयं गङ्गा महांस्तारासमूहोऽस्ति जना इति॥३८०॥
एतेनेदमपास्तं यद् द्वैतिन-केचनोचिरे।
समानाधिकरण्यं न बाधे क्वापि प्रयुज्यते॥३८१॥

दूर से देखा छोटे भाई ने एक हाथी खडा है और बोला वह हाथी खडा है। लोग भी बोलते हैं-हाथी देखो। बडे भाई ने कहा यह हाथी पर्वत है। लोग आसमान में देखकर कहने लगे यह आकाशगङ्गा है, स्वर्गलोक गङ्गा है। सुनकर वैज्ञानिक ने कहा-यह आकाशगङ्गा तारों का समूह है। इतने सब उदाहरण क्यों कह रहे हैं? इसलिये कि कुछ द्वैतवादी कहते हैं बाध सामनाधिकरण्य से शब्दप्रयोग नहीं होता है। उसके उत्तर में ऐसे सैंकडों प्रयोग मिलेंगे। जैसे देखो दूर एक नगरी दिख रही है। दूसरा कहता है-यह नगरी झिलमिल चमकता प्रकाश है (गन्धर्व नगरी है) बच्चा कहता है-आसमान में घोडा दिखता है। दूसरा बोलता है यह घोडा बादल का टुकडा है। सर्वत्र बाधसामानाधिकरण्य है। अर्थ होगा-सर्प नहीं रज्जु है। हाथी नहीं पर्वत है। गङ्गा नहीं तारा समूह है। नगरी नहीं झिलमिल प्रकाश है। घोडा नहीं बादल का टुकडा है।

न सर्पः किन्तु रज्ज्वेषा न सर्वं, ब्रह्म किन्त्विदम्।
स्यात् सर्वं खल्विदं ब्रह्मेत्यादेरर्थोऽत्र का क्षतिः॥३८२॥

यह सर्प नहीं किन्तु रज्जु है ऐसा भावार्थ होगा। वैसे सर्व नहीं यह ब्रह्म है ऐसा सर्वं खल्विदं ब्रह्म इत्यादि का अर्थ मानने में क्या हानि है।

नन्वयं नोरग इति वाच्युद्देश्यमयं भवेत्।
सर्वं नेत्यत्र नोद्देश्यं ब्रह्मत्वं क्व विधीयताम्॥३८३॥
मैवं न पृथगुद्देश्यं बाधवाक्येऽस्त्यपेक्षितम्।
सर्पो रज्जुरिति प्रोक्ते उद्देश्यं सर्प एव यत्॥३८४॥

पू.-यह सर्प नहीं रज्जु है उस भावार्थ में 'यह' (इह) उद्देश्य है। 'सर्वं न' में उद्देश्य क्या है जिसमें ब्रह्मत्व का विधान हो? उ.-सर्पो रज्जुः इतना जहां वाक्य है वहां अतिरिक्त उद्देश्य के बिना भी बोध होता है। वहां सर्प ही उद्देश्य है।

आकाशगङ्गा नक्षत्र-समुदाय इतीरयन्।
किमुद्दिश्य विधत्ते किं चिन्त्यतां तद्वदत्र च॥ ३८५॥

आकाशगङ्गा नक्षत्र समुदाय है कहने पर उद्देश्य और विधेय क्या सोचो वैसे ही सर्वं ब्रह्म में भी है।

बाधितप्रतियोगीयतादात्म्यान्वयितात्मता।
उच्यते विबुधैर्बाध-सामानाधिकरण्यता॥ ३८६॥

बाधित प्रतियोगिनिरूपित तादात्म्य सम्बन्धान्वयिता ही बाध सामानाधिकरण्य है। आकाश में गङ्गा बाधित है। बाधित गङ्गा प्रतियोगिक तादात्म्यान्वयी तारासमुदाय है ऐसी अन्वयिता तारों से होने से बाध सामानाधिकरण्य है।

संसर्गविधया भाति बाधितप्रतियोगिता।
तेन्तस्योक्त्यभावेऽपि भानं वाक्यात्प्रजायते॥ ३८७॥

संसर्गभाव से बाधितप्रतियोगित्व तादात्म्य में भासित होता है। इसलिये तद्वाचक पद के न होने पर भान वाक्य से होता है।

गङ्गाप्रतीतिविषये लक्षणामपरे विदुः।
तत्तादात्म्यं च योग्यत्वाद् बाधितं ह्युपतिष्ठते॥ ३८८॥

दूसरे लोग कहते हैं गंगापद का बाधित गङ्गा में लक्षणा है। योग्यत्वात उसका तादात्म्य भी बाधित ही होगा।

यत् सर्वं खल्विदं ब्रह्म सर्वं ब्रह्मेति बोध्यते।
पृथगन्वयबोधः स्यादिति न्यायविदा विदः॥ ३८९॥

सर्व खल्विदं ब्रह्म सर्वं ब्रह्मौपनिषदं इन दो वाक्यों में अलग-अलग प्रकार से अन्वयबोध न्यायवेत्ता मानते हैं।

विधेय-व्याप्य-पर्याप्ति-यावत्वं सर्वशब्दितम्।
उद्देश्यव्यापि वा भेदाऽयोगि वा चेद्विधीयते॥ ३९०॥

सर्वं ब्रह्म में ब्रह्म का व्याप्य जो भी हो सब में पर्याप्त सम्बन्धेन रहनेवाला यावत्त्व (अनेकत्व या बहुत्व) सर्व शब्द का अर्थ है। सर्व मिदं ब्रह्म में इदं कां व्यापक ब्रह्म का व्याप्य सबमें पर्याप्त यावत्व सर्व शब्दार्थ है। श्रीमद् गदाधर भट्टाचार्य ने सर्वं वस्तु प्रमेयं, सर्वं प्रमेयं ऐसे दो वाक्य रखकर ऐसा अर्थ भेद किया है। (उद्देश्यतावच्छेदक व्यापक विधेयव्याप्यपर्याप्तिको धर्मः सर्वपदप्रवृत्तिनिमित्तम्। सर्वं वस्तु प्रमेयं में उद्देश्यातवच्छेदक वस्तुत्व व्यापक प्रमेयत्व है। उसके व्याप्य वस्तु में पर्याप्त यावत्त्व सर्व पदार्थ हुआ। वस्तु शब्द के बिना सर्वं प्रमेयं बोलते हैं तो अन्योन्याभाव प्रतियोगितानवच्छेदक प्रमेयत्व है उससे व्याप्य दुनिया में रहनेवाला यावत्त्व है। – अन्योन्याभाव प्रतियोगितानवच्छेदक विधेयव्याप्य पर्याप्तिक यावत्त्वं सर्व पद प्रवृत्ति निमित्तम) (यहां श्लोक में भेदायोगी का भेदाऽप्रतियोगी अर्थ समझ लेना चाहिये।) द्वित्व त्रित्वादि के समान यावत्त्वं पर्याप्तिसम्बन्ध में रहनेवाला अनेकत्व है। सर्वे ब्राह्मणा भोज्यन्तां यहां-पचास ब्राह्मण हो तो पचास ब्राह्मणों में रहनेवाला पञ्चाशत्त्वं सर्व पदार्थ है। सर्वथा सर्वत्व नानात्व घटित है।

नेह नानास्ति वेदोक्त्या नानात्वं बाधितं सति।
तेन बाधित नानार्थ-तादात्म्यब्रह्म गम्यते॥ ३९१॥
तात्पर्यं तु न गङ्गास्ति तारावल्येव खे यथा।
तथेहापि न नानार्थो ब्रह्मौपनिषदं त्विति॥ ३९२॥

नेह नानास्ति किंचन श्रुति से 'नाना' बाधित है। तब बाधित नाना ऐसा ब्रह्मबोध होगा। 'सर्वं ब्रह्म' का तात्पर्यार्थ आकाश गङ्गा तरावली में गंगा नहीं है, तारावली है ऐसा ही सर्वं ब्रह्म में सर्व (नानार्थ) नहीं है औपनिषद ब्रह्म ही है ऐसा होगा।

सर्वं ब्रह्मेति विज्ञाने नाहं नान्यश्च कश्चन।
सर्वस्य बाधनादेवं शुद्धं ब्रह्मावशिष्यते॥ ३९३॥

सर्वं ब्रह्म ऐसा विज्ञान होने पर न मैं, न और कोई, सबका बाध हुआ तो शुद्ध ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है।

सजातीय विजातीय भेदापनयनेऽपि हि।
स्वान्तर्भेदो भवेत् सर्वं वपुर्मे सीदतीतिवत्॥ ३९४॥
सर्वं शरीरमीशस्येत्यन्तर्यामिश्रुतौ स्फुटम्।
पादे मे वेदना श्रोत्रे गीत्यानन्दः पृथक् तथा॥ ३९५॥

सजातीय विजातीय भेद न हो स्वगत भेद तो रहेगा। ईश्वर शरीर जगत है। पांव में दर्द, कान में गीत सुख पृथक् अनुभव में आता है। ऐसे अन्तर्भेद रहेगा।

तन्नौपनिषदब्रह्म लक्ष्म नाशेषवस्तुनि।
सत्यज्ञानानन्दरूपं ब्रह्म नैव जगत्तथा॥ ३९६॥
भोगायतनमित्युक्तं शरीरस्य च लक्षणम्।
भोगश्च सुखदुःखादिसाक्षात्कार उदीर्यते॥ ३९७॥
शरीरवदिदं सर्वमात्माच्छादनकृत्त्वतः।
आच्छाद्यते परं ब्रह्म शरीरात्मत्वदर्शिनः॥ ३९८॥

वह विशिष्टाद्वैत मत ठीक नहीं। समस्त जगत में ब्रह्म का लक्षण सत्य ज्ञान आनन्दरूपता नहीं है। जगत वैसा नहीं है। शरीर भी लाक्षणिक होगा। भोगायतनं शरीरं ऐसा बताया है। सुखदुःख साक्षात्कार भोग बताया। तो क्या ईश्वर को पृथिवी आदि से सुखदुःख होता है? अतएव आत्मा का आच्छादक होने से शरीर शब्द लाक्षणिक है। शरीरात्मदर्शी आत्मदर्शन नहीं करता।

गगने हस्तितुरगमृगवृक्षलतादिकम्।
यद्वत् पश्यसि बालकत्वं सर्वं मेघकदम्बकम्॥ ३९९॥
शकुन्तला लताकुञ्ज-भृङ्ग-पद्म-ह्रदादिकम्।
राजन् पश्यति तत्सर्वं चित्रमेव स्वनिर्मितम्॥ ४००॥
स्पष्टमेवेक्ष्यते बाधे सामानाधिकरण्यधीः।
अत्र सर्वत्र तद्वत् स्यात् सर्वं ब्रह्मेति वाचि च॥ ४०१॥

बेटा! आसमान में हाथी, घोडा. मृगादि जो देखते हो ये हाथी, घोडा आदि सब बादल ही है। हे राजन्! (दुष्यन्त!) यह शकुन्तला, लताकुंज,

भृंग, पद्म, हृद आदि जो देखते हो ये शकुन्तलादि आपका बनाया हुआ चित्र है इत्यादि में बाध सामानाधिकरण्य स्पष्ट है। वैसे ही 'सर्वं ब्रह्म' है। देह देही भाव से नहीं।

प्रत्यक्षं ननु च द्वैतं सर्वबाधो न युज्यते।
भिन्ना जीवा अल्पचित्तोऽचितश्च गगनादयः॥४०२॥
न, जीवः प्रतिबिम्बोऽस्य कार्यं तस्याखिलं जगत्।
न ब्रह्मभेदः क्वाप्यस्ति ततोऽद्वैतं समञ्जसम्॥४०३॥

पू. - द्वैत प्रत्यक्ष है। उसका बाध कैसे हो? जीव अल्पज्ञ है, परस्पर भिन्न है। वह ब्रह्म कैसे? गगनादि जड है वह भी ब्रह्म कैसे? उ. - नहीं। जीव ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है। बिम्ब से प्रतिबिम्ब भिन्न नहीं होता। जगत उसका कार्य है। कारण से कार्य भिन्न नहीं होता, जैसे मृत्तिका से घट। ब्रह्मभेद कहीं नहीं है। अतः अद्वैत सिद्ध है।

मिथ्यात्मप्रतिबिम्बं नो-पदिशेत् कोऽपि दर्पणे।
कृष्णः स्वप्रतिबिम्बाय पार्थायोपादिशेत् कथम्॥४०४॥
तस्मान्न प्रतिबिम्बोऽयं जीवो हि परमात्मनः।
सारूप्यात् प्रतिबिम्बोक्तिः प्रतिबिम्बः पितुः सुतः॥४०५॥
जगच्चेद् ब्रह्मणः कार्यं विकारि स्यान्मृदादिवत्।
नाशो विकारिणो नूनं ब्रह्मकार्यं जगन्न तत्॥४०६॥
विशिष्टब्रह्मणस्तस्मात् कार्यं वैशेषणं जगत्।
निमित्तकारणं किं वा घटस्येव कुलालवत्॥४०७॥

पू. - मिथ्यारूपी आत्मप्रतिबिम्ब को कोई उपदेश नहीं करता। क्या दर्पण में प्रतिबिम्ब को देवदत्त उपदेश करता है? तब श्रीकृष्ण ने अपने प्रतिबिम्ब अर्जुन को कैसे उपदेश दिया? इसलिये जीवात्मा ईश्वर का प्रतिबिम्ब नहीं है। समानरूप होने से प्रतिबिम्ब बोल बैठते हैं जैसे यह लडका पिता का बिल्कुल प्रतिबिम्ब है। दूसरा-जगत यदि ब्रह्म का कार्य है तो ब्रह्म विकारी होगा। जैसे मिट्टी का विकार घट है। इष्टापत्ति करें तो विकारी होने से ब्रह्म अनित्य हो जायेगा। अतः विशिष्ट ब्रह्म का यह कार्य

है। सूक्ष्म विशेषण का ही स्थूल कार्य है। ईश्वर निमित्त कारण भी हो सकता है। जैसे घट का कुम्हार निमित्तकारण है।

तदसद् दर्पणे काय-प्रतिबिम्बं जडं भवेत्।
अचेतनमसत्तस्मै को नामोपदिशेत् सुधीः॥४०८॥
ब्रह्मणः प्रतिबिम्बं तु ब्रह्मवच्चेतनं भवेत्।
उपदेशो भवेत्तस्मै का तत्र परिदेवना॥४०९॥
सप्रकाशो भवेत् सूर्य-प्रतिबिम्बोऽपि सूर्यवत्।
ब्रह्मवत् प्रतिबिम्बोऽपि जीवः सज्ञानभा भवेत्॥४१०॥

जैसे सूर्य का प्रतिबिम्ब दर्पणादि में सप्रकाश होता है (दर्पण को गृह की ओर करने से घर में प्रकाश होता है) वैसे ब्रह्म का प्रतिबिम्ब जीव भी ब्रह्मवत् ज्ञान प्रकाशयुक्त होता है।

ननु स्याद्दर्पणे पुंसः प्रतिबिम्बं सचेतनम्।
तन्नात्मप्रतिबिम्बस्य ग्रहणे नास्य योग्यता॥४११॥

इस प्रकार दर्पण में मनुष्य का प्रतिबिम्ब सचेतन हो जायेगा। नहीं। दर्पण में आत्मप्रतिबिम्ब ग्रहण करने की योग्यता नहीं है।

चिक्कणे दर्पणे वस्तुप्रतिबिम्बं विलोक्यते।
न पुनः काष्ठलोष्टादौ योग्यता तेन कारणम्॥४१२॥
ब्रह्मणः प्रतिबिम्बस्य ग्रहणे योग्यता पुनः।
स्यादन्तःकरणस्यैव मायायाश्चेति निश्चयः॥४१३॥
आभासेन हि जीवेशौ करोतीति श्रुतत्वतः।
जीवेशोपाधिभूते ते योग्ये इति हि गम्यते॥४१४॥

चिकने दर्पण में घटादि प्रतिबिम्ब देखा जा सकता है लकडी मिट्टी का ढेला आदि में नहीं, अतः प्रतिबिम्ब ग्रहण में वस्तु की योग्यता भी कारण है। ब्रह्म प्रतिबिम्ब ग्रहण में अन्तःकरण (अविद्या) और माया में ही योग्यता है। श्रुति कहती है-आभास (प्रतिबिम्ब) से जीव और ईश्वर होते हैं अतः जीवेशोपाधि अविद्या और माया है ऐसा अर्थापत्या ग्रहण होता है।

अवच्छेदकवादे च मनोऽवच्छिन्नचेतनः।
ज्ञानयोग्योऽस्ति न पुनर्घटावच्छिन्नचेतनः॥४१५॥

अनच्छेदकवाद में मनोवच्छिन्न (या अविद्यावच्छिन्न और मायावच्छिन्न) चेतन ज्ञानयोग्य है। घटाद्यवच्छिन्न चेतन नहीं।

व्यावहारिकभेदश्च जीवस्य ब्रह्मतो भवेत्।
अचिन्त्यब्रह्मरूपं तु ततो जीवे न विद्यते॥४१६॥

व्यावहारिक ब्रह्मभेद जीव में है। अतः अचिन्त्य ब्रह्मस्वरूप जीव में नहीं है।

ज्ञानेनोपाधिहनने जीवो ब्रह्मैव केवलः।
दर्पणेऽपहृते बिम्बात् प्रतिबिम्बं न भिद्यते॥४१७॥

ज्ञान में उपाधि निवृत्त होने पर जीव ब्रह्म ही है। दर्पण के हटने पर प्रतिबिम्ब अलग नहीं है।

विवर्तो ब्रह्मणः सर्वः प्रपञ्चो न विकार्यसौ।
विकारित्वादनित्यं स्यादित्युक्तिरसती ततः॥४१८॥

प्रपञ्च ब्रह्म का विवर्त है अतः न ब्रह्म विकारी है और न अनित्य है।

व्यावहारिकसत्त्वाच्च व्यवहारः प्रवर्तते।
तस्मादूषरवारीवाऽकार्यकारीत्यपाकृतम्॥४१९॥

व्यावहारिक सत्ता मान्य होने से मरीचिका जलवत् कूपजल से भी प्यास नहीं बुझेगी इत्यादि पूर्वपक्ष भी निरस्त हो जाता है।

भेदाभेदानिरुक्तेर्हि मिथ्या नूनं घटो मृदि।
तथाप्यम्ब्वाहृतिधृतिव्यवहारोऽस्य वर्तते॥४२०॥

मृत्तिका में घट भिन्न, अभिन्न या भिन्नाभिन्न किसी प्रकार निवर्चनीय नहीं है, अतः अनिर्वचनीय रूप मिथ्या है। फिर भी जलाहरण व्यवहार उससे होता है।

सामानाधिकरण्यं तु बाधे पूर्वं प्रसाधितम्।
सर्वं ब्रह्मौपनिषद-मद्वैतं तन्निरञ्जनम्॥४२१॥

बाध सामानाधिकरण्य पहले ही बता चुके। अतः सर्व ब्रह्मौपनिषदं

से अद्वैत निरञ्जन तत्त्व का ही निरूपण है।

नन्वौपनिषदब्रह्मज्ञानं यद्यस्य विद्यते।
व्यर्थाङ्गाप्यायनादीनां प्रार्थनात्र तदर्थिनाम्॥४२२॥
ईदृशब्रह्मविज्ञाने पारम्पर्येण साधनम्।
अङ्गाद्याप्यायनमिति प्राग् व्याख्यायीति चेच्छृणु॥४२३॥

पू. - 'सर्वं ब्रह्मोपेनिषदं' यह ज्ञान पाठकर्ता को हुआ है तो आप्यायन्तु ममङ्गानि इत्यादि यथोक्तज्ञानार्थियों की प्रार्थना प्रकृत में व्यर्थ है। क्योंकि सर्वं ब्रह्म इसी ज्ञान का परम्परया साधन अङ्गाप्यायनादि है।

स्वाध्यायोऽध्येय इत्येवंविधेन विधिना श्रुतम्।
सामान्याध्ययनाद् ज्ञातं सर्वं ब्रह्मेति येन हि॥४२४॥
साक्षात्काराय सोऽङ्गान्याप्यायन्त्वित्यादि याचते।
तद्विज्ञानार्थतः सोऽभिगच्छेद् गुरुमिति श्रुतेः॥४२५॥

उ. - सुनो। स्वाध्यायोऽध्येतव्यः, स्वाध्यायमधीयीत ऐसी विधियों से प्रेरित होकर सर्ववेद सामान्याध्ययन जिसने किया जहां सर्वं खल्विदं ब्रह्म इत्यादि वचन भी आता है वही विज्ञानार्थ (साक्षात्कारार्थ) गुरु के पास जाये इस अन्य श्रुति से साक्षात्कारार्थ जाता है, वही आप्यायन्तु आदि प्रार्थना करता है।

साक्षात्कारार्थमित्येष कथमर्थोऽत्र लभ्यते।
अत्रौपनिषदत्वेन ब्रह्मणोऽस्य विशेषणात्॥४२६॥

साक्षात्कारार्थ प्रार्थना है यह कैसे प्राप्त होता है? औपनिषदं इस विशेषण से। उपनिषदि दृश्यमौपनिषदं इत्यादि शेषार्थ में अण् है।

माहं ब्रह्म निराकुर्यां

माहं ब्रह्म निराकुर्यां येन केनापि हेतुना।
रोगाद्यवारणात् किं वा बुद्धिविभ्रंशनादपि॥४२७॥

मैं किसी भी कारण ब्रह्म का निराकरण न करूं। चाहे रोगादि की परेशानी से चाहे बुद्धि भ्रष्ट होने के कारण।

परं तापमयाद् ब्रह्म निराकृत्य कुमारिलः।
परं ब्रह्माऽपरं ब्रह्माप्यनिराकार्यमञ्जसा॥४२८॥

ब्रह्म का निराकरण कर कुमारिल अन्त में पछताया। पर अपर दोनों अनिराकार्य है।

निराचक्रुरहं ब्रह्मेत्येतद् भक्ता अहंकृतेः।
अहमन्योऽस्मि वदतामहंकारोऽयमात्मनि॥४२९॥
तेनैव चापरिच्छिन्न परब्रह्म निराकृतिः।
भेदस्य प्रतियोगी यः परिच्छिन्नः स वस्तुतः॥४३०॥

अहं ब्रह्मास्मि का मन्त्र निराकरण अहंकार से ही भक्तलोग करते हैं। मैं ब्रह्म नहीं यहां 'मैं' यह अहंकार है। मैं ब्रह्म से भिन्न हूं यहां भेद का प्रतियोगी ब्रह्म हो गया। यह वस्तु परिच्छेद है। अर्थात् अपरिच्छिन्न ब्रह्म का यह निराकरण है।

सर्वातिशाय्यहंकारो ह्यहं ब्रह्मेति जल्पतः।
इत्याहुः केचन जना ब्रह्मणश्च निराकृतिम्॥४३१॥
ब्रह्म जीवात्मनः श्रेष्ठं न श्रेष्ठं मनुते तु यः।
अहं ब्रह्म वदन् ब्रह्म-निराकर्ता स नास्ति किम्॥४३२॥
तदसत् तत्र मन्यन्ते भागत्यागाख्यलक्षणाम्।
अहमर्थादहंकारो भागः संत्यज्यते बुधैः॥४३३॥
ब्रह्मणो बृंहणत्वादि-धर्मश्च त्यज्यते ततः।
अखण्डं शुद्धचैतन्यं बोध्यते सोऽयमादिवत्॥४३४॥

द्वैतवादी कहते हैं अहं महापण्डितः अहं महाराजा इत्यादि अहंकार है। सबसे बडा अहंकार है-अहं ब्रह्मास्मि। वह अपने से श्रेष्ठ ब्रह्म को नहीं मानता है इसलिये ब्रह्म का निराकर्ता भी है इत्यादि। परंतु यह सब आरोप झूठा है। अहं ब्रह्मास्मि आदि महावाक्यों में हम भागत्यागलक्षणा मानते हैं। अहं का अहंकार विशिष्ट चैतन्य अर्थ उसके बाद अहंकार का त्याग करते हैं। ब्रह्म का अर्थ बृंहणत्वादि धर्म विशिष्ट चैतन्य है। उसमें से बृहणत्वादि धर्मरूपी भागका त्याग करते हैं। तब शुद्ध चैतन्य की एकता

वाक्यार्थ होगा। जैसे सोऽयं देवदत्त इत्यादि में भागत्याग होता है। बताईये-यह अहंकार करना है कि अहंकार को त्यागना है।

बृहत्त्व - बृंहणत्वादि - धर्मश्चेद् ब्रह्मणीष्यते।
तदा स्वगतभेदः स्यात् परिच्छिन्नं प्रसज्यते॥ ४३५॥
परिच्छिन्नं भवेदल्पं वदतोव्याहतिस्ततः।
तस्माल्लक्षणया बोधः सा वाक्येऽप्यभ्युपेयते॥ ४३६॥

बृहत्त्व, बृंहणत्व, श्रेष्ठत्वादि धर्म ब्रह्म में मानेंगे तो स्वगत भेद होगा। बृहत्त्वादि धर्म पृथक् पृथक् है। तब उनसे पृथक् ब्रह्म भी होगा। तब भेद प्रतियोगित्वरूप परिच्छिन्नत्व ब्रह्म में आ जायेगा। तब वह बृहत् ही कैसे होगा? वदतोव्याघात होगा। अतः लक्षणया शुद्ध चैतन्य उपस्थित होगा। वाक्य में लक्षणा का बोध होता है।

सोऽयमित्यादि वाक्येषु भागत्यागोऽभ्युपेयते।
विशिष्टयोरभेदो हि कथंचिन्नोपपद्यते॥ ४३७॥

'सोऽयं' इत्यादि वाक्य में भागत्याग प्रसिद्ध है। दो विशिष्टों का अभेद नहीं होता।

सोऽयमित्यादिवाक्येषु लक्षणा नेति कश्चन।
तत्तु न्यायादिशास्त्राणामनधीतिनिबन्धनम्॥ ४३८॥

सोयं में लक्षणा नहीं जो कहते हैं वह न्याय शास्त्रादि के अनध्ययन का परिणाम है।

उद्देश्यस्य विधेये हि भवेत् कालादिनान्वयः।
तत्तावच्छेदकेनाव-च्छेद्यत्वादिति लौकिकम्॥ ४३९॥

उद्देश्यतावच्छेदक देशकालावच्छेद्यत्वं संसर्ग विधया विधेये भासते यह लोकव्युत्पत्ति सिद्ध है। 'सोऽयं' से सः का अर्थ पूर्वकाल में हरिद्वारादि देश में स्थित (देवदत्तादि) अयं का अर्थ है, वर्त्तमानकाल में काशी आदि में स्थित व्यक्ति। पूर्वकालादि अवच्छिन्न वर्तमान व्यक्तित्व नहीं हो सकता। वर्त्तमान व्यक्ति वर्तमान कालावच्छिन्न है।

तत्र तात्पर्यवैधुर्यात् क्वचिन्नार्थस्तथेति चेत्।
सत्यमुक्तं परं तत्र लक्षणेत्येव शाब्दिकाः ॥ ४४० ॥

शाब्द बोध में तात्पर्य कारण हैं। वैसा तात्पर्य न हो तो। उद्देश्यता वच्छेदक देशकालावच्छेद्यत्व अविवक्षत हो तो? ठीक कहा आपने ऐसे स्थल में लक्षणा होगी। वही भागत्याग लक्षणा हम बोल रहे हैं।

सर्वं ब्रह्मेति वाक्येन ब्रह्मान्यन्नेति बुध्यते।
सर्वस्य बाधनादेवं शुद्धमेवावशिष्यते ॥ ४४१ ॥

'सर्वं ब्रह्म' कहने पर ब्रह्म से अन्य कोई नहीं ऐसा बोध होता है। इस प्रकार ब्रह्मेतर सर्व बाध होने से शुद्ध ब्रह्म अवशिष्ट रहता है।

मा मा ब्रह्म निराकरोत्

निराकृतं मया ब्रह्म निराकुर्यात्स्वयं तु माम्।
माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत् ॥ ४४२ ॥

मैंने ब्रह्म का निराकरण किया तो ब्रह्म मेरा निराकरण करेगा। अतः ब्रह्म का मैं निराकरण न करूं और ब्रह्म मेरा भी निराकरण न करें।

यन्मानं क्रियते तस्मै स्वस्मै तत् प्रतिगच्छति।
श्रीर्वाऽश्रीर्वा मुखे नीता नीता प्रतिमुखे भवेत् ॥ ४४३ ॥

'यद्यज्जनो भगवते विदधीत मानं तच्चात्मने प्रति मुखस्य यथा मुख श्रीः' इस भागवत वचन के अनुसार परमात्मा के प्रति कृत मानादि अपनी ओर ही आता है। मुख में जो भी श्री या अश्री ले जाओ वही प्रतिबिम्ब मुख में आयेगा।

सूर्याय थूत्कृतं ह्यूर्ध्वं पतेत् स्वमुख एव तत्।
निराकृतिर्भवेत् स्वस्य कृता ब्रह्मनिराकृतिः ॥ ४४४ ॥

सूर्य पर थूंको तो वह अपने मुंह पर ही आयेगा। ब्रह्म निराकरण स्वनिराकरण होगा।

त्वं चेद्वाखण्डयसि द्वैत-मद्वैतंखण्डयाम्यहम्।
यथा तथैव वस्तु स्यात् खण्डनं वाक् प्रपञ्चनम् ॥ ४४५ ॥

मैवं भावानुगा दृष्टिसृष्टिरेषा प्रवर्तते।
ब्रह्मणो निर्विकारत्वात् स्वत्मिन् प्रत्युपतिष्ठते॥४४६॥

पू. - तुम द्वैत का खण्डन करते हो तो मैं अद्वैत का खण्डन करता हूं। वस्तु ज्यों की त्यों रहेगी। खण्डन मण्डन तो वाग्विलास मात्र है। नहीं यह दृष्टि सृष्टि जहां भावना है वहीं होगी। ब्रह्म निर्विकार है उसमें कुछ होनेवाला नहीं। तुम में निराकरण भावना है तो निराकरण तुम में ही होगा।

ग्रहणे कालिमा नार्के प्रत्यर्केऽशिक्षते तुसा।
निराकृतिर्ब्रह्मणि न प्रतिबिम्बेऽस्य सा भवेत्॥४४७॥

ग्रहणकाल में सूर्य में कालिमा हे देखते हैं। किन्तु सूर्य में नहीं, देखनेवाले की आंख में जो सूर्य प्रतिबिम्ब आया उसमें कालिमा है। उसे वह देखता है।

किं च ब्रह्मनिराकर्ता पापेभ्यः पापकृत्तमः।
तत्फलं तु भवेदेतत् यत् स्वस्यैव निराकृतिः॥४४८॥

दूसरी बात ब्रह्म निराकर्ता सबसे बडा पापी है। उसका फल है अपना निराकरण।

असन्नेव भवेदेष ह्यसद् ब्रह्मेति वेद चेत्।
निराकार्यनिराकर्त्रोरैक्याच्चेति व्यवस्थितम्॥४४९॥

ब्रह्म को असत् समझनेवाला स्वयं असत् होता है। दोनों एक जो रहा।

पुमर्थरहितत्वं हि स्यादसत्त्वमसन्मतेः।
न सिध्येत्तस्य धर्मादि पुरुषार्थचतुष्टयम्॥४५०॥

असत् मति का धर्मादि चारों पुरुषार्थ खतम होंगे। यही असन्नेव का अर्थ है।

अभिचाराय हि मखा श्रद्धाविधुरकर्तृकाः।
इत्याह पुष्पदन्तोऽपि धर्मसिद्धिस्तु दूरतः॥४५१॥

ध्रुवं कर्तुः श्रद्धाविधुरमभिचाराय हि मखाः ऐसा महिम्नः स्तोत्र में बताया है। भगवत् श्रद्धा न हो तो यज्ञादि नाशकारण बनेंगे। धर्म तो दूर

रह गया।

दक्षस्याभून्ननु श्रद्धा यज्ञादिष्विति चेत् कुवित्।
न तु ब्रह्मण्यभूत्तस्या-ऽहंकारनिभृतात्मनः॥४५२॥

दक्ष प्रजापति की यज्ञादि में श्रद्धा थी। बात प्रशंसनीय है (कुविदितिभूर्यथै प्रशंसायां च) किन्तु ब्रह्म में नहीं थी। वह अहंकार से परिच्छिन्नदर्शी था।

हिरण्यमयगृहस्थस्याप्यर्थो नैव प्रसिध्यति।
काश्यपस्यातिमहतो हिरण्यकाशिपोरिव॥४५३॥

हिरण्यकशिपु सुवर्णमय बिस्तरे पर हिरण्यमय घर में रहता था। कश्यप ऋषि का पुत्र था। फिर भी अर्थ की प्रकर्ष सिद्धि उसकी नहीं हुई।

नापत् परिचरन्तीषु सुरनारीषु कोटिशः।
सुवर्णमयलङ्कायां कामं सीतापहारिणः॥४५४॥

करोडो अप्सरायें सेवा में थी। फिर भी काम प्राप्ति रावण को नहीं हुई, और सीताहरण करने गया।

यस्य धर्मो न नैवार्थो नैव कामोऽपि सिध्यति।
मोक्षाशा तस्य का तस्मात्पुरुषार्थच्युतो हि सः॥४५५॥

धर्म, अर्थ और काम नहीं तो मोक्ष क्या हो। वह पुरुषार्थच्युत ही होगा।

असद् ब्रह्मेति वेदेमे द्वैतिनः सर्व एव हि।
तस्मादसन्त एवेमे पुमर्थप्रच्युता इति॥४५६॥

द्वैतवादी ब्रह्म को असत् समझते हैं। अतः वे असन्त हैं पुरुषार्थच्युत हैं।

नन्वीश्वरमहं मन्ये ब्रूषेऽसन्तं कथं नु माम्।
अपरिच्छिन्नचिद्ब्रह्मानुपगन्तृत्वतस्तथा ॥४५७॥

द्वै. - मैं ईश्वर को मानता हूं। मैं असन्त कैसा? अपरिच्छिन्न चिद्ब्रह्म को न मानने से।

अपारमार्थिकं जल्पन्नीशं त्वं चास्यसन्ननु।
मैवं ब्रूषे यादृगीशं तादृशं मन्महे वयम्॥४५८॥

व्यवहारस्पदं ब्रूषे त्वमीशं वयमप्यमुम्।
अनिर्वच्यित्वतस्तस्याऽपारमार्थिकतामपि॥ ४५९ ॥

द्वै. - तुम ईश्वर को अपारमार्थिक बोलते हो अतः तुम असन्त हो। सि. - नहीं जैसे ईश्वर को तुम मानते हो वैसे हम भी मानते हैं। तुम ईश्वर को व्यवहारयोग्य मानते हो वैसे ईश्वर को हम भी कहते हैं। किन्तु अनिवर्चनीय होने से अपारमार्थिक भी कहते हैं।

आकाशदिर्यथा सत्यस्तथा सत्यस्तवेश्वरः।
तथैव च वयं ब्रूम-स्तत्र कुप्यसि भो कुतः॥ ४६० ॥

जैसे आकाशादि सत्य है वैसे सत्य तुम ईश्वर को मानते हो। वैसे सत्य हम भी विष्णु आदि को मानते हैं। उसके लिये नाराज क्यों हो रहे हो?

व्यवहारिकतो भिन्नां सत्तां यां पारमार्थिकीम्।
ब्रूमो ब्रह्मणि तत्रेर्ष्या कथं भो ते प्रजायते॥ ४६१ ॥

व्यावहारिक सत्ता से भिन्न जिस पारमार्थिक सत्ता को हम ब्रह्म में कहते है उसमें तुम को ईर्ष्या क्यों है?

स्वीयसत्तोर्ध्वसत्तां न सहसे परमात्मनः।
द्वैतिन्नत्यन्तकष्टं तत् परेशस्पर्धिनस्तव॥ ४६२ ॥

अपने से ऊर्ध्व सत्ता ब्रह्म की नहीं सह पा रहे हो। हे ईश्वरस्पर्धिन! यह बडे कष्ट की बात है।

ज्येष्ठं ब्रह्मैव भूतानां स्पर्धितुं तेन कोऽर्हति।
न त्वत्समोऽस्ति स इति ब्रूतः स्पष्टं श्रुतिस्मृती॥ ४६३ ॥

'ब्रह्मैव भूतानां ज्येष्ठं। तेन कोर्हति स्पर्धितुम्' इत्यादि श्रुति **'न त्वत्समोऽस्त्यभ्यदिकः कुतः'** इत्यादि स्मृति स्पर्धा और समता का निषेध करती है।

येन केनापि रूपेण न साम्यं ब्रह्मणोपरे।
इति सामान्यतः साम्यं गीतासु हि निषिध्यति॥ ४६४ ॥

किसी भी प्रकार से ईश्वरसाम्य अन्यत्र नहीं ऐसा गीता में सामान्य

निषेध है।

अस्तित्वेनास्ति साम्यं चेत् तदसत् सत्त्वभेदतः।
ज्ञेयत्वेनास्ति साम्यं चेत् तच्च नाऽविषयत्वतः॥४६५॥

अस्तित्वेन ब्रह्म और मुझ में समानता है। नहीं। सत्ता दोनों में भिन्न है। ज्ञेयत्वेन दोनों सम है। नहीं। ब्रह्म ज्ञानविषय नहीं है।

वस्तुत्वेनास्ति साम्यं चेत् वस्तुत्वं वास्तवं समम्।
न वास्तवं जीवरूपं तस्मात्साम्यं न विद्यते॥४६६॥
आत्मत्वेनेति चेज्जातिरात्मत्वं ब्रह्मणो न सा।
त्वत्तुल्यता ब्रह्मणो न स्पर्धा तु व्योमताडनम्॥४६७॥

वस्तुत्वेन ईश जीव में समता कहो। नहीं। वस्तुत्व माने वास्तव। जीवरूप वास्तव नहीं है। आत्मत्वेन समता हो। नहीं। आत्मत्व जाति ब्रह्म में नहीं है। इस प्रकार तुल्यता भी नहीं तो स्पर्धा तो आकाश पर डंडा मारने के बराबर है।

यादृशी मम सत्ताऽतो नोर्ध्वसत्तेति विब्रुवन्।
न जिह्रेषि कथं नु त्वं कथं मां विरुणतस्यपि॥४६८॥

ब्रह्म में ऊर्ध्व सत्ता नहीं, मेरी जैसी सत्ता है बोलते हुए शरम आनी चाहिये।

अनिराकरणमस्तु

अनिराकृतिरस्त्वेतत् सामान्येनाभिधीयते।
न निराकरणं कुर्या-मतदर्हस्य चेर्ष्यया॥४६९॥

'अनिराकरण हो' यह सामान्योक्ति है। निराकरण के अनर्ह किसीका भी निराकरण न हो।

स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु द्वैतिनो निश्चिता दृढम्।
परस्परं विरुध्यन्ते तैरयं न निरुध्यते॥४७०॥

द्वैतवादी परस्पर खण्डन करते हैं। दोनों को हमने माना तो क्या किससे विरोध।

प्रकृतिः कारणं केचिदणवः कारणं परे।
न तथा न तथान्योन्यं नेति नेति वयं पुनः॥४७१॥

प्रकृति कारण है यह सांख्य ने कहा, परमाणु कारण है यह वैशेषिक ने कहा। और एक दूसरे को बोले वैसा नहीं वैसा नहीं। हम दोनों मान्यता देकर बोले-नेति नेति।

द्रव्यादयोऽर्थाः सप्तैके पञ्चपञ्चेति चापरे।
न तथा न तथान्योन्ये नेति नेति वयं पुनः॥४७२॥

द्रव्यादि सात पदार्थ है ऐसा किसीने कहा। प्रकृति पुरुषादि पचीस दूसरे ने कहा फिर परस्पर वैसा नहीं वैसा नहीं कहा। हमने भी कहा नेति नेति।

ध्रूवं सत् सर्वमित्येके परेऽध्रूवमसज्जगुः।
न तथा न तथान्योन्यं न सत्तन्नासदुच्यते॥४७३॥

सांख्यादि सबको जन्ममरणरहित सत् ध्रुव मानते हैं। सौगत सबको क्षणिक या शून्य मानते हैं। परस्पर वैसा नहीं वैसा नहीं बोलते हैं। हम भी कहते है-'**न सत्तन्नासदुच्यते**' सत्पदवाच्य नहीं असत्पदवाच्य नहीं।

द्वे रूपे ब्रह्मणो मूर्त-ममूर्तं च जगौ श्रुतिः।
अनूद्य नेति नेतीति न्यषेधत् तदनन्तरम्॥४७४॥

मूर्त और अमूर्त ब्रह्म के दो रूप है ऐसा अनुवाद कर नेति नेति से दोनों निषेध श्रुति ने किया।

स्वकल्पनानुरूपं तु सर्वो वदति बुध्यते।
तथैव तस्य सकलं नेतिनेतीति वस्तुतः॥४७५॥

स्व कल्पनानुसार सभी समझते हैं और बोलते हैं। उसके लिये वैसा ही है। नेति नेति यह वास्तविक है। अतः यथोचित उभय मान्यता हमारी है।

अद्वैतं परमार्थो हि द्वैतं तद्भेद उच्यते।
तेषामुभयथा द्वैतं तैरयं न विरुध्यते॥४७६॥

प्रथम द्वित्वादि रहित वस्तु तत्त्व रहता है। उसमें द्वित्वादिकल्पना होती

है। अतः अद्वैत का ही विशेष द्वैत हुआ। द्वैतवादी द्वित्व (द्वैत) को अपेक्षा बुद्धिकल्पित भी बोलते हैं परमार्थ भी बोलते हैं। उनसे क्या विरोध करना है।

अपेक्षाबुद्धिजनितं द्वित्वादिकमुपेयते।
सत्यं चोपेयते तद्धि किमाश्चर्यमतः परम्॥४७७॥
द्वित्वादि कल्पितं बुद्ध्या सत्यत्वं तत्र कल्प्यते।
न रज्जुसर्पसत्यत्वनीत्या रज्जुर्विरुध्यते॥४७८॥

द्विता ही द्वैत है। द्वित्वादि को सभी बुद्धि (अपेक्षा बुद्धि) जन्य मानते हैं। फिर सत्य भी कहते हैं। क्या आश्चर्य है। (बुद्धिकल्पित होने से अपरमार्थ माना, मुखतः परमार्थ माना यही द्वैत (द्वित्व) में उभयथापन है। रज्जु सर्प को सत्य बोलने से रज्जु कैसे विरुद्ध (विरोध प्रयुक्त असिद्धतावाली) होगी।

न द्वित्वं जायमानं वा विनश्यद्वैक्षिकेन चित्।
न च वीक्ष्यं विशेषेण तद्धि रूपरसादिवत्॥४७९॥

द्वित्वादि को न जनमते हुए किसी ने देखा और न नष्ट होते हुए। और रूपरसादि विशेषरूप से अनुभव में आता है वैसे द्वित्वादि भी किसी विशेषरूप से अनुभव में नहीं आता है।

कर्गले (नोट में) रूप्यकत्वं न जायते न विनश्यति।
कल्पितं किन्तु जानन्ति सत्यं द्वित्वादिकं तथा॥४८०॥

नोटों में रूपयापन न उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है। वह सरकार जनता द्वारा कल्पित है। फिर भी उसे सत्य मानते हैं। वैसे द्वित्वादि भी है।

प्रत्युतैकत्वमप्येव कल्पितं लौकिकैर्धिया।
न हि रूपादिवत्तस्मिन् वैशेष्यं किंचिदीक्ष्यते॥४८१॥
द्वित्वत्रित्वबहुत्वादि व्यावर्तकतयोच्यते।
एकः पुत्रस्तनुजेकेत्यादौ तद्दर्शनादिह॥४८२॥

बल्कि एकत्व भी लोक कल्पित है। रूपरसादि के समान क्या उसमें विशेषता दिखती है। तीन आदि की व्यावृत्ति के लिये एक लडका और

एक लडकी है इत्यादि बोलते हैं।

अन्योन्याश्रयतैकत्वद्वित्वादौ तर्हिं ते भवेत्।
भवेत् सा पितृपुत्रादाविव तेन मृषापि सा॥ ४८३॥

तब एकत्वापेक्ष द्वित्वादि और द्वित्वाद्यपेक्ष एकत्व ऐसा अन्योन्याश्रय होगा। हो। जैसे पुत्रापेक्ष पितृत्व है पितृत्वापेक्ष पुत्रत्व है। अतएव यह सब परमार्थ नहीं है।

अतो ह्युभयथा द्वैतमित्यचार्यवरोऽब्रवीत्।
परमार्थ्येन चाऽपार-मार्थ्येनोभयथेति हि॥ ४८४॥

इसीलिये आचार्यवर ने ऊभयथा द्वैत बताया। परस्परापेक्षत्वात् अपरमार्थ है। व्यवहार में परमार्थ समझते हैं।

व्यर्था निराकृतिस्तस्माद् भ्राम्यतो भववर्त्मनि।
व्यर्थत्वान्मास्त्विति ब्रूते ह्यनिराकरणमस्त्विति॥ ४८५॥

इसलिये संसार में भ्रमित लोगों का निराकरण करना व्यर्थ है। व्यर्थ होने से ही यह प्रार्थना है। किसीका निराकरण करने में हम न लगें। परमार्थ तत्त्व अनुसन्धान में हम लगें यह तात्पर्य है।

अनिराकरणं मेऽस्तु

निराकरण सामान्याऽभावः स्वस्यापि चार्थ्यते।
अनिराकरणं मेऽस्त्वित्येवं साधनतत्परः॥ ४८६॥

साधक अपना भी निराकरण सामान्याऽभाव की प्रार्थना करता है। अनिरा० इत्यादि।

स्वानिराकरणं तत्त्वानिराकरणमेव वा।
नन्वत्र प्रार्थ्यते तावदनिराकरणमस्त्विति॥ ४८७॥
न मे 'मे'शब्दयोगेन स्वानिकरणं भवेत्।
स्वाभिप्रेतेऽपि मे शब्द प्रयोगस्यावलोकनात्॥ ४८८॥

पू. - अनिराकरणं मेस्तु का क्या अर्थ है? अपना अनिराकरण या अपनी बात का अनिराकरण? 'मे' शब्द जोडने पर भी फरक नहीं पडता।

देवदत्त सांख्य मत बोल रहा था. देवदत्त का खण्डन वेदान्ती यज्ञदत्त ने किया तो देवदत्त की बात का ही खण्डन अर्थ है।

अस्तूभयमिति ब्रूमः उभयस्यापि संभवात्।
अनिराकरणं मेऽस्तु ब्रह्मणा वा परेण वा॥४८९॥

उ. - दोनों अर्थ ले लो क्योंकि दोनों संभव है। ब्रह्म से या दूसरे से अनिराकरण हो।

योऽन्यथासन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा॥४९०॥
तात्पापस्य महान् दण्डो मृत्युदण्ड उदीरितः।
तत्राप्यसकृदेव स्यान्मृत्युदण्डोऽस्य पापिनः॥४९१॥
पुनरुज्जीव्य तस्यैव मृत्युदण्डः पुनः पुनः।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥४९२॥

ब्रह्मरूप आत्मा को अन्यथा समझनेवाले महा पापी ने क्या पाप नहीं किया? उस पाप का दण्ड है मृत्युदण्ड। सो भी बार-बार। फिर-फिर जलाकर मारें। यही नानात्वरूपी अन्यथा दर्शन के लिये मृत्योः स मृत्युमाप्नोति बताया।

माऽन्यथा वेदिषं ब्रह्मे-त्यत्र तात्पर्यमस्य तत्।
अन्यत् प्रागेव कथितं तत्सामान्योक्तिरत्र हि॥४९३॥

मैं ब्रह्म को अन्यथा न समझूं जिससे मेरा निराकरण हो। शेष पूर्वोक्त ही है।

सर्वं ब्रह्मौपनिषदमितति मद्विदितं मम।
अनिराकरणमस्त्वस्य मा शङ्का जनि चेतसि॥४९४॥

'सर्वं ब्रह्मोपनिषदं' ऐसा मैं कह रहा था॥ मेरा खण्डन कर मुझे संशय में ना डाले।

बहुभिर्विपरीतोक्तौ संशयो जायते नृणाम्।
श्रुत्वा वत्सतरीं भूयः शुनीं बभ्राम हि द्विजः॥४९५॥

बहुत से लोग विपरीत बोलने लगते हैं तो संशय होने लगता है।

ब्राह्मण बछडी ले जा रहा कई ठगों ने कुत्ती को कहां ले जा रहे हो पूछा तो बेचारे को भ्रम हो गया शायद मैं ही किसी गलती से कुत्ती को बछडी समझ रहा हूं।

भक्तंमन्या निराकुर्वन्त्यद्वैतं पारमार्थिकम्।
विपर्यस्यति जिज्ञासुस्तेनेति बहुधेक्षितम्॥४९६॥

कुछ भक्तमानी मक्खी गुड चखना चाहेगी या गुड में मिल जाना चाहेगी इत्यादि दुर्युक्तियों से पारमार्थिक अद्वैत का निराकरण करते हैं। उसमें साधारण श्रोता लडखडा जाते हैं।

खदन्ते गुडमुन्ने हि दूरे स्थित्वैव मक्षिकाः।
न मज्झन्ति तथा ब्रह्म स्वदन्तां दूरतो बुधाः॥४९७॥

मक्खी दूर से गुड को चखती है, न कि उसमें डूबती है। वैसे अलग रहकर ब्रह्म को चखो।

गुडं जडं तन्मिलनं हन्त भो मरणं भवेत्।
चैतन्यं ब्रह्म मिलनं पूर्णचैतन्यचित्सुखम्॥४९८॥

गुड जड है उसमें मिल जाना मरण है। ब्रह्म चैतन्य है उसमें मिलना पूर्णानन्द चिद्रूपता है।

तुच्छदृष्टान्तमात्रेण विपर्यस्यन्ति दुर्धियः।
तच्छृण्वतोऽपि हृद्यन्तरनिराकरणमस्तु मे॥४९९॥

ऐसे तुच्छ दृष्टान्त मात्र से दुर्मति भ्रमित हो जाते है। उसे सुन भी लूं तो भी अंदर से मैं अनिरस्त ही रहूं, दृढनिश्चयी रहूं।

किं चास्तु संमुखे नित्यमनिराकरणं वचः।
सतां मध्ये वसेयं ये ब्रह्मसत्त्वं विवृण्वते॥५००॥

और भी मेरे संमुख निराकरण वचन ही हो। ब्रह्म निराकरण पर वचन न हो। मैं संत पुरुषों के मध्य में ही रहूं जो महान पुरुष औपनिषद ब्रह्म का सत्त्व वर्णन ही करते हैं। कभी निराकरण वर्णन नहीं। तथा आत्मा का भी अस्तित्व वर्णन करते हैं निराकरण नहीं। शून्यवाद वार्त्ता नहीं करते।

महत्तमान्तर्हृदयात् सुधाधारा मुखच्युतः।
अस्तिवाचः सदा श्रोतु-मस्तु कर्णायुतं मम्॥५०१॥

महामहिम महात्माओं के हृदय के अंदर से निकली अमृत की धारायें जो मुख से प्रवाहित होकर वाणीरूप में प्रादुर्भूत हुई उन अस्ति वाक् (अनिराकरण वाक्) हमेशा सुनने के लिये हजारों कर्ण मुझे प्राप्त हो।

तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु

तदात्मन्येव निरते सन्तु धर्मास्तु ते मयि।
ये किलोपनिषत्सूक्ता-स्तत्त्वज्ञानप्रयोजना॥५०२॥

उस आत्मा में लगे हुए मुझ में वे धर्म उद्भूत हो जो उपनिषदों में तत्त्वज्ञान के प्रयोजन से बताये हैं।

प्रोक्तं ब्रह्मौपनिषदं तत् परामृश्यते तदा (तदा=तत्पदेन)।
तद् ब्रह्माऽऽत्मा तदात्मा स तस्मिन्निति तदात्मनि॥५०३॥
आत्मेति यद्यपि पदं परमात्मन्यपीष्यते।
तथाप्यात्मेति हार्दो हि बहुधा संप्रयुज्यते॥५०४॥
किं चायमात्मा ब्रह्मेति जीवात्मैव निगद्यते।
महावाक्यमिदं तावदात्मब्रह्मैक्यबोधकम्॥५०५॥

सर्वं ब्रह्मौपनिषदं ऐसा जो ब्रह्म पहले बताया वही यहां तत्पद से परामर्श किया है। ब्रह्मस्वरूप आत्मा में ऐसा यहां अर्थ है। यद्यपि आत्मापद का परमात्मा में प्रयोग इष्ट है तथापि लोकव्यवहार में हार्द आत्मा जीवात्मा ही मुख्य है। **अयमात्मा ब्रह्म** इस महावाक्य में भी आत्मा का वाच्यार्थ जीवात्मा ही मान्य है।

यत्त्वयं परमात्मा हि ब्रह्मेत्यर्थं प्रचक्षते।
तद् व्यर्थं सर्वलोकानां तदैक्यज्ञानसत्त्वतः॥५०६॥
ज्ञातस्य ज्ञापकत्वेन प्रामाण्यं च विहन्यते।
अयमित्येष प्रत्यक्ष - निर्देशश्च विरुध्यते॥५०७॥

बिभेत्यल्पश्रुताद्वेद इति मा चरितार्थय।
माऽतिक्रमीर्महावाक्य - मप्यौदार्यवाश्रयी॥५०८॥

कुछ लोग अयमात्मा ब्रह्म का अयं परमात्मा ब्रह्म अर्थ कहते हैं। वह व्यर्थ है। परमात्मा ब्रह्म है यह सबको मालूम है। आधिगतार्थबोधक होने से वाक्य भी अप्रमाण होगा। 'अयं' यह संनिकृष्ट प्रत्यक्ष बोधक शब्द है। आपके सामने आकर परमात्मा खडा नहीं है। अल्पश्रुत से वेद डरते हैं इत्यादि वचन चरितार्थ मत करो। कमसे कम महावाक्य पर तो स्वमताग्रह से अतिक्रमण न करो।

नितरां रमते यः सनिरतस्तत्र चात्मानि।
सर्वपुण्यैर्युतः स स्याद् ब्रह्मज्ञानापिभिः क्रमात्॥५०९॥

उस ब्रह्मरूप आत्मा में जो निरन्तर रमण करता है वह क्रमशः ब्रह्मज्ञान तक पहुंचानेवाले समस्त पुण्यों से युक्त होता है।

ब्रह्मदर्शिनमादाय भगवानपि सजगौ।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥५१०॥

ब्रह्मदर्शी को लेकर गीता में भी कहा-वही बुद्धिमान है, योगी है, सर्वसत्कर्मकारी है।

नन्वकृत्वैव कर्माणि तदात्मनिरतः कथम्।
सर्वपुण्यैर्भवेद्युक्त इति चेच्छृणु कारणम्॥५११॥
संप्लुतोदकदृष्टान्तात्तस्य सर्वफलाप्तितः।
तद्धर्तु सर्व पुण्यैः स नूनं सम्बन्धुमर्हति॥५१२॥
यावानर्थउदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥५१३॥

सर्व कर्म किये सर्व पुण्ययुक्त कैसे हो? संप्लुतोदक दृष्टान्त से सर्व फलाप्ति सिद्ध होती है तो उसका कारण सर्व पुण्य सम्बन्ध क्यों नही कह सकते? संप्लुतोदक दृष्टान्त का गीता श्लोक है-यावानर्थ इत्यादि। सर्ववेदेषु से सर्व पुण्यलाभ है।

नन्वेतज्ज्ञानिनः प्रोक्तं न त्वात्मनिरतस्य तत्।
निरतः प्राप्नुयाज्ज्ञान-मिति कृत्वा तथोच्यते॥५१४॥

पर यह आत्मज्ञानी की बात है आत्मनिरत की नहीं। आत्मनिरत आत्मज्ञान पायेगा ही।

तत्प्रार्थना कुतस्तर्हि मा भूद्विघ्नचयस्त्विवति।
यावदावश्यकं ताव-दाहात्रोपनिषत्स्विवति॥५१५॥

सर्व पुण्य प्राप्त ही होगा तो ते मयि सन्तु यह प्रार्थना क्यों? विघ्न ना आये इस के लिये। उपनिषत्सु विशेषण क्यों? उतने से अपना प्रयोजन है इसलिये।

ते च वेदानुवचनयज्ञाद्याः बहिरङ्गकाः।
शान्तो दान्त इति प्रोक्ता अन्तरङ्गाश्च संमताः॥५१६॥
शान्तिदान्त्यादि विरहे निरतिश्च न यद्यपि।
तथापि दृढसम्पत्त्यै प्रार्थ्या शान्त्यादिरेव च॥५१७॥

उपनिषत्सु धर्म कौन कौन? वेदानुवचन यज्ञादि तथा शमदमादि। यद्यपि शमदमादि न हो तो आत्मनिरति भी नहीं होगी। तथापि उनकी दृढता के लिये प्रार्थना है।

अपि चोपनिषत्सूक्ता सन्त्युद्गीथाद्युपास्तयः।
तेऽपि धर्मा इह ग्राह्या आत्मबोधोपपत्तये॥५१८॥

अन्य भी उपनिष्प्रोक्त उद्गीथोपासनादि धर्म है। आत्मबोधार्थ वे भी धर्म ग्राह्य हैं।

तत्तत्फलमुपास्तीनां तत्रैवावोचि यद्यपि।
तथापि तत्फलत्यागे कल्पन्ते बोधजन्मने॥५१९॥

यद्यपि कुछ फल उपासनाविधि स्थल में ही बताया है। आपयिता कामानां समर्धयिता कामानां इत्यादि तथापि इन अल्प फलों का त्याग करने से बोधोत्पत्ति होगी।

ननु नैवाकृतोपास्तेर्जीवन्मुक्तिसुखं भवेत्।
विदेहमुक्तिरेवास्य प्रारब्धप्रक्षयोत्तरम्॥५२०॥

न हि ज्ञानोत्तरोपात्तोपास्त्या मुक्तिसुखं भवेत्।
अकर्त्रभोक्तृविज्ञाने तदुपास्तेरसंभवात्॥५२१॥
न च प्रार्थनयोपास्ति - धर्मसम्पत्तिदिष्यते।
यतः प्रयतमानस्य प्रार्थना सहकारिणी॥५२२॥

पू. - अकृतोपास्ति को जीवन्मुक्ति सुख प्राप्त नहीं होता। प्रारब्धक्षयोता विदेह मुक्ति ही संभव है। ज्ञानोत्तर उपासना कर लो। नहीं। अकत्रात्म विज्ञानोत्तर उपासना संभव नहीं। इसा प्रार्थना से उपास्ति धर्म भी होगा। प्रार्थना सहकारी मात्र है। प्रयत्न स्वयं करना होगा।

सत्यमस्तु कृतोपास्तेः प्रतिबन्धकहानये।
उपास्तिधर्मजनने प्रार्थना सहकारिणी॥५२३॥

बात सही है। यदि पूर्वकृतोपास्ति को ही जीवन्मुक्ति सुख होता है तो उसमें प्रतिबन्धकरूप से उपस्थित दोष हानि के लिये यह प्रार्थना सहकारिणी बनेगी।

प्रार्थनायाः प्रकर्षार्थं द्विरुक्तिश्च समादृता।
रक्ष रक्ष महादेवेत्यादिष्येवमवेक्षणात्॥५२४॥

ते मयि सन्तु की द्विरुक्ति प्रार्थना में प्रकर्ष लाने के लिये है। जैसे रक्ष रक्ष महादेव इत्यादि

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

आधिदैविकशान्तिः स्यात् शान्तिः स्यादाधिभौतिकी।
आध्यात्मिकी च शान्तिः स्या-दुपसर्गप्रणाशिनी॥५२५॥

आधिदैविक आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक उपसर्ग शान्ति हो।

वाक्प्राणचक्षुरादीनां सत्त्यधिष्ठातृदेवता।
अभिद्रुत्यासुरैर्विद्धाः शुभाशुभकरा इह॥५२६॥
शमं प्रयान्तु ताः सर्वाः यतः शुभमयेमहि।
आसुरं भावमुत्सृज्य वर्तेमहि वयं तथा॥५२७॥

वाक् प्राणः चक्षु इत्यादि के अधिष्ठाता देवता है। उन्हें पहले असुरों ने अभिद्रवण कर विद्ध किया था। आज भी हम आसुरभाव से विद्ध कर

रहे हैं। और वे देवता हमारा शुभ अशुभ करते रहते हैं। वे देवता अब शान्त हो जिससे हम शुभ प्राप्त करें। हम आसुरभाव को छोडकर दैवीसंपदा संपन्न हो रहें।

भूतानि यान्तु शं तुच्छभावेनापकृतानि मे।
संप्रत्याद्रियमाणानि सर्वं ब्रह्मेति भावतः॥५२८॥

भूत भी शम को प्राप्त हो जिन्हें तुच्छ भाव से अपकृत हमने किया था। संप्रति हम सर्वं ब्रह्म ऐसे भाव से आदर करते हैं। वे पूर्ववैरादि त्यागें।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैवेतिवाक्यतः।
सर्वं ब्रह्मेति भावेन सर्वभूतानि पश्यति॥५२९॥
मयि सर्वाणि भूतानि ब्रह्मभावमवेक्ष्य च।
शान्तिं प्रयान्तु कल्पन्तां प्रशमाय ममापि च॥५३०॥

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्थेव भजाम्यहं' के अनुसार सर्व भूतों को सर्वं ब्रह्मोपनिषदं इस प्रकार देखते हुए मुझ में भूत (प्राणी) भी ब्रह्मभाव देखकर स्वयं शान्ति प्राप्त करें और इस प्रकार मेरी भी शान्ति के लिये उपयुक्त बनें।

धातुभिर्धार्यते देहो वातपित्तकफैः समैः।
तद्वैषम्ये प्रजायेरन्नामया दुःखदायिनः॥५३१॥
साधकानां तदानन्द-स्वरूपमभिभूयते।
ते चापि प्रशमं यान्तु साम्यदर्शनपुण्यतः॥५३२॥
त्रैगुण्यान्मनसश्चापि नाना क्लेशा भवन्ति ये।
ते चापि प्रशमं यान्तु समताभ्यासिनो मम॥५३३॥

समभावी वातपित्तकफ से शरीर धारण होता है। विषमता में नाना रोग होते हैं तब साधकों का आनन्दात्म स्वरूप अभिभूत होता है। साम्यदर्शन पुण्य से वे शान्त हो। त्रिगुण के कारण मन में भी वैषम्य क्लेश होता है। वह भी समत्वाभ्यास से शान्त हो।

इति श्रीकाशिकानन्दयतिना कृतिना कृतम्।
वृत्तं षष्ठं सामवेद शान्तिव्याख्यानवार्तिकम्॥५३४॥

ॐ

ॐ वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता। मनो मे वाचि प्रतिष्ठितम्।
आविरावीर्म एधि। वेदस्य म आणीस्थः। श्रुतं मे मा
प्रहासीरनेनाधीतेनाहोरात्रान् संदधाम्यृतं वदिष्यामि।
सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु।
अवतु माम्। अवतुवक्तारमवतु वक्तारम्॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

मे=मेरी वाक्=वाणी मनसि=मन में प्रतिष्ठिता=प्रतिष्ठित हो। मे=मेरा मनः=मन, वाचि=वाणी में प्रतिष्ठितं=प्रतिष्ठित हो। आविः=नित्य अपरोक्ष ब्रह्म म=मेरे लिये आविः=आविर्भूत एधि=हो। तुम दोनों (मन और वाणी) म वेदस्य=मेरे प्रास वेद के (वेदस्थ के) आणी=दो अक्षकीलक स्थः=हो। मे=मेरा श्रुतं=अधीत वेद को मा प्रहासीः=छूटने मत दो। अनेन=इस अधीतेन=वेदाध्यनंन से अहोरात्रान्=दिन-रात को संदधामि=जोड दूं, अध्ययन से एक कर दूं। ऋतं=पारमार्थिक सत्य को ही वदिष्यामि=कहूँगा। सत्यं=व्यवहार काल में व्यावहारिक सत्य को ही वदिष्यामि=कहूँगा। तत्=वह पारमार्थिक सत्य मां=मेरी अवतु=रक्षा करें। तत्=वही परमार्थि सत्य वक्तारं=प्रवक्ता आचार्य की अवतु=रक्षा करें। अवतु माम्=वह मेरी रक्षा करें अवतु वक्तारं=प्रवक्ता आचार्य की रक्षा करें। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः-तापत्रय शान्ति हो। त्रिविध विघ्न शान्ति हो।

योऽपरोक्षस्वरूपोऽपि मायाशून्यायितः परः।
अन्योन्यस्यमनोवाचा-साम्यगम्यः सनोऽवतु॥ १॥

जो अपरोक्ष आविर्भूत स्वरूप होने पर भी, मायावशात् नहीं के बराबर हो गया, परस्पर प्रतिष्ठित मनवाणी समभाव से गम्य है, वैसा वह परमात्मा हम सबकी रक्षा करे।

करोतु कारुण्यमुमासहायः।
करोतु कारुण्यमपौरुषीगीः॥

करोतु कारुण्यमृतोपदेष्टा।
करोतु कारुण्यमनाविलात्मा॥ २॥

ज्ञानधिष्ठाता महादेव हम पर दया करे। अनादि वेदशास्त्र हम पर कृपा करें। ब्रह्मोपदेष्टा गुरु हम पर करुणा करे। आत्मकृपा हम पर बनी रहे।

शान्तिमन्त्रप्रवचनं यद्व्याधयि मया पुरा।
उक्तानुक्तदुरुक्तर्थाश्चिन्त्यन्ते तत्र लेशतः॥ ३॥

शान्ति मन्त्र पर जो प्रवचन पहले मैंने किया उसमें उक्त अनुक्त तथा दुरुक्त अर्थों पर संक्षेप में चिन्तन प्रस्तुत करते हैं।

निश्चितं परमं श्रेयो निःश्रेयसमुदीर्यते।
नित्यत्वात्परमानन्दरूपतत्त्वाच्च तथाविधम्॥ ४॥

नित्य एवं परमानन्दरूप होने से निःश्रेयस (मोक्ष) है।

तदात्मविद्यया लभ्यं विद्ययाऽमृतमश्नुते।
तदथोस्तूपनिषदो वेदाः सर्वे तपांस्यपि॥ ५॥

वह (मोक्ष) आत्मविद्या से ही प्राप्य है यह श्रुति कहती है- विद्ययामृतमश्नुते। तदर्थ ही उपनिषद, सभी वेद एवं तप आदि हैं।

अनिश्चितमनित्यत्वात् स्वार्गाद्यभ्युदयाभिधम्।
ऐहिकं च तथा श्रेयो धनधान्यादिलक्षणम्॥ ६॥

स्वर्गादि अभ्युदय तथा ऐहिक धनादि श्रेय अनित्य होने से निश्चित श्रेय नहीं।

इह कर्मचितो लोको यथा हि क्षीयते तथा।
लोकः पुण्यचितोऽमुत्र क्षीयतेऽसाविति श्रुतेः॥ ७॥

'तद्यथेह' इत्यादि श्रुति में उक्तार्थ स्पष्ट है।

तस्मान्निःश्रेयसायाहुर्यत्नं कार्यं महर्षयः।
तद्विघातोपसर्गादिशमनार्थं च पण्डिताः॥ ८॥

इसलिये मोक्षप्राप्त्यर्थ ही यत्न करना चाहिये तथा उसमें विघ्नरूप से उपस्थित उपसर्ग शमनार्थ भी ऐसा विद्वान लोग मानते हैं।

ननु मोक्षं विदन्तोऽपि साधयन्ति धनादिकम्।
अद्यार्थमायत्यर्थं च तदनित्यविदो बुधाः॥९॥

पू. - मोक्ष के बारे में जानते हैं, धनादि की अनित्यता के बारे में भी जानते हैं फिर भी वर्त्तमान कालार्थ और उत्तर कालार्थ धनाद्यर्थ पण्डित लोग भी धनादि निमित्त यत्न करते हैं।

न च जीवंन्नरो भद्र-शतानि परिपश्यति।
न हि बोधमियान्नित्य-मुमूर्षुरिति सांप्रतम्॥१०॥

यही कहें कि सुन्दर जीवनवाला ही शतमंगल दर्शन कर सकता है। रोगी उपतापी मरियल खटिया में पडे रहनेवाला क्या अपना कल्याण करेगा अतः वर्तमान जीवन सौगुण्यार्थ तथा उत्तर जीवन सौगुण्यार्थ यत्न करना उचित ही है तो उस पर हमारा कहना यह है कि-

एवं सत्यायतिर्नाम विद्यते स्वर्गगामिनाम्।
कपूयचरणानां हि कपूयजननश्रुतेः॥११॥

तब स्वर्ग का भी उत्तरकाल सुरक्षित है अतएव स्वर्गार्थ यत्न भी उचित है। कपूयाचरणों की कपूय योनि प्राप्ति बतायी है।

न च स्वर्गगतानां न कैवल्यमिति सांप्रतम्।
इन्द्रादेर्नारदादेश्च विज्ञानोद्भवदर्शनात्॥१२॥

यह भी कहना सही नहीं है कि स्वर्ग जानेवालों को मोक्ष या ज्ञान नहीं होता। देवरूप इन्द्र देवर्षि नारद आदि को ज्ञानोत्पत्ति श्रुति में बतायी है।

ज्ञानं चैकान्तिकफलं भाष्यकारा बभाषिरे।
तस्मात् स्वर्गादिकृत्कर्म कर्तव्यान्येव सूरिभिः॥१३॥

और ज्ञान ऐकान्तिक फलदायी है ऐसा भाष्यकार कहते हैं। अतः स्वर्गादिदायी कर्म भी कर्तव्य है। स्वर्गादि प्राप्ति भी उचित है।

न चापवादरूपोऽयमिन्द्रादिरिति सांप्रतम्।
बहूनामपरेषां च मोक्षादिप्राप्तिवर्णनात्॥१४॥
ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्॥१५॥

यह कहें कि इन्द्रादि अपवादमात्र है उत्सर्ग नहीं। नहीं। उर्ध्वलोकगत अनेकों का ज्ञानमोक्षादि वर्णन है। ब्रह्मलोक में जो पहुंच जाते हैं वे महाप्रलय में ब्रह्म के साथ ही मुक्त होते हैं बताया है।

ब्रह्मलोकं गतानां तद् न स्वर्गमिति सांप्रतम्।
प्रत्यबुध्यत देवानां यो य इत्यादिकश्रुतेः॥१६॥

ब्रह्मणा सह इत्यादि ब्रह्मलोक गतों की बात है। स्वर्गवासियों की नहीं, कहें तो वह भी ठीक नहीं। 'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्' इत्यादि श्रुति में सर्व देव सामान्यरूप से यह बताया है।

अत्राहुरायतीच्छुर्न स्वर्गादीन् कामयेत सन्।
स्वर्गादिभोगनिरता योगं सन्दधतां कथम्॥१७॥

इस पूर्व पक्ष का उत्तर यह देते हैं कि उत्तरकाल की भलाई चाहनेवाला स्वर्गादि कामना नहीं कर सकता। स्वर्गादिभोगेच्छु योगी कैसे बनेगा?

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥१८॥
इत्येवं भगवानाह लोके भोगे प्रसज्जताम्।
स्वर्गभोगरतानां तु का वार्ता योगसंपदि॥१९॥

गीता में बताया हैं कि भोगैश्वर्यासक्त की समाधि में एकाग्र बुद्धि नहीं होती। जब लौकिक भोग में यह बात है तो स्वर्गभोगसक्ति कैसे समाधि में लगेगी?

इमं मानवमावर्तं नावर्तन्त इति श्रुतिः।
अन्यावर्तं ब्रह्मलोकादावर्त्स्यन्निति गम्यते॥२०॥

ब्रह्मलोक की बात है इमं=इस वर्तमान आवर्त में नहीं पडते कहने से कल्पान्तरीयावर्त में पडेगा ऐसा अर्थ निकलता है।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
इत्येवं ब्रह्मलोकाद-प्यावृत्तिं भगवान् जगौ॥२१॥

ब्रह्मलोकपर्यन्त सभी पुनरावृत्तिवाले हैं ऐसा भगवान भी कहते हैं।

ननु चैकान्तिकफलं ज्ञानमित्युररीकृतम्।
आवर्त्स्यन्त्यन्यमावर्तमित्यप्येव कथं तदा॥२२॥
यदि नैवाजनि ज्ञानं सद्यः कल्पान्त एव वा।
आवर्तन्तां परं तेन कः पुमर्थोऽस्ति साधितः॥२३॥

पू. - ज्ञान को ऐकान्तिक फल माना तो अन्यकल्प में कैसे पुनरावृत्ति हो? यदि ज्ञान ही न हुआ तो अनावृत्ति प्रश्न कहां? चाहे आज पुनरावृत्ति हो चाहे दसकल्प बाद। कौनसा पुरुषार्थ होगा?

ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्॥२४॥

ब्रह्मा के साथ ब्रह्मलोकवासी प्रलय में युक्त होते हैं इस स्मृति से ज्ञान और अपुनरावृत्ति दोनों सिद्ध है।

इति स्मृतेश्च पुनरावृत्तिर्न ब्रह्मलोकिनाम्।
तस्मादिमं दृश्यमिति हेतुत्वेन विशेषणम्॥२५॥
दृश्यत्वेन मृषारूपं नावर्तन्त इतीर्यते।
विमुक्तं सत्यमायान्ति ज्ञानान्मुक्ता भवन्तिने॥२६॥

इसलिये इमं यह हेतुरूप विशेषण है। दृश्य होने से मिथ्या इस आवर्त में वे नहीं पडते।

न च तत्र गुरुर्नैवास्त्युपदेष्टेति सांप्रतम्।
प्रजापतिर्ह्यस्ति गुरु-रिन्द्रायोपदिदेश यः॥२७॥

ब्रह्मलोक में ज्ञानदाता गुरु नहीं यह भी गलत है। इन्द्र को उपदेश देनेवाले प्रजापति गुरु वहां हैं।

अत्रोच्यते वर्षशतं ब्रह्मचर्यमुवास सः।
सर्वान् कामान् परित्यज्य विरक्तश्च शमादिमान्॥२८॥
न च पश्चाद् गतः स्वर्गं भोगान् बुभुज इत्यपि।
विरक्त एव बुभुजे लोकार्थं जनकादिवत्॥२९॥

उ. - इन्द्र की बात अलग है। सौ वर्ष अकाम, विरक्त शमादियुक्त होकर इन्द्र ने ब्रह्मचर्यपालन किया। पुनः स्वर्ग में आकर भी भोगी नहीं

बना। लोकार्थ जनकादिवत् रहा।

प्रतर्दनायोपदेशे दर्शिताऽसङ्गता निजा।
इन्द्रेणान्ये तु वैराग्यं नैवापुः परलोकिनः॥ ३०॥

इन्द्र की असंगता प्रतर्दनोपदेश में स्पष्ट है। दूसरे विरक्त न होने से ज्ञान प्राप्त नहीं हुए।

तथा च यो यो देवाना-मिति वैरल्यमुच्यते।
अल्पीयांसः सुरास्तत्त्वमबुध्यन्त न सर्वशः॥ ३१॥
मनुष्याणां सहस्रेषु यो यस्तत् प्रत्यबुध्यत।
स एव ब्रह्म तदभूदित्यत्र स्पष्टमेव तत्॥ ३२॥

अतः विरला ही ब्रह्म को जान लेता है यही अर्थ है। मनुष्यों में वह स्पष्ट है। मनुष्याणां सहस्रेषु यह गीतोक्ति है।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोर्जुन।
इति स्पष्टमुवाचापि भगवानर्जुनं प्रति॥ ३३॥
नन्वेवं सत्यमावृत्तिः शब्दादिति विरुध्यते।
नैवं सकामनिष्काम - भेदेनोभयसंगतेः॥ ३४॥
अकामा लब्धबोधा ना-ऽऽवर्तन्ते ब्रह्मलोकतः।
आवर्तन्ते तु कल्पान्ते सकामा ज्ञानवर्जिताः॥ ३५॥

इसीलिये गीता में ब्रह्मलोक से भी पुनरावृत्ति बतायी। अनावृत्तिः शब्दात् इस न्याय से निष्काम की अनावृत्ति और कामी अनधिकारी होने से ज्ञान प्राप्त कर कल्पान्त में वापिस आता है ऐसा विभाग कर समझना चाहिये।

किं च दीर्घप्रतीक्षा न ब्रह्मलोकेऽपि युज्यते।
तस्मादत्रैव मोक्षाय यत्नः कार्यो मुमुक्षुणा॥ ३६॥

और ब्रह्मायुपर्यन्त मुमुक्षु मोक्ष की प्रतीक्षा करेगा क्या। अतः मोक्षार्थ यहीं पर यत्न करे।

सुखदुःखात्मके लोके वैराग्यं मानवेऽञ्जसा।
जायते तन मोक्षाय कार्यो यत्नोऽत्र सद्धिया॥ ३७॥

न हि स्वर्गादिकं भोगं भुञ्जानस्तं जिहासति।
न चान्तरैव वैराग्यं मुमुक्षा संप्रजायते॥ ३८॥
परीक्ष्य ब्राह्मणो लोकान् निर्वेदं प्राप्य सद्गुरुम्।
उपेयादिति निर्वेदोऽस्त्यधिकारिविशेषणम्॥ ३९॥

सुखदुःखात्मक मानवलोक में वैराग्य आसानी से विवेकी को हो जायेगा। अतः यहीं मनुष्यलोक में ही मोक्ष की बात सोचनी चाहिये। स्वर्गादि भोग भोगते समय वैराग्य की बात दूर रहती है। वैराग्य के बिना तीव्र मुमुक्षा नहीं होगी। **'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात्'** इत्यादि श्रुति में वैराग्य को अधिकारी विशेषण कहा है।

वैराग्यं च मुमुक्षुत्वं तीव्रं यस्य तु विद्यते।
तस्मिन्नेवार्थवन्तः स्युः फलवन्तः शमादयः॥ ४०॥
शान्तदान्तादिरात्मन्ये-वात्मानं पश्यतीति हि।
श्रुतिः शमदमादीनां फलं प्राहात्मदर्शनम्॥ ४१॥
पारम्पर्येण तु फलमात्मदर्शनमिष्यते।
तद्योग्यता तु साक्षात्स्यादात्मनिग्रहलक्षणः॥ ४२॥

शान्तो दान्त इत्यादि श्रुति में शमादि का चरमफल आत्मदर्शन बताया। साक्षात् कार्य आत्मनिग्रहरूपी दर्शनयोग्यता है।

भोगत्यागेन वैराग्यं भोगत्यागो विरागतः।
इत्यन्योन्याश्रयत्वेन स्वर्गे नोभयकल्पना॥ ४३॥
उद्योगः कलहः कण्डूर्द्यूतं मद्यं परस्त्रियः।
आहारो मैथुनं निद्रा सेवनात्तुविवर्धते॥ ४४॥

भोग को त्यागो तो वैराग्य होगा, वेराग्य हो तो भोग त्यागेगा। यह अन्योन्याश्रय होने से दोनों नहीं बनते। नीतिकार कहते हैं-उद्योग, कलह, खुजली, जुआ, मद्य, परस्त्री, आहार, मैथुन और निद्रा ये सेवन से बढते जाते हैं।

स्वर्गे नेन्द्रियशैथिल्यं न जरामरणं तथा।
न दुःखं विषयाभावः कुतो वैराग्यसंभवः॥ ४५॥

स्वर्गादि में न इन्द्रियशैथिल्य है, न बुढापा है, न मरण भय है,. न दुःख है और न विषयों की कमी है। वैराग्य स्वतः कैसे होगा?

यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम्॥४६॥
अनन्तरं बहुसुखभोगानन्तरमित्यदः।
ग्रस्तत्वमन्यथा नैव घटते भिन्नकालयोः॥४७॥
पतन्नेव पतामीति विद्यान्न प्राक् तत्कल्पनापि हि।
वैराग्यं येन जायेत क्वापि स्वर्भोगभोगिनः॥४८॥

अर्थवाद श्रुति में भी बताया है-स्वर्ग वह सुख है जो दुःखमिश्रित नहीं। उत्तरदुःखग्रस्त नहीं, अभिलषित सर्व विषोपस्थापक है। अनन्तरं का बहुत सुखभोग के बाद अर्थ है। स्वर्गोत्तर सुख भिन्नकालीन होने से उससे पूर्व सुखग्रस्त कैसे होगा। बस स्वर्ग से गिरने लगा तो ही होश आयेगा हाय! गिर रहा हूं। गया सारा सुख। पहले ही भावि दुःख कल्पना से सुखग्रस्त नहीं होता यह अर्थ समझ सकते हैं। वैसी कल्पना होती तो भी कुछ वैराग्य होता। तात्पर्य, स्वर्ग में वैराग्य की संभावना भी नहीं हो सकती है।

तस्माजातं यदि ज्ञानं नोत्क्रमिष्यत्यसौ सुधीः।
नाज्ञस्योत्क्राम्यतो ज्ञानं ब्रह्मलोकेऽविरागतः॥४९॥
ततः प्रारब्धशेषेण वामदेवादिवद् बुधाः।
ब्रह्मलोकं गता मन्ये मुच्येरन् ब्रह्मणा सह॥५०॥
इत्थं पुराणप्रामाण्य-लब्धये योजनेष्यताम्।
प्राप्यं लोके सर्वथाऽत्र ज्ञानं यत्नेन मानुषे॥५१॥

इसलिये यहां यदि ज्ञानी हो गया तो **'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति'** के अनुसार ब्रह्मलोकार्थ उत्क्रमण नहीं होगा। उत्क्रमण करनेवाला ज्ञानी न हो तो ब्रह्मलोक में महाभोग स्थान में वैराग्य के न होने से ज्ञान की संभावना ही नहीं है। तब यही निष्कर्ष निकालते हैं कि वामादेवादिवत् भोग प्रारब्ध शेष होने से ज्ञानी ब्रह्मलोक जायेगा। और ब्रह्मा के साथ मुक्त होगा ऐसा **'परस्यान्ते कृतात्मनः'** इत्यादि पुराणवचन का प्रामाण्या

ग्रह हो तो अर्थ करना चाहिये। वह पुराणवचन में अर्थवाद भी हो सकता है। चाहे जो भी मानो, ज्ञान तो इसी मानुष लोक में ही प्राप्त करना होगा।

तयोर्ध्वमायन्नित्यादि-ष्येवं योज्यतां बुधैः।
यथायोग्यं यथान्यायमिति सर्वं समञ्जसम्॥५२॥

'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' इत्यादि इसी प्रकार योग्यतानुसार और न्यायानुसार योजनीय है। अतः सभी समंजस है।

बोधार्थं यतमानेषु विघ्नाः समभियुञ्जते।
देवाश्च मानुषाश्चैव भौतिकाश्चाप्यनेकधा॥५३॥

किन्तु बोध प्राप्त्यर्थ यत्न करते समय दैव, मानुष एवं भौतिक नाना विघ्न आते हैं।

पृथोर्मखं व्यहन्निन्द्रः शातक्रतवशङ्कया।
तपश्च विश्वामित्रादे-र्नानोपायं समाश्रयन्॥५४॥

दैव विघ्न जैसे इन्द्र ने राजा पृथु के शतक्रतु होने की शंका में यज्ञ विघ्न किया था। विश्वामित्रादि के तप में विघ्न डाला था।

ऐहिकेऽभ्युदयेऽप्येव विघ्नानादधते खलाः।
पामश्रेयसि पुनः किं वक्तव्यं विघातने॥५५॥

मानुष विघ्न जैसे कोई अच्छा काम करने लगे तो स्वजन विघ्न डालते हैं। परमश्रेय में भी यही बात है।

स्वप्रारब्धविशेषाच्च विघ्नो मध्ये प्रवर्तते।
प्रारब्धं मृगरूपेण भारतस्यागमत् पुरा॥५६॥

अपने प्रारब्ध से भी विघ्न होता है। मृगशिशुरूप से भरत का प्रारब्ध विघ्नरूप आया।

स्वप्रारब्धवशादेव विघ्नः प्रायः प्रवर्तते।
तदीयशमनायायं शान्तिपाठो विधीयते॥५७॥

प्रायः अपने ही प्रारब्ध से विघ्न आते हैं। उसके शमन के लिये शान्तिपाठ विधान है।

ननु प्रारब्धनाशो न जायते भोगमन्तरा।
तत्कथं शान्तिपाठेन विघ्नप्रारब्धनिर्हृतिः॥५८॥
सेतुं दृष्ट्वा तरत्येष ब्रह्महत्यामिति स्मृतेः।
नश्येत् प्रारब्धमिति चेत् तदप्रारब्धगोचरम्॥५९॥
गुरुं हुंकृत्य तुंकृत्य विप्रं निर्जित्य वादतः।
श्वानयोनिशतं भुक्त्वा चाण्डालेष्वभिजायते॥६०॥
सेतुं स दृष्ट्वा चाण्डालो ब्राह्मणो जायते किमु।
ततोऽप्रारब्धविषयं प्रायश्चित्तवचो भवेत्॥६१॥

पू. - भोगे बिना प्रारब्धनाश नहीं होता यह नियम है तो शान्तिपाठ से विघ्न प्रारब्धनाश कैसे होगा? सेतुदर्शन से ब्रह्महत्या को तर जाता है ऐसा वचन है तो प्रायश्चित्त से प्रारब्धनाश होगा कहो, नहीं। वह प्रारब्धेतर विषयक है। गुरु को हुंकार तुंकारादि करनेवाला सौ बार श्वान योनि पाकर चाण्डाल बनता है बताया है। क्या वह चाण्डाल सेतुदर्शन से ब्राह्मण बन जायेगा?

मैवं मन्दतरं मन्दं मध्यं तीव्रं महत्तरम्।
इति पञ्चविधं प्राहुः प्रारब्धं संग्रहाद् बुधाः॥६२॥

उ. - ऐसा नहीं। पांच प्रकार का प्रारब्ध होता है। मन्दतर, मन्द, मध्य, तीव्र और महत्तर।

विवेकमात्रतो नश्येत् पापं मन्दतरं सताम्।
धावत्सु किल यानेषु विवेक्यग्रे न संपतेत्॥६३॥
मृत्योः प्रारब्धमास्ते चेन्मरिष्यामि न संशयः।
नो चेद् ध्वंसेत शकट इति को लङ्घयेत्सृतिम्॥६४॥
अल्पयत्नेन यन्नश्येत् प्रारब्धं मन्दमेव तत्।
औषधेनामयं घ्नन्ति लोका मन्दत्वहेतुना॥६५॥
मध्यमीश्वरसंस्मृत्या शान्तिपाठादिनापि च।
स लौकिकप्रयत्नेन प्रारब्धमघमुद्धरेत्॥६६॥
तीव्रं योगेन तपसा प्रारब्धं घ्नन्ति योगिनः।
न निर्वापयितुं शक्तो विधातापि महत्तरम्॥६७॥

मन्दतर प्रारब्ध विवेक से ही टल जायेगा। ट्रेन दौड रही है उसके आगे कौन छलांग मारेगा। प्रारब्ध हो तो मरूंगा, नहीं तो गाडी चकनाचूर होगी ऐसा कौन सोचेगा? यह मन्दतर हुआ। दवा आदि से रोगादि मिटेगा तो वह मन्द है। ईश्वरस्मरण, मृत्युंजय जप, शान्तिपाठादि से जो मिटे वह मध्य है। योग, तप आदि से मिटनेवाला तीव्र है। महत्तर (तीव्रतर) प्रारब्ध को ब्रह्मा भी नहीं मिटा सकते। वह अवश्यभोग्य है।

मन्दतीव्रादिकं सर्वं कल्प्यं फलबलाद् बुधैः।
मन्दादि संभावनया प्रतीकाराय यत्यते॥६८॥

मन्द तीव्रादि फलबल से कल्प्य है। मन्द मध्यादि संभावना से यत्न किया जाता है। मध्यम पाप प्रारब्ध सोचकर शान्तिपाठ करना उचित है।

अस्ति चेन्मध्यमं पापं शान्तिपाठाच्छमिष्यति।
नो चेत् पुण्यं भवत्येव ज्ञानप्राप्तिसहायकम्॥६९॥

मध्यम पाप प्रारब्ध हो तो मेरे शान्तिपाठ से उसका शमन होगा। न हो तो भी शान्तिपाठ पुण्य है, ज्ञान प्राप्ति में सहायक होगा ही ऐसा समझकर शान्तिपाठ किया जाता है।

एतत्संक्षेपतः प्रोक्तमनेकविधसंभवात्।
प्रसङ्गाभावतः पुण्यप्रारब्धं न विवेचितम्॥७०॥

यह संक्षेप से कहा और भी अनेक प्रकार का प्रारब्ध संभव है। पुण्य प्रारब्ध भी नाना है। किन्तु प्रसङ्ग न होने से उसका वर्णन नहीं किया।

इत्थं प्रारब्धमप्येनो मार्ष्टुं यत्नेन शक्यते।
शान्तिपाठादयस्तेन कर्तव्याः श्रेय इच्छता॥७१॥

इस प्रकार प्रारब्धरूप पापविशेष का भी मार्जन पुरुषार्थ से संभव है यह सिद्ध होता है। अतः श्रेयोऽर्थी के लिये शान्तिपाठादि अवश्य कर्तव्य है।

अनघेन कृतः शान्ति-पाठो ननु भवेद् वृथा।
विघ्नशान्तिं समुद्दिश्य यदा शान्तिः प्रपठ्यते॥७२॥
न च पुण्यविशेषोऽस्य भवेदित्यपि सांप्रतम्।
उद्दिष्टमेव भवति फलं काम्येषु कर्मसु॥७३॥

मैवं न काम्यकर्मेदं किन्तु नैमित्तिकं मतम्।
नित्यादिकं च सफलं मतं वेदान्तवेदिनाम्॥ ७४॥

पू. - जिसका अध्ययन में विघ्नकारी पाप ही नहीं है उसका शान्तिपाठ व्यर्थ होगा। यह कहें कि पाप नहीं होगा तो शान्तिपाठ से पुण्य हो जायेगा जो ज्ञानोद्भव सहकारी होगा। नहीं। विघ्ननाशकामना से शान्तिपाठ करने पर कामित फल ही माना गया है। उ. - ऐसी बात नहीं। शान्तिपाठ काम्य कर्म नहीं है। यह नैमित्तिक कर्म है। उपनिषदध्ययन से पहले और बाद शान्तिपाठ करो। नित्यनैमित्तिक कर्मों का भी फल भाष्यकारादि ने व्यवस्थापित किया है।

निरघेन कृतः पाठो मा भूद्विघ्नविनाशनः।
भवेदध्ययनं तेन सन्मतेवीर्यवत्तरम्॥ ७५॥
विद्यया श्रद्धया चोपनिषदा क्रियतेऽत्र यत्।
तद्वीर्यवत्तरं कर्म भवतीति श्रुतौ श्रुतम्॥ ७६॥

निष्पाप व्यक्ति का शान्तिपाठ विघ्न पापहारी न हो, किन्तु तत्पूर्वकृत अध्ययन वीर्यवत्तर होगा। **यदेव विद्यया क्रियते श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति** ऐसा श्रुति में बताया है। शान्तिपाठ उपनिषतरूप है ही।

यत्तु पापभ्रमेणैव शिष्टाचारानुरोधतः।
प्रायश्चित्तं यथा तद्वच्छान्तिपाठं जगुर्बुधाः॥ ७७॥
तन्न सत् तावताप्येव वैयर्थ्यं नैव वार्यते।
मुक्तिकोपनित्प्रोक्त-विध्यानर्थक्यं च जायते॥ ७८॥

कुछ लोगों का कहना है कि पाप न होने पर भी पापभ्रम से प्रायश्चित्त जैसे करते हैं, शिष्टाचार उसमें प्रमाण भी बताते हैं, वैसे शान्तिपाठ में भी है। परंतु उनका वह कथन समीचीन नहीं है। उतने से शान्तिपाठ वैयर्थ्य का कारण कैसे होगा? मुक्तिकोपनिषत् में जो तत्तत् शान्तिविधान किया है उसका अप्रामाण्यवारण कैसे होगा?

सति विघ्ने तस्य नाशः फलमित्यप्यसद्वचः।
न कुर्यान्निष्फलं कर्मेत्येतेनैव विरोधतः॥ ७९॥

विघ्न पाप होने पर उसका नाश होता है ऐसा विध्यर्थ करेंगे तो भी न कुर्यान्निष्फलं कर्म इस वचन से विरोध निश्चित है।

निषिद्धचरणादेव तस्य पापं भविष्यति।
निषिद्धं भ्रममात्रेण निष्पापं नोपजायते॥८०॥
न हि ब्रह्मवधः पुण्यमिति भ्रान्तस्य तद्वधः।
न पापमिति केनापि शक्यस्थापन इष्यते॥८१॥

निष्फलं कर्म निषिद्ध होने से उससे पाप होगा। भ्रममात्र से वह सफल कर्म नहीं बनेगा। ब्रह्मवध पुण्य है ऐसे भ्रममात्र से वह अनिषिद्ध नहीं होगा।

गमनागमनादीनि निष्फलान्येव भूरिशः।
कुर्वन्ति प्राणिनः सर्वे सर्वत्राघं भवेत् किमु॥८२॥
शृण्वङ्गीकरणीयं स्याच्छास्त्रप्रामाण्यवादिनाम्।
न तत्र विद्यते चोद्यं शास्त्रेणाभिहितत्वतः॥८३॥

आना, जाना, घूमना इत्यादि निष्फल कर्म सभी करते हैं क्या सर्वत्र पाप लगेगा? शास्त्रप्रामाण्यवादी को मानना ही पडेगा। उसमें प्रश्न नहीं उठता।

व्यर्थकर्म विना कश्चिज्जीवितुं च न शक्नुयात्।
इति चेज्जीवनं तर्हि स्वीकृतं कर्मणां फलम्॥८४॥

व्यर्थ कर्म के बिना कोई जी ही नहीं सकता बोलो तु जीवन ही फल माना।

स्वभावेनैव कर्माणि कार्यन्ते न फलाप्तये।
स्वभावजेन कौन्तेयेत्युक्तत्वाच्चेति चेच्छृणु॥८५॥
स्याद्धेतुहेतुमद्भावो ज्ञानेच्छाकृतिकर्मणाम्।
न तु स्वभाव एवास्य प्रणोदयति तानि यत्॥८६॥

सामान्य कर्म स्वभाव से ही होता है। स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः इत्यादि गीतावचन भी है। स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषं भी बताया है। नहीं। स्वभावमात्र से कर्म नहीं होते। ज्ञान इच्छा कृतिपूर्वक ही

कर्म होता है।

अनिच्छन्नपिवार्ष्णेय पापं चरति पूरुषः।
तत्स्वाभाव्यात् तद्धि कथ-माह पापं पृथासुतः॥८७॥

'पापं चरति पूरुषः अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय' इस अर्जुनोक्ति में अनिच्छया भी पापकरण बताया। वह स्वभावहेतुक ही मानना पडेगा। किन्तु उसे अर्जुन ने पाप कैसे कहा?

निरास्थत् पापतां नास्य भगवान् किन्तु कारणम्।
दूष्पूरमनलं काममुक्त्वा स्वभाव्यमैरयत्॥८८॥

उत्तर में भगवान ने पापत्वनिराकरण नहीं किया बल्कि हेतुरूप में काम को बताकर उसे दुष्पूर महाशनं अनल आदि कहकर स्वाभाविक सूचित किया।

नन्वत्र फलशब्देन किं तावदभिधित्सितम्।
सुखं चेत् तत्खलु जल-ताडनादौ च विद्यते॥८९॥
यद्यदृष्टं फलं तर्हि भोजनादावभावतः।
न कुर्यान्निष्फलमिति निषेधस्तत्र चापतेत्॥९०॥

पू. - **'न कुर्यान्निष्फलं कर्म'** वाक्य में फल शब्द का अर्थ क्या है। यदि सुखमात्र तो जलाताडनादि में भी मजा आता ही है। यदि अदृष्टहारक सुख अर्थ है तो भोजनादि का भी अदृष्ट फल न होने से न कुर्यान्निष्फलं कर्म इस निषेध का विषय हो जायेगा।

शृण्विष्टदं च बलवदनिष्टाननुबन्धि च।
शास्त्रादिशिष्टं सफलं तदन्यत् कर्म निष्फिलम्॥९१॥

बलवदनिष्टाननुबन्धी यह परिचायकमात्र है। क्योंकि बलवदनिष्टानुबन्धी का निषेध शास्त्रान्तर से हो जाता है।

तस्मान्निषेधविषयः पाठो मा भूदनेनसः।
इत्यूरीकृतमाचार्यै वीर्यवत्तरता फलम्॥९२॥

इसलिये स्वतः सिद्ध उपसर्गाद्यभाववाले पापरहित अध्येताओं का शान्तिपाठ 'न कुर्यान्निष्फलं' इस निषेध का विषय न हो इस बात को ध्यान

में रखकर अध्ययनादि में वीर्यवत्तरता फल शान्तिपाठादि का माना।

अस्ति चेदुपसर्गोऽस्य पाठादुपशमिष्यति।
वीर्यवत्तरताऽस्त्येव शान्तिं तस्मात्पठेद्बुधः॥९३॥

इसलिये शान्तिपाठ करना ही है। उपसर्ग हो तो वह नष्ट होगा। न हो तो भी अध्ययनादि में वीर्यवत्तरता फल है ही।

किं चात्र वाक्प्रतिष्ठादि लिङ्गलभ्यं फलान्तरम्।
तस्माच्चावश्यकर्तव्यः शान्तिपाठोऽयमर्थिना॥९४॥

प्रकृत में वाङ् में मनसि प्रतिष्ठिता इत्यादि लिङ्ग से वाक्प्रतिष्ठा आदि फलपरिलभ्य है। इसलिये एतत्फलार्थी के लिये एतत् शान्तिपाठ अवश्य कर्तव्य है।

वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता

प्रतिष्ठिताऽस्तु मनसि वाङ् मे वेदादिलक्षणा।
वेदानां मानसजपो मम नित्यं प्रवर्तताम्॥९५॥

वेदवाणी आदि मेरे मन में नित्य हो। मानस जप हमेशा चलता रहे।

समाधिभावना क्लेश-तनूकरणमेव च।
सम्पद्येते ततो याभ्यामधीतिर्निर्मला भवेत्॥९६॥

वेदों के मानस जप से समाधि भावना तथा क्लेशों की न्यूनता हो जाती है जो अध्ययन को निर्मल बनाने में उपयोगी है।

ॐकारादिकमन्त्राणां जपः स्वाध्याय उच्यते।
ततो हि महती सिद्धिः श्रद्धालूनां प्रजायते॥९७॥
जप्येनैव हि संसिध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते॥९८॥

ॐकारादि मन्त्र जप से महती सिद्धि होती है यही 'जप्येनैव' मनुवचन है।

ईश्वरप्रणिधानं च तपश्चाह पतञ्जलिः।
तत्कार्यं च जपादेवेत्येवं तात्पर्यभृन्मनुः॥९९॥

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ऐसा पातञ्जल सूत्र है। तप और ईश्वर प्रणिधान का कार्य भी जप कर लेगा यह मनु का तात्पर्य है।

अकारः खलु सर्वा वाक् ॐकारेऽकार आदिमः।
मन्त्रश्चोंकार इत्येष मनस्यस्तु प्रतिष्ठितः॥१००॥

ॐकार सर्ववाक् है। ॐकार में आदिम अकार है। ॐकार मन्त्र भी है वह मन में प्रतिष्ठित हो तो सब कुछ सिद्ध होगा ही।

वाक्षु मुख्यत्वहेतोश्च स्यादोंकारोऽत्र वाक्पदः।
मुख्ये संप्रत्ययस्तावत् शब्दानां प्रथमं भवेत्॥१०१॥

और 'वाङ् मे' यह सामान्य निर्देश है। घट पटादि शब्दरूपी वाणी यहां अर्थ नहीं हो सकता। वह मन में प्रतिष्ठित हो तो क्या मिलनेवाला है। अतः मुख्य वाक् में ही संप्रत्यय होगा। तब वाक् शब्द से प्रथम मुख्य ओंकार ही आयेगा।

घटादिवाचां न मनःप्रतिष्ठा फलदा किल।
मुख्ये संप्रत्ययस्तेन ह्योंकारे वाक्पदादिति॥१०२॥

पूर्वोक्तार्थ ही श्लोक का है।

ओंकारे मुख्यरूपेण वाक्पदात्समुपस्थिते।
अन्यापि वेदवाक् कामं सामीप्यादुप्रतिष्ठताम्॥१०३॥

वाक् पद से मुख्यरूपेण ॐकार उपस्थित होने के बाद फिर सामीप्यात् अन्य वेदवाणी भी भले उपस्थित हो। अन्य वेदवाणी मन्त्रान्तरादि भी मन में प्रतिष्ठित हो ऐसा अर्थ लिया जा सकता है।

किं च वागिन्द्रियं वाक् तन्मनस्यस्तु प्रतिष्ठितम्।
न ह्यन्यच्चिन्तितादर्थात् प्रकाशयतु वाङ् मम॥१०४॥

वाक् पद से वागिन्द्रिय अर्थ भी लिया जा सकता है। वह मन में प्रतिष्ठित हो। अर्थात् मन में चिन्तित अर्थ को ही वाणी प्रकाशित करे।

विद्रावणीं शक्तिमिच्छन् कुम्भकर्णस्तपश्चरन्।
शक्तिं निद्रापनीं वव्रे प्रीताद्भगवतः शिवात्॥१०५॥

शत्रु विद्रावण-नाशन शक्ति पाने की इच्छा से कुम्भकर्ण ने तप किया और निद्रापनी-निद्रा पाने की शक्ति का वरण शंकर भगवान से किया।

राक्षसी प्रकृतिस्तस्य देवोपोद्बलिताऽभवत्।
चिन्तिताद्विपरीतार्थ-प्रार्थने वाक्प्रवर्तने॥ १०६॥

कुम्भकर्ण की राक्षसी प्रकृति तो थी ही। देवताओं ने उसे सशक्त बनाया। और चिन्तित अर्थ से विपरीत अर्थ में वाक् को प्रवर्तन कर प्रार्थना में लगाया।

इन्द्रशत्रो विवर्धस्वेत्याह त्वष्टाऽभिमन्त्रयन्।
अन्तोदात्ते प्रयोक्तव्ये आद्युदात्तमवोचत॥ १०७॥

त्वष्टा इन्द्रशत्रो विवर्धस्व में अन्तोदात्त जहां बोलना था वहां आद्युदात्त बोल गये।

त्रिशिरोवधविक्लिष्ट इन्द्रद्वेषाभिभूतधीः।
सोऽभूद् वाङ् नास्य मनसि चिन्तितार्थे प्रतिष्ठिता॥ १०८॥

इन्द्र ने त्रिशिरा का वध किया तो पिता त्वष्टा को बडा क्लेश हुआ जिससे इन्द्र के प्रति द्वेष होने से मन अभिभूत हो गया और वाणी मन में प्रतिष्ठित नहीं रही। और विपरीत बोल गयी।

राक्षसी प्रकृतिर्मा भू-दीश मे कुम्भकर्णवत्।
वाङ् मे मनसि देवेश यया स्यादप्रतिष्ठिता॥ १०९॥
मा स्म भूद् द्वेषकल्लोलनिर्मर्यादमनोऽम्बुधेः।
उत्पतन्ती हि वाङ्मत्सी पतिता पाथसो बहिः॥ ११०॥

वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठितास्तु का तात्पर्य है हे भगवन् कुम्भकर्ण के समान मेरी प्रकृति राक्षसी न हो जिससे वाणी मन में प्रतिष्ठित नहीं रह पाती। और हे भगवन्! त्वष्टा के समान द्वेषरूपी तरङ्गों से निर्मर्याद बने मनरूपी समुद्र से उछली वाणीरूपी मछली मन पानी से बाहर जा गिरे और मछली के समान छटपटाकर मर जाये।

नूत्नां काशीं व्यधाद् व्यासो मृतः कोऽत्र भविष्यति।
शृण्वत्र म्रियमाणो हि भविष्यति सदाशिवः॥ १११॥

मृदुः पृच्छति हेरम्बः शिशुरूपस्तदेव हि।
उत्तरं च तदेवाह भविष्यति सदाशिवः॥ ११२॥
विघ्नोऽभूच्छ्लोकनिर्माणे पृच्छत्येवं मुहुः शिशौ।
गर्दभः स्यादिति प्राह कुप्यन् व्यासस्तमन्ततः॥ ११३॥
तथास्त्विति वदन् स्वीयं दधौ रूपं गजाननः।
पश्चात्तापमवापच्च व्यासो वेदविदां वरः॥ ११४॥

व्यासजी कभी शिवजी से नाराज होकर गंगा पार नयी काशी बनायी। गणेशजी छोटा शिशुरूप धारणकर पूछने लगे-काशी में मरने पर मुक्त होगा। यहां मरने पर दादाजी वह मृत क्या बनेगा? व्यासजी बोले-सदाशिव बनेगा। बच्चा होने से फिर पूछा यहां मरनेवाला क्या बनेगा? व्यासजी फिर बोले-सदाशिव बनेगा। बच्चे लोगों की आदत होती है फिर फिर पूछना। व्यासजी को श्लोक निर्माण में विघ्न हो रहा था तो अन्त में गुस्से में कहा-गधा बनेगा। व्यासजी का इतना बोलना था कि गणेशजी अपने विशाल गजानन रूप में प्रकट हुए और बोले 'तथास्तु'। व्यासजी दंग रह गये। बडा पश्चात्ताप हुआ। आज भी व्यासकाशी गंगापार प्रसिद्ध है और लोग मानते हैं वहां मरनेवाला गधा बनता है।

स्वमनोविपरीतं हि व्याहरन् स महामुनिः।
पश्चात्तपत्यतो वाङ् मे मनस्यस्तु प्रतिष्ठिता॥ ११५॥

अपने मन से विपरीत (गर्दभता) को बोलकर व्यासजी पश्चात्ताप कर रहे है अतः वाणी मन में प्रतिष्ठित हो।

कोपातपवलद्दाह-दग्धाङ्गी वाग्विहङ्गमी।
मनःकुलायतोऽनर्थ - दावमेवाभिधावति॥ ११६॥

कोपरूपी आतप से दग्ध अंगवाली वाणीरूपी चिडिया मनरूपी घोसले से उडकर अनर्थ दावानल की और दौड पडती है।

त्यक्तकोपस्य मे शान्तचित्तस्य मनसि स्थिता।
प्रतिष्ठिता वाग् भवतु नान्यत्रानर्थमृच्छतु॥ ११७॥

तात्पर्य यह है कि मैं कोपरहित बनूं, शान्त चित्त होऊं और मेरे ऐसे मन

में स्थित वाणी वहीं प्रतिष्ठित हो। इधर उधर भटककर अनर्थ को प्राप्त न हो।

मनस्यन्यद्वचस्यन्यदित्येवंविधलक्षणा ।
मा गाद् दुरात्मतां वाङ् मे मनस्यस्तु प्रतिष्ठिता॥११८॥
मनस्येकं वचस्येकमिति मेऽस्तु महात्मता।
येनाप्नुयां परं श्रेय इति वा योज्यतामिह॥११९॥

मनस्यन्यद् वचस्यन्यद् ऐसी दुरात्म का लक्षण मुझ में न हो। मनस्येकं वचस्येकं ऐसा महात्मपना हो जिससे मेरा श्रेय हो ऐसी भी योजना यहां हो सकती है।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनस इत्याह भगवानपि॥१२०॥
मोघाशा मोघकर्माणी मोघज्ञाना विचेतसः।
कुम्भकर्णादिवच्च स्युः राक्षसीं प्रकृतिं श्रिताः॥१२१॥

भगवान कहते हैं दैवी प्रकृतिवाले महात्मा अनन्य मन से मेरा भजन करते हैं। राक्षसी प्रकृतिवाले कुम्भकर्ण समान अर्थहीन आशा कर्म एवं ज्ञानवाले होते हैं।

किं च श्रुतावभिहितं यद्वागनृतवादिनी।
वेत्ति सत्यमतो वाङ् मे मनस्यस्तु प्रतिष्ठिता॥१२२॥

और भी बात है। श्रुति में अनृतवादिनी वाक् बताया है। मन सत्य जानता है। अतः वाणी मन में प्रतिष्ठित हो यह प्रार्थना है।

ननु स्तेयं मनोऽस्तीत्य-प्युक्तं श्रुत्वाऽविशङ्कितम्।
सत्यं मनस्त्विष्टमत्राऽवबोधनयुतं ततः॥१२३॥

पर, बुद्धि को भी श्रुति ने चोर बताया है। ठीक है, इसलिये यहां अवबोधयुत मन अर्थ है।

बुद्धेः सत्पक्षपातित्वं सर्वैरेवोररीकृतम्।
तथा च प्रार्थनालिङ्गात् बोधयुक्तं मनो मतम्॥१२४॥
सत्यं चाप्यनृतं चैव जानाति मन एव हि।
तथापि बुद्धियुक्तं तद्बोधे वाचं प्रवर्तयेत्॥१२५॥

बुद्धि को सब ने सत्पक्षपाति माना है। यहां प्रार्थनाबल से बुद्धियुक्त मन ही इष्ट है। मन सत्य-जूठ दोनों जानता है। किन्तु बुद्धियुक्त मन सत्य की ओर ही प्रेरित करेगा।

अत्र पक्षे मनो वाचि वेदाख्यायां प्रतिष्ठितम्।
इति ह्युत्तरखण्डस्य व्याख्या संयोजयिष्यते॥ १२६॥

इस व्याख्या पक्ष में **'मनो में वाचि प्रतिष्ठिता'** का अर्थ वेदरूपी वाणी में मेरा मन प्रतिष्ठित हो ऐसे अर्थ की योजना अत्यन्त उपयुक्त होगी। क्योंकि वेद में प्रतिष्ठित मन सत्यग्रहण ही करेगा।

मनो मे वाचि प्रतिष्ठितम्

तथैव मे भवत्वेतद् मनो वाचि प्रतिष्ठितम्।
अर्थबोधयुतामेव प्रयुञ्जीय सदा गिरम्॥ १२७॥

इसी प्रकार अनेक योजना में द्वितीय खण्ड का एक अर्थ होगा कि मन वाणी में सदा स्थित हो। अर्थात् अर्थ बोधयुक्त ही वाणी का मैं प्रयोग करूं।

जपत्येकत्र वागेषा भ्रमत्यन्यत्र वै मनः।
प्रायः सर्वत्र दोषोऽयं मन्त्रपाठेऽभिवीक्ष्यते॥ १२८॥

जप किसी का हो रहा है। मन दूसरी जगह घूम रहा है। मन्त्र जपादि में ऐसा ही होता है।

जप्यते भगवन्मन्त्रो बम्भ्रमीत्यापणे मनः।
जपे समाप्ते चागत्य विषयेषु प्रवर्तते॥ १२९॥

इष्ट मन्त्र का जप हो रहा है। मन बाजार में घूम रहा है। जप समाप्त होने पर वापिस आता है और विषयों, कार्यों में लग जाता है।

ननु वाचा वदति तद् मनसा यद्धि चिन्त्यते।
कथं तदन्यमनने तज्जपः संप्रवर्तताम्॥ १३०॥
उच्यते प्रथमाद्यत्नात्तज्जपस्तु प्रवर्तते।
मनो वा मनसोऽंशो वा परत्र परिधावति॥ १३१॥

वही वाणी बोलेगी जिसका चिन्तन मन करता है। अन्य चिन्तनकाल में तज्जप कैसे? सुनो प्रथम प्रयत्न से ही वाणी जप में चलती रहेगी। मन घूमता रहेगा।

इन्द्रियेष्वपि संस्कारविशेषः सं प्रवर्तते।
महिम्नःस्तवपाठादौ तेन वाग् यन्त्रवच्चरेत्॥१३२॥
येषां मते तु तत्रापि सूक्ष्मं कार्यकरं मनः।
तेषां स्थूलं खलु मनो धावतीतस्ततस्तदा॥१३३॥

इन्द्रियों में भी संस्कार रहता है। उसीसे महिम्न पाठादि में वाणी यन्त्र के समान चलती रहती है। प्रथम स्टार्ट होना चाहिये फिर मन कहीं भी घूमे। जिनके मत में सूक्ष्म मन पाठादि स्थल में भी रहता है। उसीसे महिम्नपाठादि होता रहता है, उनके मत में स्थूल मन भटकता रहता है यह स्पष्ट उत्तर है।

अपि चात्रार्थपर्यन्तं वाक्पदेन विवक्षितम्।
तथा च वाचि वागर्थेऽप्यस्तु चित्तं प्रतिष्ठितम्॥१३४॥
तदर्थं सूत्रयामास भगवांश्च पतञ्जलिः।
तज्जपश्च तदर्थस्य भावनं चैतदर्थिनाम्॥१३५॥

'वाचि' से मन्त्र एवं अर्थ दोनों विवक्षित है। दोनों में मन प्रतिष्ठित हो। तज्जपस्तदर्थभावनं ऐसा पातञ्जल सूत्र भी है।

नन्वर्थभावने कार्ये तस्य शब्दोऽपि भाव्यते।
शब्दार्थज्ञानसांकर्यमितरेतरभावतः ॥१३६॥
किं च संकल्पयत्यग्रे मनसा व्याहरत्यथ।
वाचेति ह्यैतरेयाश्च मनो वाचि स्थितं जगुः॥१३७॥
सत्यं तथापि वाचीति यदत्राभिहितं श्रुतौ।
तद्वाग्विशेष-लाभार्थं प्रथमोपस्थितेः श्रुतौ॥१३८॥
अनादिवेदवागेव प्रथमोपस्थिता भवेत्।
मनःशब्दाच्चिन्तितार्थगोचरा सोपतिष्ठते॥१३९॥

पू. - अर्थभावन जहां करना है वहां शब्द (वाक्य) भी आयेगा।

क्योंकि शब्दार्थ ज्ञानों का इतरेतरसांकर्य रहता है। तब वाचि कहने की क्या जरूरत है। ऐतरेय श्रुति में भी जिसका मन से सकल्प होता है उसीका व्याहरण बताया है। उ. - बात यथार्थ है। फिर भी 'वाचि' यह कथन विशेष वाणी लाभार्थ है। अर्थात् वेदवाणी ही 'वाचि' से विवक्षित है। यद्यपि अनादि श्रुति में अनादि वेदवाणी ही प्रथमोपस्थित है। चिन्तितार्थ विषयक विशिष्ट वाणी लाभार्थ **'वाचि प्रतिष्ठिता'** यह कहा।

वेदवाक्ष्वोंप्रभृतिषु तत्त्वमस्यादिकेषु च।
तदर्थे चास्तु सततं मनो मेऽस्तु प्रतिष्ठितम्॥ १४०॥

ओंकारादि एवं तत्त्वमसि आदि वेदवाणी में तथा उसके अर्थ में मेरा मन सतत प्रतिष्ठित हो ऐसा फलितार्थ होगा।

वेदान्ताध्ययनादौ हि शान्तिरेषा प्रपठ्यते।
अतो वेदान्तवाचीति सुगमोऽर्थोऽवबुध्यताम्॥ १४१॥

वेदान्त के अध्ययन प्रवचनादिं में प्रथम यह शान्ति पढी जाती है। अतः वाचि का अर्थ सरल रूप से यही होगा कि अध्येष्यमाण वेदान्त वाणी में मेरी वाणी प्रतिष्ठित हो।

इदं चाहोपनिषदि युञ्जीतात्मानमोमिति।
आत्मनि प्रणवे चित्त-निरोधं साधनं सताम्॥ १४२॥

ओमित्यात्मानं युञ्जीत इस प्रकार महानारायण में बताया है, युञ्जीत का चित्तवृत्तिनिरोधं कुर्वीत अर्थ है। यही मनः प्रतिष्ठितं का अर्थ है। ओं यह वाक् निर्देश है। आत्मानं यह वागर्थ निर्देश है।

प्रणवो धनुरित्युक्त्या संजगौ मुण्डकश्रुतिः।
तमेव जानथात्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ॥ १४३॥

मुण्डक श्रुति एक कदम आगे बढकर कहती है - ॐकार (वाक्) धनुष है। उसीसे आत्मा को जानो अन्य वाणी को छोडो। अर्थात् ओंकाररूपी वाणी के द्वारा आत्मा का अवबोधनरूपी मनन कहो। अन्यत्र सब छोडो।

सन्ति नानापदान्यत्र प्राप्तानि ब्रह्मचिन्तने।
ॐकारादतिरिक्तानि त्याज्यान्यन्ते सुसाधुना॥ १४४॥

उसका अर्थ है कि ध्यान में शब्द भी आयेगा। साधना के उत्कर्ष में ॐकार से अतिरिक्त अन्य शब्द भी व्यक्तव्य है।

न चानुच्चारणान्नास्ति वागत्रेति तु सांप्रतम्।
मनसोच्चार्यमाणत्वात् सापि वागुपगम्यते॥ १४५॥

ध्यान समय में शब्दोच्चारण न होने से वाक् ही अप्राप्त है ऐसी शंका न करो। मन से उच्चारण होने पर वह भी वाक् ही है।

चतुर्धा वागपि परा पश्यन्ती मध्यमा तथा।
वैखरीति तृतीयाऽत्र मानसोच्चारणे मता॥ १४६॥
मूलाधारे परा स्याद्वाक् पश्यन्ती नाभिसंस्थिता।
मध्यमा हृदये कण्ठे वैखरी श्रोत्रगोचरा॥ १४७॥

परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी ऐसी चार वाणी है। मूलाधार में परा, नाभि में पश्यन्ती, हृदय में मध्यमा, कण्ठ में वैखरी जिसे सब सुनते हैं। ध्यान में ॐकारोच्चारण मध्यमा से होता है।

ननु वागिन्द्रिये मुख्यं वाक्पदं तज्जवाचि च।
मुख्ये संप्रत्यये नैव गौणोऽर्थो गृह्यते बुधैः॥ १४८॥
सत्यं, वेत्ति मनस्तच्चेत् प्रेरयेद् वाचि संस्थितम्।
न ब्रूयात् साऽनृतमिति तत्प्रतिष्ठा फलं स्फुटम्॥ १४९॥

पू. - वाक् पद का मुख्य अर्थ वागिन्द्रिय और तज्जन्य वाणी है। तब मनोवृत्ति विशेष रूप मानसजपात्मक वाणी ग्रहण कैसे हो। वागिन्द्रियादि में मनः प्रतिष्ठा व्यर्थ नहीं है। मन सत्य असत्य को पहचानता है। अनृतवादिनी होने से वह वाक् को बचायेगा।

सत्यमेवंविधं नार्थं वयमत्र विरुन्ध्महे।
पश्यन्तीमध्यमादौ च मुख्यमेवास्ति वाक्पदम्॥ १५०॥
यजुरेव शिरस्तस्य दक्षिणः पक्ष ऋक् तथा।
साम तस्योत्तरः पक्ष आत्मा चादेश इत्यपि॥ १५१॥
श्रुतिरेव जगादैवमधिकृत्य मनोमयम्।
मनोवृत्तिविशेषोऽपि वागेवातः श्रुतीरितः॥ १५२॥

तदावृत्तित्यात्मके जापे तत्प्रतिष्ठा च युज्यते।
तस्मादस्त्ययमप्यर्थः प्रकृते हि सुसगंतः॥१५३॥

उ. - बात सत्य है। ऐसा अर्थ करने में हमारा विरोध नहीं है। किन्तु पश्यन्ती मध्यमा आदि में वाक्पद मुख्य है। परा पश्यन्ती आदि आखिर वाक् के ही विशेषण है। अतः हरि आदि के समान यह मानार्थक होगा। **'तस्य यजुरेव शिरः ऋक् दक्षिणः पक्षः'** इत्यादि मनोमय कोश को लेकर स्वयं श्रुति कह रही है। अतः मनोवृत्तिविशेष भी यजु साम आदि वाक् है। मनोवृत्ति की ही आवृत्ति मानस जप में मान्य है। मनोवृत्तिरूप यजुष आदि में मन प्रतिष्ठित हो यह अर्थ भी इस रीति सुसगंत है।

मनोवृत्तिर्मनोजन्या सा चेत् स्याद् यजुरादिका।
स्वप्रतिष्ठा स्वजन्यार्थे कथमेवोपपद्यते॥१५४॥

पू. - यजु साम आदि मनोवृत्ति है तो वह मनोजन्य हो गयी। उस में मन कैसे प्रतिष्ठित हो। स्व (मन) जन्य में स्व (मन) प्रतिष्ठा उपपन्न नहीं है।

मैवं को नु विरोधोऽत्र कुण्डले स्वर्णनिर्मिते।
दृष्टं प्रतिष्ठितं स्वर्णं तद्वदत्रापि वीक्ष्यताम्॥१५५॥

उ. - इस में क्या विरोध है? सुवर्णनिर्मित कुण्डल में सुवर्ण प्रतिष्ठित होता है।

वृत्तयः क्षणिकास्तत्र प्रतिष्ठा मनसः कथम्।
वीचयः क्षणिकास्तत्र जलं किं न प्रतिष्ठितम्॥१५६॥

वृत्तियां क्षणिक हैं उन में स्थिर मन कैसे प्रतिष्ठित होगा? सुनो। तरंगें क्षणिक होती हैं। क्या उन में जल प्रतिष्ठित नहीं होता? जल तो क्षणिक नहीं है।

नन्वेवमपि नो वेदाः क्षणिका वेदविन्मताः।
कथं क्षणिकहृद्वृत्तिरूपा इति निगद्यताम्॥१५७॥

पू. - फिर भी वेद क्षणिक नहीं हैं। उन्हें क्षणिक मनोवृत्तिरूप कैसे कहते हैं?

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥१५८॥

वेदनित्यता अनादिनिधना वेदा इत्यादि स्मृति में स्पष्ट है।

सत्यं नित्याः परं तत्र मन्त्राऽऽवृत्तिः कथं भवेत्।
नावर्त्यन्ते क्वचिन्नित्याः पदार्था हि स्वभावतः॥१५९॥
ऋचं त्रिः प्रथमामन्वाहेत्याहाथ त्रिरुत्तमाम्।
इत्थं च सामिधेनीनां स्यात्पञ्चदशतेति च॥१६०॥
एकादश ऋचस्तत्राऽऽवर्त्येते प्रथमोत्तमे।
त्रिस्त्रिस्तेन भवन्त्येताः ऋचः पञ्चदश स्फुटम्॥१६१॥
आवृत्तिर्नहि नित्यायाः ऋचः संभवदुक्तिका।
वृत्त्यावृत्तिस्ततः पञ्चदशतायै विधीयते॥१६२॥

वेद नित्य हैं अतः क्षणिक मनोवृत्तिरूप नहीं हो सकते यह सत्य है, परंतु मन्त्रावृत्ति जो मानी है वह कैसे होगी? नित्य पदार्थ का आवर्तन नहीं होता। समिधा के आधान में पंद्रह ऋचायें बोलने का विधान है। किन्तु सामिधेनी मन्त्र ग्यारह हैं। तब ब्राह्मण ने कहा-त्रिःप्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमां पहिली ऋचा की तीन आवृत्ति करो और अन्तिम ऋचा की भी तीन आवृत्ति करो (तब पंद्रह हो जायेगी) पर नित्य ऋचाओं की आवृत्ति कैसे हो सकती है। उच्चारण या वृत्ति की आवृत्ति होगी। न कि मन्त्र की।

न चोच्चारणमेवास्तु मन्त्रा इत्यपि सांप्रतम्।
उच्चारणमनित्यं न मन्त्रो भवितुमर्हति॥१६३॥

उच्चारण ही मन्त्र माना जाये। नहीं। उच्चारण अनित्य है। वह मन्त्र नहीं हो सकता।

उच्चारणविशिष्टं तु चैतन्यं मन्त्र उच्यते।
उच्चारणाऽऽवृत्तितश्च मन्त्रावृत्तिरूपेयते॥१६४॥

उच्चारण विशिष्टि चैतन्य ही मन्त्र है। उच्चारणावृत्ति से मन्त्रावृत्ति है।

कण्ठताल्वाद्यभिहतेर्भवेदुच्चारणं गिराम्।
मनोमये न चर्गादौ संभवेत्तदपीति चेत्॥१६५॥

कण्ठ ताल्वादि अभिघात से उच्चारण होता है। मनोमय कोश में वह संभव नहीं है। तब ऋक् सामादि मनोमय पक्षादि कैसे हो।

तत्र मन्त्रा मनोवृत्तिविशेषोपहिता अपि।
चैतन्यरूपा इष्यन्ते तन्मानसजपेक्षणात्॥ १६६ ॥

ऐसी बात नहीं। मनोवृत्ति विशिष्ट चैतन्य भी मन्त्र मानस जप में हैं।

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशु स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥ १६७ ॥
अत्राह राघवानन्दो जिह्वोच्चारणवर्जितम्।
जिह्वोष्ठलेशचलन-हीनं कुल्लूक एव च॥ १६८ ॥

मनु महाराज ने कहा है - ज्योतिष्टोमादि विधि यज्ञ से दस गुना श्रेष्ठ जप यज्ञ है। सौ गुना उपांशु यज्ञ है। सहस्र गुण मानस जप है। इस पर राघवानन्द की व्याख्या है जिह्वोच्चारण रहित मानस जप है। कुल्लूक जिह्वाओष्ठचलन लेशरहित कहते हैं। (मानसवृत्ति को उच्चारण मानकर श्री राघवानन्दजी ने जिह्वाविशेषण दिया।)

नन्वेवं कालिदासादिवागप्यावर्त्यते बुधैः।
तदवच्छिन्नचैतन्यं तत्काव्यं नित्यमिष्यताम्॥ १६९ ॥
भाषाप्रबन्धा आवर्त्य-माना एवं भवन्त्यतः।
तेषां च नित्यता किं न वेदता चेष्यतां जनैः॥ १७० ॥
मैवं नास्ति समानानुपूर्वीका वागनादितः।
प्रतिकल्पं समानानुपूर्वीको वेद ईयते॥ १७१ ॥
तस्मात्तपो हि तेपानादृग्यजुःसामशब्दिताः।
त्रयो वेदा अजायन्तेत्येवमस्ति श्रुतेर्वचः॥ १७२ ॥
कालिदासादिवाक्येषु नैवं नित्यत्वसूचकम्।
किंचिदप्यस्ति मानं तत्तेऽनित्यास्तेन संमताः॥ १७३ ॥

पू. - इस प्रकार कालिदासादि वाक्य भी तदवच्छिन्न चैतन्य होने से नित्य क्यों नहीं? आवृत्ति उनकी भी होती है। भाषा प्रबन्धों को भीं इस प्रकार नित्य एवं वेदरूप क्यों न मानें? उ. - नहीं, ये सब अनादि

समानानुपूर्वीक नहीं है। समानानुपूर्वीक वेदवाक्य प्रतिकल्प प्रगट होता है। 'तस्मात्तपस्तेपानात्' इत्यादि श्रुति में ईश्वर से वेद प्रकट होना बताया है। ईश्वर अनादि होने से वेद भी अनादि हैं। कालिदासादि आधुनिक व्यक्ति है। अतः एव नित्यत्व सूचक कोई प्रमाण नहीं है।

अजायन्तेति च प्रादु-र्भावो धात्वर्थसंगतेः।
न तूक्तं स तपस्तप्त्वा त्रीन् वेदानकरोदिति॥ १७४॥
प्रकाश्ये प्रादुराविः स्यादित्याह स्मामरः कविः।
विद्यमानं हि प्रकटं भवदाविभवन्मतम्॥ १७५॥

त्रयो वेदा आजायन्त में जन धातु का प्रादुर्भाव अर्थ है। उत्पत्ति नहीं। जनी प्रादुर्भावे ऐसा धात्वर्थ निर्देश है। आविर्भाव और प्रादुर्भाव समानार्थक है। यह अमर कोश से सिद्ध है। विद्यमान जो आवृत्त है वही आविर्भूत माना जाता है।

वस्तुतो वाक्पदेनात्र दिव्या वाग् वेदलक्षणा।
दिव्यत्वं च सामानानुपूर्व्येशानादिदेशनात्॥ १७६॥
वागवच्छिन्नचैतन्यपर्यन्तगमनं पुनः।
नेक्षामहेऽपेक्षणीयं यद्दार्शनिकदर्शितम्॥ १७७॥
तस्यां वाचि मनो नित्यं वर्ततां प्रीतिसंयुतम्।
ममेत्येव भवत्वर्थः साधकानां सुबोधनः॥ १७८॥

वस्तुतः वेदान्त जिज्ञासु साधकों के लिये सरल अर्थ यही विवक्षित है कि वाचि में वाक्पद से वेदरूपी दिव्यवाणी में मेरा मन रहे। दिव्य किस प्रकार है? समान आनुपूर्वी से अनादिकाल से ईश्वर इसी का उपदेश करते आये। वागवच्छिन्न चैतन्य अर्थ तक पहुंचने की अपेक्षा विद्यार्थी के लिये नहीं है। यह सब दार्शनिकों की बात है। उस वाणी में मेरा मन प्रीतिपूर्वक नित्य प्रतिष्ठित रहे।

वेदान्ताध्ययनादौ च शान्तिरेषा प्रपठ्यते।
अतो वेदान्तवाचीति विशेषार्थोऽपि युज्यते॥ १७९॥

वेदान्ताध्ययनार्थ यह शान्तिपाठ होने से वेदान्त वाणी में मन रहे यह

विशेष अर्थ भी युक्त है।

एवं सति मनःशब्दोऽप्यर्थान्तरपरं भवेत्।
मनसैवेदमाप्तव्य - मित्याप्तिरवबोधनम्॥ १८०॥

ऐसी स्थिति में वाङ् में मनसि में मनः शब्द भी अर्थान्तरपरक हो सकता है। 'मनसैवेदमाप्तव्यं' इस श्रुति के अनुसार मन से ही ब्रह्म प्राप्य है तो ब्रह्मप्राप्तिरूप अवबोध में मनः पद का प्रयोग है।

ब्रह्माप्तिसाधनीभूतं मननादिकमेव वा।
भवत्वत्र मनःशब्दं वाक्प्रतिष्ठास्तु तत्र मे॥ १८१॥

यथाश्रुतअपरित्यागार्थ ब्रह्माप्ति साधन मननादि अर्थ भी हो सकता है। ऐसे मन में मेरी वाक् की प्रतिष्ठा हो।

तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम्।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माप्तौ साधनं विदुः॥ १८२॥

तच्चिन्तन तत्कथनादि ब्रह्माभ्यास है अर्थात् ब्रह्मप्राप्ति साधन है।

अन्तर्वाचाऽभिधायैव चिन्तनं संप्रवर्तते।
अन्तर्वाक् ब्रह्मकथने संततं मे प्रवर्तताम्॥ १८३॥
तदेकपरता चैव प्रायोऽन्तर्वाग्युता भवेत्।
ब्रह्मचिन्तनयुक्तास्तु ममान्तर्वागितीरितम्॥ १८४॥
तद्व्याख्यानं तत्कथनं ब्रह्मसाधनवाक् स्फुटा।
अन्योन्यबोधनमपि वाचैव क्रियते जनैः॥ १८५॥

अन्तर्वाणी से बोलते हुए ही लोग अर्थचिन्तन करते हैं। मेरी अन्तर्वाणी ब्रह्मकथन में प्रवृत्त हो। इसी प्रकार एतदेकपरता भी अन्तर्वाक् सहित होती है। 'तत्कथनं' यहां तो वाक्प्रवृत्ति कण्ठोक्त है। अन्योन्य प्रबोधन भी वाणी के द्वारा ही संभव है अतः वह भी वगधीन है।

ब्रह्मणीति कुतो नोक्तं तत्साधकवचस्त्वतः।
तच्चिन्तनादिलाभश्च मनः शब्दे समञ्जसः॥ १८६॥

वाङ् मे ब्रह्मणि प्रतिष्ठिता क्यों नहीं कहा? इसलिये कि यह साधन की प्रार्थना होने से ब्रह्मसाधन में प्रतिष्ठा ही प्रार्थ्य है। तच्चिन्तनादि लाभार्थ

भी मन शब्द है।

तमेकं जानथात्मान-मन्या वाचो विमुञ्चथ।
इत्येवमेतद्वदति मुण्डकश्रुतिरेव च॥१८७॥
ज्ञाने विधेरयोगेन विधिः स्याज्ज्ञानसाधने।
ध्यानादौ व्यतिरेकोऽत्र चान्यवाक्त्याग इरितः॥१८८॥
अन्यध्यानपरित्यागे वाच्ये वाग्ग्रहणं श्रुतौ।
वाक्पूर्वमेव भवति ध्यानादीत्याशयाश्रितम्॥१८९॥

मुण्डक में बताया है-एक आत्मा को ही जानो अन्य वाणी छोडो। ज्ञान वस्तुतन्त्र होने से विधि-अधीन नहीं है अतः ज्ञान साधन ध्यानादिपरक ज्ञान शब्द है। निदिध्यासन-निध्यान-दर्शन की इच्छा ही तो है। ध्यानविधि में अन्य ध्यान छोडो कहना चाहिये था। अन्या वाचो विमुञ्चथ कैसे कहा? इस प्रकार कि ध्यानादि वाक्पूर्वक ही होता है। जानीथ में ज्ञाधातु का उपासना अर्थ है तो उपासना ध्यानात्मक है ही अतः अर्थ संघटन सरल हो जायेगा।

ननु प्राक् प्रणवः प्रोक्तोऽतोन्यवाक्त्याग इष्यताम्।
मैवं न तत्त्वमस्यादिवाक्त्यागादेशसंभवः॥१९०॥

इससे पूर्वमन्त्र में प्रणव वर्णन है। उससे अन्य वाणी ऐसा अर्थ क्यों नहीं? इसलिये कि तत्त्वमसि आदि वचन भी छूट न जाये।

यद्वात्मसाक्षात्करणम् महावाक्येन जायते।
अतो वाक्यानुसन्धानमुपधायककारणम्॥१९१॥
मृत्युकाले तदादेष्टुरभावेऽप्यनुसंहितिः।
महावाक्यस्य भवति जानथेति तदुच्यते॥१९२॥
विशेषणतया तत्र वाक्यं प्रविशतीत्यतः।
विमुञ्चथान्या वाचश्चेत्यप्यलं युज्यतेतराम्॥१९३॥
वाक्यस्य चानुसंधानं मनोरूपं भवत्यतः।
वाङ् मे तदनुसन्धाने नित्यमस्तु प्रतिष्ठिता॥१९४॥

अथवा इस प्रकार मन्त्रार्थ लगाईये-आत्मसाक्षात्कार महावाक्य से

होता है यह वेदान्त मत है। महावाक्य माने महावाक्यानुसन्धान। क्योंकि मृत्युकाल में स्वयं बूढे हो गये तो उनके गुरुजी कितनी ऊमर के होंगे, या मर ही गये होंगे तो उपदेशक कौन मिलेगा। अतः महावाक्यज्ञान या महावाक्यानुसन्धान उपधायकरूप से करण है। इसीको मुण्डक में जानथ से कहा। ज्ञानोपधायक महावाक्यानुसन्धानं कुरुथ ऐसा अर्थ हो जायेगा। उसमें विशेषणरूप से महावाक्यवाणी आती है। अतः अन्या वाचो विमुञ्चथ यह भी सुसंगत होगा। वाक्यानुसन्धान मनोरूप ही होता है। ऐसे महावाक्यानुसन्धानरूप मन में विशेषणतया प्रविष्ट महावाक्य से अन्य वाणी को छोडो यह अर्थ होगा।

भाष्येऽन्याद्ये वाच इत्यत्राऽपरा विद्येति भाषितम्।
तत्रर्ग्वेदादिरपरा माऽस्यां भूत् मोक्षदभ्रमः॥१९५॥
घटादिवाचि कस्यापि नैव साधनधीरतः।
तदादाननिषेधो न कार्योऽस्तीति तदाशयः॥१९६॥

भाष्य में अन्या वाचो विमुञ्चथ का अपराविद्या का त्यागना अर्थ बताया है। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेद इत्यादि मुण्डक श्रुति है। ऋग्वेदादि में मोक्ष साधनत्व भ्रम न हो इसके लिये भाष्य में वैसी व्याख्या की। घटपटादि वचन में साधनत्व बुद्धि किसी की नहीं है अतः उसका निषेध करने की आवश्यकता नहीं है यह भाष्याशय है। मतलब 'न तु वृथावाक्यं समुच्चार्यतां' इसी में वह गतार्थ है।

वाङ्मेऽत्र ममता वाचि विशेषेणावलोक्यते।
मनसीत्यवबोधात्मा मननं वाऽविशेषितम्॥१९७॥

वाङ् मे=मेरी वाणी यहां वाणी में ममत्व जोड रहे हैं। मनसि यहां अवबोधात्मा या मनन ममत्व के बिना कहा जा रहा है।

अन्तर्वागवबोधात्म कथने मम वर्तताम्।
सततं नान्यकथने वाचो व्यर्थव्ययो हि सः॥१९८॥

अन्तर्वाणी अवबोधात्म कथन में निरन्तर रहे। अन्यथा व्यर्थवाग्व्यय मात्र होगा।

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत कोविदः।
नानुध्यायेद् बहून् शब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्॥१९९॥

शास्त्रोपदेश से-एकधैवानुद्रष्टव्यं इत्यादि पूर्वोक्त विरज अप्रमेया एकत्वरूप आत्मा को सम्यक् जानकर प्रज्ञा करें-निरन्तर अर्न्तदर्शन करें। बहुत सारे शब्दों का अनुध्यान न करे। क्योंकि वह केवल वाक् हर्षक्षय करना मात्र है।

बहुशब्दाद्यनुध्यानाद् मनोविग्लापनं भवेत्।
वाचो विग्लापनं कस्माद् ध्यानं हि मनसः क्रिया॥२००॥
सत्यमन्तर्वचः पूर्वं ध्यानं तावद् भवेन्नृणाम्।
नानावाचामनुध्याने स्याद्वाग्वृत्तिश्रमो वृथा॥२०१॥
बहूनित्युक्तितः श्रुत्यामल्पशब्दोऽनुमन्यते।
ओमितिध्ययतात्मान—मित्यन्यत्र निवेदितम्॥२०२॥
अहं ब्रह्मास्मिशब्दस्याप्यावृत्तिश्चान्तरिष्यते।
एतेनान्तर्वचो ध्याने श्रुतौ च प्रतिपादितम्॥२०३॥

नानुध्यायाद् बहून - इस बहुशब्दानुध्यान से वाणी का क्या बिगडता है? मन बिगड सकता है। क्या घट पटादि शब्दों का पशु पक्षी आदि की आवाजों का कोई ध्यान करें तो उन आवाजों का क्या बिगडेगा। मन बिगड सकता है। अतः ध्यान में अवश्यंभावी ध्यान विषय विषयक मनोवृत्तिरूप वाणी-अन्तर्वाक ही विवक्षित है।

सर्वसाधारणी नैषा यतोऽन्तर्वाग् भवेदतः।
वाङ् मे श्रुतौ ममत्वोक्तिरेकव्यक्तिभवत् परा॥२०४॥

यह अन्तर्वाणी सर्व साधारण नहीं होती है। इसको उच्चारण करनेवाला ही सुनेगा या जानेगा। इस एकव्यक्तिमात्र विश्रान्त वाणी लाभार्थ श्रुति में वाङ् मे ऐसा ममार्थक मे शब्द कहा जिससे अन्तर्वाणी लाभ हो।

नन्वसाधारणं तावन्मनश्च मननात्मकम्।
तन्नावबोधकं नित्यं चैतन्यं ह्येकमेव तत्॥२०५॥

उपधेयात्मनैकं तन्नानोपाध्यात्मना भवेत्।
तेनाऽसाधारणं तच्चेत्यग्रे स्पष्टीभविष्यति॥ २०६॥

पू. - मननात्मक मन भी तो असाधारण एकव्यक्ति वृत्ति है। उ. - अवबोधरूप से वह नित्य चैतन्य एक ही है। अर्थात् उपधेयरूप से वह एक है। साधारण है। उपाधिरूप से नाना है असाधारण है, यह आगे स्पष्ट होगा।

वाङ् मे मनसि खण्डेस्मिन् वागसाधारणी ध्रुवा।
मनः सामान्यरूपेणेत्येतत्तावदवेक्षितम् ॥ २०७ ॥
मनो मे वाचिखण्डेऽत्र मनोऽसाधारणं धृतम्।
वाक् च सामान्यरूपेण तस्य भावश्च चिन्त्यते॥ २०८॥
मन ज्ञानेऽवबोधे च पठियोगस्ति जणद्वये।
वृत्त्यवच्छिन्नकचैतन्तयं ज्ञानं तत्र मनः पदम्॥ २०९॥
स्यादसाधारणी वृत्ति चैतन्यंत्वेकमेव नः।
इति साधारणं तद्धि मनसीत्यत्र दर्शितम्॥ २१०॥
मनोवृत्तिः सदा मे स्याद् वाचि वेदात्मनि स्थिता।
इत्येवमधुना प्राह मनो वाचि प्रतिष्ठितम्॥ २११॥

वाङ् मे=मम वाक् मेरी वाणी यह असमान्योक्ति है। 'मनसि मे' में नहीं जुडा। अतः सामान्योक्ति है। मनो मे वाचि यहां मन के साथ मम जुडा है अतः मन असामान्य है। वाचि में मम नहीं अतः सामान्य है। मन ज्ञाने, मनु अवबोधे ऐसा धातु पाठ है। ज्ञान चैतन्य युक्त होता है वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य है। वृत्ति असामान्य और ज्ञान सामान्य है। मेरी मनोवृत्ति वाचि=वेदवाणी में प्रतिष्ठित हो ऐसा अर्थ होगा।

सर्वे वेदा आमनन्ति यत्पदं सदिति श्रुतेः।
ब्रह्मैव साक्षाद् वेदेषु पारम्पर्येण वोच्यते॥ २१२॥

साक्षात् या परम्परया ब्रह्म का ही वर्णन वेदों में है ऐसी श्रुति है।

ऋषयो हि त्वयि मनोवचनाचरितं दधुः।
भुवि दत्तपदो यन् वा पतन् वा न भुवं जहौ॥ २१३॥

घटं चिन्तयतो भाति घटावच्छिन्नचेतनम्।
तत्र कल्पितरूपेण घटं पश्यत्दृषिः स्फुटम्॥२१४॥
घटोऽस्तीति प्रणिगदन् घटसद् ब्रह्म भाषते।
तत्रावच्छेदकं वक्ति घटं कल्पितमस्य धीः॥२१५॥
यत् करोति यदश्नाति यज्जुहोति ददाति तत।
ब्रह्मण्येवार्पितं सूत्रे मणिवत्सर्पवद् गुणे॥२१६॥

'बृहदुपलब्धमेतद्' आदि कहकर भागवत में कहा - 'अत ऋषयो दधुस्त्वयि मनोवचनाचरितं कथमयथा भवन्ति भुवि दत्तपदानि नृणाम्'। मन और वचन का प्रस्ताव ब्रह्म में ही होता है। पृथिवी पर चलनेवाला दौडे गिरे पृथिवी पर ही होगा। घटचिन्तन में घटावच्छिन्न चेतन ही भासता है। चैतन्य में घट कल्पितमात्र है। घटः अस्ति यहां अस्तिब्रह्म भास रहा है। उसी को ऋषि बोलते हैं। करना-धरना, खाना-पीना, होमना-देना सब द्रव्य एवं क्रियायें ब्रह्म में ही अर्पित है, जैसे सूत्र में मणिगण, जैसे रज्जु में सर्पमालादि।

आविरावीर्म एधि

आविरित्युच्यते ब्रह्म साक्षात्सर्वत्र भानतः।
आविः संनिहितं ब्रह्म गुहाहितमिति श्रुतेः॥२१७॥

आविः का ब्रह्म अर्थ है। क्योंकि वह साक्षात् सर्वत्र भासित होता है। आविः संनिहितं ब्रह्म इत्यादि श्रुति भी है।

घटस्पृष्टा घटाकारं भाः प्राप्ताऽक्षि प्रतिद्रुता।
छायाख्यानाऽक्षितादात्म्यमापद्य मन आप्नुयात्॥२१८॥
तदाकारं भवच्चित्तं चित्तवृतितिरितीर्यते।
आत्माभासा भासिता सा घटज्ञानं निगद्यते॥२१९॥

सूर्यादि प्रकाश प्रथम घट पर पडता है और घटाकाराकारित होता है। इसी को छाया कहते है (छायाचित्र प्रसिद्ध है) वह आंख में आकर अक्षितादात्म्य पाकर वहां से मन में पहुंचता है। तब मन तदाकार होता

है। यही चित्तवृत्ति है। चित्तवृत्ति आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित होती है। उसी आत्म प्रकाश प्रकाशित चित्तवृति को घटज्ञान कहते हैं।

ननु चात्मप्रकाशेन कथं वृत्तिः प्रकाशताम्।
वृत्तिर्हि जडरूपैव जडचित्तोद्भवत्वतः॥ २२०॥
न चात्मभाससंयोगाद् प्रकाशात्मा भवेदियम्।
नैव स्याद् घटसंयोगात् पटः खलु घटात्मकः॥ २२१॥
न च प्रकाशसंयोगाद् प्रकाशात्मा यथा घटः।
तथात्मभाससंयोगाद् वृत्तिभा इति सांप्रतम्॥ २२२॥
न घटो भासते भासा भासते मा घटाकृतिः।
उक्तं हि घटसंयोगात् पटो न घटतामियात्॥ २२३॥
ननु स्याद् घटसंयोगात् प्रकाशो हि घटाकृतिः।
तथा वृत्त्याकृतिर्वृत्त्याप्यात्मा स्यादिति चेन्न तत्॥ २२४॥
मरीचिवत् सावयवस्तदात्मा स्याद्विकार्यपि।
विकारी नाशमाप्नोति स्याद्विरोधः श्रुतेस्तदा॥ २२५॥
नश्यत्युत्पद्यते चैव प्रकाशो दीपकादिषु।
ज्ञानप्रकाश आत्मा च नश्येज्जायेत ते तदा॥ २२६॥
ज्ञानं जायेत नश्येच्च न त्वात्मेत्यप्यसद्वचः।
आत्मतो ज्ञानजनने कथं नात्मा विकार्यहो॥ २२७॥
असदुत्पत्तिवादश्च गीतास्वेव निराकृतः।
नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः॥ २२८॥
भित्त्वाङ्कुरो यथा बीजं निःसरन् बहिरीक्ष्यते।
भित्त्वात्मानं तथा ज्ञानं कुतो नात्मा विकार्यतः॥ २२९॥
नित्यं विज्ञानमानन्दमित्याह स्म श्रुतिः स्वयम्।
न ज्ञानगुणआत्मासौ ज्ञानात्मैवेतिनिर्णयः॥ २३०॥

पू. - किन्तु आत्मप्रकाश से वृत्ति कैसे प्रकाशित होगी? वृत्ति जड है। क्योंकि मायाकार्य जडचित्त का परिणाम है। आत्मप्रकाश संयोग से वृत्ति प्रकाशरूप हो? नहीं। घट संयोग से पट घट नहीं होता। जडप्रकाश

संयोग से प्रकाश नहीं हो सकता। तब घट प्रकाशित कैसे होता है? घट संयोग से घटाकृति बनी प्रकाश ही प्रकाशता है। जैसे घट संयोग से घटाकार सौर प्रकाश हुआ वैसे वृत्ति संयोग से वृत्त्याकार आत्मा हो जायेगा मान लो। नहीं। सूर्यकिरण या सूर्यप्रकाश सावयव है वह घटाकारक हो सकता है। पर आत्मा सावयव नहीं है। दीप प्रकाश सावयव है, उत्पन्न होता है, नष्ट होता है वैसे आत्मा भी उत्पत्तिमान एवं नाशवान होगा। ज्ञान उत्पन्न हो, नष्ट हो, आत्मा उत्पन्न और नष्ट नहीं होता ऐसा नैयायिकादि मत भी ठीक नहीं। आत्मा से ज्ञान हुआ तो आत्मा अनित्य होगा ही। क्योंकि असत् की उत्पत्ति आदि का खण्डन नासतो विद्यते भावः इत्यादि गीतावचन में ही है। बीज के अंदर पूर्वस्थित अंकुर बीज को फोडता हुआ बाहर आता है। वैसे आत्मा के अंदर स्थित ज्ञान आत्मा को फोडता हुआ बाहर आयेगा तब आत्मा में सावयवत्व अनित्यत्वादि अनिवार्य है। श्रुति ज्ञान को ही आत्मा कहती है उसे नित्य ही कहती है।

तस्माद्यदाकृतिर्वृत्तिस्तदाकारावृतिं तु सा।
मायायाः कर्त्तयेत्तेन ब्रह्म भाति तदाकृति॥२३१॥

इसलिये वृत्ति नहीं प्रकाशती, जिस वस्तु के आकार की वृत्ति है उस आकार में माया के आवरण को अंशतः कतर लेती है-नष्ट करती है तो उस आकार में ब्रह्म ही प्रकाशमान होता है।

यथा जवनिकान्तर्हि घटाकाराभिकर्तने।
दृश्यते खं घटाकारं तथा ब्रह्म घटाकृति॥२३२॥

जैसे पडदे के अंदर से घटाकार कपडा काटा तो घटाकार आकाश उसके छेद से दिखता है वैसे घटाकार वृत्ति से माया में घटाकार छेदन किया तो उस छेदन से आकाश घटाकार दिखता है वैसे घटाकार आत्मा प्रकाशता है।

सूर्यप्रकाशो जवनिकामध्यादन्तरुपागता।
घटाकारो वीक्ष्यते हि घटाकाराभिकर्तनात्॥२३३॥

पडदे में घटाकार छेद किया तो सूर्यप्रकाश अंदर घटाकार ही दिखता है।

नन्वावरणभङ्गे हि शुद्धं ब्रह्म तदाकृति।
भासतां नीलपीतादि कथं भातु घटाद्यपि॥ २३४॥

घटादि आकार में वृत्ति ने अंदर माया को कतर कर निकाला तो शुद्ध ब्रह्म ही घटाद्याकार में भासित होगा। नीलपीतादि एवं घटादि कैसे भासित हो।

नावृतिर्भज्यते नीलपीतवृ-त्तिस्तु तिष्ठति।
तत्तादात्म्याध्यसनतस्तद्रूपं ब्रह्म भासते॥ २३५॥

नहीं। आवरण का भंग हुआ। नीलपीतादि वृत्ति तो रहेगी। उसका तादात्म्याध्यास होने से ब्रह्म ही नीलपीतादिरूप से भासित होता है।

यथा पीतवदाभाति शंखः पित्तोपधानतः।
नीलादिवत्तथाभाति ब्रह्म तद्वृत्त्युपाधितः॥ २३६॥

जैसे पित्तोपधान से शंख पीतवद् भासता है वैसे नीलपीतादि वृत्त्युपधान से ब्रह्म भी नीलपीतादिरूप से भासता है।

अध्यस्तं बाहिरेवास्तु घटादि ब्रह्मणीति चेद्?
सत्यं भातु कथं ब्रह्माऽऽवृतिभङ्गं विना वद॥ २३७॥

तो बाहर ही ब्रह्म में घटादि अध्यास मान लो। वृत्त्यध्यास तक पहुंचने की क्या जरूरत? भई वृत्ति के बिना आवरण भंग कैसे? ब्रह्मस्फुरण और घटादि भान कैसे?

ये बर्हिमन्वते ज्ञानं वृत्तिनिर्गमनं बहिः।
तेषां मते बहिरपि सर्वमेतत्सुसंगमम्॥ २३८॥
ये त्वाधुनिकविज्ञानं परं श्रद्दधते जनाः।
तेषामप्यविरोधार्थं दर्शितं सकलं मया॥ २३९॥

प्राचीन आचार्य वृत्तिनिर्गमन एवं बहिर्ज्ञान मानते है उनके मत में बाध भी पूर्वोक्त सभी सुसंगत है। जो आधुनिक विज्ञान में ही श्रद्धा रखते हैं उनको भी विरोध करने का मौका न हो एतदर्थ ही पूर्वविस्तार है।

आवीरित्याविरेवेदं दैर्घ्यात् स्याच्छान्दसात्पदम्।
एकोऽपरोक्षवचन आविर्भावार्थकोऽपरः॥ २४०॥

आविरावीर्म एधि यहां एक ही आविस शब्द है। छान्दसदैर्घ्य से आविस् की आवृत्ति में एक का अपरोक्ष अर्थ है दूसरे का आविर्भाव अर्थ है।

अपरोक्षमपि ब्रह्म मायावरणकारणात्।
परोक्षवदभूत्तन्मे आविर्भूयादनावृतम्॥ २४१॥

अपरोक्ष भी ब्रह्म मायावरण से परोक्षवत् हो गया। आवरणनिवृत्ति से वह आविर्भूत हो।

मायाऽज्ञानमविद्येति पर्यायत्वेन गण्यते।
ब्रह्म विज्ञानरूपं सा कथमावृणुयादिति॥ २४२॥
न ह्यन्धकारो विबिडो ज्योतिरावृणुयात् क्वचित्।
न मध्याह्नेऽन्धकारेण दृष्टः सूर्यार्चिरावृता॥ २४३॥

पू.-माया अज्ञान अविद्या आदि पर्याय है। ब्रह्म तो ज्ञानस्वरूप है उसे अज्ञान कैसे ढकेगा? क्या मध्याह्न में सूर्यप्रकाश को अंधकार ढकता है?

अनक्षद्वारसदने मध्याह्ने कीलितारे।
तमसाऽऽव्रियते सौरप्रकाश इति चेन्न तत्॥ २४४॥
तत्र सौरप्रकाशस्य प्रवेशाभावकारणात्।
किं खल्वाव्रियतां विद्यमानं ह्याव्रियतेऽन्यतः॥ २४५॥
मध्याह्न उपशल्ये चेदाव्रियेतार्कदीधितिः।
तदा वयं परास्ताः स्मो नैव दृष्टचरं तु तत्॥ २४६॥

यह कहो कि खिडकी नहीं है, दरवाजा बंद किया ऐसे घर में अंधकार सूर्यप्रकाश को ढकता है तो सही नहीं है। वहां सूर्यप्रकाश का प्रवेश ही नहीं है। अन्धकार ढकेगा किसको? ढकना विद्यमान वस्तु का होता है। हां मध्याह्न में खुले मैदान (उपशल्य) में सूर्यप्रकाश यदि ढक जाये तो हम अपनी पराजय मान लेंगे। पर ऐसा होता नहीं।

न च राहुस्तमश्चन्द्र-मावृणोतीति सांप्रतम्।
पृथिवीव्यवधानेन नार्कभाश्चन्द्रमृच्छति॥ २४७॥

यह कहें कि 'तमस्तु राहुः' इस वचन के अनुसार राहु तम ही है वह

चन्द्रमा को ढकता है। नहीं। बीच में पृथिवी का व्यवधान होने से सूर्यप्रकाश चन्द्र पर पूरा पडता नहीं है। अतः प्रकाश का अभाव है न कि प्रकाश अवृत।

मैवं तमस्तरुच्छाया मध्याह्नेऽप्यवलोक्यते।
न वा प्रकाशविरहः छायायां वस्तुवीक्षणात्॥ २४८॥
तदा किंचित्प्रकाशश्च स्पष्टमाव्रियते तया।
स्फुरेत् किंचित्प्रकाशश्च येन पश्य दिवीक्षणम्॥ २४९॥

उ. - उत्तर यह है कि वृक्ष की छाया तम ही है। वह मध्याह्न में भी दिखती है। सर्वथा वहां प्रकाशाभाव भी नहीं है। वृक्ष छाया में सभी वस्तु दिखती है। छाया से कुछ प्रकाश आवृत होता है कुछ प्रकाश भासता भी है।

बहिःप्रदेशान्मध्याह्ने स्वगृहेऽन्तरुपागतः।
तमः पश्यति घोरं सप्रकाशं तेन चावृतम्॥ २५०॥
गुहायां नेक्ष्यते वस्तु पुस्तकान्यक्षराणि च।
न च पश्यत्यावृतत्वात्तमसाऽर्कप्रभामपि॥ २५१॥
न चोग्ररोचिष्ठाऽर्कस्य चक्षुषोऽभिभवात्तदा।
न गुहान्तस्थवस्तूनि प्रकाशं च प्रपश्यति॥ २५२॥
तथा सति तमोऽप्येष कथं पश्येद् गृहागतः।
निबिडं हि तमः पश्यत्यन्तर्गृहमुपागतः॥ २५३॥
न चाक्षिमीलनेऽपीक्ष्यं तमस्तत्रेति शङ्क्यताम्।
पक्ष्मान्तर्गतमेवासौ तमः पश्यति पश्यकः॥ २५४॥

बाहर से मध्यह्न में, घर में, या गुहा में आये तो अंधेरा दिखता है। प्रकाश आवृत रहता है। नाना वस्तु पुस्तकादि नहीं दिखती। बल्कि अन्तः प्रविष्ट मंद सूर्यप्रभा भी आवृत होती है। धूप से चक्षु अभिभूत थी कहो तो तम को कैसे देखा? आंख मूंदने पर भी तम दिखता है अतः तम को देखने के लिये आंख की जरूरत नहीं है कहो, नहीं, पलक के अंदर जो तम है उसे आंख देखती है।

सत्सु वृक्षादिषु च्छाया सत्स्वज्ञानं तु केषु भोः।
रात्रौ वृक्षादिविरहे तमः किं न भवेद् वद॥२५५॥

वृक्षादि हो तो छाया होगी। सृष्टि पूर्व वृक्ष स्थानीय क्या है जिससे छायारूप अज्ञान हो? सुनो। वृक्षादि के न होने पर भी रात में अंधेरा होता है।

अनादित्वाच्च मायाया व्यवधाव्यवधेययोः।
नैव प्रवर्तते चिन्ता तस्माच्चोद्यं न विद्यते॥२५६॥

अज्ञानान्धकार अनादि होने से व्यवधान और व्यवधेय की चिन्ता नहीं होती। अतएव यहां कोई प्रश्न उठता ही नहीं है।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
इत्येवं भगवान् माया-मायिनोर्वष्ट्यनादिताम्॥२५७॥

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी ऐसा दोनों को भगवान अनादि कहते हैं।

अज्ञानेनावृतं ज्ञानमित्यप्याह हरिः स्वयम्।
न ज्योतिस्तमसाऽऽवृत्य-मित्यप्येतेन खण्डितम्॥२५८॥

अज्ञान से ज्ञान आवृत हुआ यह भी गीतावचन है। तम से ज्योति कैसे आवृत हो इस शंका का भी इसीसे समाधान होता है। अर्थात् अनादि में प्रश्न नहीं उठता।

तस्मादाविःस्वरूपं चा-प्यावृतं मायया भवेत्।
आविर्भूतिरपि ज्ञानादित्यप्याह हरिः स्वयम्॥२५९॥
ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति संगिरन्॥२६०॥

इसलिये आविः स्वरूप होने पर भी ब्रह्म माया से आवृत होता है। उसका आविर्भाव भी भगवान ने ज्ञान से बताया। ज्ञान से अज्ञान नाश और ब्रह्मप्रकाशन भी भगवान ने कहा।

अयमर्थो-भावरूपा माया ह्यज्ञानमुच्यते।
तेन चाव्रियते ब्रह्म न त्वभावात्मना क्वचित्॥२६१॥

ज्ञानं वृत्त्यात्मकं तेन चाऽज्ञानं नाशितं भवेत्।
तदाऽऽवरणभङ्गेन स्वयं ब्रह्म प्रकाशते॥ २६२॥

अज्ञानेनावृतं इस कथन से अज्ञान भावरूप मालूम पडता है। भाव से ही ब्रह्म का आवरण संभव है। अभाव से नहीं। ज्ञानेन का वृत्तिज्ञान अर्थ है। ब्रह्म अर्थ लेते तो कभी का वह अज्ञान को नष्ट कर देता। वृत्ति ज्ञान से आवरण भंग होने से ब्रह्मरूपी ज्ञान स्वयमेव प्रकाशमान होता है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है।

अविःस्वरूप आत्मैव स चावरणकारणात्।
अनाविरिव जायेत मेघेनेव दिवाकरः॥ २६३॥

एक आत्मा ही आविः स्वरूप है, ज्ञान प्रकाशरूप है, अन्य सब जड है। वह आत्मा माया आवरण से अनाविः- अप्रकाशरूप हुआ। कैसे? जैसे मेघावरण से सूर्य अप्रकाशमान हुआ।

वेदान्तवाक्यश्रवण-वृत्त्याऽऽवरणभङ्गतः।
आविरेवाविरेत्येष मेघापायेऽंशुमानिव॥ २६४॥

वेदान्तवाक्यश्रवणजनित अपरोक्षवृत्ति से आवरणभंग होने पर पूर्व आविः ही आविर्भूत होता है। अनाविः कभी आविर्भूत नहीं होगा। मेघ हट गया तो पूर्वप्रकाश ही सूर्य प्रकाशमान होता है।

मनःप्रतिष्ठितं वाचि श्रवणादिवशाद् भवेत्।
तदाऽऽविराविरेतीति सावस्था प्रार्थ्यते विदा॥ २६५॥

मन जब वेदान्तवाक्यात्मक वाणी में प्रतिष्ठित होता है तो आविः ही आविर्भूत होती है उस अवस्था की यह प्रार्थना है।

नन्वाविरात्मा खल्वेष जगदाकारतां गतः।
आविरेवेति तादर्थ्यं प्रार्थना क्रियते कुतः॥ २६६॥
न च दृश्यं जगदिदं नाविरात्मेति सांप्रतम्।
द्वैतप्रसक्तेः सर्वं ख-ल्विदं ब्रह्मेति च श्रुतेः॥ २६७॥
यतो जगन्ति जायन्ते जीवन्त्येतानि येन च।
यच्चाभिसंविशन्तीति तदुपादानताश्रुतेः॥ २६८॥

कुण्डलं लभ्यतां हैमपिण्डं वाऽऽकारवर्जितम्।
किमन्तरं स्यान्मूल्यं तु तुल्यमेवोभयोरिति॥ २६९॥

पू. - यह आविः स्वरूप आत्मा ही जगत के रूप में आविर्भूत है। प्रार्थना किस लिये? यह दृश्य जगत आविरात्मा नहीं है कहो तो गलत है। सर्वं ब्रह्म यह श्रुति है। उसीसे जगत पैदा होता रहता है उसी में विलीन होता है यह भी श्रुति है। सुवर्ण कुण्डल पा लो चाहे सुवर्ण पिण्ड। सोने का मूल्य बराबर ही है (बल्कि कुण्डलाकार बनाने में ज्यादा दाम होता है)।

एतेन जगदाकारहीनं ब्रह्माविरस्तु मे।
इत्यर्थोऽपि निरस्तः स्याल्लाभाधिक्यादिवर्जनात्॥ २७०॥

इससे जगदाकाररहित ब्रह्म आविर्भूत हो यह अर्थ भी निरस्त है। आकार रहे या न रहे मूल्याधिक्य लाभाधिक्यादि है नहीं।

कदाविर्भूतसलिलकणैः किं भो प्रयोजनम्।
आविर्भूतात् स्थूलजलात् पिपासोपशमो भवेत्॥ २७१॥
पुत्रपौत्रधनागाराकारं सुखमिदं जगत्।
निराकारं खमात्रं को दर्शं दर्शं जिजीविषेत्॥ २७२॥

पुत्र, पौत्र, धन, गृहादि स्थूलाकार जगत सुखदायी है। निराकार आकाश देख-देखकर कौन जीना चाहेगा? पानी के कणों से क्या हो? स्थूल जल हो तो प्यास मिटे।

न चेदं ब्रह्मणो रूपं जगदित्यपि सांप्रतम्।
ब्रह्मभेदोपगमने द्वैतापत्तिप्रसङ्गतः॥ २७३॥

जगत को ब्रह्मभिन्न मानो तो द्वैतापत्ति होगी।

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चामूर्तमेव च।
इत्यादिश्रुतिभिश्चैव विरोधस्ते प्रसज्यते॥ २७४॥

मूर्त अमूर्त ब्रह्म के दो रूप है इस श्रुति से भी विरोध होगा।

उच्यते ब्रह्मणो रूपं द्विविधं सर्वसंमतम्।
तात्त्विकं चातात्त्विकं च वेदशास्त्रेषु दर्शितम्॥ २७५॥

यत् सत्यं ज्ञानमानन्दं तत्तात्त्विकमुदीरितम्।
मूर्त्तामूर्त्तादिदृश्यं यत् तदतात्त्विकमीरितम्॥ २७६॥
नास्ति ब्रह्म न तद् भाति न चानन्दोऽनुभूयते।
इत्येवं सच्चिदानन्दरूपं तस्यावृतं भवेत्॥ २७७॥
अतात्त्विकेन रूपेण तात्त्विकं रूपमावृतम्।
नामरूपात्मकं सर्वं जगदेतदतात्त्विकम्॥ २७८॥
नेति नेति श्रुतिस्तावद् विनिषेधत्यतात्त्विकम्।
श्रुत्यैव विनिषिद्धत्वान्मन्महेऽतात्त्विकं जगत्॥ २७९॥
द्वे शुक्तेर्भवतो रूपे शुक्तित्वं रूप्यमेव च।
यावद् रूप्यं चाकशीति नैव दृश्येत शुक्तिका॥ २८०॥
यावद् भूतभयावेशः तावत्स्याद् भूतदर्शनम्।
क्षीणे भूतभयावेशे सदनं शुभदर्शनम्॥ २८१॥
यावन्नानार्थतावेश - स्तावन्नानार्थदर्शनम्।
क्षीणे नानार्थतावेशे सच्चिदानन्ददर्शनम्॥ २८२॥

उ. - इसका समाधान सुनो। ब्रह्म के तात्त्विक, अतात्त्विक दो रूप हैं। सत्य ज्ञान आनन्द तात्त्विक रूप है। मूर्तामूर्तादि अतात्त्विक है। अतात्त्विकदर्शी को ब्रह्म नहीं, दिखता नहीं, आनन्द नहीं, ऐसा सच्चिदानन्द आवृत रहता है। अतात्त्विकरूप से तात्त्विकरूप आवृत होता है। नामरूपात्मक पूरा जगत अतात्त्विक है। मूर्त और अमूर्त को लेकर श्रुति नेति नेति ऐसा निषेध करती है। अतात्त्विक रजत है। जब तक रजत का बोलबाला है शुक्तित्व आवृत रहता है। जब तक घर में भूतावेशभय है तब तक भूत दिखेगा। भूत भयावेश निकल गया तो सानन्दसदन दर्शन होता है। जब तक नानाद्वैत दर्शन होता है तब तक ब्रह्म तिरोभूत सा रहता है। वह क्षीण हो जाये तो अद्वैत सच्चिदानन्द ब्रह्मदर्शन होता है।

आविरेवाऽभयगृहं भूतेक्षणभयावृतम्।
क्षीणे भूतेक्षणे स्पष्ट-माविःस्यादभयालयम्॥ २८३॥

घर पहले भी अभयालय ही था। वह भूतदर्शन भय से आवृत हो

गया। भूतदर्शन नष्ट हो गया तो स्पष्टरूप से अभयगृहरूप में आविर्भूत हो जाता है।

निर्भूताऽज्ञानसंभूत-आलये भूतदर्शनम्।
निर्भूतगृहविज्ञाने-ऽज्ञानभूतौ न तिष्ठतः॥२८४॥
तत्राज्ञानविनाशेऽपि तत्संस्कारोऽनुवर्तते।
स्याद्भूतदर्शनं क्षीणं किंचित्किंचित् प्रकाशते॥२८५॥
ब्रह्मज्ञानेन चाज्ञानं नश्यत्येव न संशयः।
किंतु संस्कारसत्त्वेन बाधितं चानुवर्तते॥२८६॥
तनैव दृश्यते विश्वं गुरुशिष्यादिकं तथा।
उपदेशादि तेनैव प्रागदुःखं स्मरता निजम्॥२८७॥

वस्तुतः भूतरहित गृहविषयक अज्ञान से गृह में भूतदर्शन होता है। निर्भूत गृहविज्ञान से अज्ञान नष्ट होगा और भूत भी नष्ट होगा। किन्तु अज्ञान नाश होने पर भी उसका संस्कार रहेगा और क्षीणरूप से कभी कभी भूतदर्शन भी होगा। ब्रह्मज्ञान से अज्ञान नष्ट तो होगा ही। किन्तु संस्कार के रहने से बाधितरूप से जगत दिखेगा जिससे वह जगत को देखेगा, गुरुशिष्यादि दिखेगा। अपना संसार दुःख स्मरण होने से शिष्य में उसे जान कर उपदेश भी करेगा। (शेष तद्वक्तारमवतु) में कहेंगे।

कथं ननु तिरोभाव आविर्भावस्तथा कथम्।
का प्रक्रियेति चेत्तत्र घटादौ प्रथमं शृणु॥२८८॥

ये आविर्भाव और तिरोभाव कैसे होते हैं क्या प्रक्रिया है। सुनो। प्रथम घटादि में समझो।

घटावच्छिन्नचैतन्य-मज्ञानेनावृतं यदा।
तदा घटं न वेद्मीति घटस्यावरणं मतम्॥२८९॥

घटावच्छिन्न चैतन्य अज्ञान से आवृत होता है तब मैं घट को नहीं जानता हूं नहीं देखता हूं। ऐसा बोलते हैं। यही अज्ञानावरण है।

घटाकारमनोवृत्तिः संनिकर्षाद्यदा भवेत्।
तदा तया स्यावरण-भङ्गतो भासते चितिः॥२९०॥

प्रतिबिम्बं तदा वृत्तौ चैतन्यस्य पतेदिति।
घटो भासेत तेनैव घटं वेद्मीति धीर्भवेत्॥ २९१॥

चक्षुरादि संनिकर्ष से घटाकार मनोवृत्ति जब बनती है तब उससे अज्ञानावरण निवृत्ति होगी और चैतन्य प्रकाशमान होगा। उस भासमान चैतन्य का प्रतिबिम्ब वृत्ति में पडेगा। तब घट भी भासित होगा। तब कहने लगते हैं मैं घट जानता हूं।

वृत्त्या विनश्यत्वज्ञानं घटश्चैव प्रकाशताम्।
किमर्थं प्रतिबिम्बं तद् वृत्तावभ्युपगम्यते॥ २९२॥
शृणु वृत्तेर्जडत्वेत न प्रकाशनयोग्यता।
युक्ता चित्प्रतिबिम्बेन प्रकाशयितुमर्हति॥ २९३॥

वृत्ति से अज्ञान नष्ट हो और घट भी प्रकाशित हो, तो प्रतिबिम्ब व्यर्थ है। नहीं। वृत्ति जड होने से वह प्रकाशित नहीं करेगी। चित्प्रतिबिम्बयुक्त प्रकाशित करेगी।

वृत्तिः प्रकाशतां तेन घटः कस्मात् प्रकाशते।
शृणु प्रकाशमाना सा स्वाश्रयं च प्रकाशयेत्॥ २९४॥

प्रतिबिम्ब से वृत्ति प्रकाशित हो, पर घट क्यों प्रकाशित होगा? सुनो। प्रकाशमान वृत्ति स्वाश्रय को भी प्रकाशित करेगी।

कुड्यं न भ्राजते तैलाऽभ्यक्तं तद् भ्राजते भृशम्।
प्रकाशप्रतिबिम्बेन युक्तं तैलाश्रयत्वतः॥ २९५॥
चैतन्यप्रतिबिम्बेन युक्तवृत्त्याश्रयत्वतः।
तथा घटादिकमपि जडमप्येव भासते॥ २९६॥

दिवार आदि प्रकाशित नहीं होती। किन्तु तैल लेप दो तो प्रकाशित होगी? क्यों? प्रकाश प्रतिबिम्बयुक्त तेल का वह आश्रय है। वैसे प्रकाश प्रतिबिम्बयुक्त वृत्ति आश्रय होने से जड भी घटादि प्रकाशमान होते हैं।

बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावेतौ व्याप्नुतो घटम्।
तत्राऽज्ञानं धिया नश्ये-दाभासेन घटः स्फुरेत्॥ २९७॥

इत्याचार्या अपि प्राहु - र्बुद्धिस्तद्वृत्तिरुच्यते।
आभासः प्रतिबिम्बं च तेनोक्तार्थः समर्थितः॥ २९८॥

इसी अर्थ को बुद्धि तत्स्थचिदाभासौ इत्यादि से आचार्य ने कहा। बुद्धि अर्थात् वृत्ति चिदाभास अर्थ चित्प्रतिबिम्ब दोनों घट पर व्याप्त होते हैं। बुद्धि से अज्ञान नाश होगा और आभास से घट स्फुरित होगा।

अन्येऽनावृतचैतन्य-तादात्म्यात् स्फुरणं विदुः।
विषयाणां घटादीनां त्तदात्म्याध्यसनं चिता॥ २९९॥

अन्य मूर्धन्यविद्वान यह मानते हैं कि वृत्ति से आवरणनिवृत्ति पूर्वोक्त ही है। ऐसे अनावृत चैतन्य तादात्म्य से घटादि विषय स्फुरण है। तादात्म्य माने तादात्म्याध्यास। घट में चैतन्य तादात्म्याध्यास ही 'घटो भाति' में है।

अयो यथा दहत्याग्नि-तादात्म्यात्तद्वदेव च।
स्फुरत्यनावरणचि-त्तादात्म्याद्धि घटादिकम्॥ ३००॥

जैसे अग्नि तादात्म्य से लोहा जलाता है वैसे अनावृतचित्तादात्म्या से घटादि स्फुरित होते हैं।

नन्वेतेनोपपत्तिश्चेत्प्रतिबिम्बाश्रितिः कुतः।
प्रतिबिम्बमरूपाणां मन्यन्ते नैव केचन॥ ३०१॥
प्रतिबिम्बस्य तादात्म्याऽध्यासो वाच्यः सतोऽपि च।
न जडस्फुरणा युक्ता प्रतिबिम्बास्तितावशात्॥ ३०२॥

अनावृत चित्तादात्म्य से ही घटादि की स्फुरणोपपत्ति होने से चित्प्रतिबिम्ब को मानने की क्या आवश्यकता? अरूपी वस्तुओं का प्रतिबिम्ब नैयायिकादि नहीं मानते। मानने पर उसके होने मात्र से जड घटादि स्फुरित कैसे होगा? तदर्थ प्रतिबिम्ब तादात्म्याध्यास मानना होगा। जो गौरव दोषग्रस्त है।

अत्राहुः प्रतिबिम्बस्य श्रुत्युक्तत्वादुपेयता।
आभासेन करोत्येतौ जीवेशाविति तापनी॥ ३०३॥

इसका उत्तर प्रतिबिम्बवादी यह कहते हैं कि नृसिंहतापनी श्रुति में जीव और ईश्वर को आभास से (प्रतिबिम्ब से) होना बताया है।

अविद्याकार्यतामन्तःकरणानां निवेद्य हि।
तत्र च ब्रह्मचैतन्यं भवति प्रतिबिम्बितम्॥३०४॥
प्रतिबिम्बो ह्येव जीव इति चोक्त्वा तदाश्रुतम्।
त्रिपाद्विभूतिनारा - यणोपनिषदाप्यतः॥३०५॥
बुद्धिवृत्तावपि चितः प्रतिबिम्बं प्रसिध्यति।
तदा बुद्धेः सप्रभत्वकल्पनापि न दुर्गमा॥३०६॥

त्रिपाद् विभूति नारायणोपनिषद में भी-**अविद्याकार्याण्यन्तः करणानि** ऐसा शुरू कर **ब्रह्म चैतन्यं तेषु प्रतिबिम्बितम्-प्रतिबिम्बा एव जीवा इति कथ्यन्ते** बताया। अतः प्रतिबिम्बवाद उपनिषद ने स्वीकार किया है तब बुद्धि वृत्ति में भी चित्प्रतिबिम्ब तथा सप्रभत्व दुर्गम नहीं है।

शक्तिः खलु शिवाऽभिन्ना-प्यस्ति सा स्पन्दरूपिणी।
तयैव सकलं सिद्धं स्यादनिर्वचनीयया॥३०७॥

शक्ति शिवाऽभिन्न है फिर भी स्पन्दरूपिणी है। वही प्रतिबिम्ब लेकर सर्वत्र पहुंचेगी। उसीसे सब सिद्ध है। वह स्वयं विलक्षण है अनिर्वचनीय है।

चित्तादात्म्यं ननु यदि प्रातिभासिकमिष्यते।
बाधः स्यात्तस्य नाद्राक्षं घटादीति भवेत्तदा॥३०८॥
व्यावहारिकतादात्म्यं यदि तत्राभिधीयते।
चिद् विकारवती तर्हि स्यान्न विक्रियते तु सा॥३०९॥

यह चित्तादात्म्य प्रातिभासिक है तो बाध होगा और मैंने घट नहीं देखा ऐसा होने लगेगा। व्यावहारिक हो तो चित् विकारवती होगी जो मान्य नहीं है।

मैवं ब्रह्मत उत्पन्नं खादिकं व्यावहारिकम्।
न विकारि ब्रह्म भवेत् चित्तादात्म्यं तथास्तु च॥३१०॥

यह दोष नहीं है। ब्रह्म से व्यावहारिक आकाशादि हुआ तो ब्रह्म विकारी नहीं हुआ। वैसे चित्तादात्मय भी हो जायेगा।

व्यावहारिकतुल्यं चाप्यस्त्येकं प्रातिभासिकम्।
यथाहं ब्राह्मण इति देहतादात्म्यमीक्षितम्॥ ३११॥
प्रातिभासिकतादात्म्यं यदि श्रुत्याभिधीयते।
शूद्रो यागाधिकारी स्याद्विप्रोऽहमिति विभ्रमन्॥ ३१२॥

व्यावहारिक सदृश भी एक प्रातिभासिक होता है। जैसे अहं ब्राह्मणः ऐसा आत्म-देहतादात्म्य। **ब्राह्मणो यजेत** से श्रुति में प्रातिभासिक तादात्म्य विवक्षित है तो कोई शूद्र भ्रम से अपने को ब्राह्मण समझने लगा तो वह भी यागाधिकारी होगा।

न चात्र देहतादात्म्यं व्यावहारिकमिष्यताम्।
चेतने जडतादात्म्याऽसंभवात्तदसंभवात् ॥३१३॥

यहां व्यावहारिक तादात्म्य संभव नहीं है। क्योंकि चेतन में जड तादात्म्य नहीं होता।

उपादेये ह्युपादान - तादात्म्यं व्यावहारिकम्।
भवेन्मृद्घटयोर्यद्व—न्न जीववपुषोस्तथा॥ ३१४॥
प्रातिभासिकमन्यत्र यथा तद्रज्जुसर्पयोः।
संसर्गिणोस्तुल्यतायां संसर्गाध्यास इष्यते॥ ३१५॥
जीवोऽविद्याविशिष्टत्वा-न्न भवेत् पारमर्थिकः।
भागत्यागे सदैक्यं हि तत एवोररीकृतम्॥ ३१६॥

उपादान और उपादेय का तादात्म्य व्यावहारिक होता है। जैसे मृत्तिका और घट में। जीव और शरीर में उपादेयोपादानभाव नहीं है। ऐसी जगह रज्जु सर्प के समान प्रातिभासिक तादात्म्य होगा। दोनों संसर्गी व्यावहारिक हो तो संसर्गाध्यास होगा। जैसे लोहा और अग्नि में। जीव अविद्या विशिष्ट होने से पारमार्थिक नहीं है जिससे कि उसमें व्यावहारिक शरीर कल्पना हो। अतएव विशेषणत्याग से ही जीव ब्रह्मैक्य स्वीकृत हुआ है।

नन्वविद्योद्भवत्वेन जीवोपादानको भवेत्।
देहोऽयमिति चेत्तन्न मायाकार्यं हि तन्मतम्॥ ३१७॥

ईक्षणादि प्रवेशान्ता सृष्टिरीशेन कल्पिता।
जाग्रदादिविमोक्षान्ता जीवेनेति श्रुतत्वतः॥ ३१८॥

शरीरादि अविद्याजन्य होने से जीवोपादान कैसे नहीं? क्योंकि वह माया कार्य है। ईक्षणादि इत्यादि वराहोपनिषत् में और पञ्चदशी में भी आया है।

नान्यः पश्येदन्यदेह-मन्यथा स्वप्रदेहवत्।
तस्मान्न जीवतादात्म्यं देहेन व्यवहारिकम्॥ ३१९॥

देहादि जीवकल्पित होता तो एक का देह दूसरा न देखता जैसे स्वप्रदेह। अतः जीवतादात्म्य देहादि के साथ व्यावहारिक नहीं है। देहादि जीवोपादानक भी नहीं है।

न चावच्छेदको देहोऽवच्छेद्योऽहमितीष्यताम्।
नहि तद्भावसम्बन्धो द्विजोऽहमिति धीपदम्॥ ३२०॥

देह अवच्छेदक है आत्मा अवच्छिन्न है अर्थात् अवच्छेद्यावच्छेदक भावसम्बन्ध से 'अहं द्विजः' बोलते हैं। नहीं। अहं द्विजः बोलनेवाले और सुननेवाले को ऐसा बोध नहीं होता है।

अन्यथा स्यादहं देह इत्यपि प्रत्ययः प्रमा।
देहात्मप्रत्ययश्चैव सर्वैरङ्गीकृतो भ्रमः॥ ३२१॥

अन्यथा मैं देह हूं यह ज्ञान भी यथार्थ ज्ञान होगा। दूसरी बात सभी दार्शनिक देहात्मप्रत्यय को भ्रम ही मानते हैं।

नाहं मनुष्यो विप्रादिरित्यभ्यासो वृथा भवेत्।
तस्यैव मिथ्यारूपत्वात्तस्मात्तादात्म्यधीर्ध्रुवा॥ ३२२॥

नाहं मनुष्यः न च देवयक्षौ इत्यादि अभ्यास भी व्यर्थ होगा। क्योंकि नाहं मनुष्यः न विप्रः इत्यादि ही मिथ्या होगा। अतः तादात्म्य बुद्धि ही यहां होती है।

अभेदेऽमानि तादात्म्यं भेदाभेदे तथा क्वचित्।
सर्वथा यत्र भेदः स्यात्तादात्म्यं तत्र नो भवेत्॥ ३२३॥
देहादत्यन्तभिन्नोऽयमात्मा प्रावोचि तैर्थिकैः।
जन्मान्तरे नैष देह आत्मा नित्यस्तु तिष्ठति॥ ३२४॥

तस्मान्न देहतादात्म्यमात्मन्यभ्युपगम्यते।
अहं ब्राह्मण इत्यादि-र्भ्रम एव ततो ध्रुवः॥ ३२५॥
प्रातिभासिकतादात्म्यं देहस्यात्मन्यतः स्थितम्।
व्यावहारिकतुल्यं तु कर्मादावधिकारतः॥ ३२६॥

अभेद में या भेदाभेद में तादात्म्य होता है, अत्यन्त भेद में नहीं। देह से अत्यन्त भिन्न आत्मा सर्वतैर्थिक सम्मत है। जन्मान्तर में यह शरीर नहीं है, आत्मा है। अतः आत्मा में देहतादात्म्य नहीं अहं ब्राह्मणः इत्यादि स्पष्ट भ्रम है। सो भी प्रातिभासिक, किन्तु उसीको लेकर कर्माधिकार होने से व्यावहारिकतुल्य है।

व्यावहारिकतुल्यत्वे किं नु तावन्नियामकम्।
इतिचेच्छृण्ववच्छेद्या-वच्छेदकविधा तथा॥ ३२७॥

व्यावहारिकतुल्य होने में नियामक क्या है? अवच्छेद्यावच्छेदक भाव।

ननु नैयायिकादीना-मात्मनो व्यापकत्वतः।
सर्वैर्मूर्त्तैरवच्छेद्या-वच्छेदकविधा भवेत्॥ ३२८॥
ज्ञानादि जायते ताव-त्तन्ववच्छिन्न आत्मनि।
न घटाद्यैरवच्छिन्ने इति प्रत्ययसत्त्वतः॥ ३२९॥
मैवं स्वीयसुखादीनां यदवच्छेदकं भवेत्।
तत्तादात्म्यं भवेत्तेषां व्यावहारिकसाम्यभाक्॥ ३३०॥

पू. - नैयायिकादि के मत में आत्मा व्यापक है। उसमें शरीर के समान घटादि भी अवच्छेदक है। **शरीरावच्छेदेन ज्ञानं भवति न तु घटाद्यवच्छेदेन** ऐसी प्रतीति होती है। तब घट आत्मा इत्यादि भी व्यावहारिकतुल्य होगा। नहीं। स्वीय सुखाद्यवच्छेदक का तादात्म्य ही व्यवहारिकतुल्य है। आत्मा व्यापक होने पर आत्मनिष्ठसुखाद्यवच्छेदक शरीर ही होगा।

देहत्वन्यूनवृत्तिर्यस्तदवच्छेदिका हि या।
तदवच्छिन्नतादात्म्यमित्यादिश्च परिष्कृतिः॥ ३३१॥

स्वीयसुखाद्यवच्छेदकताश्रय, देहत्वव्याप्य न्यून जात्यवच्छिन्न का

तादात्म्य व्यावहारिकवत् इत्यादि परिष्कार कर लो। इसलिये अहं देह इत्यादि व्यवहारिक नहीं होगा। देहत्वव्याप्य जाति मनुष्यत्व, ब्राह्मणत्व, वानरत्व, गरुडत्वादि है। देहो अहं यह यहां देहत्वन्यून वृत्ति जाति नहीं है। अहं ब्राह्मणः इत्यादि वैसे। सुग्रीवादि का वानरोऽहं इत्यादि गरुडोऽहं इत्यादि पक्षीयों में देहत्वव्याप्य जाति है।

अन्तःकरणचैतन्यमस्माकं जीवसंज्ञितम्।
शरीरव्यापि तच्चैकशाखात्यागादिकश्रुतेः ॥ ३३२ ॥

वेदान्त मत में अन्तःकरण चैतन्य ही जीव है। इस रूप से वह व्यापक नहीं है। हां, शरीर में व्यापक है। एकां शाखां जीवो जहाति सा शुष्यति इत्यादि श्रुति से सूचित है।

देहत्वव्याप्यजात्याऽवच्छिन्नतादात्म्यमस्य च।
व्यावहारिकतुल्यं स्यात्कर्मादीनां प्रयोजकम्॥ ३३३ ॥

अस्मन्मत में भी देहत्वव्याप्य ब्राह्मणत्वक्षत्रियत्वादिजात्यवच्छिन्न तादात्म्य जीव का व्यावहारिकतुल्य है। कर्मादि प्रयोजक है।

व्यावहारिकतुल्यं हि चित्तादात्म्यमुपेयताम्।
तेनैव घटमद्राक्षमित्मबाधित-धी-र्भवेत्॥ ३३४ ॥

व्यावहारिक सदृश चित्तादात्म्य घट में होगा। उसीसे घटमद्राक्षं घट को मैंने देखा यह होगा। उसका बाध भी 'अहं घटमद्राक्षं' ऐसा नहीं होगा। जैसे कर्म समय में नाहं ब्राह्मणः ऐसा नहीं होता।

प्रतिबिम्बं च बहवो विद्वांसो मन्वते मृषा।
नाद्राक्षं घटमित्येवं न बाधस्तन्मतेऽपि च॥ ३३५ ॥

बहुत से विद्वान प्रतिबिम्ब को भी मिथ्या मानते हैं। तो क्या प्रतिबिम्ब बाध-से देखे घट को? मैंने घट नहीं देखा ऐसा वे कहेंगे?

व्यावहारिकमेवातः प्रातिभासिकमेव वा।
व्यावहारिकतुल्यत्वान्नास्ति हानिस्तु काचन॥ ३३६ ॥

अतः चित्तादात्म्य हो चाहे चित्प्रतिबिम्ब हो वह व्यावहारिक हो या व्यावहारिकतुल्य प्रातिभासिक कोई फरक नहीं पडता।

आविर्भावो घटादीनामेवं तावन्निरूपितम्।
ब्रह्माविर्भूतिरधुना प्रार्थ्यमाना निरूप्यते॥ ३३७॥

यहां तक हमने प्रसंगवश घटादि के आविर्भाव के बारे में बताया। अब हम प्रकृत प्रार्थना में 'आविराविर्म एधि' में कैसे आविर्भाव है इस पर विचार करते हैं।

नित्यमाविःस्वरूपं तद् व्यापकं ब्रह्म भण्यते।
निजावरणशक्त्या च माया ब्रह्माऽऽवृणोति सा॥ ३३८॥
अनादिकालतो ब्रह्म साऽऽवृणोदिति हेतुना।
कथं कदेत्यादि तत्र प्रश्नो नैवोपतिष्ठते॥ ३३९॥

नित्य अपरोक्ष ब्रह्म व्यापक भी है। माया अपनी आवरणशक्ति से उसे आच्छादित करती है। यह सिलसिला अनादिकाल से चला आ रहा है इसलिये कब आवरण किया कैसे किया यह प्रश्न नहीं उठता।

ब्रह्मणः पादमात्रस्था कृत्स्नमावृणुयात् कथम्।
हस्तमात्रपटो नैव कृत्स्नवृणुयात्तनुम्॥ ३४०॥

ब्रह्म के पादमात्रस्थित माया पूरे ब्रह्म को कैसे ढकेगी। दो बिस्ता कपडा क्या पूरे शरीर को ढकता है?

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।
श्रुत्यैव तदिदं प्रोक्तं दुर्वचाऽतस्तदावृतिः॥ ३४१॥

श्रुति भी एक पाद में माया सहित संसार को कहती है। त्रिपात् को मायास्पर्शरहित दिव्य स्वप्रकाश कह रही है। अतः ब्रह्म का आवरण सिद्ध नहीं होता।

श्रीहस्तामलकाचार्याः समाधिमिह संजगुः।
न मायाऽऽवृणुयाद् ब्रह्माऽऽवृणुयाज्जीवलोचनम्॥ ३४२॥
कोटियोजनविस्तारं सूर्यं नावृणुयाद् घनः।
पिधत्तेऽद्रष्टृदृष्टिं स ततः सूर्यावृतिभ्रमः॥ ३४३॥

इस पर श्री हस्तामलकाचार्य का कहना है माया ब्रह्म को नहीं, जीवदृष्टि को ढकती है। अल्प मेघ कोटि योजन विस्तार सूर्य को नहीं

ढकता, हमारी आंखो को ढकता है, हमें भ्रम होता है-सूर्य ढक गया।

अन्ये तु न चतुष्पात्त्वं ब्रह्मणोऽस्ति गवादिवत्।
न कार्षापणवद्वा स्या-त्तन्निरुक्तेरसंभवात्॥ ३४४॥
चतुष्पाद् यदि कश्चित् स्यात्कस्मान्न स्यात्सहस्रपात्।
अनन्तपाद् भवेदन्ते व्यर्थं तत्पाद्विशेषणम्॥ ३४५॥
जगतोऽल्पत्वमात्रं तु विवक्षितमतो भवेत्।
श्रुत्यन्तरेऽन्यथा प्रोक्त — मत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥ ३४६॥
अनन्तं विश्वमेतद् यद्यणुमात्रमतोऽधिकम्।
अस्ति किंचित् परिच्छिन्नमल्पं विश्वं भवेत्तदा॥ ३४७॥
यदि विश्वं परिच्छिन्नं मिथ्यैवैतदसंशयम्।
मिथ्यात्वबोधनायैव पादत्वाद्युक्तिरस्त्यतः॥ ३४८॥

दूसरे आचार्य कहते हैं ब्रह्म के गाय आदि के समान चार पाद नहीं है। तथा कार्षापण के समान चार पाद भी नहीं है। क्योंकि उसका निर्वचन ब्रह्म में नहीं होता। कार्षापण से क्रेय वस्तु को चतुर्थांश के अभेदाध्यास से वह हो सकता है। ब्रह्म संबंधित का चतुर्थांश दुर्वच है। चतुष्पात हो तो उससे बडा सहस्रपात संभव है। अनन्तपात भी हो सकता है। तब 'पात्' यह विशेषण ही व्यर्थ होगा। अतः जगत का अल्पत्वमात्र विवक्षित है। इसलिये 'अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलं' ऐसी अन्य श्रुति है। दशदिगवच्छेदेन दशांगुलाधिक्य वहां अर्थ है। अंगुल तो क्या एक अणुमात्र भी अधिक हो तो जगत परिच्छिन्न होगा। अल्प होगा। परिच्छिन्न हो तो मिथ्या भी निश्चित है। मिथ्यात्व बोधनार्थ ही पादमात्रतोक्ति एवं दशांगुलाधिकता से अल्पत्वोक्ति है।

तुर्यत्वेनैकपात्त्वं स्याद् ब्रह्मणोऽपीति चेन्न तत्।
उक्तमव्यवहार्यं तद् भाष्ये भावोऽवलोक्यताम्॥ ३४९॥

माण्डूक्य में चतुर्थपाद कहकर ब्रह्म को एकपाद बताया तो वहां भी ऐसा अर्थ होगा क्या? वहां अव्यवहार्य भी उसे बताया है। भावार्थ भाष्य में ही देख लें।

मायावरणमप्येव ब्रह्मणि स्यात् प्रकल्पितम्।
न त्वन्यमायावरण — मनवस्थाप्रसङ्गतः॥३५०॥
अनादि तदनिर्वाच्यं ज्ञातं मिथ्यात्वरूपतः।
प्रश्नरूपत्वतो न स्तस्तत्र प्रश्नोत्तरे सताम्॥३५१॥

माया एवं तत्प्रयुक्त आवरण भी कल्पित है। उस कल्पना के लिये उससे पूर्व माया और आवरण कहेंगे तो अनवस्था होगी। अतः अनादिकाल से मिथ्यात्वेन रूपेण दोनों सिद्ध है। अनिर्वाच्य होने से, स्वयं प्रश्नरूप होने से वहां प्रश्न और उत्तर नहीं होते।

घनच्छन्नदृगित्येतत् सुबोधत्वाद् गुरोर्वचः।
यथा व्युत्पद्यते तत्त्वे प्रक्रिया सैव साध्विति॥३५२॥

धनच्छन्नदृष्टि इत्यादि आचार्य ने सुबोध होने से कहा। जिससे तत्त्वव्युत्पत्ति हो वही प्रक्रिया उत्तम है। (साधु यह सामान्य नपुंसक है)।

अज्ञानेनावृतं ब्रह्माऽनाविरेवाधुना स्थितम्।
अनाविराविरेधीति युक्तं प्रार्थयितुं ततः॥३५३॥

पू. - ब्रह्म अज्ञान से आवृत है। अज्ञानेनावृतं ज्ञानं ऐसा गीतावचंन भी है। और साधक के सामने वह 'अनाविः' ही है। तब 'अनाविराविरेधि' ऐसे साधक को प्रार्थना करना ठीक है।

सततं ब्रह्म सिद्धानामाविस्तद्वचनं यदि।
आविरोधीति नो युक्ता प्रार्थना साध्येगोचरा॥३५४॥

यदि कहें कि सिद्धों के लिये हमेशा ब्रह्म आविः (प्रकट) ही है उनका यह वचन है तो आविरेधि यह प्रार्थना ठीक नहीं है। यह साध्यविषयक प्रार्थना है।

मैवमाविः सदा ब्रह्म भवत्यविदुषामपि।
यतः प्रकाशयति त-दज्ञानमपि तत्क्षणे॥३५५॥
जानन्नेव किलाऽज्ञानं नाहं किंचिदवेदिषम्।
इति ब्रूते निजाज्ञानं सर्वस्याविः सदा हि तत्॥३५६॥

उ. - अज्ञानी का ब्रह्म सदा आविर्भूत है। सोया मैंने कुछ नहीं जाना

इस प्रकार अज्ञान को जानकर ही वह बोल रहा है।

राहुग्रस्तोऽपि शुभ्रांशुः राहुं स्वं च प्रकाशयेत्।
मोहग्रस्तथा चात्मा मोहं स्वं च प्रकाशयेत्॥ ३५७॥

राहुग्रस्त भी चन्द्रमा राहु को तथा अपने को प्रकाशित करता है। वैसे अज्ञानग्रस्त भी आत्मा अज्ञान को तथा स्वयं को प्रकाशित करता है।

स्वयं प्रकाशमप्येतदप्रकाशमिव स्थितम्।
तेनैवाखिलविक्षेपः प्रपञ्चो दुःखलक्षणः॥ ३५८॥

ब्रह्म स्वयंप्रकाश होने पर भी आवरण का भी प्रकाशक होने पर भी अनादिकाल से अप्रकाश सा हो गया। उसी में दुःखात्मक प्रपञ्चरूपी विक्षेप हो गया।

श्रुत्युत्थाखण्डवृत्त्यैव तदज्ञानं विधूयते।
अज्ञानोच्छेदनेनावि-रेधीति प्रार्थ्यतेऽर्थतः॥ ३५९॥

श्रुतिजन्य अखण्डाकार वृत्ति से ही उस अज्ञान एवं विक्षेप की निवृत्ति होगी। अतः अज्ञानोच्छेदन से आविर्भूत हो यह अर्थतः प्रार्थना है।

श्रुतिवाक्योत्थयाऽखण्डा-कारवृत्त्यैव यद्यपि।
आविरेति परात्मायं प्रार्थना नोपयोगिनी॥ ३६०॥
तथापि पापतापादि प्रतिबन्धककारणात्।
नाविरेतीति तन्नाशविधये प्रार्थ्यते हरः॥ ३६१॥

यद्यपि श्रुतिवाक्यजन्य अखण्डाकार वृत्ति से ही आत्माविर्भाव होगा। तथापि पापादि प्रतिबन्धक हो तो आविर्भाव नहीं होगा। अतः तन्नाशार्थ यह प्रार्थना है।

आवीरित्यत्र दैर्घ्यं तु छान्दसत्त्वात्पुरोदितम्।
आविरित्यव्ययत्वेन तस्य दीर्घाऽविधानतः॥ ३६२॥

'आवीः' यह दीर्घ छान्दस है। 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' यह धातु में लागू है।

आ समन्ताद्विशेषेण चेरणात् प्रेरणात् क्विपि।
आवीर्मे प्रेरको मे त्वमेधीत्यन्ये विचख्यिरे॥ ३६३॥

सर्वत्र विशेषरूप से मेरे प्रेरक हो (आ+वि+ईर) ऐसी भी दूसरों की व्याख्या है।

मे शब्देन च मद्बुद्धिपर्यन्तग्रहणं तदा।
तथा चोक्तं वेदमन्त्रे धियो यो नः प्रचोदयात्॥ ३६४॥

प्रेरक अर्थ पक्ष में 'मे' का मद्बुद्धि अर्थ करना होगा। धियो योनः प्रचोदयात् ऐसा मन्त्र में बताया है।

साधु वाऽसाधु वा कर्म त्वं हि कारयति प्रभो।
साधुकर्मणि सज्ज्ञाने सम्यङ् मे प्रेरको भव॥ ३६५॥
तपसे त्वं वनं गन्तुं पुरा प्रेरयसि प्रभो।
प्रह्लादघर्षणार्थं तु हिरण्यकशिपुं पुरा॥ ३६६॥
न मामवनिनीषुः स्याः मया नासाधु कारय।
उन्निनीषुस्तु मामेधि साधुकर्मैव कारय॥ ३६७॥

'स एव साधु कर्म कारयति यानेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषति स एवासाधु कर्म कारयति यानधो निनीषति' ध्रुव प्रह्लादादि उदाहरण है। हिरण्यकशिपु आदि प्रत्युदाहरण है। मुझे सत्कर्म में प्रेरित करो असत्कर्म में नहीं, यही आवीः का प्रेरणार्थ पक्ष में व्याख्या है।

वेदस्य म आणीस्थः

अणिराणीवदक्षाग्रकीले स्यादश्रिसीमयोः।
इति कोशोक्तितोऽक्षाग्रकीलावाणीपदेरितौ॥ ३६८॥
तयोरेकतराभावे चक्रपातात् पतेद्रथः।
रथरक्षणतोऽतस्ता-वन्योन्यस्मिन् प्रतिष्ठितौ॥ ३६९॥

अणिः आणिः अणी आणी ये सब पर्यायरूप में कोशोक्त है रथ के अक्षदण्ड के दोनों किनारे दो कीलें रहती हैं ये ही आणि है। उनमें से एक भी न हो तो प्रथम उससे रुका रथचक्र गिरेगा तब दूसरा भी गिरेगा, रथ भी गिरेगा। अतः रथरक्षण में ये दोनों परस्पर प्रतिष्ठित होकर-परस्पर सापेक्ष होकर कार्य करते हैं।

वेद एव रथो ब्रह्मपुरयाने न चापरः।
अक्षदण्डस्तु भवति तत्र च ब्रह्मचिन्तनम्॥ ३७०॥
आवृत्तिः श्रवणादीनां चक्रवच्च भविष्यति।
तत्स्खलित्यवरोधौ स्तां समे वाङ्मनसे सताम्॥ ३७१॥
परस्परस्मिंस्ते एते भवतश्च प्रतिष्ठिते।
अन्यथाऽक्षच्युतेर्यान - पतनान्मृतिरात्मनः॥ ३७२॥

गन्तव्य ब्रह्मपुर जाने के लिये वेद ही रथ है। अक्षदण्ड ब्रह्मध्यान है। श्रवणाद्यावृत्ति रथचक्र है। चक्र फिसलकर न गिरे इसके लिये दोनों तरफ कीलें लगायी जाती हैं। वेद चक्र में वाणी और मन कीले हैं जो परस्पराश्रित होकर अक्षदण्डरक्षा और चक्ररक्षा करते हैं। अक्षदण्ड फिसला तो रथ उलटेगा और सवार मरेगा। वेदोच्चारण बराबर न रहा या मन वेद से हटा तो कील न होने से ब्रह्मस्मरणात्मक अक्षदण्ड गिरेगा। ध्यानाद्यावृत्तिचक्र विषयान्तरगमन से गिरेगा। वेदरूपी रथ उलटेगा विपरीतार्थकारी होगा तो मृत्योः स मृत्युमाप्नोति होना ही है।

तत्त्वमस्यादिवाचाऽर्थस्मृतिः कार्या मुमुक्षुणा।
नियम्यते वाक्प्रतिष्ठमेवं स्मृत्यात्मकं मनः॥ ३७३॥
यथार्थस्मृतियुक् कार्या वागन्तर्बहिरेव वा।
इत्थं मनःप्रतिष्ठा च वागप्येव नियम्यते॥ ३७४॥
अवेदविन्न मनुते तं बृहन्तमिति श्रुतेः।
स्थाणुरेव न वेदाऽर्थं वेदान् योऽधीत्य चेत्यपि॥ ३७५॥

तत्त्वमसि अहं ब्रह्मास्मि आदि वेद वाणी से ही मुमुक्षु को अर्थस्मरण करना चाहिये यह स्मृत्यात्मक मन में वाक् प्रतिष्ठताका नियमन है तथा अन्तर्वाणी या बहिर्वाणी को अर्थ स्मृतियुक्त ही बोलना चाहिये यह वाणी में मनः प्रतिष्ठता का नियमन है। 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तं' 'स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थं' ये दो श्रुतियां उक्त नियमद्वय का मूल है।

मोक्षेच्छया प्रचलतां परमार्थपथे सताम्।
नियमद्वयमाख्यातं साधकानां महात्मनाम्॥ ३७६॥

मोक्षेच्छा से परमार्थ पथ में चलनेवाले साधक महात्माओं के लिये ये दो नियम बताये गये हैं।

कर्मकाण्डेऽपि नियम उक्तो मीमांसकैर्बुधैः।
प्रयोगसमवेतार्थस्मारको मन्त्र इत्यतः॥ ३७७॥

कर्मकाण्ड में भी प्रयोगसमवेतार्थस्मारका मन्त्रः ऐसा मन्त्रलक्षण कर मन्त्रैरेव प्रयोगसमवेतार्थाः स्मर्तव्याः ऐसी नियमविधि बतायी है।

नन्वदृष्टसमुत्पत्त्यै कर्मण्येतन्नियम्यते।
दृष्टार्थे ब्रह्मसाक्षात्त्वे वेदान्ते नियमः कथम्॥ ३७८॥

पू. - कर्मकाण्ड में नियम ठीक है। मन्त्र से अर्थस्मरण नहीं करेंगे तो अदृष्ट नहीं होगा। वेदान्त में ब्रह्म साक्षात्कार दृष्ट फल है। उसमें नियम कैसे होगा?

मैवं श्रुत्वापि शतशः साक्षात्कारो न जायते।
प्रतिबन्धकनाशार्थं वेदैरर्थस्मृतिर्मता॥ ३७९॥

ऐसी बात नहीं हजारों बार सुनने पर भी ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं होता अतः प्रतिबन्धक निवृत्त्यर्थं यह नियम सार्थक है-वेदों से अर्थस्मरण करो।

नयति ब्रह्म परमं महान् वेदरथः स्वयम्।
तच्चिन्तनं तत्कथनमाणी इव सुरक्षणे॥ ३८०॥

महान वेदरथ परब्रह्म तक पहुंचाता है। तच्चिन्तन तथा तत्कथन आणि के समान रक्षक है। तच्चिन्तन मन से, तत्कथन वाणी से।

वेदनाद्वेद इत्याह वेदनं ज्ञानमुच्यते।
ब्रह्मस्वरूपं ज्ञानं हि वेद इत्युच्यते बुधैः॥ ३८१॥

वेदन होने से वेद है। ज्ञान ही वेदन है। ज्ञानब्रह्म स्वरूप ही है।

श्रूयते केवलं तद्धि क्रियते नैव केनचित्।
श्रवणं कथनं चैव तस्य स्वस्मिन् हि रक्षणम्॥ ३८२॥
तत्राचार्यः कथयति किं च सब्रह्मचारिणः।
स्वयं च कथयत्येव नित्यं सब्रह्मचारिषु॥ ३८३॥

स्वयं नित्यं चिन्तयति ब्रह्म शाब्दं परं तथा।
इत्थमाणिवदेवैते रक्षतः प्रच्युतेः सदा॥ ३८४॥

श्रुति का अर्थ है केवल सुनी जाती है, बनायी नहीं जाती। उसका श्रवण और कथन ही रक्षण है। आचार्य सब्रह्मचारी तथा स्वयं वाक् से कथन करते हैं। स्वयं मन से चिन्तन शाब्द तथा, पर, दोनों ब्रह्म का करते हैं। इस प्रकार आणि के समान, वाणी और मन रक्षण करते हैं।

श्रवणं स्याच्छाब्दबोधाविषयीकरणार्थकम्।
आत्मा श्रोतव्य इत्यादौ तादृशार्थवलोकनात्॥ ३८५॥
तच्च मानसमेवेति मनःशब्देन लभ्यते।
श्रुतधारणमप्येव मानसं वेदरक्षणम्॥ ३८६॥
श्रवणं यत्पुनः श्रोत्रगोचरीकरणात्मकम्।
शिशूनामपि शक्यं तद् न स आणिर्न रक्षणम्॥ ३८७॥

श्रवण का शाब्दबोधविषयीकरण अर्थ है। न कि केवल कान से सुनना। कान से शब्द सुना जाता है आत्मा कर्णेन्द्रिय विषय नहीं है। आत्मा श्रोतव्यः यहां पर शब्दजन्य बोध विषय ही अर्थ करना पडेगा। वह मानस होने से मनः शब्द से गृहीत है। श्रुत का धारण भी मानस है मन है। कान से सुनना तो बच्चा भी कर सकता है। वह आणिवत् रक्षक नहीं है।

यद्वा स्वतन्त्ररूपेण स्याद्वाङ्मनसयोरिह।
आणीत्ववर्णनं श्रुत्या तत्प्रशस्तिनिमित्ततः॥ ३८८॥

अथवा स्वतन्त्ररूप से आणीत्ववर्णन श्रुति वाणी और मन के प्रशंसार्थ कर रही है।

नित्यं वेदजपाद् वाचि तत्संस्कारो दृढो भवेत्।
पुस्तं विनापि कण्ठस्थपाठादाणिर्हि वाक् तदा॥ ३८९॥

नित्य वेदपाठ करने से वाणी में वेद संस्कार दृढ होगा। बिना पुस्तक ही कण्ठस्थ पाठ करने लगेगी। यह वाणी में वेदरक्षणरूप आणीत्व ही है।

इत्थमेव किलारक्षन् पूर्वे यत्नाद् विपश्चितः।
वेदशास्त्रारदिकं सर्वं वेदस्याणिरतो हि वाक्॥ ३९०॥

इसी प्रकार हमारे पूर्वजों ने जंगलों में रहकर वेदशास्त्र रक्षा की। अतः वाणी को वेद की आणि कहना उचित है।

एवमर्थानुसन्धानं नित्यं विदधतः कवेः।
वेदश्रवणमात्रेण वेदार्थ उपतिष्ठते॥ ३९१॥
अन्यथा विस्मृते नून-मन्यार्थ उपतिष्ठते।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥ ३९२॥
श्रुतं तु शाब्दविषयीकरणं प्रागुदीरितम्।
तदल्पत्वमनावृत्तिस्ततो विस्मरणं भवेत्॥ ३९३॥

इसी प्रकार नित्य अर्थानुसन्धान करनेवाले को मन्त्र सुनते ही अर्थोपस्थिति हो जाती है। अर्थावृत्ति न होने पर विस्मरण के कारण अन्यार्थोपस्थिति भी हो सकती है। अतः अल्पश्रुत से वेद भी डरने लगता है कि यह मुझ पर प्रहार करेगा। श्रवण का शाब्दविषयीकरण अर्थ पूर्व बताया। उसमें अल्पता है पुनः पुनरनुसन्धानरूपी आवृत्ति न करना है जिससे विस्मरण होता है।

इत्थं च मननं कुर्वद् मनश्चाणिर्न संशयः।
वेदरक्षणतो वाक् सा मनो वेदार्थरक्षणात्॥ ३९४॥

इस प्रकार आवृत्त्या मननकारी मन भी आणि है। वेदरक्षण से वाक् आणी है और वेदार्थरक्षण से मन आणी है। वागावृत्ति से शब्दादि आगे पीछे नहीं होंगे। अर्थावृत्ति से उलटापुलटा अर्थ नहीं होगा।

अद्यत्वे पाठभेदा हि वाक्प्रमादादुपस्थिताः।
असांप्रदायिकाश्चार्था मनसश्च प्रमादतः॥ ३९५॥

यही कारण है कि आजकल वेदों में और शास्त्रों में बहुत पाठभेद मिलते हैं। कंठ करनेवालों में कहीं प्रमाद हुआ होगा। और बहुत से भाष्यकारादि असांप्रदायिक अर्थ करते हैं। वह मन के प्रमाद का परिणाम है।

परस्परप्रतिष्ठे च स्यातां वाङ्मनसे यदि।
सुवर्णे गन्धवत्तत्स्यादिति पूर्वेण योजना॥ ३९६॥

इस प्रकार वाणी और मन की महिमा हुई। वे यदि परस्पर प्रतिष्ठित भी हो जाये तो यह सोने में सुगन्ध के समान होगा। ऐसा पूर्व से योजना है।

श्रुतं मे मा प्रहासीद्

आणित्वे वाङ्मनसयोः को लाभः साधनारतेः।
परस्परप्रतिष्ठत्वे साधोः किं स्यात्प्रयोजनम्॥ ३९७॥
अस्योत्तरं वदन् वेदफलं प्रार्थयते तयोः।
प्रार्थनाप्यङ्गमेतस्य फलोत्पत्तावितीरयन्॥ ३९८॥

मन और वाणी आणी (वेदरक्षक) हैं तो मेरा क्या प्रयोजन होगा? ये परस्पर में प्रतिष्ठित हैं तो उसमें मुझे क्या प्राप्त होना चाहिये इसका उत्तर देता हुआ वेद 'श्रुतं मे' इत्यादि प्रार्थना करता है, यह प्रार्थना भी उस फल की उत्पत्ति में अङ्ग है यह सूचित करते हुए।

श्रुतं मया शब्दजात-मर्थजातमथापि वा।
मा मां प्रहासीच्छब्दार्थौ न त्यजेतां कदाचन॥ ३९९॥

मेरा श्रुत शब्द या अर्थ मुझे न छोडो (वेद भी याद रहे अर्थ भी याद रहे)।

शब्दास्तिष्ठन्तु मे वाण्यामर्थास्तिष्ठन्तु चेतसि।
तमोगुणप्रभावेण विस्मृतिं मा स्म यासिषुः॥ ४००॥

तमोगुण के प्रभाव से शब्द और अर्थ विस्मृत न हो।

प्रमादालस्यनिद्राभिस्तमो बध्नाति पूरुषम्।
ततो यत्नकृतं सर्वं श्रुतमश्रुतवद् भवेत्॥ ४०१॥

तम, प्रमाद आलस्य और निद्रा से पुरुष को बांधता है। उसका यत्नकृत भी श्रुत अश्रुतवत् हो जाता है।

प्रमादं वै मृत्युमह-मप्रमादं तथाऽमृतम्।
ब्रवीमीत्याह हि सनत्सुजातो भगवान् नृपम्॥ ४०२॥
आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः।
नास्त्युद्यमसमो बन्धुरित्याहुर्नीतिकोविदाः॥ ४०३॥

निद्रा विद्रापयत्येव पुरुषं स्वस्वरूपतः।
जनको भिक्षुको जातः सुषुप्तौ तु तमोमयः॥४०४॥

प्रमाद मृत्यु है, अप्रमाद अमृत है ऐसा सनत्सुजात वचन है। आलस्य शरीरस्थ महान शत्रु है। उद्यम बन्धु है ऐसा नीतिकार कहते हैं। निद्रा स्वरूपच्युतिकारक है। सपने में राजा जनक भिखारी बने। सुषुप्ति में सभी तमोमय होते हैं।

केचित्तु बोधे संजाते ह्यज्ञानं विनिवर्तते।
ततः संसारविरहात् का हानिर्विस्मृतेर्भवेत्॥४०५॥
न चाज्ञानान्तरोत्पत्ति - रनादेर्हेत्वभावतः।
पुनरुत्पद्यते नैव नष्टं किंचित्कदाचन॥४०६॥
ज्ञानिनामपि मूर्च्छा स्यात्प्रायशः प्राणनिर्गमे।
दृष्टा घातादिना मूर्च्छा किं स्युस्ते जन्मभागिनः॥४०७॥
मूर्च्छायां प्राणिमात्रस्य जायते सर्वविस्मृतिः।
तस्मान्मोहनिवृत्तौ न पुनर्जन्मेति निश्चयः॥४०८॥
श्रुतं मा मे प्रहासीदि-त्यज्ञस्य प्रार्थना ततः।
युज्यते ज्ञानिनां नैतत् प्रार्थ्यमस्तीति संजगुः॥४०९॥

कुछ विद्वान कहते हैं-प्रबोध होने पर अज्ञान नष्ट होगा और उसके लिये संसार नहीं रहता तो विस्मरण से (श्रुतप्रहाण से) क्या हानि होगी। यदि कहें कि विस्मरण होने पर फिर अज्ञान आकर घेरेगा। नहीं। अज्ञान नष्ट हुआ तो आयेगा कहां से? अज्ञानान्तर उत्पन्न होगा कहो, नहीं। अज्ञान अनादि है। उसका कारण ही नहीं तो कैसे उत्पन्न होगा। नष्ट की पुनरुत्पत्ति अमान्य है। दूसरी बात जो परम ज्ञानी हो गये हैं उनको भी मरणकाल में मूर्च्छा और विस्मृति होती है। चोट लगने से एक्सिडेन्ट में मूर्च्छित हो गया और मर गया। श्रुत स्मरणादि न रहा तो क्या उसका पुनर्जन्म होगा? यदि ऐसा होता तो ज्ञान पर क्या विश्वास? क्योंकि मूर्च्छा में प्राणीमात्र को विस्मरण होता है। इसलिये ज्ञान से मोहनिवृत्त होने के बाद भूले या याद रखे कोई फरक नहीं होगा। श्रुतं मे मा यह अज्ञानी के लिये ही प्रार्थना

युक्त है-ज्ञानी के लिये प्रार्थनीय कुछ नहीं रहता।

अत्र ब्रूमः प्रबोधेन स्थूलाज्ञानं विनश्यति।
प्रायः संस्काररूपेण सूक्ष्माज्ञानं तु तिष्ठति॥४१०॥
सूक्ष्मं न मर्दितं चेत् तत् पुनः स्थौल्यं प्रपत्स्यते।
नष्टस्य पुनरुत्पत्तिरेवं मोहस्य संभवा॥४११॥
बोधस्तु द्विविधः प्रोक्तो दृढश्चाऽदृढ एव च।
दृढोऽसंभावनाद्युज्झोऽदृढोसंभावनादियुक् ॥४१२॥

इस विषय में हमारा कहना यह है कि ज्ञान से स्थूल अज्ञान नष्ट होता है। प्रायः करके सूक्ष्म अज्ञान रह ही जाता है। सूक्ष्म का मर्दन नहीं हुआ तो वही फिर स्थूल हो जायेगा। यही मोह की नष्ट पुरुत्पति है। ज्ञान दृढ एवं अदृढ दो प्रकार का है। असंभावनादि रहित दृढ है। असंभावनादि सहित अदृढ है।

ज्ञानं चेददृढं सूक्ष्मं स्थास्यत्यज्ञानमात्मनः।
ज्ञानाभ्यासोऽपरीक्ष्यातो न हातव्यो मुमुक्षुभिः॥४१३॥

ज्ञान यदि अदृढ है तो सूक्ष्म अज्ञान रह जायेगा। अतः बिना परीक्षा किये ज्ञानाभ्यास छोडना नहीं चाहिये।

नष्टो मोह इत्ति प्राह भगवन्तं धनञ्जयः।
अनुस्मृतौ विस्मरणं जिज्ञासां चाप्यदर्शयत्॥४१४॥

नष्टो मोहः ऐसा अर्जुन ने पहले कहा। अनुस्मृति में विस्मरण और जिज्ञासा बताया।

स्थितप्रज्ञस्य का भाषेत्यपृच्छल्लक्षणं पुरा।
सर्वथा मोहनाशो हि स्थितप्रज्ञस्य यत्ततः॥४१५॥
अपरीक्ष्यैव तल्लक्ष्यं नष्टो मोह इतीरितम्।
अभ्यस्य कथनान्मोहः श्रवणाच्च विनश्यति॥४१६॥
परीक्षां मा कृथाः स्वस्य नष्टो मोहो नवेति हि।
आसुप्तेरामृतेः कालं नयेद्वेदान्तचिन्तया॥४१७॥
प्रार्थनापि च युक्तैव मा प्रहासीच्छ्रुतं मम।
स्याद् बाधितानुवृत्त्यापि सेति सर्वं समञ्जसम्॥४१८॥

परीक्षणार्थ ही अर्जुन ने स्थितप्रज्ञस्य का भाषा यह पूछा। सर्वथा मोह नाश तो स्थितप्रज्ञ का ही होता है। पूछा जरूर, किन्तु परीक्षा किये बिना ही नष्टो मोहः बोल दिया। यह अनुस्मृति में मालूम पडा। बार-बार श्रवण और कथन से मोह का पूर्णनाश होता है। बल्कि परीक्षा के पचडे में मत पडो निद्रापर्यन्त और मरणपर्यन्त वेदान्ताभ्यास करते ही रहो। प्रार्थना भी **'श्रुतं मे मा प्रहासीः'** करने में क्या तकलीफ है? दृष्टज्ञान होने पर भी बाधितानुवृत्ति से प्रार्थना उपपन्न है।

अनेनाधीतेनाहोरात्रान् संदधामि

अधीतपदतो वेदो वेदार्थश्चापि गृह्यते।
प्रथमस्तत्र वाक्पक्षो मनः पक्षस्तथाऽपरः॥४१९॥

वेद और वेदार्थ दोनों अधीत है। प्रथम वाक् पक्ष है। द्वितीय मनः पक्ष है।

संधानं योजनं वा स्याद् एकीकरणमेव वा।
वेदपारायणेनाथो वेदार्थस्मरणेन च॥४२०॥
अहोरात्रान् योजयामि तानेवैकीकरोमि वा।
दिनरात्रभिदां हित्वाऽधीयेऽर्थं चिन्तयेऽनिशम्॥४२१॥

संधान का अर्थ है जोडना या जोडकर एक करना। वेदपारायण और वेदार्थ चिन्तन से मैं दिनरात एक करता हूं। निरन्तर यही कार्य करता हूं।

पुनर्वित्तं पुनर्मित्रं पुनर्भार्या पुनर्मही।
एतत्सर्वं पुनर्लभ्यं न नृदेहं पुनः पुनः॥४२२॥
चिन्तामणय एवैते क्षणा मानवजन्मनः।
मा स्माऽस्यत भवाम्भोधिविषयोर्मिषु तान् वृथा॥४२३॥
दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः।
तत्रापि दुर्लभतरा जिज्ञासा ब्रह्मणो मता॥४२४॥
आश्चर्यस्तस्य वक्ताच लब्धा च कुशलः पुमान्।
ज्ञाता तु दुर्लभतमः सतताभ्यासतत्परः॥४२५॥

वित्तदारादि बार-बार प्राप्त होते हैं। मानवशरीर बार-बार नहीं। मानव जीवनक्षण चिन्तामणि हैं। इन्हें संसारसागर विषय तरंगो में मत फेंको। मनुष्य शरीर दुर्लभ है जो क्षणभंगुर है, फिर ब्रह्मजिज्ञासा, वक्ता की प्राप्ति, ग्रहण कुशलता और बोधप्राप्ति ये सब उत्तरोत्तर दुर्लभतर है। सतत अभ्यास से लभ्य है।

स दीर्घकालसतत-सत्काराऽऽसेवितः पुनः।
ज्ञानाय कल्पतेऽभ्यासो बृंहितोऽनेकजन्मभिः॥४२६॥

वह अभ्यास दीर्घकाल नैरन्तर्य सत्कार से सेवित एवं वर्धित ज्ञानजननसमर्थ होता है।

अनेकजन्मभिरिति त्रिजन्मभिरितीरितम्।
कपिञ्जलाधिकरणन्यायेन विदुषां वरैः॥४२७॥

अनेक जन्म माने लाख करोड? नहीं, महात्माओं ने कपिञ्जलाधिकरण न्यायेन तीन जन्म बताया है।

किन्त्वहोरात्रसंधानं स्यादभ्यासेनेति मन्महे।
तत्र च्युतिश्चेत्तत्पूर्त्यै तत्रजन्मान्तराण्यपि॥४२८॥
तन्मध्ये तस्य भवति पूर्वपापोदयो यदि।
तदा त्वधिकजन्मानि संभाव्यन्ते ततोऽपि च॥४२९॥

किन्तु अधीताद्यभ्यास से अहोरात्रनुसन्धान हो तो तीन जन्म से सिद्धि की प्राप्ति हम समझते हैं। अर्धकालनैरन्तर्य हुआ तो छः जन्म, पादकाल हो तो बारह जन्म इत्यादि तीन में वृद्धि होगी। इस बीच में कोई पापोदय हुआ तो और भी बहुत सारे जन्म लेने पड सकते हैं।

प्रयत्नाद्यतमानस्त्वित्यत एव विशेषणम्।
संशुद्धकिल्बिष इति पापोदयमपेक्ष्य च॥४३०॥

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः 'अनेक जन्म संसिद्ध-स्ततो याति परां गतिं' इस भगवद्वचन में यतमानस्तु योगी से काम चलता। प्रयत्नाद्यतमान कहा। वह नैरन्तर्य सत्कार लाभार्थ है। संशुद्ध किल्बिष। यह पापोदय संभावना को लेकर कहा।

भूतपापोदयश्चैव　नवपापोद्भवस्तथा।
छिद्रेष्वनर्था बहुला इत्याहुर्न्यायवेदिनः॥४३१॥

पूर्व पापोदय भी हो सकता है, वर्तमान कर्मजन्य पापोद्भव भी हो सकता है। अहोरात्रसन्धान न होने पर **'छिद्रेष्वनर्था बहुला भवन्ति'** यह न्याय भी लागू हो सकता है।

अतो　युक्तमहोरात्रान्　संदधामीत्युदीरितम्।
मा भूत् सिद्धौ विलम्बो वा च्छिद्रो वा वृजिनादयः॥४३२॥

इसलिये **अनेनाहोरात्रान् संदधामि** यह ठीक कहा। तीन जन्म से अधिक विलम्ब न हो, बीच में छिद्र पाकर पापोदय न हो।

निद्रया ह्रियते नक्तं व्यवायेन च वा वयः।
दिवा चार्थेहया राजन् कुटुम्बभरणेन च॥४३३॥

निद्रा से या विषयैषणा से रात गयी। वित्तैषणा एवं पुत्रैषणा में 'कुटुम्बभरण' में दिन गया। भला अधीतसातत्य क्या होगा। अधीत ही नहीं हो पाता।

सन्ध्यादिसमयेऽधीतं किंचिन्नैवाद्य तत् परे।
नैवाहोरात्रसंधानं　तेषामप्युपपद्यते॥४३४॥
निशि निद्रा दिवाधीतमिति च ब्रह्मचारिणः।
वनस्था अपि कर्त्तव्यपराः सांतत्यवर्जिताः॥४३५॥
ब्रह्मसंस्थास्तु संदध्युरहोरात्रान् महाधियः।
तस्मात्संन्यासमेवाहुर्बहवो　मोक्षसाधनम्॥४३६॥

निद्रया ह्रियते इत्यादि पामर या अति साधारणों की बात है। ब्रह्मचारी रात को निद्रापरायण और दिन को अधीत परायण होते हैं तो अहोरात्राधीतानुसन्धान नहीं होता। वानप्रस्थ भी अतिथि सेवादि अन्य कर्मकारी होने से उनका अहोरात्रानुसन्धान नहीं होता। केवल सर्वकर्म संन्यासी के लिये यह संभव होगा। अतः बहुत से विद्वान वैसे ब्रह्मसंस्थ को ही मोक्ष मानते हैं।

स्नानभिक्षादिकं　सर्वं　देहनिर्वाहकारणम्।
ब्रह्मस्मरणविच्छेदो न तेषामिति तन्मतम्॥४३७॥

स्नान भिक्षादि से ब्रह्मसंस्थों का अहोरात्र संधान टूटेगा नहीं। यह शरीर-निर्वाह हेतु स्वाभाविक कर्म है। उस समय भी ब्रह्मचिन्तन चलता भी है।

ब्रह्मसंस्थापरोऽहं तु तानधीतेन संदधे।
वाचा पाठेन मनसा स्मरणेन दिवानिशम्॥४३८॥

प्रकृत में अर्थ यह है कि मैं ब्रह्मसंस्थ होकर अधीत से अहोरात्रसन्धान करता हूं। वाक् से पाठ और मन से ब्रह्मस्मरण दिनरात करता हूं।

विच्छिन्नेनाप्यधीतेन यदि मोक्षो भवेत्तदा।
अहोरात्रान् संदधामि वचनं व्यर्थमापतेत्॥४३९॥

विच्छिन्न विच्छिन्न अधीत से भी यदि मोक्ष हो तो अनेनाधीतेनाहोरात्रान् संदधामि यह वचन व्यर्थ होगा।

जपश्रान्तश्चरेद् ध्यानं ध्यानश्रान्तश्चरेज्जपम्।
जपध्यानसमायुक्तः परं ब्रह्माधिगच्छति॥४४०॥
जपो हि वेदमन्त्राणामोंकारस्यैककस्य च।
स्वीकृतं तत्तदुभयमिह तावद्विवक्षितम्॥४४१॥

जप से थकने पर ध्यान करो, ध्यान से थकने पर जप करो ऐसे सन्धान से परब्रह्म प्राप्ति होती है। जप वेदमन्त्रपाठ तथा ॐकार मात्र जप दोनों को कहते हैं। वही उक्त वचन में विवक्षित है।

स्वाध्यायाज्ज्ञानमभ्यस्येद् ज्ञानात्स्वाध्यायमाश्रयेत्।
स्वाध्यायाज्ज्ञानसंयुक्तः परं ब्रह्माधिगच्छति॥४४२॥
इत्यादिषूक्त एवार्थो जिज्ञासोः प्रतिपाद्यते।
स्वाध्यायज्ञानसातत्याद् विज्ञानं दृढमुद्भवेत्॥४४३॥

स्वाध्यायात् इत्यादि वचन का भी वही अर्थ है। स्वाध्याय का अर्थ जप बताया है। ज्ञान का ब्रह्म मनन अर्थ है। स्वाध्याय और ज्ञान के सातत्य से दृढ विज्ञान उत्पन्न होता है।

आविरावीर्म एधीति प्रार्थनायां प्रयोगतः।
संदधामीत्यपि ज्ञेयो लडेष प्रार्थनार्थकः॥४४४॥

आविरावीर्म एधि ऐसा पूर्व में प्रार्थनार्थ में लोट् का प्रयोग किया है। अतः संदधामि यह वर्तमान लट् होने पर भी प्रार्थनार्थ में ही प्रयोग समझना चाहिये।

न चाहोरात्रसंधानमधीतेनास्ति साधनम्।
प्रयत्नमात्रसाध्यं तत् प्रार्थना नोपयोगिनी॥ ४४५॥
एवं यत्नं करोमीति आविरेधि महेश्वर।
सफलं कुरु मे यत्नमित्यन्वेतीति सांप्रतम्॥ ४४६॥

पू. - अनेनाधीतेनाहोरात्रात् संदधामि यह साधन कथन है। साधन तो प्रयत्नसाध्य होता है। उसके लिये प्रार्थना उपयोगी नहीं है। अध्ययन से मैं दिनरात एक कर रहा हूं अतः हे महेश्वर आप मेरे संमुख आविर्भूत हो, मेरे यत्न को सफल करो इस प्रकार पूर्व के साथ अन्वय है। ऐसा कहना बहुत ठीक नहीं है।

यत्नसातत्यसिद्धिश्च भवेत्प्रार्थनया नृणाम्।
निद्रालस्यप्रमादादि - प्रतिबन्धकदर्शनात्॥ ४४७॥

उ. - यत्ननैरन्तर्य सिद्धि भी प्रार्थना से ही संभव है। क्योंकि प्रमाद आलस्य निद्रा आदि प्रतिबन्धक बीच में देखने में आते हैं।

प्रार्थनासमयेऽप्येव निद्रालस्यादि जायते।
कथंकारं प्रार्थनेयं प्रतिबन्धकहारिणी॥ ४४८॥

प्रार्थना में ही निद्रालस्यादि आ जाते हैं। तो यह प्रार्थना अध्ययनादि कालीन निद्रालस्यादि निवर्तक कैसे होगी?

मधुरे भुज्यमानेऽपि पित्तकट्वनुभूयते।
तत्रौषधं किं न शीतमधुरादनमिष्यते॥ ४४९॥

मधुर खाते समय भी पित्त कटुता का अनुभव होता है। वही मधुर भोजन क्रमशः पित्तनाशक होता है।

अधीतिविघ्नकार्येव प्रार्थनाविघ्नकार्यपि।
नाशप्रार्थनयैव स्यादुभयोरिति युज्यते॥ ४५०॥

जो अध्ययन में विघ्नकारी है वही प्रार्थना में भी विघ्नकारी है। प्रार्थना

से ही प्रार्थना विघ्न भी हटा लो।

शौचस्नानाशनस्वापा देहस्वाभाव्यगामिनः ।
तत्कालवर्जतानुक्तलभ्येत्यन्ये प्रचरिव्यरे॥ ४५१ ॥

शौच स्नान भिक्षाशन नियमित निद्रादि देहस्वभाव प्राप्त होने से तत्काल को छोड कर अहोरात्रानुसन्धान अर्थ प्राप्त है ऐसा अन्य विद्वान मानते हैं।

वस्तुतस्तु न तकालवर्जत्वं योज्यमिष्यते।
तदानीमपि सद्ब्रह्मचिन्तनं शक्यसाधनम्॥ ४५२ ॥
यदा यात्युन्मनीभावस्तदा तत्परमं पदम्।
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र परं पदम्॥ ४५३ ॥
इत्येवं पैङ्गलोक्तत्वादन्यार्थं पश्यतोऽपि च।
सद्दृष्टेः सर्वसन्धानसत्त्वादित्यपरे जगुः ॥ ४५४ ॥

वस्तुतः शौचस्नानादिकालं वर्जितत्वा जोडने की जरूरत नहीं। उस समय भी उन्मनी उत-ब्रह्म में मनोवृत्ति होने से ब्रह्मस्मरण से अहोरात्रानुसन्धान उपपन्न है। पैङ्गलोपनिषत् में यत्र यत्र मनो याति से विषयदर्शन कण्ठोक्त है और ब्रह्मदर्शन भी है इसलिये सर्वकालसन्धान उपपन्न है ऐसा दूसरे लोग समाधान करते हैं।

असन्यासवतां प्रायो बलाद्रागः समापतेत्।
इत्यतो ब्रह्मसंस्थान् हि प्राहुः संधानकारिणः॥ ४५५ ॥

संन्यास के अभाव में विषय संमुख आने पर राग बलात आ घुस जाता है। अतः अहोरात्र सन्धानकारी ब्रह्मसंस्थ ही आराम से होते हैं।

न चैषा प्रार्थना व्यर्था ब्रह्मसंस्थस्य सिद्धितः।
सिद्धस्यैतद्धि कथनं न त्वेषा प्रार्थना मता॥ ४५६ ॥

ब्रह्मसंस्थ का ब्रह्मचिन्तन से अहोरात्रानुसन्धान स्वतः सिद्ध है। इस प्रार्थना की क्या जरूरत? यह प्रार्थना नहीं सिद्धानुवादमात्र है। इसलिये लट् प्रयोग है।

अथवा ब्रह्मसंस्थस्याप्यस्ति प्रारब्धकारणात्।
क्वचित् संधानविच्छित्तिस्तान्निवृत्त्यायिदं भवेत्॥ ४५७ ॥

संभवेत् पूर्वसंस्कारवशाच्च प्रार्थनादिकम्।
तस्मात्तदर्थतायां चा-नुपपत्तिर्न काचन॥४५८॥

अथवा ब्रह्मसंस्थ का भी प्रारब्धवश संधानविच्छेद हो जाता है। अतः ऐसा विच्छेद न हो एतदर्थ प्रार्थना कभी कभी संभव है। किन्तु प्रार्थना कामनापूर्वक होती है। ब्रह्मसंस्थ में कामना नहीं होती? नहीं। पूर्वसंस्कारवश रागाभास हो जाता है। उससे प्रार्थना भी संभव है।

ऋतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि

यत्परमार्थिकं वस्तु तदृतं ब्रह्म गीयते।
तद्वदिष्यामि यत्नेन शास्त्रोक्तं लक्षणादिना॥४५९॥

जो पारमार्थिक वस्तु है वही ऋत है, वह ब्रह्म है, लक्षणा आदि से उसे कहूंगा।

तत्त्वमस्यादिवाक्यैर्हि यद्वेदेष्वभिधीयते।
तदृतं तच्च तैरेव शब्दैर्वक्ष्यमि कार्यतः॥४६०॥

तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थ ऋत है उसे उन्हीं शब्दों से कार्यार्थ कहूंगा।

सत्यं ज्ञानमनन्तं हि ब्रह्मेत्याह श्रुतेर्वचः।
तैरेव शब्दैर्वक्ष्यामि व्याख्यास्याम्यपरैरपि॥४६१॥

सत्यं ज्ञानमनन्तं इत्यादि शब्दों से ऋत कहूंगा। शब्दान्तर से व्याख्या भी करूंगा।

सर्वे वेदा यद्धि पदमामनन्तीति च श्रुतिः।
वेदैर्व्याख्यातृशब्दैश्च वक्ष्यामि ब्रह्मतत्परैः॥४६२॥

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति बताया है। वेदों से और व्याख्या से उसे हम कहेंगे।

तस्य त्वं तत्त्वमित्यादि तद्दासोऽसीति चानृतम्।
अनृतं तन्न वक्ष्यामि तन्निराकरणं त्वृतम्॥४६३॥

तस्य त्वं-तुम उसके दास हो इत्यादि अर्थ अनृत है। उसे तात्पर्यतः नहीं कहूंगा। उसका निराकरण ऋत है भले उसे कहें।

ऋतं विद्यार्थिनाऽज्ञातमधुनेति न वच्मि तत्।
सम्यग्ज्ञात्वा वदिष्यामि तदेवेति लृडाशयः॥४६४॥

इस समय विद्यार्थी होने से ऋत को नहीं जानता हूं। उसे जानने के बाद फिर उसे ही कहूंगा यह भाविष्य प्रत्यय का तात्पर्य है।

ननु सर्वज्ञचैतन्यं वाच्यार्थस्तत्पदस्य हि।
वाच्यार्थोऽल्पज्ञचैतन्यं त्वंपदस्येति भण्यते॥४६५॥
एतत्तात्पर्यतः किं वा विना तात्पर्यमुच्यते।
आद्येऽनृतार्थताऽन्त्ये चाऽबोधस्तात्पर्यहानतः॥४६६॥

सर्वज्ञ सर्वशक्तियुक्त चैतन्य तत्पदवाच्यर्थ है, अल्पज्ञ अल्प शक्तिमान चैतन्य त्वंपदार्थ वाच्यर्थ है। बोलते समय अपने अर्थ में वक्ता का तात्पर्य है कि नहीं। यदि है तो अनृतार्थ कथन हुआ। यदि नहीं तो तात्पर्य ज्ञान न होने से शाब्दबोध नहीं होगा।

मैवं परमतात्पर्यमृते यस्य हि वर्तते।
तादृग् वचो वदिष्यामीत्यत्र तात्पर्यमीक्ष्यताम्॥४६७॥

नहीं। जिसका परम तात्पर्य ऋत है ऐसी वाणी कहूंगा यह अर्थ है।

व्यावहारिकसद्वस्तु सत्यमत्राभिधीयते।
तद् वक्ष्यामि व्यवहृतौ न मिथ्यावचनं ब्रुवे॥४६८॥

व्यावहारिक सद्वस्तु सत्य पदार्थ है। व्यवहार में वही कहूंगा, मिथ्यावचन नहीं।

एवं विशिष्टचैतन्यं मा स्म भूदृतशब्दभाक्।
सत्यशब्दाभिधेयं तु तत्स्यादेवेति चेन्न तत्॥४६९॥
व्यावहारिक सत्यं चेद् भागत्यागे कृतेऽपि च।
पारमार्थिक सत्यं तत् कथं नाम भविष्यति॥४७०॥
न हि पुच्छ परित्यागाद् हयो भवति मानवः।
अतो विशिष्टचैतन्यं स्वभावादृतमेव तत्॥४७१॥

इस प्रकार फिर सीधी व्याख्या क्यों नहीं की? ऋतं माने ब्रह्म सत्यं माने विशिष्ट चैतन्य। नहीं। सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट चैतन्य व्यावहारिक

सत्तावाला है तो भागत्याग करने पर भी वह पारमार्थिक नहीं है। घोडे की पूंछ निकाल दिया तो वह आदमी नहीं बनेगा। अतः विशिष्ट चैतन्य भी स्वभावतः ऋत ही है।

रूप्यप्रसेवभृत् पृष्टः रूप्यं चेदस्ति देहि मे।
नास्तीत्यसत्यं ब्रूते सः सत्यमस्तीति चेह च॥४७२॥

रूपये पर्स में रखे हुए को पूछा-रूपया हो तो दो। अगर वह नहीं है बोलता है तो असत्य है। है बोलता है तो सत्य है। यह व्यावहारिक सत्य है। यहां ईश्वर ब्रह्म आदि का निवेश नहीं है। यह व्यावहारिक सत्य है।

एतादृशं तु सत्यं यत्तद्भवेद्व्यावहारिकम्।
तत्त्वं विशिष्टचैतन्ये विशेषणनिबन्धनम्॥४७३॥

ऐसा सत्य ही व्यावहारिक सत्य है। विशिष्ट चैतन्य की व्यावहारिकता विशेषण प्रयुक्त कल्पना है।

यद्वा मनोवाक्प्रकरणादृतं मानसमुच्यते।
सत्यं स्याद्वाचिकं तच्च भवेत्तन्मात्रगोचरम्॥४७४॥

अथवा वाङ् मे मनो मे इस प्रकरण के अनुसार ऋत मानस है, सत्य वाचिक है। मनोमात्र विषय और वाङ्मात्र गोचर मानस और वाचिक अर्थ है।

मनसैवानुद्रष्टव्यमिति ब्रह्म हि मानसम्।
श्रुत्येकगम्यं स्वर्गादि तथा वाचिकमुच्यते॥४७५॥

'मनसैवानुद्रष्टव्यं' से ब्रह्म मनोमात्र गोचर है। स्वर्गादि एवं आदि पदार्थ पुण्य वाचिक है।

न च वाग्विषयं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते।
न मनोविषयं पुण्यं ज्ञेयत्वाच्छ्रुतिमात्रतः॥४७६॥

ब्रह्म भी तो वाग्विषय है। नहीं। न सत्तन्नासदुच्यते ऐसा भगवान कहते हैं। स्वर्ग पुण्यादि मनोविषय है। नहीं। वह श्रुतिमात्रगम्य है।

श्रुतिजन्यमनोवृत्तिविषयत्वं समं द्वयोः।
तन्नापरोक्षमेवाद्यं परोक्षं तु परं तथा॥४७७॥

श्रुतिजन्यमनोवृत्ति विषयत्व दोनों में बराबर है। प्रथम प्रत्यक्ष ही है। द्वितीय परोक्ष ही है।

मनः प्राधान्यमाद्येऽतो वाक्प्राधान्यं परस्य च।
तस्माद‍ृतं च सत्यं च पृथक्कृत्यावदच्छ्रुतिः॥४७८॥

प्रत्यक्ष में परोक्षज्ञान नहीं होता, मन से प्रत्यक्ष होता है। अतः ब्रह्म में मन की प्रधानता है। स्वर्गपुण्यादि शब्दमात्र बोध्य होने से उसमें वाक् प्राधान्य है।

ननु वाचैव नरक-पापादेरपि गम्यता।
निन्दामृतादिवचनं प्राप्नुयादिति चेन्न तत्॥४७९॥
न्यूनमुक्तं मनोगम्यं सुखदुःखादिकं मतम्।
अत्र तात्पर्यतो ब्रह्म पुण्यबीजं च लक्ष्यते॥४८०॥

पू. - नरक पापादि भी वाणीमात्र गम्य है। उ. - न्यून कहा। सुखदुःखादि भी मनोमात्र गम्य है। यहां तात्पर्यतः लक्षणा से ब्रह्म एवं पुण्यकर्म विवक्षित है। ऋत और सत्य पर्याय ही है।

ब्रह्मावबोधकं वाक्यं तत्त्वमस्यादिकं वचः।
सत्यं ज्ञानमनन्तं च वदिष्यामि यदस्त्यृतम्॥४८१॥
उपासीत यजेतेति यतो विविदिषन्ति हि।
सत्यं तत्पुण्यभूमित्वाद् वदिष्यामि तदप्यहम्॥४८२॥

निष्कर्ष यह है - ब्रह्मावबोधक (ब्रह्मविषयक साक्षात्कारत्मक मनोवृत्त्युद्भावक तत्त्वमसि सत्यं ज्ञानमनन्तं इत्यादि जो ऋत है उसे मैं कहता रहूंगा। तथा यजेत उपासीत इत्यादि वचन है वह सकाम निष्काम दोनों सत्य है किन्तु विविदिषन्ति यज्ञेन इत्यादि के अनुसार वेदन प्रयोजक मुख्य सत्य है उसे कहूंगा और करूंगा भी।

अन्ये पुनरिह व्याख्यां कुर्वते किंचिदन्यथा।
ऋतमित्यस्य तु व्याख्या पूर्वोक्तैव यथायथम्॥४८३॥
व्यावहारिकसत्यं च यथादृष्टं यथाश्रुतम्।
सत्यं तच्च वदिष्यामि व्यवहारेऽभ्युपस्थिते॥४८४॥

स्त्रीषु नर्मविवाहेषु वृत्त्यर्थे धर्मसंकटे।
गोविप्राद्यर्थतोऽसत्यं सत्यं नैवाद्रियामहे॥४८५॥
या पश्यति न सा ब्रूते या ब्रूते सा न पश्यति।
इत्याद्यपिच्छलं सत्यं तच्च नैवाद्रियामहे॥४८६॥
एवमाशयमाश्रित्य सत्यं पृथगुदीरितम्।
सत्यशब्देन वर्तस्य गतार्थत्वेन हेतुना॥४८७॥

दूसरे लोग यहां कुछ अलग ढंग से व्याख्या करते हैं। ऋत शब्द का पूर्ववत् ही अर्थ हो। सत्य का अर्थ है यथादृष्ट यथाश्रुत बोलना। व्यवहार में वही बोलूंगा। स्त्रियों में नर्म विवाहों में जीवननिर्वाहार्थ गोविप्रादिरक्षार्थ असत्य बुरा नहीं, वह सत्य जैसा ही है यह हम नहीं मानेंगे। सत्यतपा ने कसाई को कहा - जो बोलता है वह सुनता नहीं जो सुनता है वह बोलता नहीं। यह सब छल है। उसे भी हम सत्य समकक्ष नहीं मानेंगे। प्राणीवध पाप से बचेगा छल का पाप तो लगेगा ही। इसीलिये ऋतं कहकर फिर सत्य कहा। अन्यथा पुनः सत्य को कहना पुनरुक्ति ही होती। अथवा सत्य कहने से पारमार्थिक तथा व्यावहारिक दोनों सत्य प्राप्त हो तो ऋत को अलग बोलने की क्या जरूरत थी।

सत्यं ज्ञानमनन्तं चेत्यादौ सत्यपदेन हि।
पारमार्थिकसत्यं हि संप्रोक्तमुपलभ्यते॥४८८॥

सत्यं ज्ञानमनन्त ब्रह्म में सत्य पद से पारमार्थिक सत्य अभिहित हुआ ही है। अतः पूर्वदर्शित रीत्या अर्थ योजना करना ही उचित है।

परे तु शास्त्रदृष्टं यत्तदृतं परिकीर्त्तितम्।
लोकसिद्धं पुनर्यत् स्यात्तत्सत्यं समुदाहृतम्॥४८९॥
ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसो ह्यध्यजायत।
संगच्छेत श्रुतिश्चैवमित्येवं संजगुबुधाः॥४९०॥

कुछ विद्वान कहते हैं शास्त्रदृष्ट स्वर्ग ब्रह्मज्ञानादि ऋत है। लोकप्रसिद्ध कार्यकारण भावापन्न सभी एवं यथार्थ वचनादि सत्य हैं इस प्रकार ऋत

और सत्य परमेश्वर के महा तप से उत्पन्न हुए ऐसे दोनों का उत्पत्तिकथन संगत होता है।

ननु तावत् शास्त्रदृष्टं नरकाद्यपि विद्यते।
कुतस्तद्धि वदिष्यामीत्युच्यतेऽत्र मुमुक्षुणा॥४९१॥
मा हिंस्यान्नानृतं ब्रूयादित्यादिभिरुदीर्यते।
शास्त्रेण नरकादीति तदुक्तिः किं न युज्यते॥४९२॥

मा हिंस्यात् सर्वभूतानि नानृतं वदेत् इत्यादि निषेध वाक्य नरक बोधक है, वह कहना क्यों नहीं चाहिये, जिससे हिंसादि से निवृत्ति हो। अतः नरकादि को वदिष्यामि ऐसा क्यों कहना चाहिये यह प्रश्न नहीं उठता।

किंचर्तमेव वक्ष्येऽहं वक्ष्येऽहं सत्यमेव च।
अन्यव्यावृत्तिरेषा सा न सर्वोक्तिरसंभवात्॥४९३॥

दूसरी बात - ऋतमेव वदिष्यामि सत्यमेव वदिष्यामि ऐसी यहं इतर व्यावृत्ति मात्र है। शास्त्रोक्त अनन्त ऋत एवं लोकसिद्ध अनन्त सत्य कौन बोल पायेगा?

अन्ये पर्यायवचने ऋतसत्यपदे मते।
दार्ढ्यार्थमादरार्थं वा पुनरुक्तिरितीतरे॥४९४॥

दूसरे लोग कहते हैं ऋत और सत्य पर्याय है। दाढ्यार्थ या आदरार्थ द्वि पुनरुक्ति है।

तन्मामवतु

आविः शब्देन निर्दिष्टं ब्रह्म तत्पदशब्दितम्।
तनोति जगदेतद् यद् तदित्यन्ये विवृण्वते॥४९५॥

आविः शब्द से निर्दिष्ट नित्यापरोक्ष ब्रह्म तत्पद से परामृष्ट है। तनोति जगत विस्तारयति इस अर्थ का तत्पद है ऐसी अन्य व्याख्याता कहते हैं।

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
इति गीतोक्तितश्चैव तत्पदं ब्रह्म निर्मलम्॥४९६॥

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणः इस वचन से भी तत् का ब्रह्म अर्थ है।

तन्मां विद्यार्थिनं ब्रह्म सर्वेशोऽवतु रक्षतु।
सर्वकार्यसमर्थत्वात् स हि मां रक्षितुं क्षमः॥४९७॥

मुझ विद्यार्थी की वह ब्रह्म सर्वेश्वर रक्षा करे। सर्व कार्य समर्थ वही मेरी रक्षा कर सकता है।

ननु नात्मावितव्योऽस्ति सोऽविनाशी श्रुतिश्रुतः।
कार्यस्यानित्यताध्रौव्याद् देहादेर्नावनीयता॥४९८॥

पू. - आत्मा को श्रुति ने अविनाशी बताया। उसकी रक्षा क्या हो वह स्वयं रक्षित है। शरीर तो कार्य होने से विनाशी निश्चित है। उसकी भी रक्षा नहीं होगी। तब ये मां कौन है?

उच्यतेऽस्थूलमनणु सर्वधर्मविवर्जितम्।
तत्त्वं यद् वाङ्मनसयोरक्षाणां चाप्यगोचरम्॥४९९॥
एकमेवाद्वितीयं यद् नेह नानास्ति किंचन।
विजानतामविज्ञातं विज्ञातमविजानताम्॥५००॥
सदेवसोम्यवचनात् सद्रूपेण व्यवस्थितम्।
प्रलये सृष्टिकाले च सदैव हि सदेव तत्॥५०१॥
तत्त्वमस्यादितश्चाहं-ब्रह्मास्मीत्यादितोऽपि च।
'सदसत्' सूत्रतश्चैनद् ध्वंसे पर्यवसाययेत्॥५०२॥
श्रुत्या सद् गदितं तत्त्वं नास्तीति ध्वंस ईरितः।
मोहाद् हेत्वन्तराद्वाऽतो रक्षा कार्या मुमुक्षुणा॥५०३॥

उ. - सुनो ब्रह्म का-आत्मा का स्वरूप बृहदारण्कादि में स्थूल अणुत्वादि सर्व धर्म वर्जित बताया। तैत्तिरीय में वाणी और मन का अविषय बताया। छान्दोग्य में एक अद्वितीय नानारहित बताया। मैं जानता हूं ऐसा गर्ववाला जानता नहीं। मैं नहीं जानतावाला जानता है ऐसा कान में कहा। वह असत् है क्या? नहीं, सत ही है ऐसा छान्दोग्य में कहा। सभी पामर और द्वैतवादी ऐसा तत्त्व नहीं है ऐसा जोर से कहते हैं। नहीं है का अर्थ है-असत्। तब ब्रह्म जो सत है उसका असत् होना यह उसका नाश है, ध्वंस है। 'सदसत्' ऐसा वैशेषिक सूत्र है। असत् का सद्भाव उत्पत्ति और

सत् का असद्भाव ध्वंस यह सर्वद्वैतवाद्यादि मत है। अब इस सत् ब्रह्म का कथ्यमान असद् भाव भले मोह से कहें या किसी अन्य हेतु से, वह ध्वंसात्मक हुआ तो उससे रक्षा करना मुमुक्षु के लिये आवश्यक है ही।

श्रुत्युक्तस्य सतो ध्वंसो नूनं मोहनिबन्धनः।
ततो रक्षा तु मोहापसरणात् सत्त्वबोधनम्॥५०४॥

श्रुति ने जिसे सत बताया उसका असत्त्वरूपी ध्वंस निश्चित मोहमूलक है। अतः मोह निवर्तन से सत्त्व को लाना ही उसकी रक्षा सिद्ध होती है।

तथा च श्रुतिराह स्म त्यागेनैवात्मरक्षणम्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा आत्मानं द्वैतहानतः॥५०५॥

श्रुति द्वैतत्याग से आत्मरक्षा करने को बता रही है-तेनत्यक्तेन भुञ्जीथाः।

हिंसन्त्यविद्यादोषेण विद्यमानतिरस्कृतेः।
प्राकृता नित्यमात्मानमिति भाष्ये च भाषितम्॥५०६॥

भाष्य में भी यह बात-कथं त आत्मानं नित्यं हिंसन्ति? अविद्यादोषेण विद्यमानस्यात्मनस्तिरस्करणात् इत्यादि से निरूपित किया है।

एषणात्रयसंन्यासेनात्मज्ञानैकनिष्ठया।
रक्षितव्योऽयमात्मेति निष्कर्षश्च प्रदर्शितः॥५०७॥

'एषणात्रसंन्यासेनात्मज्ञाननिष्ठतया आत्मा रक्षितव्यः' ऐसा वेदार्थ निष्कर्ष भाष्य में दिखाया है।

शरीररक्षणमपि शक्यं प्रार्थयितुं परम्।
शरीरमाद्यं भवति धर्मसाधनमित्यतः॥५०८॥
शरीरनाशविरहो नहि रक्षणमत्र तु।
किन्तु रोगादिरहितमिष्टकार्योद्भवक्षमम्॥५०९॥
इन्द्रियाणां च बुद्धेश्च रक्षणाशा च युज्यते।
तेषु सम्यक्षु भवति विद्याग्रहणयोगता॥५१०॥

न च त्रिशान्तिकथनाद्गतार्थमिति सांप्रतम्।
विशेषरक्षाविषयप्रार्थनेति विशेषतः॥५११॥

शरीर को लेकर भी मामवतु कह सकते हैं। शरीर नाशाभाव ही उसका अर्थ नहीं है। दीर्घ जीवित्व निरामयत्वादि कार्य साधक को लेकर प्रार्थना होगी। इन्द्रियरक्षा बुद्धिरक्षा भी इस प्रकार मामवतु का अर्थ हो सकता है। यह कहें त्रिशान्तिकथन से गतार्थ है। नहीं। यह विशेष रक्षण प्रार्थना है।

तद्वक्तारमवतु

नन्वत्र क्रियते वक्तुरवनप्रार्थना कुतः।
वक्ता हि भवति ज्ञानी स्वात्मानं नैव हन्ति सः॥५१२॥

पू. - वक्ता की रक्षा की प्रार्थना व्यर्थ है। वक्ता ज्ञानी होता है वह आत्मा को नही मारता।

मैवं साक्षात्कृतात्मैव वक्तेति नियमो नहि।
गुरोरधीतवेदान्तो वक्ता भवितुमर्हति॥५१३॥

उ.-ऐसी बात नहीं है। आत्मसाक्षात्कारी ही वक्ता हो ऐसा नियम नहीं है। गुरु से वेदान्त का सम्यक् अध्ययन किया वही वक्ता बन सकता है।

सब्रह्मचारिणोऽप्येव वक्तारः स्युः परस्परम्।
श्रवणादिषु पौष्कल्यं भवेत्तेनेति सन्मतम्॥५१४॥

सब्रह्मचारी (सहपाठी) भी परस्पर वक्ता हो सकते हैं। उससे श्रवणादि में पुष्कलता आयेगी यह सन्त सम्मत है।

तच्चिन्तनं तत्कथन-मन्योन्यं तत्प्रबोधनम्।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः॥५१५॥
या प्रबोधयिता सोऽयं वक्ता भवितुमिर्हति।
नान्यः कश्चिदुपायोऽस्ति परमात्मप्रबोधने॥५१६॥

ब्रह्माभ्यास में ब्रह्म चिन्तनादि में तत्प्रबोधन वक्तृता को लेकर ही कहा है। तत्कथन से इसलिये पृथक् पृथक् करके बताया। स्वयं अपने

आप बोलना भी तत्कथन है।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यमित्याह भगवानपि॥५१७॥

गीता में भी बोधयन्तः कथयन्तः ये दोनों बातें कहीं।

ननु भक्तिप्रकरणे तद्धि न ज्ञानवर्त्मनि।
न, भक्तिज्ञानयोः शास्त्रे नैवात्यन्तभिदा यतः॥५१८॥

यह गीतावचन भक्तिविषयक है ज्ञानविषयक नहीं। नहीं। भक्ति और ज्ञान में भेद नहीं है।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥५१९॥
इति तत्फलरूपेण ज्ञानमेव समीरितम्।
ब्रह्मप्रवचनस्यापि फलं ज्ञानं सतां मतम्॥५२०॥

भजन का फल ज्ञान ही वहां बताया। वक्ता भी प्रवचन से ज्ञान ही उत्पन्न करता है।

अत्राचार्यमनुक्त्वाह वक्तृत्वं केवलं श्रुतिः।
उभयोर्वीर्यकरणं सहनाववतुश्रुतौ॥५२१॥

आचार्य न कहकर यहां वक्ता मात्र कहा। सहनाववतु श्रुति में वीर्यकरण से स्पष्टता है।

आचार्य आरुणिः पुत्रं श्वेतकेतुं समन्वशात्।
प्रश्नोत्तरमबुध्यन्तं न्यग्रहीत्रं तु जैवलिः॥५२२॥
ते तावुपेयतुर्भूपमिति छान्दोग्यवाक्यतः।
असर्वज्ञोऽपि भवति आचार्य इति गम्यते॥५२३॥

यद्यपि तैत्तिरीय में अवतु वक्तारं का भाष्य में वक्तारम् आचार्यं ऐसा अर्थ किया है। उस अर्थ में भी असंगति नहीं है। क्योंकि आचार्य सर्वज्ञ होता है ऐसा नियम नहीं है। आरुणि ने पुत्र श्वेतकेतु को अनुशिष्ट किया था। फिर पंचालनृपति जैवलि के प्रश्न का उत्तर न दे पाने से अज्ञान निगृहीत हुआ। तब आरुणि ने कहा इसका उत्तर मुझे भी नहीं आता। दोनों

वहां से जैवलि के पास जाकर प्रश्नोत्तर प्राप्त किया ऐसा छान्दोग्य में आया है। इससे निश्चित है कि आचार्य होने पर भी सर्वज्ञ सभी नहीं होते। अतः अवतुवक्तारं ऐसा आचार्य के लिये प्रार्थना करना भी असंगत नहीं है।

निर्विण्णः श्रोत्रियं ब्रह्म-निष्ठमेवाभिगच्छति।
तच्छ्रुतेनत्मिहं तस्य प्रार्थ्यतामवनं कुतः॥५२४॥

पू. - 'परीक्ष्यलोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात् तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्याणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' इस श्रुति निर्विण्ण विरक्त मुमुक्षु श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ के पास ही जायेगा। उसके लिये आत्मरक्षा की प्रार्थना व्यर्थ है। अज्ञान ही आत्महनन है। आत्मज्ञान ही आत्मरक्षण है। ब्रह्मनिष्ठ तो आत्मज्ञानी निश्चित होंगे।

उच्यते पूर्वसंस्कारः कदाचिज्ज्ञानिनामपि।
उद्बुध्यतीति तेनात्महतिर्भरतवद् भवेत्॥५२५॥
न चोपासक एवासीद्भरतो नात्मवित्कृती।
इति वाच्यं तृतीयेऽस्य ज्ञानं जन्मन्यभूत् कथम्॥५२६॥
न वेदानध्यगीष्टासौ पित्रा यत्ने कृतेऽपि हि।
पूर्वश्रवणसंस्कार-जन्यं ज्ञानमतोऽभवत्॥५२७॥
ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति॥५२८॥

उत्तर सुनो। पूर्व संस्कार से कभी कभी ज्ञानियों को भी भरत के समान मोह हो जाता है। यह कहो कि भरत उपासक मात्र था। ज्ञानी नहीं। नहीं। ऐसा होता तो तृतीय जडभरत जन्म में उसको ज्ञान कैसे हुआ। घोर यत्न करने पर पिता उसे गायत्री तक बुलवा नहीं सका था। पूर्वजन्मीय ज्ञान-संस्कार से ही उसे ज्ञानोदय हुआ अतः भरतजन्म में ही उसे ज्ञान हो गया था। किन्तु महामाया ज्ञानियों का भी चित्तहरण कर मोह में डाल देती है।

ज्ञानं हि पूर्वसंस्काराद् वामदेवादिवद् भवेत्।
अतो मा भूत् प्रमादोऽस्येत्युचिता प्रार्थना सतः॥५२९॥

पूर्व संस्कार से ज्ञान वामदेवादि में देखा है। अतः प्रमादाक्रमण

वारणार्थ प्रार्थना उचित है।

मा विद्विषावहा अत्र प्रोक्तं भाष्यकृतापि च।
प्रमादकृतदोषोत्थद्वेषं मा करवावहै॥५३०॥

मा विद्विषावहै इसकी व्याख्या में भाष्यकार ने भी कहा-प्रमादकृत दोष से उत्पन्न होनेवाला द्वेष हम न करें।

ब्रह्मणः पूर्णसाक्षात्त्वपर्यन्तमवतु प्रभुः।
चित्तस्वास्थ्यादिदानेनेत्यर्थस्तु सरलोऽर्थिनाम्॥५३१॥

ब्रह्म का पूर्ण साक्षात्कार पर्यन्त चित्त स्वास्थ्यादि देकर प्रभु हमारी रक्षा करें यह सभी अर्थी के लिये सरल है।

अवतु मामवतु वक्तारम्

आदरार्थं विशेषाभिमुख्यार्थं वा प्रभोरिह।
द्विरुक्तिर्बालहठवद् भीतबालाकुलोक्तिवत्॥५३२॥

यहां पुनरुक्ति आदरार्थ या प्रभु को विशषेरूप से अभिमुख करने के लिये है। बालहठ के समान भी द्विरुक्ति है। डरे हुए बालक की आकुलोक्ति समान पतनभीति प्रयुक्त आकुलोक्ति के समान भी है।

सम्यग् बोधं समुद्भाव्या-ऽवतु मां स्वप्रभः प्रभुः।
संसाराम्भोधिपतित - मविद्यातमसावृतम्॥५३३॥

भवसागर से अविद्या तमोमग्न मुझे स्वयं प्रकाश प्रभु बोध उत्पन्न कर रक्षित करे।

प्रभावृद्ध्या तमोनाशो विशेषेणावलोक्यते।
ज्ञानवृद्ध्या तथाऽविद्यानाशश्चैव विशेषतः॥५३४॥

प्रभा की वृद्धि से तम का नाश विशेषरूप से होता है वैसे ज्ञानवृद्धि से अज्ञान नाश भी है।

शक्तयः स्वीक्रियन्ते हि मायायां बहवो बुधैः।
इन्द्रो मायाभिरित्येवं - बहुत्वोक्तिप्रमाणतः॥५३५॥

ज्ञानवृद्धिक्रमेणैव यान्ति ताः क्रमशो लयम्।
तद्वर्धयन्नवतु मां संसारतमसः प्रभुः ॥५३६॥

माया में बहुत सारी आवरणशक्तियां हैं ज्ञानवृद्धि से उनका क्रमशः लय होता है। अतः ज्ञान वृद्धि करते हुए अधिकाधिक तमो नाश कर प्रभु मुझे संसार तम से बचायें।

सत्युत्कर्षे भवेद्विद्या फलपर्यवसायिनी।
परमोत्कर्षमानीय तां मामवतु शंकरः ॥५३७॥

विद्या फलदायिनी तभी होती है जब उसमें उत्कर्ष आ जाये। भगवान मेरी विद्या को अत्युत्कर्ष प्राप्त कराकर मेरी रक्षा करें।

तथा च प्रापयतु तामविद्योच्छेदयोग्यताम्।
रक्षणं निश्चितं येन तदाहाऽवतु मामिति ॥५३८॥

उत्कर्ष प्राप्त कराकर अविद्योच्छेदन योग्यता विद्या में भगवान संपादित करें। यहीं 'अवतु मां' से बताया।

उच्छेदो बीजरूपेणाप्यनवस्थानमुच्यते।
बीजं भवति संस्कारोऽविद्याया बुधसंमतः ॥५३९॥

अविद्योच्छेद में उच्छेद क्या है। बीजरूप से भी न रहना। बीज क्या है अविद्या का? संस्कार ही।

नन्वनादिरविद्याऽस्या बीजं नैवोपपद्यते।
सत्यं नात्यन्तभेदो नः कार्यकारणयोरिति ॥५४०॥

प्रश्न होगा-अविद्या अनादि है उसका कारण नहीं है। बात सत्य है। बीज और कार्य में अत्यन्त भेद न होने से अन्यतररूपेण अनादि है।

यद्वाऽनादिरविद्यैव तदवस्था तु काचन।
वासना स च संस्कारो लेशाविद्येति चोच्यते ॥५४१॥

अथवा अनादि अविद्या ही है। उसकी एक अवस्था वासना या संस्कार है। उसीको लेशाविद्या करके अन्य मनीषी समझते हैं।

कस्तूरीवासना यद्वत् कस्तूर्या सह वर्तते।
अपेतायां च कस्तूर्यां चिरं सा त्ववतिष्ठते ॥५४२॥

नष्टायामप्यविद्यायां वर्ततेऽस्याश्च वासना।
नावतिष्ठेत साप्येव यदोच्छेदः स उच्यते॥५४३॥

कस्तूरी की सुवास कस्तूरी के साथ ही रहती है। कस्तूरी के न रहने पर भी उस स्थान पर सुवास रह जाती है। वैसे अविद्या के नष्ट होने पर भी उसकी वासना रह जाती है। वासना भी खलास होगी तब उच्छेद (अविद्योच्छेद) माना जाता है।

अनन्तशक्तिर्माया सा साङ्गानङ्गा न चोभयी।
अनिर्वाच्या महादेवी किं तत्र बहुचिन्त्यताम्॥५४४॥
विश्वामित्रोऽगमन्मोहं गायत्रीमन्त्रदृङ्मुनिः।
पराशराद्यास्तत्त्वज्ञा नारदाद्याः सुरर्षयः॥५४५॥
तानावीदन्ततो यः सोऽवतु मामादितोऽपि च।
अविद्योच्छेदयोग्यात्म-ज्ञानोद्भावनतः प्रभुः॥५४६॥
तथैवावतु वक्तारं कृत्वाऽद्वैतप्रतिष्ठितम्।
द्वैतभावं विधायैव कृपया मां प्रशासतम्॥५४७॥

माया अनन्त शक्तिमती है। फिर भी साङ्गा नहीं। पर अनङ्गा भी नहीं अनिर्वचनीय भी है। उसके बारे में क्या ज्यादा बोलें। गायत्री द्रष्टा विश्वामित्र को उसीने मोह में डाला। महर्षि पराशर देवर्षि नारदादि को भी। किन्तु अन्ततः जिस भगवान ने उनकी रक्षा की वह आदि से ही अविद्योच्छेदक योग्य ज्ञान को उत्पन्न कर मेरी रक्षा करे। वैसे आचार्य की भी अद्वैत में प्रतिष्ठित कर रक्षा करे, जिन्हों ने कृपा से ही द्वैतात्मक शिष्य गुरुभाव लाकर मुझ शिष्य को ज्ञानानुशासन किया।

अवतुवक्तारम्

आचार्यस्येष्टसिद्धौ हि मम चाप्युद्धृतिर्ध्रुवा।
इत्यतोऽतिशयार्थाय द्विरुक्तिमकृत श्रुतिः॥५४८॥

आचार्य की इष्ट सिद्धि हो तो मेरा भी उद्धार जरूर होगा। क्योंकि गुरु प्रसन्न होने पर सर्व कार्यसिद्धि होती है अतः अतिशयार्थ पुनः पुनः

अवतुवक्तारं कहा।

मा भूदिष्टकृते क्लेशः संप्रदायप्रवर्तने।
अतश्चावतु वक्तारं तदिष्टं प्रापयन् प्रभुः॥५४९॥

संप्रदायप्रवर्तन महान इष्ट कार्य है। उस इष्ट कार्य में आचार्य को क्लेश न हो एतदर्थ प्रभु आचार्य को इष्ट प्राप्त करा कर-परमार्थस्थिति प्राप्त करा कर रक्षण करे।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

विघ्ना आध्यात्मिका आधिभौतिका आधिदैविकाः।
तुदन्ति मामतः शान्तिस्तेषां मेऽस्तु गुरोरपि॥५५०॥

आध्यात्मिक आधिभौतिक और आधिदैविक ऐसे तीन प्रकार के विघ्न या उपसर्ग मुझे तंग करते हैं अतः उन तीनों उपसर्ग मेरे शान्त हो एवं आचार्य के भी तीनों उपसर्ग शान्त हो।

ऋग्वेदीयोपनिषद ऐतरेयादयो दश।
तासां वाङ्मनसीत्येतां शान्तिमाहस्य मुक्तिका॥५५१॥

ऐतरेयादि दस उपनिषदें ऋग्वेदीय हैं उनकी वाङ् मे मनसि इत्यादि शान्ति है इस मुक्तिकोपनिषद् वचन से यह ऋग्वेदीय शान्ति सिद्ध होती है।

इति श्रीकाशिकानन्दगिरिणा कृतिना कृतम्।
समाप्तं गतमृग्वेदशान्तिव्याख्यानवार्तिकम्॥५५२॥



ॐ भद्रं नो अपिवातय मनः।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

भद्रं न इति मन्त्रेऽस्मिन्नग्निरग्रिममन्त्रगः।
अपिवातनकर्ता ह्यामन्त्र्यते मन्त्रदर्शिना॥ १॥

भद्रे नो अपिवातय इस मन्त्र में अपिवातन-(प्रेरण)कर्ता के रूप में अग्रिम मन्त्र में उक्त अग्नि सम्बोध्य है।

भुजां यविष्ठमीडेऽग्निं शासा मित्रं सुदुर्धरम्।
यद्यज्ञो मातुरूधोवत् स्वर्गस्थैरुपजीव्यते॥ २॥

भुजां=रक्षकों में सबसे तगडे अग्नि की मैं स्तुति करता हूं जो अनुशासन से (यह करो यह न करो इस प्रकार भलाई के शिक्षण से) मित्र है पर दुर्धर है। जिसका यज्ञ स्वर्गस्थ देवताओं का उपजीवन है, जैसे शिशु के लिये मातृस्तन्य।

मूल मन्त्र है - **अग्निमीळे भुजां यविष्ठं शासा मित्रं दुर्धरीतुम्**
यस्य धर्मन् स्वरेनीः सपर्यन्ति मातुरूधः॥

पूर्वार्ध लगभग पूर्वोक्तार्थक है। यस्य=जिस अग्नि के धर्मन्=धर्म=यज्ञ में एनी=आनेवाली आहुति स्वः=स्वर्गस्थित देवता सपर्यन्ति=उपजीवन्ति नित्य अपेक्षा रखते हैं। जैसे बच्चे मातुःमाता के ऊधः=स्तन की अपेक्षा रखते हैं। (स्वः का स्वर्गस्थ देवता अर्थ है)

रक्षन्ति देवता नूनमापत्सु सुहृदादयः।
पितरो बान्धवाश्चैव सखायश्च न संशयः॥ ३॥
इन्द्रियाणामधिष्ठात्र्यो रक्षन्त्येव च देवताः।
दृक्शक्त्यादिप्रदानेन सुज्ञानोद्भावनेन च॥ ४॥
रक्षन्त्येते दिविषदो वृष्ट्यन्नादिप्रदायिनः।
परस्परं भावयन्तो रक्षन्त्येवं परस्परम्॥ ५॥
माता नास्ति पिता नास्ति न सखायो न बान्धवाः।
समुपेतान्महामृत्यो रक्षितुं कोपि सक्षमः॥ ६॥

भुजां पालयितॄणां तु यविष्ठस्त्वग्निरग्रणीः।
स एव सकलाद् दुःखान्मृत्योरपि च रक्षति॥७॥

इस बात में दो राय नहीं है कि देवता आदि आपदाओं में रक्षा करते हैं कि नहीं। देव भी रक्षा करते हैं। मित्र भी रक्षा करते हैं, मातापिता भी रक्षा करते हैं। बन्धुजन भी रक्षा करते हैं। इन्द्रियादि अधिष्ठात्री देवता भी चक्षुरादि को शक्तिप्रदान से रक्षा करते हैं। स्वर्गस्थ इन्द्रादि देवता अन्न वृष्टि से प्रजा का रक्षण करते है। लोग परस्पर परस्पर की रक्षा भी करते हैं। परंतु ऐसी भी एक अवस्था होती है जहां पर रक्षक रूप में न माता है, न पिता है, न मित्र है, न बन्धु है। वह कौनसी अवस्था है। महा मृत्यु का जब आगमन होता है। उससे रक्षा करनेवाला एक परमात्मा ही है। अतः वह रक्षकों में सर्वश्रेष्ठ रक्षक है। जबर्दस्त जवान है। वही सकल दुःखों से और महादुःख मृत्यु से बचाता है। उसी को मन्त्र में अग्नि बताया। अग्नि का अर्थ है-अग्रणी। रक्षकों में वह अग्रणी है।

अग्निःकस्मादग्रणीः स इति यास्को निरब्रवीत्।
सर्वेषामग्रणीरात्मा कारको भासकस्तथा॥८॥

अग्निः कस्मादग्रणीर्भवति ऐसा निरुक्त है। सबका परमात्मा अग्रणी है, कारक है, भासक भी है।

तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति सकलं जगत्।
तमेव भान्तमनुभात्यस्य भासा विभाति च॥९॥

इसी परमात्मा के अस्तित्व में और नेतृत्व में सूत्रात्मक प्राण कर्म-विभाजन करता है, जगत्-धारण करता है। प्रथम वही भासता है, उसके पीछे सब भासते हैं। उसके प्रकाश से सब प्रकाशित होते हैं।

अग्रणीत्वाद् भवेदग्निरग्रे स्वं नीयते स्वयम्।
प्रकाशः प्रथमं भाति तदन्तर्वस्तु भासते॥१०॥

अपने को हमेशा स्वयं आगे रखता है अतः अग्नि है। पहले प्रकाश प्रकाशेगा, तब उसमें वस्तु प्रकाशेगी।

स्वयं सन् जगदेतद्धि स्वस्मिन् भावयतीश्वरः।
स्वयं प्रकाशमानश्च प्रकाशयति वै जगत्॥ ११॥

प्रथम ही आत्मा सद्रूप होकर बैठा है तब जगत् को बनाता है, सद्रूप करता है, स्वयं प्रकाशमान होता है तब जगत को प्रकाशित करता है।

अयं सन्नममानः सन्नङ्गं नयति सर्वशः।
यास्को महामुनिः श्रीमानित्यप्यग्निं निरब्रवीत्॥ १२॥

अङ्गं नयति संनममानः ऐसी भी निरुक्ति महामुनि श्री यास्क ने की है।

तत्सृष्ट्वा हि तदेवानुप्राविशत् परमेश्वरः।
अनुप्रविशतः सर्वमङ्गत्वं प्रतिपद्यते॥ १३॥
नमन् प्रविशति द्वारं सूक्ष्मः सन्नितिलौकिकम्।
गृहमङ्गं गृहस्थस्य गृहं प्रविशतः किल॥ १४॥

जगत को बनाकर परमात्मा ने उसीमें अनुप्रवेश किया। जिसमें प्रवेश किया वह अङ्ग हो ही जायेगा। द्वार में झुककर ही प्रवेश करते हैं। गृहस्थ घर में प्रवेशकर गृह को अङ्ग बनाता ही है।

अग्निर्मूर्धा दिशः श्रोत्रे चक्षुषी चन्द्रभास्करौ।
इत्येवमङ्गविधया व्याख्यातमखिलं जगत्॥ १५॥

अग्निमूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे इत्यादि मन्त्र में पूरे जगत को परमात्मा के अङ्ग के रूप में वर्णन किया है।

न क्लोपयति न स्नेहयति भस्मयतीतरत्।
इत्यपि व्यग्रहीदत्र मुनिरग्निपदं स्वयम्॥ १६॥

अग्नि वस्तु को गीली नहीं करती (किन्तु भस्म करती है) यह भी यास्क ने कहा है।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते किल।
कर्मदाहे जगद्दाहः ज्ञानरूपस्तथेश्वरः॥ १७॥

ज्ञानाग्नि सर्वकर्म को जलाती है ऐसा गीता में कहा है। सर्वकर्मदाह हुआ तो कर्मजन्य जगत कैसे रहेगा। भगवान ज्ञानस्वरूप ही है।

इन्द्रं मित्रं च वरुणमग्निमाहुर्मनीषिणः।
तमेव चैकं सद्विप्रा वदन्ति बहुधा बुधाः॥१८॥

'इन्द्रं मित्रं वरुणं' इत्यादि श्रुति को लेकर यास्क ने कहा - 'इममेवाग्निं महान्तमात्मानम् एंकमात्मानं बहुधा मेधाविनो वदन्ति इन्द्रं मित्रं वरुणम्' अर्थात् इसी अग्निरूपी (अग्निशब्दार्थरूपी) महान आत्मा को एक आत्मा को (परमात्मा को) लेकर मेधावी लोग इन्द्रं मित्रं वरुणं इत्यादि कहते हैं।

सर्वदेवस्वरूपत्वादग्नेर्महत आत्मनः।
स्तोतव्या न पृथक् सन्ति मित्राद्याः सर्वदेवताः॥१९॥
मित्रेन्द्रवरुणादीनामात्माग्न्यात्मत्वतः स्वतः।
प्रार्थितेऽग्नौ प्रार्थिताः स्युः सर्वेऽपीत्यतिकौशलम्॥२०॥

परमात्मस्वरूप अग्नि सर्वदेवस्वरूप होने से मित्रवरुणादि की पृथक् स्तुति करने की जरूरत नहीं रही। परमात्मा अग्निस्वरूप होने से अग्नि स्तुति से सर्व स्तुति हो जाती है यह श्रुति की अति कुशलता है।

एवं - निरुक्तवचनचिन्तनेनेदमागतम् ।
ब्रह्मैवात्राग्निशब्देन सर्वात्मात्मा विवक्षितः॥२१॥

महर्षि यास्ककृत यथोक्त व्याख्यान से यही बात प्रकट होती है कि यहां अग्नि शब्द से सर्वात्मारूप ब्रह्म ही श्रुति-विवक्षित है।

नन्वृग्वेदसमारम्भश्रुत्यर्थो यास्कभाषितः।
दशमे मण्डले त्वेष विंशसूक्तस्थितो मनुः॥२२॥
मङ्गलाचरणत्वेन स्यादादौ ब्रह्मचिन्तनम्।
अयं तु कर्मकाण्डस्थ इत्यतोऽत्राग्निदेवता॥२३॥

पू. - ऋग्वेदारम्भ श्रुति अग्निमीळे पुरोहितं इत्यादि का अर्थ महर्षि यास्क ने किया। मङ्गलाचरण होने से वह ब्रह्म-चिन्तनार्थ होगा। दशम मण्डल में तो कर्मकाण्ड है ज्योतिष्मद्गुणक अग्नि देवताक इष्टि में यह शंसन होता है। अतः यहां अग्नि देवता ही अर्थ होना चाहिये।

तन्नाग्निमीड इति हि प्रत्यभिज्ञायते स्फुटम्।
युज्यन्तेऽन्यानि च पदा-न्यत्रैव ब्रह्मणीत्यपि॥ २४॥

उ. - यह बात नहीं है। अग्निमीळे इतना स्पष्ट प्रत्यभिज्ञान हो रहा है। भुजां यविष्ठं इत्यादि भी ब्रह्म में सुघट है।

किं च शान्त्यर्थमन्त्रोऽयं शान्तिः स्याद् ब्रह्मचिन्तनात्।
न हि स्यात् कर्मकाण्डेन शान्तिर्या मोक्षलक्षणा॥ २५॥

दूसरी बात यह शान्त्यर्थ मन्त्र है। शान्ति ब्रह्म-चिन्तन से होती है। कर्मकाण्ड से मोक्षरूपी शान्ति नहीं होती।

ननु प्रथममन्त्रोऽत्र शान्त्यर्थः शान्तिपाठगः।
द्वितीये त्वग्निरेवार्थः कर्माङ्गस्मरणार्थतः॥ २६॥

पूर्व - माना कि प्रथम मन्त्र शान्त्यर्थ है। पर द्वितीय कर्मार्थक है। अतः कर्माङ्ग अग्निस्मारक ही होगा।

मैवं कर्तुरनिर्देशाद् द्वितीयेनान्वयादिह।
ब्रह्मैवात्राग्निशब्दार्थो भवतीत्येव युज्यते॥ २७॥
यद्वैषा पञ्चपाद्यृक्स्यात्तेनाग्निर्ब्रह्म संभवेत्।
अनुक्रमणिकायां च तदेतत् प्रतिपादितम्॥ २८॥

उ. - ऐसी बात नहीं है। प्रथम मन्त्र में अपिवातनकर्ता का निर्देश न होने से द्वितीय मन्त्र से ही विभक्ति व्यत्यय से अग्निकर्ता को लाना पडेगा तब अग्नि का अर्थ द्वितीय मन्त्र में अग्नि ही संभव है। अथवा दोनों मिलाकर पंचपादी एक ही ऋचा है। यह सारी बातें अनुक्रम में स्पष्ट है।

तत्र भद्रं दशाग्नेयं गायत्रं प्रोच्य संजगौ।
आद्या त्वेकपदा तत्र शान्त्यर्थः पाद एव वा॥ २९॥

अनुक्रम ग्रन्थ में भद्रं दश आग्नेयं गायत्रं कहकर आगे कहा-प्रथमा ऋक् एकपदा है-भद्रं इतनी ही ऋचा है या पूरा पाद ही शान्त्यर्थ है।

ऋग्यद्येकपदा तर्हि स्युरेकादश ता इह।
पञ्चपादाभ्युपगमे त्वस्माकं तु नवैव ताः॥ ३०॥

भद्रस्य पृथगुक्त्वे च पादादौ नस् कथं भवेत्।
तस्मादृगन्तरत्वेऽपि वाक्यैक्यं तत्र संमतम्॥ ३१॥
तथा चर्गन्तरत्वेऽपि पूर्वेणान्वयिनी भवेत्।
अग्निमीळ इतीयं ह्यृक् ब्रह्मार्थो ह्यग्निरेव च॥ ३२॥

'भद्रं' यह एकपदा ऋक् है तब नो अपिवातय मनः यह भी एक ऋचा होगी, ऐसी अवस्था में एकादश आग्नेय होगा। हमारे दर्शित पञ्चपादी मानने पर नौ नौ ऋचायें होंगी। फलतः संख्या में अनास्था ही स्वीकार्य होगी। पर भद्रं को एक ऋचा मानने पर षष्ठी को 'नस्' आदेश कैसे होगा। 'अनुदात्तं सर्वमपादादौ' सूत्र है। पद से परे नस् होता है। वह भी नहीं है। तब यही कहना होगा ऋचा भिन्न होने पर भी एक वाक्य मान्य है। तब द्वितीय अग्निमीळे का पूर्वेणान्वय करने में क्या हानि। अग्नि का ब्रह्म अर्थ भी हो जायेगा।

किं चाद्यमन्त्रोऽप्याग्नेयः सांयाज्ये विनियुज्यते।
तस्मान्नानार्थता नूनं यास्कोक्तार्थेन जायते॥ ३३॥

दूसरी बात 'अग्निमीळे पुरोहितं' इस प्रथम मन्त्र का सांयाज्य में विनियोग बताया है। मन्त्र को भी आग्नेय बताया है। साह्वान विश्वा अभियुजोऽग्निमीळे पुरोहितमिति सांयाज्ये ऐसा आश्वलायन सूत्र है।

ततोऽनेकार्थता नैव दोषाय भवतीत्यतः।
ब्रह्मार्थत्वमिहाप्येव क्रियते काऽत्र यन्त्रणा॥ ३४॥

तब प्रथम मन्त्र कर्मार्थ होने से अग्नि का अर्थ अग्नि देवता भी है, यास्कदर्शित निरुक्ति के अनुसार ब्रह्म अर्थ भी है। ज्ञानार्थ होने से यहां पर भी ब्रह्म अर्थ लेना अनुचित नहीं है।

किं चेन्द्रं वरुणं मित्रमग्निमाहुर्मनीषिणः।
स सुपर्णो गुरुत्मांश्च दिव्यो वेदेषु कीर्त्तितः॥ ३५॥
तत्त्वमेकं हि सद्विप्रा वदन्ति बहुधा बुधाः।
तमेवाग्निं यमं मातरिश्वानं चाहुरीश्वरम्॥ ३६॥
इत्येवं श्रुतिषूक्तत्वाद् ब्रह्मैव परमार्थतः।
विविधोपाधिमादाय प्रोच्यतेऽन्यादिशब्दतः॥ ३७॥

ऐश्वर्योपहितो हीन्द्रो वरुणः पापवारणात्।
मरणत्राणतो मित्र इत्यादि विवृतं बुधैः॥ ३८॥

और विशेष बात यह है कि परमात्मा को ही इन्द्र वरुणादि नाम से उपाधि से वेदों में बताया है। इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः इत्यादि श्रुतियों (ऋग्वेद १-१६५-५६) में बताया है। ऐश्वर्योपाधि से इन्द्र नाम हुआ। पापवारण से वरुण नाम, मरणत्राण से मित्र इत्यादि विवरण सायणभाष्य में द्रष्टव्य है।

अमुं यज यजामुं चेत्येकैकं देवमाह यत्।
एतस्यैव विसृष्टिः सा सर्वे देवाः स एव हि॥ ३९॥

इसका याग करो फलाने का पूजन करो ऐसे एक-एक देव को लेकर जो बताते हैं, ये सब एक परमात्मा के ही नानोपाधिप्रयुक्त रूप हैं। सभी देव एक परमात्मा ही है।

हिरण्यगर्भ एवात्र बृहदारण्यके मतः।
स एव सर्वे देवाश्चेत् परो हि सुतरां भवेत्॥ ४०॥

यद्यपि बृहदारण्क में हिरण्यगर्भ (प्रजापति) के प्रसंग में यह कहा। तथापि हिरण्यगर्भरूप ही सब देव हों तो ब्रह्मरूप सुतरां सिद्ध होगा।

एष ब्रह्मा ह्येष इन्द्र एष एव प्रजापतिः।
एते सर्वे तथा देवा एष एवेति च श्रुतेः॥ ४१॥

ऐतरेय में एष ब्रह्मा इत्यादि बताया है।

तथा चोत्तरमन्त्रस्थो ह्यग्निर्ब्रह्मैव नानलः।
सो-ऽपिवातनकार्योऽत्र कर्तृत्वेनानुकृष्यते॥ ४२॥

इस प्रकार उत्तर मन्त्रस्थ अग्नि शब्द ब्रह्मबोधक होने में कोई बाधा नहीं है। पूर्व मन्त्र में अपिवातन कर्ता के रूप में उसीका अनुकर्ष होगा। साधारण अग्नि या परिच्छिन्न अग्निदेवता नहीं।

एतदुक्तं भवत्यस्मि-न्नपिवातनकर्मणि।
कर्ता न दृश्यतेऽयं किमध्याहार्यो हि कश्चन॥ ४३॥

किं वात्रोत्तरमन्त्रीय आक्रष्टव्योऽस्तु कश्चन।
उपस्थितेर्लाधवाच्च युक्तमत्रानुकर्षणम्॥४४॥
अन्यथा कर्तृबाहुल्यात् कः स्यादिति न निर्णयः।
नन्वग्निरुत्तरे नायं प्रथितः प्रेरकात्मना॥४५॥
सत्यं ब्रह्मैव तस्यार्थो मनसो मन इत्यतः।
न चात एव वचसा नाध्याहारेऽपि गौरवम्॥४६॥
गुरुर्वा कोऽपि सिद्धो वा कश्चिद्देवादिरेव वा।
श्रुतेस्तात्पर्यमत्रेति सहसा निश्चयाऽग्रहात्॥४७॥
न चाग्निशब्दार्थोऽप्येवं स्यात्तव प्रविकल्पितः।
वेदादावेव तस्यार्थो बहुधा चिन्तितो यतः॥४८॥
इन्द्रं च मित्रं वरुणमित्येवं च निरूपणात्।
तस्य च प्रत्यभिज्ञानादिति सर्वं समञ्जसम्॥४९॥

यहां का सारांश यह है कि-अपिवातय का कर्ता यहां बताया नहीं है तो किसी कर्ता का अध्याहार करें या उत्तर मन्त्रोक्त का अनुकर्षण करें यह संदेह होता है। उपस्थित होने से अनुकर्षण उचित है। अन्यथा दुनिया में कई कर्ता हैं, किस का अध्याहार करें? परंतु उत्तर मन्त्रस्थ आग (अग्नि) प्रेरक कहां है? बात सत्य है, किन्तु अग्नि का ब्रह्म अर्थ है। ब्रह्म मन का प्रेरक है यह मनसो मनः इत्यादि श्रुति से सिद्ध है। यदि ऐसा है तो उसी श्रुति के आधार पर ब्रह्म का अध्याहार कर लो। नहीं। प्रेरक गुह्म, सिद्ध, कोई देवता आदि भी संभव होने से प्रकृत श्रुति में किस में तात्पर्य है-यह निर्णय नहीं हो सकता। यही बात फिर अग्नि शब्द के अनुकर्षण में भी होगा। अग्नि का अर्थ आग है या ब्राह्मण है या अग्नि देवता है इत्यादि। नहीं। ऋग्वेद के आदिम मन्त्र में इस पर चिन्तन एवं निर्णय हो चुका है, अग्निं वरुणं मित्रं इत्यादि से श्रुति ने भी ब्रह्म अर्थ दिखाया है। उसी की यहां अग्निमीळे से प्रत्यभिज्ञा होती है। अतः सर्व समञ्जस है।

भद्रं नः

भद्रं स्याद् भदि कल्याणे सुखे चेत्यनुशासनात्।
कल्याणं च सुखं चैव शिवाद्यर्थे च पुंस्ययम्॥५०॥

भदि कल्याणे सुखे च इस धातुपाठ से भद्र का कल्याण और सुख अर्थ है। पुंलिंग में शिव आदि भी अर्थ है।

कल्याणं च सुखं चात्मधर्मं प्रोवाच माधवः।
तत्कारणं कार्यमपि भद्रमेव निगद्यते॥५१॥
पश्येम भद्रं चक्षुर्भिः कर्णैश्च शृणुयाम तत्।
नैव ह्यात्मगुणः कर्णैश्चक्षुर्भिरपि गृह्यते॥५२॥
वेदादिश्रवणं भद्रं भद्रं विप्रादिदर्शनम्।
आयाति भद्रपुरुषो भद्रसम्बोधनं तथा॥५३॥
अर्शआद्यचि शब्दोऽयं त्रिलिङ्गं भण्यते यदि।
संभवत्यत्र चाप्येव ह्यन्तोदात्तोऽस्ति चित्स्वरः॥५४॥

कल्याण तथा सुख दोनों को माधवाचार्य ने आत्मधर्म धातुवृत्ति में बताया है। कल्याणकारी कर्मादि भी भद्र ही कहलाता है। भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम, भद्रं पश्येमाक्षभिः ऐसा प्रयोग है। कान से और आंख से आत्मगुण का ग्रहण नहीं होता। वेदश्रवण भद्र है, विप्रदर्शन भद्र है इत्यादि प्रयोग भी होते हैं। यह भद्र पुरुष-ऐसा पुरुष भी भद्र होता है। भद्र इत्यादि सम्बोधन भी नाटकादि में है।। 'भद्रमस्यास्ति' इस अर्थ में अर्श आदि अच् मानें तो भी यहां वह संभव है। चितः से अन्तोदात्त है। यहां अन्तोदात्त ही पठित है।

यज्ञदानादिकं सर्वं कर्म भद्रात्मकं मतम्।
सत्यप्रियादिवचनं स्वाध्यायाभ्यसनादि च॥५५॥
आत्मनः श्रवणं चैव मननं ध्यानमेव च।
दर्शनं स्मरणं चैव भद्रमेवाभिधीयते॥५६॥
गुरूपसदनं चैव तदुपासनमेव च।
तदाज्ञापालनं चैव भद्रमेव निगद्यते॥५७॥

विवेकत्यागवैराग्यपारिव्राज्यात्मसंस्थताः।
विविक्तदेशसेवित्वयोगाभ्यासादिनिष्ठता॥ ५८॥
सत्सङ्गःसङ्गविरतिरमानित्वादिकं तथा।
सर्वमेतद् भवेद् भद्रं भद्रहेतुत्वतः सताम्॥ ५९॥

यज्ञदानादिबाह्यकर्म, सत्यवचनादि वाक्कर्म, दर्शन स्मरणादि मानस कर्म, सभी भद्र हैं। गुरूपसदन, गुरूपासन, गुर्वाज्ञापालनादि भी भद्र है। विवेक, वैराग्य, पारिव्राज्य, आत्मस्थिति, एकन्तसेवा, योगाभ्यास, सत्सङ्ग, असङ्गता एवं अमानित्वादि सभी भद्रहेतुत्वाद् भद्र है।

कुटुम्बभाणं भद्रं परिव्राज्यं कथं तथा।
शुकेन निन्दितत्वेन ह्यवैराग्यवतस्तथा॥ ६०॥
लोकदृष्ट्या तु भद्रं तत् स्वभावप्राप्तमेव च।
अपश्यतामात्मतत्वं गृहेषु गृहमेधिनाम्॥ ६१॥
निद्रया ह्रियते नक्तं व्यवायेन च वा वयः।
दिवा चार्थेहयां राजन् कुटुम्बभरणेन वा॥ ६२॥
देहापत्यकलत्रादिष्वात्मसैन्येष्वसत्स्वपि ।
तेषां प्रमत्तो निधनं पश्यन्नपि न पश्यति॥ ६३॥
लोकयात्रादिहेतुत्वाल्लौकिकं भद्रमस्ति तत्।
पारमार्थिकभद्रं तु जन्ममृत्युविभञ्जनम्॥ ६४॥

कुटुम्बभरणादि भी तो भद्र है। तब पारिव्राज्य भद्र कैसे? सुनो। लोकदृष्ट्या भद्र है। पर शुकदेवजी ने उसे अप्रशस्त कहा। पुत्रोत्पादन कुटुम्बपालनादि परायण देखता हुआ भी अन्धा बना हुआ है। अपने निधनादि को नहीं देखता। लोकयात्रा हेतु होने से वे सब लौकिक भद्र भले हों, पारमार्थिक भद्र तो वही है जो जन्म-मरण-परम्परा को मिटा दे।

गृहेष्ववस्थितो राजन् क्रियाः सर्वा गृहोचिताः।
वासुदेवार्पणं साक्षादुपासीत महामुनीन्॥ ६५॥
सत्सङ्गाच्छनकैः सङ्गमात्मजायागृहादिषु।
विमुच्येन्मुच्यमानेषु स्वयं स्वप्नवदुत्थितः॥ ६६॥

यावदर्थमुपासीनो देहे गेहे च पण्डितः।
विरक्तो रक्तवत्तत्र नृलोके नरतां न्यसेत्॥६७॥
ज्ञातयः पितरौ पुत्रा भ्रातरः सुहृदोऽपरे।
यद्वदन्ति यदिच्छन्ति चानुमोदेत निर्ममः॥६८॥
त्रिवर्गं नातिकृच्छ्रेण भजेत गृहमेध्यपि।
यथादेशं यथाकालं यावद्दैवोपपादितम्॥६९॥
इत्यादिभिर्बहुविध-मुपादिक्षत् शुको मुनिः।
तस्मान्नास्ति विरोधोऽत्र कोपि वा लोकशास्त्रयोः॥७०॥

गृह में रहकर गृहोचित कर्म कर वासुदेवार्पण करो, सन्तों का संग भी करो। ये सभी जिनको अपना समझते हो, तुम से अलग होंगे। अतः पहले ही अपना मन इनसे अलग कर लो। जितना प्रयोजन घर से है उतना सिद्ध करते हुए रागी के समान विरागी होकर मनुष्यता निर्वाह करो। घरवाले जो कहते हैं हां में हां भर लो। धर्म, अर्थ और कामरूपी त्रिवर्गों में ज्यादा मत फंसो। कालानुरूप शास्त्रादेश पालन ईश्वरेच्छा मानकर कार्य करो यह भद्र है। परम भद्र तो पूर्वोक्त है। अतः शास्त्र और लोक में कोई विरोध नहीं है। इत्यादि शुकदेवजी ने ही नारद मुख से (७.१४) बताया है।

अपिवातय मनः

गतौ सुखे सेवने चाऽपठद् वातयतिं मुनिः।
यथायोग्यमिहार्थस्तु ग्राह्यो भवति काविदैः॥७१॥

वात गतिसुखसेवनेषु ऐसा धातुपाठ क्षीरस्वामी आदि ने माना है। प्रकृत में यथायोग्य अर्थ लेना चाहिये।

गतिबुद्धीतिसूत्रेण मनसः कर्मता भवेत्।
मनो गमय मे भद्रमित्यर्थस्तेन लभ्यते॥७२॥

'गतिबुद्धिप्रत्य०' इत्यादि पाणिनीय सूत्रानुसार द्विकर्मक होगा। मन को भद्र की ओर ले चलो यह अर्थ होगा।

नन्वण्यन्ते हि यः कर्ता ण्यन्ते याति स कर्मताम्।
न वातयतिरण्यन्तः कथं कर्मत्वमाप्नुयात्॥ ७३॥
अनित्यण्यन्ततां प्राहुर्न्यासकारादयो बुधाः।
चुरादेस्तन्न युक्तं तु महाभाष्यविरोधतः॥ ७४॥
यत्र स्याज्ज्ञापकं किंचित् तत्रैव णिविकल्पनम्।
न हि वातयतौ किंचिज्ज्ञापकं णिविकल्पने॥ ७५॥

यहां व्याकरणवाले पूर्वपक्ष उठाते हैं-अण्यन्त में कर्ता ण्यन्त में कर्म होगा। अण्यन्त वातधातु का प्रयोग ही नहीं है। यद्यपि न्यासकारादि ने आनित्यण्यन्ताश्चुरादयः बताया है। परंतु वह महाभाष्य विरुद्ध है। क्योंकि महाभाष्य में घुषिर् अविशब्दने यहां अर्थविशेष में-विशब्दन अर्थ में णिच् विकल्प है अन्यत्र नहीं ऐसा ज्ञापन होता है। ऐसा भाष्य में कहा है। जहां कोई ज्ञापक हो वहां णिविकल्प है। वात धातु में कोई ज्ञापक नहीं। अतः नित्यणिच् है।

मैवं सूत्रे णिसामान्या-ऽभावो नाणावितीर्यते।
यण्ण्यभावे भवेत् कर्ता तण्णौ कर्मेति भण्यते॥ ७६॥

गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माऽकर्मकाणामणि कर्ता स णौ ऐसा सूत्र है। यहां अणौ का णिसामान्याभाव अर्थ नहीं है। किन्तु गत्याद्यर्थक धातु के जिस णि के अभाव में जो कर्ता होगा उस णि के आने पर वह कर्म होगा ऐसा विशेष अर्थ है।

णिजन्ताण्णिः प्रयुक्तोऽत्रे-त्यभावे हि द्वितीयणेः।
यत् कर्तृ मन इत्येतत् तण्णौ कर्म भवेददः॥ ७७॥

अपिवातय में णिजन्त से णिच है। द्वितीय णि के अभाव में वातन (भद्रः गमन) का कर्ता मन है। वह द्वितीय णि प्रयोग में कर्म हो जायेगा। 'णेरनिटि' सूत्र से प्रथम णि का लोप है।

अपिः समुच्चये काम-चारानुज्ञादिकेऽपि च।
सुखं गमयसि त्वं हि पुण्यकर्मसमाप्तये॥ ७८॥
दुःखं गमयसि त्वं हि पापकर्मापनुत्तये।
भद्रं च गमय त्वं नो मनो ज्ञानोद्भवाय हि॥ ७९॥

एवं समुच्चयार्थत्वमपेरत्र भविष्यति।
सर्वं कार्यं विरचयन् मनो भद्रं च वातय॥८०॥
यत् स्यात्परमकल्याणकारणं परमेश्वर।
अयोग्यमिति मां मत्वा मोपैक्षिष्ठाः कृपानिधे॥८१॥

अपि का समुच्चय एवं कामचारानुज्ञादि भी अर्थ है। हे परमात्मन्! आप सुख प्राप्त कराते हैं पुण्यकर्म समाप्ति के लिये। दुःख प्राप्त कराते हैं पापकर्म खलास करने के लिये। इस प्रकार आप की प्रवृत्ति नैष्कर्म्य प्राप्त कराने की है किन्तु भद्रं भी प्राप्त करायें। ज्ञानोद्भावनार्थ ऐसा यहां समुच्चय अर्थ है। समस्त कार्यों को बनानेवाले मेरे मन को भद्र भी प्राप्त कराओ जो परम कल्याणकारण है, अयोग्य समझकर मेरी उपेक्षा न करो ऐसा भी समुच्चय है।

नरकं गमय त्वं मां स्वर्गं वा गमय स्वयम्।
अपि भद्रं गमय मे मनः स्वच्छन्दकार्यसि॥८२॥

मुझे नरक में डालो या स्वर्ग में ले जाओ, मन को भद्र में ले जाओ आप की इच्छा।

अपरे पुनराचार्या क्रियादार्ढ्यार्थहेतवे।
धात्वर्थस्यानुवाद्येष उपसर्गोऽपिर्हि योजितः॥८३॥

अन्य आचार्यों का कहना है कि धात्वर्थ गमन=प्रापण में दृढता लाने के लिये द्विरुक्तिसदृश धात्वर्थानुवादि अपि उपसर्ग है।

भद्रकार्ये हि भगवन्नग्ने प्रेरय मे मनः।
यज्ञदानतपःकर्म पावनं भद्रमेव तत्॥८४॥

उक्त अर्थ का विस्तार इस प्रकार होगा कि हे परमेश्वर अग्ने! मेरे मन को भद्र कार्य में लगाओ। यज्ञदानतप आदि कर्म पावन है, भद्र है। उसमें मेरे मन को प्रेरित करो।

ननु बन्धनबीजानि कर्माणि मुनयो विदुः।
कथं नैष्कर्म्यकामोऽत्र ब्रूयात् गमयितुं मनः॥८५॥
हन्तोपनिषदोऽध्येतुं पठ्यन्ते शान्तयः किल।
संन्यस्य श्रवणं कुर्यात्तस्य कर्माणि भो कथम्॥८६॥

पू. - कर्म बन्धनकारी है।मोक्ष नैष्कर्म्य है। मुमुक्षु क्यों कर्म चाहेगा? शान्तिपाठ उपनिषदों के अध्ययनार्थ है। कर्म संन्यास का तदर्थ विधान है।

मैवं कामयमानानां कर्म बन्धनकारणम्।
तच्चाकामयमानानां चित्तशुद्ध्यादिकारणम्॥८७॥

उ. - नहीं; कामनावालों के लिये कर्म बन्धकारण है। अकाम की चित्तशुद्धिकारक है।

ननु कामं विना नैव किं चित्कर्मोपपद्यते।
यद्यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत्कामस्य चेष्टितम्॥८८॥

पू. - कामना न हो तो कोई भी कर्म नहीं बनेगा। यद्यद्धि इत्यादि भारतवचन है।

मैवं कामविशेषो हि भवेद् बन्धनकारणम्।
अन्यथा मोक्षकामोऽपि कामत्वाद् बन्धनं भवेत्॥८९॥

उ. - खास कामना ही बन्धनहेतु है। अन्यथा मोक्षकामना भी वन्धनहेतु होने लगेगी।

निषक्तं यत्फले लिङ्ग-मियात् तत् कर्मणा फलम्।
प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य ह्यत्रैव पुनरेत्ययम्॥९०॥
इत्येतेनोदितं काम-मुपसंहरति श्रुतिः।
इति कामयमानो न्वित्येवं बन्धनकारणम्॥९१॥

काम कथनोत्तर श्लोकरूप श्रुति में कहा-जिस फल में कामना रखकर कर्म किया और यहां से महाप्रयाण किया वह लिङ्गशरीरी उस कर्म के साथ परलोक फल भोगकर कर्मावसान में यहीं वापिस आता है। इसी कामना का अनुवाद आगे किया-इति नु कामयमानः। न कि भोजनादिकी कामना भी। अतः चित्तशुद्ध्यर्थ किया कर्म वन्धन नहीं है।

महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः।
ब्रह्मग्रहणयोग्या हि ब्राह्मीत्याख्यायते बुधैः॥९२॥

महायज्ञ एवं यज्ञों से इस तन को ब्रह्मग्रहणयोग्य बनाते हैं ऐसी भी स्मृति है।

शक्यमाश्रमकर्माणि कर्तुं शास्त्रोदितत्वतः।
द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा इत्याद्युक्ता भवन्ति ते॥ ९३॥

आश्रमकर्म शास्त्रोदित होने से किये जा सकते हैं। यज्ञ शब्द से आग्रह है तो द्रव्य यज्ञास्तपोयज्ञा इत्यादि करें।

निर्विकल्पो महायज्ञः योगो भवितुमर्हति।
तैरेव च यतीनां स्यान्महायज्ञादयः सताम्॥ ९४॥

निर्विकल्पक समाधि महायज्ञ हो जायेगा संन्यासियों के लिये।

स्वर्णादिस्पर्शविरहात् कथं दानं भवेद्यतेः।
न स्प्रष्टव्यं रसेनेति विशेषणविलोकनात्॥ ९५॥
अनायासं यदायाति सुवर्णादि धनं यतिः।
शक्नोति कर्तुं तद्दानं रसाभावः स्वयं भवेत्॥ ९६॥
भिक्षाद्याप्तस्य चान्नस्य शक्यं दानं बुभुक्षवे।
न हि निष्करुणः क्रूरः स ह्यन्यक्लेशकातरः॥ ९७॥
शास्त्रेषु यत्तु कथितं कठिनं यमिनां व्रतम्।
मा भून्मोहं क्वचिदिति दृष्टार्थं न तु पापतः॥ ९८॥
यदि मोहः प्रजायेत पतितस्तु यतिर्भवेत्।
दोषः स हि भवत्येव मोहाभावे न किंचन॥ ९९॥
तपः कृच्छ्रादिकं नैव पापायेति विनिश्चयः।
तत्राप्यभिनिवेशस्तु शनैस्त्याज्यो यतीश्वरैः॥ १००॥
आलस्यादेः समुद्धृत्य यज्ञादावपिवातय।
भद्रे येन मनःशुद्ध्यै ससम्यर्थेऽस्तु वाऽत्र सुः॥ १०१॥

संन्यासी को स्वर्णादि स्पर्श निषेध है। दान कैसे करेगा? श्रुति में 'रसेन' विशेषण है। रस अत्यन्त राग को कहते हैं। अतिराग से स्वर्णादि स्पर्श भी नहीं करना चाहिये जो अनायास धनादि आता है उसका दान आराम से कर सकते हैं। बल्कि आये हुए का दान करो रस ही छूट जायेगा। प्राप्त भिक्षान्न को दूसरों को दे सकते हैं। जो स्वादिष्ट अन्नादि ग्रहण न करो इत्यादि दृष्ट फल मोहाभाव के लिये है। न कि पाप भय

से। तप भी यज्ञ है। आलस्यादि छोडकर ऐसे भद्र यज्ञादि में मन को प्रेरित करो।

शिवविष्णवाद्युपास्तौ चाप्यपिवातय मे मनः।
चित्तस्थैर्याय तस्यैव प्रसादाय च हे प्रभो॥१०२॥
स्थिरं प्रसन्नमपि च चित्तं स्वं जायते यदा।
तदौपनिषदार्थस्य सुसाधुग्रहणं भवेत्॥१०३॥

शिव विष्णु आदि की उपासना भी भद्र है। उसमें भी मेरा मन लगा दो। जिससे चित्तस्थैर्य एवं उपास्य देव की प्रसन्नता होगी। उससे उपनिषत् प्रोक्त अर्थ का ग्रहण करना भी आसान हो जायेगा।

मधुसूदननामा हि प्रसिद्धः सुमहान् यतिः।
कृष्णमाराधयामास कृष्णमन्त्रं जजाप च॥१०४॥
प्रत्यक्षदर्शनं कृष्णो ददाविति जनश्रुतिः।
ततश्च परमं ज्ञानं तस्याभूदिति पण्डिताः॥१०५॥

श्री मधुसूदन सरस्वती ने श्री कृष्ण की उपासना और मन्त्रजाप किया। उन्हें श्री कृष्ण का प्रत्यक्ष दर्शन हुआ ऐसी जनश्रुति है उसीसे वे महान ज्ञानी हुए ऐसे पण्डित लोग कहते है।

श्रीविद्योपासको रात्रौ चन्द्रवद् भानुवद्दिवा।
जीवन्मुक्तो विचरती-त्याह गौडमहागुरुः॥१०६॥

श्रीविद्योपासक जीवन्मुक्त होकर रातको चन्द्रमा के समान और दिन में सूर्य के समान विचरण करता है ऐसे परम गुरु गौडपादाचार्य सुभगोदय में कहते हैं।

भक्तिश्च परमं भद्रम् ईश्वरे च गुरावपि।
सा प्रेमलक्षणा प्रोक्ता नारदाद्यैः महर्षिभिः॥१०७॥
परानुरक्तिं तामाह शाण्डिल्यो हि महामुनिः।
मनस्तां चापि गमय भगवन्नपिवातय॥१०८॥

ईश्वर और गुरु में भक्ति भी परम भद्र है वह प्रेमस्वरूप अनुरक्ति स्वरूप है ऐसा ऋषि मत है। मन उसे भी प्राप्त करे।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥१०९॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥११०॥
इति श्रुतौ स्मृतौ चैवाऽवर्णि तन्महिमा स्फुटम्।
ततश्च भद्ररूपत्वान्मनस्तां गमय प्रभो॥१११॥

भगवान में और गुरु में परम भक्ति हो तो ब्रह्मप्रबोध होता है यही श्रुति और स्मृति में कहा है।

साध्या भक्तिरियं प्रोक्ता परमप्रेमलक्षणा।
नवधा भक्तिरन्या च प्रोक्ता साधनरूपिणी॥११२॥
श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥११३॥
एषा च नवधा भक्तिः सा च भद्रस्वरूपिणी।
तां वापिवातय विभो मां त्वत्तत्त्वस्य दृष्टये॥११४॥

प्रेमलक्षणा साध्य भक्ति है श्रवणकीर्त्तनादि साधन भक्ति है। दो भद्र हैं, मुझे प्राप्त कराओ।

गुरुभक्तिर्भवेच्छ्रद्धा पूर्णविश्वासरूपिणी।
उत्कर्षबुद्धिसहितं प्रेम श्रद्धाभिधीयते॥११५॥
गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु - र्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परं ब्रह्मेत्येवंरूपा तु सा भवेत्॥११६॥

गुरुभक्ति गुरु में श्रद्धा है। श्रद्धा उत्कर्ष दर्शन के साथ प्रेमभाव को कहते हैं। गुरु ब्रंह्मा गुरुर्विष्णु इत्यादि भाव ही वह है।

तस्यानुगमनं नित्यं तदाज्ञापरिपालनम्।
अभ्युत्थानप्रणमनप्रभृति स्मृतिदर्शितम्॥११७॥
यद्यदाचरति श्रेष्ठ इतिवच्चानुवर्तनम्।
शिष्ययोग्यं तु यत् सा स्याद्भक्तिः साधनरूपिणी॥११८॥

गुरु का अनुगमन आज्ञापालन यद्यदाचरति श्रेष्ठ के अनुसार गुरु के

उन आचरणों का जो शिष्ययोग्य है, अनुवर्तन अन्य भी स्मृत्युक्त कार्य साधन भक्ति है।

असंकल्पाज्जयेत् कामं क्रोधं कामविवर्जनात्।
अर्थानर्थेक्षया लोभं भयं तत्त्वावमर्शनात्॥ ११९॥
आन्वीक्षिक्या शोकमोहौ दम्भं महदुपासया।
योगान्तरायान् मौनेन हिंसां कायाद्यनीहया॥ १२०॥
कृपया भूतजं दुःखं दैवं जह्यात्समाधिना।
आत्मजं योगवीर्येण निद्रां सत्त्वनिषेवया॥ १२१॥
रजस्तमश्च सत्त्वेन सत्त्वं चोपशमेन च।
एतत् सर्वं गुरौ भक्त्या पुरुषो ह्यञ्जसा जयेत्॥ १२२॥
कामादिविजयो भद्रं ज्ञानहेतुत्वतो मतः।
तस्य हेतुरसंकल्पप्रभृतिः शास्त्रदर्शितः॥ १२३॥
एकया गुरुभक्त्यैवं सर्वं सम्पद्यते ततः।
गुरुभक्तिर्हि परमं भद्रं तेभ्यः सतां मतम्॥ १२४॥

असंकल्प से काम को जीतो, कामत्याग से क्रोध को जीतो, अर्थ को अनर्थकारी समझकर लोभ को जीतो, तत्त्वविचार से भय को जीतो आन्वीक्षिकी से शोक मोह को जीतो, महत् सेवा से दम्भ को जीतो, मौन से योग विघ्नों को जीतो, हिंसा को चेष्टात्याग से दूर करो, आधिभौतिक दुःख को कृपा से, आधिदैविक को समाधि से, आध्यात्मिक को योगवीर्य से जीतो, निद्रा को सत्त्वगुण से जीतो, रज और तम को सत्त्वगुण से जीतो, सत्त्व को शान्ति से जीतो इन सबको गुरुभक्ति से बडे आराम से जीतो। कामादि विजय ज्ञानकारण होने से भद्र है, सर्वकारण होने से गुरुभक्ति परम भद्र है। यही भागवत में बताया है।

व्याख्येयानि बहून्यत्र सन्ति भद्राणि तत्र च।
संक्षेपाद्दर्शितं किंचित् तन्महेशापिवातय॥ १२५॥

व्याख्येय अनन्त भद्र है। किंचित् यहां दिखाया। हे महेश उस भद्र को मुझे प्राप्त करायिये।

भद्रः शिवे खञ्जरीटे इति कोशेषु दर्शनात्।
पुंलिङ्गे भद्रशब्दस्तु शंकरेऽपि प्रवर्तते॥ १२६॥
शंकरं प्राप्य चाग्रे मे मनोभक्तिसमन्वितम्।
इत्येवं च विवृण्वन्ति शिवभक्तिपरायणाः॥ १२७॥

कोशानुसार पुंलिंग भद्र शब्द शंकरार्थक भी है। हे अग्नि! भक्ति-समन्वित मेरे मन को शिवजी में लगाओ ऐसी शिवभक्तों की व्याख्या है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

शरीरमाद्यं भवति परमं धर्मसाधनम्।
नैव सर्वशरीरं तु मानवं किन्तु तादृशम्॥ १२८॥

प्रथम धर्मसाधन शरीर है। सर्वशरीर नहीं, किन्तु मानवशरीर।

दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः।
क्षणवच्छतवर्षोऽपि कालोऽयमपगच्छति॥ १२९॥
यथा क्षणे न हि महत् कार्यं सम्पाद्यते तथा।
शतवर्षेऽपि नेतीति देहोऽयं क्षणभङ्गुरः॥ १३०॥
रोगादयस्तत्र सन्ति उपसर्गाः शरीरगाः।
स्वस्थेऽपि दुश्चयो धर्मो रुग्णे तत्र तु का कथा॥ १३१॥
भद्रप्रापणहेतौ मे उपसर्गास्तथाविधाः।
शमं यान्त्वस्तुशान्तिर्मे भद्रप्रापणकारण॥ १३२॥

शरीर क्षणभंगुर क्षण के समान परम धर्म किये बिना ही शतवर्ष बिताते है। स्वस्थ शरीर में भी धर्म संपादन नहीं हो पाता तो रुग्ण शरीर में क्या कहना? अतः भद्रप्रापक है प्रभो देहोपसर्ग शमन हो।

किं च मानसचाञ्चल्यमर्जुनोऽप्याह केशवम्।
चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्॥ १३३॥
कामादिकं चाह दोषं पापाचरणकारणम्।
आध्यात्मिकः सोऽपि शमं यातु शान्तिस्तथास्तु मे॥ १३४॥
सन्ति भूतानि भूयांसि विघ्नकारीणि चाभितः।
दुष्टाश्च जन्तवो दुष्टा नराश्चैव सहस्रशः॥ १३५॥

किं तत्र बहुना मित्र-बान्धवाद्याश्च भूरिशः।
वैराग्यमार्गे विघ्नन्ति रोदयन्ति रुदन्ति च॥१३६॥
तीर्थे नीत्वा हि मां विघ्नशमनं भौतिकं कुरु।
शान्तिर्भवतु मे शान्त्या भद्रं च प्राप्नुयामहम्॥१३७॥
बन्धुवर्गवदेवैते देवा विघ्नन्ति भोगदाः।
न हि भोगविषक्तो हि वैराग्यं लभते नरः॥१३८॥
आपूर्णमचलस्थैर्यं विशन्त्यापोऽम्बुधिं यथा।
तथा विशन्ति कामा यं तस्य शान्तिर्न कामिनः॥१३९॥
माभूद्भोगरतिर्मेऽग्रे वैराग्यपरिपन्थिनी।
ज्ञानवैराग्यतृप्तस्य शान्तिरस्तु भृशं मम॥१४०॥

मन की चंचलता गीता में अर्जुन ने भगवान को कहा। पापाचरण कारण काम को भगवान ने कहा। कामादि की शान्ति हो मानस शान्ति हो।

दुष्ट जन्तु, दुष्ट नर आदि तो भूत जैसे विघ्न डालते ही है। मित्र बन्धु आदि भी वैराग्य मार्ग में विघ्न डालते हैं। पुत्रादि को विरक्त देखकर मांबाप भी रोते हैं रुलाते हैं, हे भगवान, तुम मुझे गृहनिरय से निकालकर तीर्थ गंगादि एवं तीर्थ गुरु के पास पहुंचाओ जिससे मुझे शान्ति हो, भद्र प्राप्त करूं।

बन्धुवर्गादि के समान देवता भी भोग देकर मनुष्य को भोगलिप्त बनाते हैं, वैराग्य से दूर पटकते हैं। भोगासक्त को वैराग्य कैसे हो। बताया है-समुद्रसमान। पूर्ण अचल प्रतिष्ठ समुद्र में जैसे नदियां प्रवेश करती हैं वैसे विरक्त पूर्ण पुरुष में विषय प्रवेश करे पर वह पूर्ण ही विरक्त ही रहता है उसीको शान्ति प्राप्त होती है कामकामी को नहीं। मुझे ज्ञान वैराग्य तृप्त करो। शान्ति सदा हो।

अल्पशब्दापि बह्वर्था ऋगेषा शन्तिकारिणी।
तन्यान्मुदं क्रियाच्छन्तिं सव्याख्यावार्त्तिका सताम्॥१४१॥
इति श्रीकाशिकानन्दगिरिणा कृतिना कृतम्।
अष्टमं गत ऋग्वेद शान्तिव्याख्यानवार्तिकम्॥१४२॥



ॐ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः। भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभि — र्व्यशेम देवहितं यदायुः॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः। स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः। स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

देवाः=दिव्यगुणसम्पन्न भगवदंश हे देवो! कर्णेभिः=कानों से भद्रं=मङ्गलात्मक शब्द एवं अर्थ शृणुयाम=हम सुनें यजत्राः=यजनीय पूजनीय हे देवताओं! अक्षभिः=चक्षु आदि अन्य इन्द्रियों से भी भद्रं=मङ्गलात्मक अर्थ का पश्येम=हम साक्षात्कार करें। तदर्थ स्थिरैः=चाञ्चल्यरहित दृढ अङ्गैः=अवयवों से युक्त हम तुष्टुवांसः=आप देवताओं की स्तुति करते हुए तनूभिः=अपने शरीरों से आयुः=जीवन व्यशेम=पूर्ण करे यत्=जो (आयुः) देवहितं=देवताओं के लिये हितरूप हो। (देवहितं=देवस्थापितं व्यशेम=व्याप्नुयाम उपभुञ्जीमहित)

वृद्धश्रवाः=प्रवृद्ध कीर्त्ति इन्द्र=इन्द्र देवता नः=हमारे लिये स्वस्ति=कल्याणकारी हो। विश्ववेदाः=सर्वज्ञ विश्वधन पूषा=सूर्य देवता नः हमारे लिये स्वस्ति=स्वस्तिः=शोभन जीवनास्तित्वकारी हो। अरिष्टनेमिः=अशुभनाशक या शुभप्रापक तार्क्ष्यः=गरुड देवता नः=हमारे लिये स्वस्ति=मङ्गलदायी हो। बृहस्पतिः=देवगुरु नः=हमारे लिये स्वस्ति शुभ दधातु=स्थापित करे। त्रिविध शान्ति हो।

नमः परमकल्याण - रूपाय परमात्मने।
सर्वदेवात्मने तस्मै सर्वस्वस्ति - विधायिने॥ १॥
व्याख्याने स्वकृते प्राग् या उक्तानुक्तदुरुक्तयः।
चिन्तां तत्रैव कुर्वाणो यते विद्याविशुद्धये॥ २॥

परम कल्याण स्वरूप परमात्मा को प्रणाम करता हूं जो सर्वदेव स्वरूप है एवं सर्वकल्याणकारी है। पूर्व स्वयंकृत व्याख्यान में जो उक्त अनुक्त

दुरुक्त अर्थ रह गये उन्हीमें चिन्तन करते हुए तत्त्वशुद्धयर्थ यत्न करता हूं।

भद्रं कर्णेभिरित्यादि स्वीयाशीः स्वस्य पावनी।
पूतः पावनविद्यायां यतोऽधिकुरुते सुधीः॥३॥

भद्रं कर्णेभिः इत्यादि आशीर्वचन या आशावचन अपने को ही पवित्र करनेवाली है। स्वयं पवित्र होने पर पवित्र विद्या में सुधीजन अधिकारी होता है।

विद्या ब्रह्मणमेत्याह शेवधिष्टोऽस्मि रक्ष माम्।
असूयकाय मां मा दास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा॥४॥
श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभांल्लोकान् प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्॥५॥
श्रद्धधानाय भक्ताय विनीतायानसूयवे।
भूतेषु कृतमैत्राय शुश्रूषाभिरताय च॥६॥
बहिर्जातविरागाय शान्तचित्ताय दीयताम्।
निर्मत्सराय शुचये यस्याहं प्रेयसांपियम्॥७॥
इत्यादिवाचः पूतस्य प्राहुर्विद्याधिकारिताम्।
तस्मै दद्याद् गुरुर्विद्यां तादृशः प्राप्नुयादपि॥८॥

विद्यादेवी पवित्र ब्रह्मनिष्ठ के पास आकर बोली-मैं तुम्हारी निधि हूं मेरी रक्षा करो और असूया करनेवालों को मुझे न दो। तब मैं वीर्यवत्तर होऊंगी। श्रद्धालु असूयारहित श्रवणमात्र भी करे तो भी मुक्त होकर शुभलोक को प्राप्त होगा। श्रद्धालु भक्त, असूयारहित, भूतसुहृत्, शुश्रूषु, बाह्य वस्तुओं से विरक्त शान्तचित्त, मात्सर्यरहित, पवित्र व्यक्ति को यह विद्या दे इत्यादि शास्त्रवचन पवित्र व्यक्ति को ब्रह्मविद्या का अधिकारी बताते हैं। ऐसे व्यक्ति को विद्या दो वैसा ही व्यक्ति प्राप्त भी करें।

सिंहीक्षीरं यथा स्वर्णाऽमत्रेष्वेवावतिष्ठते।
तथैव ब्रह्मविद्यापि योग्यपात्रे समृध्यति॥९॥

शेरनी का दूध स्वर्णपात्र में ही ठहरता है। ब्रह्मविद्या योग्य पात्र में ही समृद्ध होती है।

असतां सदपि ज्ञान-मनर्थायैव कल्पते।
पयः पाने भुजङ्गानां केवलं विषवर्धनम्॥१०॥

नीचों में ज्ञान अनर्थ हेतु ही होता है। सर्प को दूध पिलाओ तो जहर ही बढेगा।

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।
इतिश्रुतेश्च भद्रत्व - माहारादेरपेक्षितम्॥११॥

आहार शुद्ध हो, भद्र हो तो ही सत्त्व शुद्धि और उससे ध्रुवस्मृति होगी ऐसी श्रुति है।

इन्द्रियादिष्वशुद्धेषु विद्या जातापि धीमताम्।
न सम्यगवभासाय कल्पते यतिनामपि॥१२॥

भले बुद्धिमान हो, संन्यासी भी हो और श्रवरण से ब्रह्मविषयक ज्ञान उत्पन्न हुआ भी हो फिर भी इन्द्रियादि अशुद्ध हो अभद्र शब्द स्पर्शादि विषयाहरण करती हो तो भी वह विद्या ब्रह्म प्रकाशन नहीं कर पायेगी।

विशुद्धिकारणं तस्मात् साधनं प्रतिपाद्यते।
आहारशुद्धावित्यादि हीति भाष्येऽपि दर्शितम्॥१३॥

इसीलिये विशुद्धिकारण आहारशुद्धि आदि है ऐसा भाष्य में भी दिखाया है।

तत्र चाहारशब्देन नान्नसूपादि केवलम्।
सर्वेऽप्याह्रियमाणास्तु शब्दस्पर्शादयो मताः॥१४॥

श्रुति में आहार से दालभात मात्र नहीं आह्रियमाण शब्द स्पर्शादि सभी गृहीत है।

तत्रापि ज्ञानमपि च विषयेण विवक्षितम्।
विषया हि सविज्ञानाः शुद्धास्तेन विवक्षिताः॥१५॥

उसमें भी विषय से विषयज्ञान भी विवक्षित है। (विषयज्ञान रागद्वेषादि रहित हो।)

शब्दादीनां विशुद्धानां ग्रहणं तेन भण्यते।
रागद्वेषादिरहितं तेषां विज्ञानमेव च॥१६॥

शब्दादि स्वयं शुद्ध हो-सात्त्विक हो और श्रवणादिरूप आहार रागद्वेषाद्यसंस्पृष्ट हो।

वेदशास्त्रपुराणादि-श्रवणं सात्त्विकं भवेत्।
आहारः स फलाहार-समः पावन उच्यते॥ १७॥

वेदशास्त्र पुराणादि श्रवण सात्त्विक है, फलाहार समान पावन है।

लोकवार्तादि विषय-श्रवणं राजसं भवेत्।
अन्नाहारः स भवति व्यवहारप्रयोजकः॥ १८॥

लोकवार्ता आदि राजस है, वह अन्नाहार है, व्यवहार प्रयोजक है।

मिथ्यार्थविषयं निन्दाद्यात्मकं तामसं भवेत्।
मांसाहारः स भवति तामसोऽशुद्ध एव च॥ १९॥

मिथ्यावचन निन्दावचनादि मांसाहार है, तामस एवं अशुद्ध है।

गुर्वङ्घ्रेर्मित्रवर्गस्य धर्मभ्रष्टस्य या तथा।
स्पृष्टिर्दृष्टिः सात्त्विकी च राजसी तामसी तथा॥ २०॥

गुरुपादों का, मित्रों का और धर्मभ्रष्टों का स्पर्श क्रमशः सात्त्विक राजस, तामस है।

गणानां गणकानां च गणिकानां च रूपणम्।
यज्ञान्नस्य नृपान्नस्य चौरान्नस्य रसादनम्॥ २१॥
तथा तुलस्याः केतक्या आसवादेश्च गन्धनम्।
सात्त्विको राजसश्चैवमाहारस्तामसः क्रमात्॥ २२॥

गण=गणनीय देवादि, गणक ज्योतिषी आदि। केतकी उग्र गन्धवाली होने से राजस है। रूप, रस, गन्ध के क्रमिक सात्त्विक तामस उदाहरण है। इन सबका आहार भी वैसा है।

अतश्च कार्यकरणसंघातपरिशुद्धये।
भद्रं कर्णेभिरित्येवमाशास्ते मङ्गलात्मना॥ २३॥

सात्त्विक आहार ही शुद्ध है। अतः कार्य (देह) एवं करणों की शुद्धि के लिये भद्रं कर्णेभिः इत्यादि से सात्त्विक आहारों की आशा मङ्गलरूप से श्रुति कहती है।

कर्णाभ्यामिति वक्तव्ये बहुत्वोक्तिः कथं ननु।
शृणुयामेति कर्तॄणां बहुत्वं त्वप्रयोजकम्॥ २४॥
तत्प्रतिव्यक्ति विश्रान्त-मन्यथाऽऽयूंषिकिं नहि।
न चैव बहुभिःकर्णैः शृणोति खलु कश्चन॥ २५॥

पू. - कर्णाभ्यां कहना चाहिये था। कर्णैः बहुवचन कैसे। शृणुयाम कर्तृ बहुत्व तो अप्रयोजक है। क्योंकि वह प्रतिव्यक्ति विश्रान्त है। अन्यथा आगे आयुः यह एकवचन न कहकर आयूंषि कहते।

स्यादस्मदो द्वयोश्चेति बहूक्तिर्नेतरस्य तु।
अन्यथा वक्तुरेकत्वे घटतां प्रार्थना कथम्॥ २६॥

'अस्मदोद्वयोश्च' सूत्र से एकत्वादि विवक्षा में भी अस्मत् शब्द से बहुवचन होता है। अन्य शब्दों से नहीं। वक्तृबहुत्व ही विवक्षित हो तो एक व्यक्ति यह प्रार्थना नहीं कर पायेगा।

मैवं वृत्तिबहुत्वेन कर्णैभिरिति युज्यते।
भवन्तु भद्रविषयाः सर्वा मे कर्णवृत्तयः॥ २७॥

उ. - सुनो। कर्णवृत्ति बहुत्व से बहुवचन है। मेरी सभी कर्णवृत्तियां भद्र विषय हों।

यद्वा वव्रे पृथुःश्रोतुं वरं कर्णायुतं हरेः।
महत्तमान्तर्हृदयात् श्रुतमास्याद्धरेः कथाम्॥ २८॥
भावावेशवशादेव तत्र कर्णायुतार्थना।
तद्वदत्रापि कर्णानां भावावेशवशाद्वचः॥ २९॥

अथवा भावावेश में भी प्रार्थना होती जैसे पृथु राजा ने कहा-

'न कामये नाथ तदप्यहं क्वचिन्न यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासवः।
महत्तमान्तर्हृदयान्मुखच्युताद्विधत्स्व कर्णायुतमेव मे वरः'।

सत्संग सुनने के लिये मेरे दस हजार कान हो यही मुझे वरदान दो।

सहस्राक्षः श्रुतः शक्रो न कश्चिदयुतश्रवाः।
स वरः कुत्र संलग्नो भावावेशो हि तत्र सः॥ ३०॥

सहस्राक्ष इन्द्र प्रसिद्ध है। किन्तु अयुतश्रोत्र किसी पुराण में वर्णित

नहीं है। तब वह वरदान विफल हुआ क्या? नहीं। वह भावावेश मात्र है।

ननु श्रुतेर्मनुजवद् भावावेशो न विद्यते।
इदं तावच्छ्रुतिवचो भावावेशः कथंतराम्॥ ३१॥
मैवं नृ - प्रातिनिध्येन ब्रवीति सकलं श्रुतिः।
अन्यथा कौ श्रुतेः कर्णौ किं भद्रं प्रार्थ्यते निजम्॥ ३२॥

पू. - श्रुति में मनुष्य के समान भावावेश नहीं होता है तो इस श्रुतिवचन में भावावेश कैसे? उ. - सुनो मनुष्य के प्रतिनिधि के रूप में श्रुति बोल रही है। नहीं तो श्रुति के कान कौन से है? कौनसा भद्र श्रुति अपने लिये मांग रही है।

भावावेशो भवेद् भक्त्या प्रार्थ्या देवास्तु भक्तितः।
इत्येतच्छ्रुतितात्पर्यं तेन सर्वं समञ्जसम्॥ ३३॥

भक्ति से भावावेश होता है। भक्ति से देवप्रार्थना करो यह श्रुति तात्पर्य है।

परे तु वृत्त्यतेकत्वात् कर्णेभिरिति युज्यते।
भवन्तु भद्रविषयाः सर्वा मे कर्णवृत्तयः॥ ३४॥
न चात्रातिशयोक्तिर्वा भावावेशोक्तिरेव वा।
तथाप्येव वृतोदेयो वरो भवति दैवतैः॥ ३५॥

दूसरे लोगों का कहना है कि कर्णवृत्तियों के बहुत्व से बहुवचन है। अतिशयोक्ति या भावावेशोक्ति नहीं है। यदि हो तो भी मांगा वरदान देना ही पडता है।

निद्रां वाक्स्खलितेनैव कुम्भकर्णोऽवृणोद्वरम्।
यथावृतं तथैवादात्तस्मै च भगवान् वरम्॥ ३६॥
शिरः स्पृशेयं यस्यैव भस्मीभवतु तत्क्षणम्।
वृकासुरो वरं वव्रेऽदत्त शम्भुस्तथा वरम्॥ ३७॥
अशक्यवरमात्रं तु विनिषिध्यन्ति देवताः।
कर्णायुतं हि नाशक्यं सहस्राक्षत्ववद्धि तत्॥ ३८॥

कर्णायुतपदेनातः तदिष्टाः कर्णवृत्तयः।
युगपच्छृणुयां शब्दानर्थांश्चाऽयुतशः प्रभो॥३९॥
भद्रं कर्णेभिरित्यादौ ततः कर्णादिवृत्तयः।
अर्थः शब्दश्च विषयः कर्णशब्देन लभ्यते॥४०॥

उदाहरणार्थ वाणी के स्खलन से कुम्भकर्ण ने निद्रा वर मांगा, वही दिया। वृकासुर ने जिसका शिर स्पर्श करूं वही भस्म हो जाये, वर मांगा वही दिया। अशक्य वर का ही देवता निषेध करते हैं (जैसे अमरत्वादि) कर्णायुत तो सहस्राक्ष के समान अशक्य नहीं है। परंतु दिया नहीं। अतः भद्रं कर्णेभिः से कर्णवृत्ति ही विवक्षित है।

शृणोति शब्दमिति वत् शृणोति घटमित्यपि।
लोकैः समर्थितः किं च चिन्तामणिकृदादिभिः॥४१॥

अर्थ शब्द दोनों शृणोति का विषय है। घट शब्द सुनता है, घट सुनता है दोनों होता है-यह लोकसमर्थित है, चिन्तामणिकारादि नैयायिक समर्थित भी है।

आत्मा श्रोतव्य इति न शब्दश्रवणमुच्यते।
उच्यते शाब्दबोधस्य विषयीकरणं ततः॥४२॥

आत्मा श्रोतव्य यह शब्दश्रवणमात्र नहीं बताया। शाब्दबोध विषयीकरण बताया।

वचनव्यत्ययेनेदं छान्दसेन समीरितम्।
कर्णाभ्यामिति तस्यार्थ उवटाचार्यदर्शितः॥४३॥

उवटाचार्य ने वचन व्यत्यय से कर्णाभ्यां ही अर्थ बताया।

समूहप्रार्थनायां स्याद् बहुत्वं तु विवक्षितम्।
वचनव्यत्ययोऽन्यत्र त्वित्यन्ये व्याचचक्षिरे॥४४॥

सामूहिक प्रार्थना में बहुत विवक्षित है। वैयक्तिक प्रार्थना में वचन व्यत्यय है ऐसी भी मान्यता है।

लौकिकं भद्रमयनं श्रौतं स्यात्पारमार्थिकम्।
लभ्यंतदुभयं कर्णैः शृणुयाम जगत्पते॥४५॥

मार्गरूप भद्र लौकिक है। प्रास्तव्य भद्र श्रौत है, पारमार्थिक है। दोनों को हे भगवान हम कानों से सुनें।

नन्वेतदुभयं भद्रं निर्वक्तुं नैव शक्यते।
लौकिकानामनित्यत्वा-दन्यस्याविषयत्वतः ॥ ४६ ॥
किं भद्रं किमभद्रं वा द्वैतस्यावस्तुनः कियत्।
वाचोदितं तदनृतं मनसा ध्यातमेव च ॥ ४७ ॥

पू. - किन्तु ये दोनों भद्र अशक्य निर्वचन है। लौकिक भद्र अनित्य होने से भद्र ही कैसा?। पारमार्थिक तो अविषय है। भागवत में कहा है- द्वैत अवस्तु (मिथ्या) होने से भद्र-अभद्र भेद नहीं होता। जो वाणी से कथित और जो मन से ध्यात है वह मिथ्या है।

मैवं गुरुमुखोद्भूत-ममृतं वचनं श्रुतेः।
उक्तं चैतद् शुकमुखा-दमृतद्रवसंयुतम् ॥ ४८ ॥
अमृतत्वस्य हेतुत्वादमृतं स्याद्गुरोर्वचः।
निवृत्ततर्षैरुद्गीत - भवामय - महौषधम् ॥ ४९ ॥

उ. - नहीं। गुरुमुख निःसृत वचन अमृतत्व हेतु होने से अमृत है। अतः भद्र है। निवृत्ततर्षैः इत्यादि श्लोक में यह स्पष्ट है।

भद्राऽभद्राविवेको न द्वैतस्य त्वनृतत्वतः।
कथं तत्र विभागोऽयं क्रियते भवतेति चेत् ॥ ५० ॥
अमृतत्वस्य हेतुत्वा-ऽहेतुत्वाभ्यां विभज्यते।
ऋतत्वव्याप्यता नैव विभागस्योपगम्यते ॥ ५१ ॥

समस्त द्वैत अनृत होने से उसमें विभाग कैसे? अमृत हेतुत्व अमृत-अहेतुत्वरूपी धर्मद्वय से हो जायेगा। विभाग ऋतत्व व्याप्य नहीं है।

स्वपुष्पे शशशृङ्गे च को विभागो विधीयताम्।
विकल्पमात्रं तत्र स्या-त्तद्वदत्रेति चेन्न तत् ॥ ५२ ॥
गुणाहौ रज्जुसर्पे च को विभागो विधीयताम्।
विभागोऽस्ति तथाप्येव तयोः को पि विलोक्यते ॥ ५३ ॥

रज्जुसर्पाद् भयोद्विग्नो द्रागित्येवापसर्पति।
शुक्तिरूप्यं माऽन्यो ग्रहीदित्युपसर्पति॥५४॥

आकाश पुष्प में और शशविषाण में क्या विभाग है? मात्र विकल्प वह है। वैसे भद्र अभद्र भी है। नहीं। रज्जु सर्प में और शुक्ति रजत में क्या विभाग है? फिर भी विभाग है। रज्जु सर्प को देखकर डर के मारे वहां से दूर आदमी भाग जाता है। शुक्तिरूप्य देखकर लोभ के मारे लोग कोई दूसरा न उठा ले जाये इसके लिये उसके समीप भाग आता है।

व्योमपुष्पादिकमसद् गुणाहिः प्रतिभासिकः।
व्यावहारिकमुर्व्यादि ब्रह्मैकं पारमार्थिकम्॥५५॥
भद्राभद्र विभागोऽयं भवति व्यावहारिके।
क्वचिद् भवत्यसौ लोके विभागः प्रातिभासिके॥५६॥
हस्त्यादिदर्शनं भद्रं श्यामदन्ताद्यभद्रकम्।
गुर्वीशदर्शनं भद्रमभद्रं राक्षसेक्षणम्॥५७॥
भद्रा ब्रह्मकथाऽभद्रा विटचौरकुकृत् कथा।
तथा च भद्रं कर्णेभिः शृणुयामेति भण्यते॥५८॥

आकाश पुष्पादि असत् है। रज्जु सर्पादि प्रातिभासिक है, पृथिवी जलादि व्यावहारिक है, ब्रह्म मात्र पारमार्थिक है। भद्र-अभद्र विभाग व्यावहारिक में और क्वचित् प्रातिभासिक में है। हाथी आदि का स्वप्न में दर्शन भद्र है। काले दांतवाले आदि का दर्शन अभद्र है। भगवान का, गुरु का दर्शन भद्र है, राक्षस दर्शन अभद्र है। ब्रह्म कथा भद्र है। विट-चौर कथा अभद्र है। अतः भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम कहा।

अमृतत्वस्य हेतुत्वा-दमृतं स्याद्गुरोर्वचः।
निवृत्ततर्षैरुद्गीतं भवौषधमुदाहृतम्॥५९॥
आचार्यवान् हि पुरुषो वेद तत्त्वमिति श्रुतिः।
अस्तिकश्चिद्विशेषोऽत्त आचार्यवचसि स्थितः॥६०॥
आचार्यश्चैव विदिता साधिष्टं प्रापदित्यपि।
समर्थयति तत्तत्त्व - मन्यथानुपपत्तितः॥६१॥

भद्रास्तु वैदिका स्मार्ता महन्मुखविनिःसृताः।
भद्रतात्पर्यताहेतो-रिति तत्त्वविदो विदुः॥६२॥
वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा।
आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र कीर्त्यते॥६३॥
मङ्गलं भगवान् विष्णुर्मङ्गलं भगवान् शिवः।
अतिकल्याणरूपत्वाद् ब्रह्मतन्मङ्गलं विदुः॥६४॥

गुरुवचन अमृत हेतु होने से अमृत है। निवृत्ततृष्णा गीत भवरोगौषध है। आचार्यवान पुरुष ही ब्रह्म को जान पाता है। आचार्यवचन में कुछ विशेषता है ही। आचार्यप्राप्त विद्या ही उत्तम है। भद्रतात्पर्य होने से वेदशास्त्र गुरुवचन भद्र है। वेद, रामायण, पुराण, महाभारत सर्वत्र आदि, मध्य, अन्त में हरि का वर्णन है। भगवान विष्णु मंगल है। भगवान शिव मंगल है। अति कल्याणरूप ब्रह्म मंगल है।

मा भूद्विषयता तस्य स्वप्रभत्वात्प्रभासताम्।
शब्देनाऽऽवृतिभङ्गात्तु स्वप्रकाशं प्रकाशते॥६५॥

ब्रह्म कर्णादि विषय नहीं स्वयंप्रकाश है। शब्द से आवरण भंग तो होता ही है।

देवाः

देवाः सम्बोधनमिदं देवत्वाद् भद्रलक्षणाः।
भद्रेषु खलु कार्येषु भद्रा एव सहायकाः॥६६॥

देवाः यह सम्बोधन है। देवता भद्ररूप होने से वे भद्र कार्यों में सहायक हैं।

द्योतन्ते द्योतयन्ते वा तेन देवा इतीरिताः।
अनुगृह्णन्ति ते कर्णप्रभृतीनीन्द्रियाणि हि॥६७॥

स्वयं द्योतमान हैं अतः देव है। अन्य को द्योतित करते हैं कराते भी हैं। इसलिये वे देव कहलाये। श्रोत्रादि इन्द्रियों को वे अनुगृहीत भी करते हैं।

अधिष्ठातार एते स्युः श्रोत्रादीनां पृथक् पृथक्।
अधिकारस्थिता एते नियन्तारश्च सम्मताः॥६८॥

ये देव श्रोत्रादि के अधिष्ठाता एवं नियन्ता हैं, आधिकारिक हैं।

नन्वेक एव सर्वेषां नियन्ता श्रवसां मतः।
दिग्देवतेति विख्यातो बहूक्तिः कथमादृता॥६९॥
न च वाच्यं द्युलोकास्था सम्बोध्यन्तेऽखिला इति।
एकोऽनुग्राहको यत्र प्रार्थ्यन्तां सकलाः कुतः॥७०॥
न च तत्रैकको मुख्यस्तदन्ये तत्सहायकाः।
इति वाच्यं यतस्तत्र प्रमाणं नोपलभ्यते॥७१॥

पू. - सभी श्रोत्रों का एक ही दिग्देवता नियन्ता है। तब बहुवचन कैसे? देवलोकस्थ सब देवताओं का सम्बोधन व्यर्थ है। क्योंकि अनुग्राहक एक ही होता है। एक मुख्य है बाकी उसके सहायक है ऐसा भी नहीं है क्योंकि इस में कोई प्रमाण नहीं है।

शृणवशेषाः समुच्चित्य स्वस्वाधिष्ठातृदेवताः।
सम्बोध्यन्तेऽत्र शेषोप-लक्षणत्वं यतो मतम्॥७२॥

उ. - सुनिये यहां समस्त अधिष्ठातृ देवताओं का समुच्चित सम्बोधन है। श्रोत्र और अक्ष दो ही यहां बताये हैं। वे अन्य सबका उपलक्षण है।

यद्वाम्रपातमश्रौषीत्कर्णो नेत्रमलोकत।
पादोऽधावत् करोऽगृह्णाज्जिह्वया रसमन्वभूत्॥७३॥
सुखोत्पत्ताविन्द्रियाणामेवमस्ति समुच्चयः।
समुच्चयश्च देवानां बहुत्वोक्तिरतोऽस्त्विह॥७४॥
गुरुं नमति साष्टाङ्गं शृणोति श्रवसा श्रुतिम्।
मनुते च मनो बोधो बुद्ध्येत्यत्र समुच्चयः॥७५॥
तत्र तद्देवतानां च समुच्चितिरपेक्षिता।
कर्णैभिरिति मुख्यत्वात् देवास्तत्र समाः समे॥७६॥

अथवा ऐसा समझिये-आम गिरा आवाज सुनी कान ने, तब आंख ने देखा, पांव दौडा, हाथ ने उठाया, जिह्वा ने रस चूसा रसानुभूति हुई। यहां अन्तिम कार्य में सब इन्द्रियां क्रमशः समुच्चित हुई, तब उनके देवताओं का भी समुच्चय निश्चित है। प्रकृत में गुरु को साष्टांग प्रणाम

करता है (आठ अंग उसमें आये) श्रोत्र से श्रवण हुआ, मन ने मनन किया, बुद्धि से बोध हुआ। यहां भी उन करणों का और देवताओं का क्रम समुच्चय है अतः देवाः यह बहुवचन है। मुख्य कार्य श्रवण होने से कर्णेभिः कहा। देवता सभीं समान है। प्रत्येक कार्य में सब का क्रम समुच्चय है ही।

देवाः सन्तो वयं भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम वा।
देवो भूत्वा यजेद्देवमित्युक्त्येत्यपि योजना॥७७॥

देवं होकर हम कानों से भद्र श्रवण करे ऐसी भी योजना हो सकती है। देवो भूत्वा देवं यजेत् ऐसा वचन भी है। भद्र श्रवण भी कर्णदेवता पूजन ही है।

भद्रं पश्येमाक्षभिः

असं जातविरोधित्वात् पश्येमेति यथाश्रुतम्।
छान्दसत्वादनङ्ङक्ष्णो हलादावक्षभिस्ततः॥७८॥
साक्षात्त्वं पश्यतेरर्थ इन्द्रियाण्यक्ष शब्दतः।
अनैस्त्वं छान्दसमिति यदा व्याख्यायते तदा॥७९॥
दोषः पदद्वयेऽपि स्यात् तद्वरं प्रथमोदितम्।
एवं महीधरादीनामाशयोऽत्रावलोक्यते॥८०॥
साक्षात्कुर्याम इत्यर्थः पश्येमेत्यस्य वर्णितः।
इन्द्रियाणि च सर्वाणि प्रोच्यन्तेऽक्षपदेन च॥८१॥
असंजातविरोधित्वं वाक्येषु न पदेषु तु।
वाक्यार्थचिन्तने हि स्याद् विरोधावगतिर्यतः॥८२॥
अधिकार्थत्वलाभश्च स्यादेवं विवृते सति।
इत्येवं सायणाचार्या अन्ये च व्याचचक्षिरे॥८३॥
उभयं स्वीकृतं सद्भिरुभयं संगतं भवेत्।
तस्माद् व्याचक्ष्महे तावदुभयं वयमेव च॥८४॥

विरोध प्रथम उपस्थित न होने से पश्येम 'देखें' ऐसा यथाश्रुत अर्थ

है। अक्षि आंख को कहते हैं। इ को 'अन्' आदेश 'अक्षिदधि' सूत्र से अजादि में होता है। हलादि में छान्दस है। नलोप से अक्षभिः हुआ। अन्य व्याख्या में पश्येम साक्षात्कार सामान्यवाची है। अक्ष-सभी इन्द्रिय है। भिस् को ऐस् छान्दस होने से नहीं हुआ। इस में दोनों पदों में थोडी थोडी गडबडी है। प्रथम व्याख्या में एक ही जगह है। यह महीधरादि भाष्यकार मत है। श्री सायणाचार्यादि द्वितीय को मानते हैं। संजात विरोध तो बोधोत्तर होता है। वाक्य में होता है, पद में नहीं। अतः पश्येम का अनुभव करना अर्थ है। अधिकार्थ प्राप्ति द्वितीय में लाभ है। दोनों अर्थ महापुरुषोक्त होने से दोनों का हम विस्तार करते हैं।

बहुत्वादक्षिवृत्तीनामुक्तमक्षभिरित्यदः ।
यद्वा भाववशादुक्तं बहुत्वेनाक्षि साशयम्॥८५॥

अक्षिवृत्तियां अनेक होने से अक्षभिः यह बहुवचन है अथवा भाववश वह है।

भद्रमक्षायुतैरेव पश्येम हि न चाशुभम्।
अभद्रं नैव पश्येम भगवत्कृपया वयम्॥८६॥
अत्रानुवर्तमाने हि भद्रे पुनरुदीरणम्।
अन्यव्यावृत्तये नूनमर्थाधिक्यार्थमेव वा॥८७॥

हजारों आंखों से हम भद्र ही देखें अभद्र नहीं। प्रथम पाद भद्र की अनुवृत्ति होने से पुनः उक्ति अन्य व्यावृत्ति के लिये या अधिकार्थ है। जैसे सम्यक् सम्यक् कहें तो अत्यन्त सम्यक् अर्थ होता है।

यद्वास्ति त्रिविधं चक्षु लौकिकं दिव्यमेव च।
ज्ञानचक्षुस्तृतीयं च त्रयं दर्शनसाधनम्॥८८॥
प्रथमं चर्मचक्षुः स्याद् दिव्यचक्षुस्तथापरम्।
ज्ञानचक्षुस्तृतीयं स्याद् बहुत्वोक्तिश्च तैर्भवेत्॥८९॥
न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुरित्यत्र द्वयमीरितम्॥९०॥

विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः।
इत्यत्र हरिणा प्रोक्तं तृतीयं चक्षुरेव च॥ ९१॥
एतैरक्षभिरित्येषा बहुत्वोक्तिश्च संगता।
तयैवातिशयो लभ्य आधिक्यं च ततस्तराम्॥ ९२॥

अथवा लौकिक, दिव्य एवं ज्ञान चक्षु ऐसे तीन चक्षु है। गीता में न तु मां शक्यसे श्लोक में दो चक्षुकही पश्यन्ति ज्ञान चक्षुषः में तृतीय। अक्षभिः इस वहुवचन की इसीसे उपपत्ति है। उसीसे अतिशय आधिक्यादि भी सुगम है।

लौकिकं शक्यते द्रष्टुं भद्रं गुरुगवादिकम्।
ब्रह्मलक्षणभद्रं तु न शक्यं चर्मचक्षुषा॥ ९३॥

गुरुदर्शन गो दर्शनादि लौकिक भद्र दर्शन चक्षु से होता है। ब्रह्मरूपी भद्र नहीं।

दृश्यते कलशादिर्यदस्ति भाति प्रियात्मना।
ब्रह्मदर्शनमिच्छन्ति केचित्तत्र मनीषिणः॥ ९४॥
घटावच्छिन्नरूपत्वादपरिच्छिन्नलक्षणम् ।
न भासते ततो नैव मोक्षस्तु घटदर्शने॥ ९५॥

घटदर्शन में जो अस्तिभाति प्रियदर्शन है वह ब्रह्मदर्शन है यह भी मानते है। तो उसीसे मोक्ष होगा? नहीं। वह परिच्छिन्न ब्रह्मदर्शन है अपरिच्छिन्न दर्शन नहीं है।

घटादित्यागतो यत्स्यादस्तिभातिप्रियेक्षणम्।
तज्ज्ञानचक्षुषैवेति वक्ष्यमाणे स्फुटीभवेत्॥ ९६॥

घटादित्याग से अस्ति भाति प्रियमात्रदर्शन जो होगा वह ज्ञानचक्षु से यह आगे स्पष्ट होगा।

ध्रुवेण तपसा दृष्टो विष्णुस्तद्दिव्यचक्षुषा।
विश्वरूपं च पार्थेन स्वप्ने पुण्यात्मना क्वचित्॥ ९७॥
कैलासशिखरासीनं दिव्यतेजःसमुज्ज्वलम्।
स्वप्ने पश्यति शम्भुं यत् तद्धि स्याद्दिव्यचक्षुषा॥ ९८॥

तत्प्रातिभासिकं केचिदूचिरे तदसद्वचः।
तत्रानुभूयमानं हि दिव्यत्वं केन वार्यताम्॥९९॥
परमानन्दसन्दोहो भक्तैस्तत्रानुभूयते।
नैवानन्दकला तु स्यात् प्रातिभासिकवस्तुना॥१००॥
स्वप्ने भगवदादेशो बहुधैवास्ति वर्णितः।
सफलः सप्रभावश्च तस्माद्दिव्यो न संशयः॥१०१॥

ध्रुव ने तपः प्राप्त दिव्य चक्षु से विष्णु दर्शन किया, अर्जुन ने विश्वरूप देखा, पुण्यात्मा भगावान को देखते हैं कैलास शिखरासीन दिव्य तेजयुक्त शंकर का दर्शन करते है उसे कोई प्रातिभासिक मानते है वह गलत है, उसमें दिव्यता प्रत्यक्ष है, परमानन्द प्राप्ति होती है। प्रातिभासिक से क्या आनन्द होगा। व्यावहारिक से भी ऊंचा आनन्द अनुभव होता है। स्वप्न में बहुतों को भगवान का सच्चा आदेश मिलता है जो सफल भी होता है। अतः स्वप्न में भगवद्दर्शन ही होता है, दिव्य होता है।

नन्वेवं पितृपुत्रादेर्दिव्यं कस्मान्न दर्शनम्।
तद्वचोऽपि किल स्वप्ने कदाचित्सत्यमीक्ष्यते॥१०२॥
मैवं व्यापी महेशानः स्वेच्छामयवपुस्तथा।
न चैवं पितृपुत्रादिर्वैलक्षण्यमतः स्थितम्॥१०३॥

सपने में पितृ पुत्रादि का दर्शन भी दिव्य क्यों न माना जाये। उनका भी वचन कभी सत्य निकलता है। नहीं। ईश्वर व्यापक एवं स्वेच्छामय शरीरवाला होने से विलक्षणता है। पिता आदि न व्यापक है और न स्वेच्छामय शरीरी है।

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढाना नुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥१०४॥
इत्येवं भगवानेव विषये ज्ञानचक्षुषः।
व्याख्यातवानिति ततस्तत्र चिन्ता विधीयते॥१०५॥

उत्क्रामन्तं इत्यादि श्लोक ज्ञान चक्षु के बारे में भगवान ने ही कह दिया। उस पर विचार करें।

एकं शरीरं संत्यज्य यदा देहान्तरं व्रजेत्।
मध्ये तु निरुपाधि स्यात्तस्य वीक्षणमुच्यते॥१०६॥

एक शरीर छोडकर दूसरे शरीर में जाते समय मध्य में आत्मा निरुपाधि होगा। उसका दर्शन उत्क्रामन्तं में बताया।

पिण्डात् पिण्डान्तरं यान्तमुत्क्रामन्तमिहोचिरे।
द्वैतिनः केचन जनाः, संगतं तन्न विद्यते॥१०७॥
ज्ञानिनोऽज्ञानिनश्चापि मृत्युकाले विमूर्च्छिताः।
भवन्तीति कथंकारं पश्यन्तीत्युपपद्यते॥१०८॥

उत्क्रामन्तं का इस मनुष्य शरीर पिण्ड से दूसरे पिण्ड में जाते हुए को ऐसी व्याख्या द्वैतियों की है। वह संगत प्रतीत नहीं होती। मरते समय ज्ञानी अज्ञानी सभी मूर्च्छित होते हैं, वे कैसे आत्मा को देखेंगे।

न च नो मूर्च्छति पुमान् म्रियमाणोऽपि कश्चन।
अब्रुवाणत्वतो मूर्च्छां विपर्यस्यन्ति लौकिकाः॥१०९॥
तामाधुनिकयन्त्रेण म्रियमाणस्य देहिनः।
वैज्ञानिका जगुर्मूर्च्छां कथं तदपलप्यताम्॥११०॥

यह कहें कि मरते समय मनुष्य मूर्च्छित नहीं होता, बोलता चालता न होने से लोग कहते हैं ज्ञान लुप्त हो गया, मूर्च्छित हुआ। नहीं। आधुनिक यन्त्र सहायता से वैज्ञानिकों ने मूर्च्छा का पता लगाया है।

जानाति मामिति मुहुः पृच्छन्त्यन्त्युपतापिनम्।
अनुत्क्रान्तो हि जानातीत्याहस्म श्रुतिगीरपि॥१११॥

मरते हुए को ज्ञातिवाले पूछने लगते हैं आप मुझे पहचानते हैं? जब तक उत्क्रमण न हो तब तक जानते हैं। फिर ज्ञान नहीं रहता ऐसा श्रुतिवचन भी है।

कथं च ज्ञानिनां जन्म भवति ज्ञानचक्षुषाम्।
उत्क्रामन्ति न तत्प्राणा ब्रह्म सन्मुच्यते स हि॥११२॥

और ज्ञानचक्षु ज्ञानियों का जन्म कैसा? उनका प्राणोत्क्रमण नहीं होता। यहीं ब्रह्म होकर ब्रह्मलीन होते है।

ननु भाष्ये प्रागुपात्तदेहत्यागोऽत्र भाषितः।
सत्यं देहाः स्थूलसूक्ष्मबीजाख्याः संमतास्त्रयः॥ ११३॥
स्वप्ने स्थूलं परित्यज्य प्रविशेत् सूक्ष्ममेष हि।
सुषुप्तौ कारणं तच्च त्यक्त्या स्थूलं विशत्यसौ॥ ११४॥
सन्धिकाले त्वदेहत्वाच्चितिः शुद्धैव भासते॥ ११५॥

भाष्य में भी तो देहं पूर्वोपात्तं परित्यजन्तं ही व्याख्या है। बात सही है। स्थूलसूक्ष्मकारण तीन शरीर है। स्वप्न में स्थूल देह को छोडकर सूक्ष्म ग्रहण करता है, सूक्ष्म भी छोडकर सुषुप्ति में कारण ग्रहण करता है। कारण को छोडकर सूक्ष्म या स्थूल में आता है। सन्धिकाल में अदेह होने से शुद्ध ही भासता है।

नन्वभद्रं न पश्यन्ति क्वचन ज्ञानचक्षुषा।
व्यावर्त्यविरहाद् ज्ञान-चक्षुःपक्षे वृथार्थना॥ ११६॥
व्यवर्त्यविरहेऽप्येव विध्यर्था प्रार्थनेति तु।
एकप्रसरताभङ्गात् स्वीकर्तुं नैव शक्यते॥ ११७॥
नैवमेवादिविरहाद् व्यावृत्तिः क्वापि शाब्दिकी।
नास्तीत्यार्थिक्युपेतेति न किंचिदसमञ्जसम्॥ ११८॥

पू. - ज्ञानचक्षु से अभद्रदर्शन होता नहीं है। अतः प्रार्थना व्यर्थ होगी। भद्रं कर्णेभि आदि में व्यावृत्त्यर्थ एवं भद्रं पश्येम में ज्ञान चक्षु अंश में विधानार्थ (ज्ञानचक्षुः प्रार्थना में पर्यवसित) मानें तो एक प्रसरता भंग होगा। नहीं। एवकार आदि के न होने से इस मन्त्र में कहीं भी व्यावृत्ति शब्दार्थ नहीं है। आर्थिक ही मानना पडेगा तो यहां आर्थिक ज्ञान चक्षुः प्रार्थना ही मान सकते हैं।

गृहीत्वैतानि संयातीत्युक्तेः शुद्धा न सेति चेत्।
मैवं पिण्डान्तरं तत्र श्लोके तावद् विवक्षितम्॥ ११९॥
अत एव न शुद्धं तच्चैतन्यं गतिसत्वतः।
अत्र तस्मिन् स्थिते तत्तद्वृत्त्यातत्तत्प्रकाशनम्॥ १२०॥

परंतु इससे पूर्व श्रोत्रादि को लेकर उत्क्रमण करता है बताया है। ठीक

है। वहां जन्मान्तर पिण्डान्तर विवक्षित है। श्रोत्रादि को लेकर जाता है इस कथन से ही वहां शुद्ध चैतन्य नहीं है यह सिद्ध होता है। गति आदि विशिष्ट चैतन्य में ही संभव है। प्रकृत में स्थूल सूक्ष्मादि में आत्मा की गति नहीं है। किन्तु तत्तद्वृत्ति से ततत्प्रकाशन मात्र है। शरीरद्वयवृत्ति भान के मध्य में शुद्ध प्रकाश होता है। यही ज्ञान चक्षु देखते हैं।

नन्वेवं स्थितमित्येतत् पुनरुक्तं भविष्यति।
प्रागवस्था द्वयस्थं स्यादत्र वृत्तिद्वयस्थितम्॥१२१॥
तत्रावस्थाद्वयस्योक्तमन्तरालस्थमादिमे ।
अत्र वृत्तिस्थितं तावच्चैतन्यं प्रणिगद्यते॥१२२॥
वृत्तिस्थं वृत्तिहानेन शुद्धं पश्यन्ति वेदिनः।
इति पूर्वाद् विशिष्टोऽयमन्तराले ह्युभौ समौ॥१२३॥

यदि उत्क्रामन्ततं का अवस्थाद्वयान्तरालस्थं अर्थ करते हैं और स्थितं का वृत्तिद्वयान्तरालस्थं अर्थ करते हैं तो पुनरुक्ति होगी। अवस्था भी तो वृत्ति ही है। नहीं। स्थितं का वृत्तिद्वयान्तरालस्थं अर्थ नहीं, किन्तु वृत्तिस्थित अर्थ हैं। वृत्तिस्थ को वृत्तिभागत्याग कर शुद्ध दर्शन करते हैं इसमें ज्ञान चक्षु में गरीयस्त्व (अधिक गौरव) है।

स्थितं शरीरे सोपाधि-मत्युपाधिप्रहाणतः।
वस्तुतो निरुपाध्येव पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥१२४॥

शरीर में स्थित आत्मा सोपाधि होने पर भी उपाधि को त्यागकर वस्तुतः निरुपाधि को ही ज्ञानचक्षुवाले देखते हैं।

भुञ्जानस्य खलूपाधिर्भवेद् दृढतरस्थितिः।
भोगे रागोऽपि भवति तद्धानमतिदुर्लभम्॥१२५॥

भुञ्जानं वा में भोग उपाधि अधिक दृढतर है। क्योंकि भोग में राग होता है। राग बन्धन को दृढतर बनाता है। उसको त्यागना दुर्लभ ही है।

रागं तदाश्रयोपाधि-मपि त्यक्त्वा मनीषिणः।
शुद्धं पश्यन्ति चैतन्यं यथैव जनकादयः॥१२६॥

गुणाः सत्त्वादयस्ते च सुखदुःखादिलक्षणाः।
सुदृढोपाधयस्तत्रापीक्षन्ते ज्ञानचक्षुषः॥१२७॥

गुणान्वितं में गुण सत्त्वरज आदि। ये और भी दृढ उपाधि हैं उन्हें भी छोडकर ज्ञान चक्षु शुद्ध आत्मा को देखते हैं।

सुखं कदाचित् सुशकं त्यक्तुं धीरैरनास्थया।
दुःखं कण्टकवेधादि प्रस्मर्तुं शक्यते कथम्॥१२८॥

सुख विस्मृत करना आसान है। पर दुःख कांटे का चुभना आदि कैसे भुलायेंगे।

शूलारूढोऽपि माण्डव्यः सस्मार ब्रह्म निर्मलम्।
न क्लिष्टोऽभूत्कथैषा तु भवेत् कृतयुगे नृषु॥१२९॥

सूली पर चढाये जाने पर भी माण्डव्य ऋषि ने निर्मल ब्रह्म स्मरण किया। वे क्लेशाकुल नहीं हुए ऐसी कथा सत्ययुग में हो सकती है। कलियुग में सुगम नहीं है।

अतो गुणान्वितं यस्तु पश्यत्यात्मानमव्ययम्।
ज्ञानचक्षुःषु मूर्धन्यो भवरोगहरो हि सः॥१३०॥

सूली की बात छोडो। गुणान्वित को गुण विवर्जित जो देख पाते हैं वे सर्वोत्तम ज्ञानचक्षु देखता है।

नत्वेवं दर्शनं तावल्लोकानां दुर्लभं भवेत्।
सत्यं साधनसम्पत्त्या दुर्लभं लभते बुधः॥१३१॥

ऐसा दर्शन फिर दुर्लभ ही होगा। सच बात है। पर साधनों से दुर्लभ को भी उत्तम साधक पा लेता है।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥१३२॥

कोई ध्यान से, कोई सांख्य योग से, कोई कर्म योग से आत्मदर्शन करता है।

ध्यानेनेत्यस्य हि ध्यानसंस्कृतेनेति भाष्यकृत्।
आत्मना मनसेत्येतत् मनोवृत्त्या श्रुतोत्थया॥१३३॥

ध्यान संस्कृत मन से अर्थात् श्रुतिजन्य मनोवृत्ति से आत्मदर्शन होता है।

ध्यानेन श्रवणादूर्ध्वं निदिध्यासनरूपिणां।
पश्यन्ति मनसात्मानमित्यन्ये व्याचचक्षिरे॥१३४॥

निदिध्यासन से मन से आत्मदर्शन करते हैं ऐसी दूसरों की व्याख्या है।

सांख्ययोगः खलु गुणपुरुषान्यत्वदर्शनम्।
कर्मयोगोऽनिशं सर्वकर्मफलस्येशे समपर्णम्॥१३५॥

गुण (प्रकृति) पुरुष विवेचन सांख्ययोग है। सर्व कर्मों का ईश्वर में समर्पण कर्मयोग है।

एवं साधनसम्पत्त्या दुर्लभं सुलभं भवेत्।
आत्मनो दर्शनं भद्रमिति तन्नातिदुर्गमम्॥१३६॥

इस प्रकार साधन संपत्ति दोनों पर भद्र आत्मदर्शन दुर्लभ भी सुलभ हो जाता है।

न साधनविकल्पोऽत्र पुंविकल्पस्तु दर्शितः।
ध्यानं मुख्यं भवेदत्र निदिध्यासनलक्षणम्॥१३७॥
यस्य ध्यानं न सुगमं सांख्ययोगं स आश्रयेत्।
नित्यानित्यविवेकाख्यं सांख्ययोगं प्रचक्षते॥१३८॥
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।
इत्युक्तेः सांख्ययोगेन वैराग्यमुपजायते॥१३९॥
रागाद्याक्रमणान्नूनं ध्यानं नैव प्रजायते।
वैराग्यात्तन्निरोधं तु सूत्रकारोऽप्यसूत्रयत्॥१४०॥
स्थितौ यत्नात्मकेऽभ्यासे वैराग्यं तूपकारकम्।
स्थित्युतरं च वैराग्यकार्यत्वात् तुल्यमीरितम्॥१४१॥
नोद्भवेत् सांख्ययोगश्चेत् कर्मयोगं समाचरेत्।
ईश्वरार्पणकर्मैव कर्मयोगो निगद्यते॥१४२॥
सा भक्तिरूपा नित्या च भगवत्स्मृतिसंहिता।
तत्प्रसाद्धि भवति वैराग्यादीत्युदीरितम्॥१४३॥

स्ववर्णाश्रमधर्मेण तपसा हरितोषणात्।
साधनं प्रभवेत् पुंसां वैराग्यादिचतुष्टयम्॥ १४४॥

गीता में साधन विकल्प नहीं पुरुष विकल्प है। निदिध्यासनरूपी ध्यान मुख्य है। वह सहसा नहीं होता। रागादि से चित्त चञ्चल होता है। अतः नित्यानित्यविवेकरूपी सांख्ययोग करो। अनित्यमसुखं लोकं इत्यादि विवेक होने पर राग छूटेगा। इसलिये अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ऐसा सूत्रकार ने कहा। स्थिति-ध्यानार्थ यत्न अभ्यास में उपकारक वैराग्य है। स्थिति के बाद भी वैराग्य चाहिये। नहीं तो फिर से चित्त चञ्चल होगा। इसलिये अभ्यास और वैराग्य को सम कोटि में रखा। यह विवेकरूपी सांख्ययोग भी नहीं बन पाता तो कर्मयोग करो (अभ्यासेऽप्यासमर्थोसि) ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करना यही तो भक्ति है। वर्णाश्रम धर्मादि से हरितोषण होने पर वैराग्य एवं अन्य विवेकादि होंगे यह आचार्य ने भी कहा ही है।

अत्यशक्तस्य प्रथम-सोपानस्थस्य वर्ण्यते।
अथैतदप्यशक्तोसीत्येतत् प्रथमसाधनम्॥ १४५॥

पूर्व संस्कार रहित प्रथम सोपानस्थ के लिये वर्णन है-अथैतदप्यशक्तोसि इत्यादि।

ननु चान्येभ्य एव स्यात् श्रवणं न पुनः स्वतः।
किमिदं प्राह भगवान् श्रुत्वान्येभ्य उपासते॥ १४६॥

पू. - दूसरे से ही सुनते हैं, अपने से नहीं। यहां भगवान क्या कहना चाहते हैं।

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम्।
लोचनाभ्यां विहिनस्य दर्पणः किं करिष्यति॥ १४७॥
इत्युक्तेर्बोधसंपत्तौ स्वप्रज्ञाप्यस्ति कारणम्।
तद्धीनस्यापि चोद्धाःरहेतुमाह कृपानिधिः॥ १४८॥

जिसकी स्वयं प्रज्ञा नहीं, शास्त्र उसे क्या करेगा। आंख नहीं तो दर्पण क्या करेगा? इसलिये बोध संपत्ति में स्वप्रज्ञा भी चाहिये। उसके अभाव में दयालु हरि ने उद्धार हेतु कहा।

सन्तो दयालवस्तस्याप्युपायमनुवृण्वते।
जपाद्युपासनां कर्तुं तेषामुपदिशन्ति ते॥ १४९॥
मृत्युं रत्नाकरोऽज्ञोऽपि श्रुत्वा रामेति नारदात्।
व्यत्यस्तवर्णोऽप्यतरद् वाल्मीकिस्तदुपास्तितः॥ १५०॥

सन्त दयालु होते हैं, अज्ञों के लिये भी उपाय ढूंढ निकालते हैं। अज्ञ रत्नाकर को उलटा नाम जपवाकर तार दिया, वाल्मीकि बनाकर अमर बनाया।

इदं तु बोध्यं सकला कामधेनुसमा श्रुतिः।
लौकिकं वैदिकं चापि भद्रं शक्यग्रहं ततः॥ १५१॥

श्रुति कामधेनु सदृश होने से लौकिक वैदिक सभी भद्र यथाप्रसङ्ग अर्थ है।

वैश्वदेवपशोर्याज्यानुवाक्यायां च पठ्यते।
पूजाकर्मादिकेऽप्यादा-वेष मन्त्रोऽनुपठ्यते॥ १५२॥
यथाप्रसङ्गमर्थस्तु कर्तव्यस्तत्र तत्र च।
वेदान्तश्रवणार्थोऽयमर्थोऽदर्शीति बुध्यताम्॥ १५३॥

वैश्वदेव पशु याग में याज्यानुवाक्या में तथा पूजादि कर्म में भी यह मन्त्र पढा जाता है। प्रसङ्गानुसार अर्थ ज्ञातव्य है। वेदान्त श्रवणार्थ यह अर्थ दिखाया।

यजत्रा यजनीया हे देवा इति विशेष्यते।
वयं वा यजमानाः स्मो यज्ञत्रातार एव वा॥ १५४॥

यजत्रा यजनीया अर्थ है जो देवों का विशेषण होगा। यजत्राः का अर्थ यजभाना अर्थ करें तो पश्येम कर्ता का विशेषण होगा। यज्ञत्रातारः अर्थ भी हो सकता है।

स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाँसः

तुष्टुवांस स्तुवाना इ-त्येतदाह निरन्तरम्।
न ह्यस्ति कालनियम-श्छन्दसि व्यत्ययादपि॥ १५५॥

तुष्टुवांसः का अर्थ है स्तुति करते हुए। छन्द में काल नियम नहीं होता। व्यत्यय भी होता है।

स्थिरैरङ्गैः स्तुवन्तोऽत्र शङ्का श्रोतुः प्रजायते।
जिह्वया स्तूयते नाङ्गैः कथमेतद्विशेषणम्॥ १५६॥
नन्वङ्गमेव जिह्वापि मैवं व्यर्थं विशेषणम्।
शृणोम्यङ्गेन पश्यामि चाङ्गेनेति हि को वदेत्॥ १५७॥
जिह्वात्वं स्यात् करणता-वच्छेदकमतोऽपि च।
कर्णेभिरिति वद् युक्तं वक्तुं जिह्वाभिरित्यपि॥ १५८॥
स्थिरैरङ्गैर्वयं युक्ता इत्युक्तं सायणादिभिः।
तच्चायुक्तं स्वंय जिह्वा चञ्चलायदि तेन किम्॥ १५९॥
किं चाङ्गचलने स्तुत्यां का हानिः खलु जायते।
नृत्यन्तोऽपि स्तुतिं भक्ता गायन्ति द्रुतचेतसः॥ १६०॥
दृढैरशिथिलैरङ्गै — रित्युव्वटमहीधरौ।
दृढाङ्गत्वं यावदायुराशामात्रं तु मन्महे॥ १६१॥

स्थिर अङ्गों से स्तुति करते हुए यह कैसा? जिह्वा से स्तुति होती है। कहो कि जिह्वा भी तो अंग है। नहीं। तब विशेषण ही व्यर्थ होगा। दूसरी बात-मैं अंगों से सुनता हूं, अंगों से देखता हूं ऐसा कोई नहीं बोलता। स्तुति में कारणतावच्छेदक जिह्वात्व ही है। 'भद्रं कर्णेभिः' के समान जिह्वाभिः कहना ही उचित था। युक्त पद का अध्याहार सायणभाष्य में किया है। स्थिर अंगों से युक्त होकर हम स्तुति करे। पर जिह्वा चंचल हो तो गलत बोलती हो तो अङ्ग की स्थिरता किस काम की? फिर अंग हिलते रहे तो क्या हानि? भक्तलोग नाचते हुए भी तो स्तुति करते हैं! उवट एवं महीधर कहते हैं-अशिथिल अंगादियुक्त होकर पूरी आयु बितायें। यह तो आशामात्र होगी। क्या बुढापे में अंग शिथिल नहीं होंगे?

नम उक्तिं विधेमेति श्रुतौ भाष्यकृदाह च।
परिचर्यां वयं कर्तुमिदानीं ते न शक्नुमः॥ १६२॥

भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम के भाष्य में भी कहा-किन्तु वयमिदानीं

ते न शक्नुमः परिचर्यां कर्तुम् इत्यादि।

वयं पुनरिदं ब्रूमः प्रणवस्य जपः स्तुतिः।
स्तुत्यर्थात् प्रोपसृष्टात् स्यान्नौतेः प्रणव इत्यपि॥१६३॥

हम यहां पर यहीं कहेंगे कि प्रणव जप ही यहां स्तुति है। प्रपूर्वक णू धातु से 'ऋदोर' इस सूत्र से अप् प्रत्यय करने पर प्रणव होता है।

युञ्जीतात्मानमोमित्यो-मिति ब्रह्मेति हि श्रुतिः।
स्तोतव्यौ शब्दविषया-वोमित्येव न्यरूपयत्॥१६४॥
तुष्टुवांसोऽत्र किं केनेत्यस्ति जिज्ञासितं ततः।
श्रुत्युक्तावुपतिष्ठेते तावेव प्रथमं सताम्॥१६५॥

ओमित्यात्मानं युञ्जीत ओमिति ब्रह्म इस प्रकार स्तुति के लिये आवश्यक शब्द एवं विषय दोनों को बताया। 'तुष्टुवांसः' में ये दोनों अपेक्षित होने से श्रुत्युक्त ये दो ही प्रथम उपस्थित होते हैं।

तज्जपो मानसो मुख्या सैव चात्र स्तुतिर्यतः।
तदर्थचिन्तनं चैव सूत्रकृत् प्राह साधनम्॥१६६॥

मुख्य होने से मानस जप एवं तदर्थ चिन्तन को सूत्रकार ने साधनरूप से कहा (तज्जपस्तदर्थभावनं यह योगसूत्र यहां ग्रहणीय है)।

ब्रह्मसूत्रेषु तत्रोक्तमासीनः संभवादिति।
अनन्तरं च तत्रैव ध्यानाच्चेत्याह सूत्रकृत्॥१६७॥
स्थिरेष्वङ्गेषु भवति ध्यानं सम्यङ् न संशयः।
जपश्च सम्यग् भवति स्थिरेष्वङ्गेषु मानसः॥१६८॥

ब्रह्मसूत्र में अङ्गस्थैर्यार्थ 'आसीनः संभवात्' कहा। फिर 'ध्यानाच्च' यह भी बताया। ये दोनों-ध्यान और मानस अङ्गस्थैर्य से ही संभव है।

अपि चाहाऽचलत्वं चा-ऽपेक्ष्येति स्थिरतामपि।
तद् ध्यायतीव पृथिवी-त्यादि भाष्ये स्फुटीकृतम्॥१६९॥

'अचलत्वं चापेक्ष्य' सूत्र से स्थिरता बतायी। 'ध्यायतीव पृथिवी' इत्यादि से भाष्य में स्पष्ट किया।

एवमभ्यस्यतो नूनमन्तकालः सुखावहः।
तथा च भगवानाह गीतायामर्जुनं प्रति॥ १७०॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥ १७१॥

इसका पहले से ही अभ्यास करो तो अन्तकाल शुभावह होगा। यह गीता में-ॐकार उच्चारण करते हुए और भगवत्स्मरण करते हुए शरीर त्यागने पर मोक्ष होगा से बताया।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोतरम्॥ १७२॥
तत्रैकाग्रं मनःकृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद् योगमात्मविशुद्धये॥ १७३॥
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
इत्यादिना च हरिणा स्पष्टमेतत् प्रकाशितम्॥ १७४॥

'शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासन' इत्यादि गीता श्लोकों में भी यही स्पष्ट किया है।

शुचौ विविक्त आसीनो विधिवत्कल्पितासने।
अभ्यासेन्मनसा शुद्धं त्रिवृद् ब्रह्माक्षरं परम्॥ १७५॥
मनो यच्छेद् जितश्वासो ब्रह्मबीजमविस्मरन्।
इति भागवतेऽप्युक्त - स्त्रिवृद्ब्रह्मजपस्तथा॥ १७६॥
अविस्मरन्निति जपो मानसोऽत्रावगम्यते।
प्रणवः प्रणुतेरेव सुष्टुतिः प्रोपसर्गतः॥ १७७॥

भागवत में भी गीतोक्तक्रम से आसन पर स्थित होकर ॐकार का जप बताया। णु स्तुतौ धातु से प्रणव शब्द है। तुष्टुवांसः में भी धात्वर्थ वही। 'प्र' का ही अर्थ यङ् प्रत्यय का है।

स्थिरैरङ्गैर्युताः सन्त इत्यध्याह्रियतां श्रुतौ।
अध्याहारं विनाप्यर्थं दर्शयामोऽस्य संप्रति॥ १७८॥

स्थिरैः अङ्गै के बाद 'युताः' ऐसा अध्याहार श्रुति में कर लो। क्योंकि

अंङ्गों से स्तुति क्या होगी। स्थिर आसनस्थ पुरुष स्तुति करेगा। अध्याहार किये बिना भी अर्थ होगा।

अज्यमानत्वतोऽङ्गानि स्युर्घेऽञ्जेर्धञि वा पदम्।
विषयादिभिरज्यन्ते विशेषे सति देहिनाम्॥१७९॥

अञ्ज धातु का 'म्रक्षण' लिप्त होना आदि अर्थ है। अधिकरण में घञ् होने पर अङ्ग शब्द होगा। विषयादि से लिप्त होने पर अङ्ग कहलाते हैं.

गुरुस्पृष्टं हि मिष्टादि प्रसादं मन्वते बुधाः।
पूजादिनानासुकृतैरञ्जितौ तत्करौ यतः॥१८०॥

गुरुओं ने हाथ छुआया तो मिष्टान्नादि प्रसाद होते है। क्योंकि उन के हाथ पूजादि पुण्ययुक्त हैं।

स स्वाध्याय-प्रवचनप्रभावेणाञ्जितात् सदा।
आचार्यमुखतो विद्यामधीयीतेति च श्रुतिः॥१८१॥

आचार्य मुख स्वाध्याय प्रवचन से पुण्याञ्चित है। उसीसे स्वाध्यायाध्ययन करो।

दुष्टैः स्पृष्टं न चान्नं तु ग्राह्यं तद्दोषयुक्त्वतः।
तत्तद्दोषगुणैरक्तान्युच्यन्तेऽङ्गानि सज्जनैः॥१८२॥

दुष्ट स्पृष्ट अन्न अग्राह्य है। अंगों में दोष लिप्त है। तत्स्पृष्ट भी दोषयुक्त होगा

मघवन् यात भद्रं वो दध्यञ्चमृषिसत्तमम्।
विद्याव्रततपःसारं गात्रं याचत मा चिरम्॥१८३॥
तप आदि भिरक्तानि दधीचोऽस्थीन्युपावृतन्।
एवं विधैः स्थिरैरङ्गै-स्तुष्टुवांस इतीर्यते॥१८४॥

भगवान ने वृत्रवधार्थ दधीचि की हड्डियां मांगकर लेने को कहा। क्योंकि तपश्चर्यादि से वे परिपूत थे। वैसे स्थिर अङ्गों से स्तुति करने के लिये बता रहे हैं।

उरस्तः पृष्ठतो हस्तात् पादान्मूघ्नो महात्मनः।
अशृणोत् प्रणवारावं कर्णसंश्लेषणे यतिः॥१८५॥

नर्मदा किनारे एक संत थे। उनके शरीर में कहीं भी कान लगायें ओंकार की ध्वनि सुनायी पडती थी। ऐसी सिद्धि प्राप्त करें जिससे सभी अङ्गों से ॐकार स्तुति करे।

कूपेऽनुखन्यमानेऽन्तः प्राङ् मृतस्य महात्मनः।
लोकाः शुश्रुवुरस्त्रस्तु विठलं विठलं स्वरम्॥ १८६॥

कुआं खोदते समय एक भक्त किनारा सरकने से दब मरा। कालान्तर में वहां खोदते समय उस भक्त की अस्थियों से विठल विठल आवाज आ रही थी।

अर्जुनस्य प्रसुप्तस्य केशेभ्यो हरिकीर्त्तनम्।
शुश्रुवुर्युयुजुस्तत्र द्वारिकावासिनः पुरा॥ १८७॥

सोये हुए अर्जुन के केशों से हरिकीर्त्तन सुनकर द्वारिकावासी उसी कीर्तन में शामिल हो गये।

अज्यन्ते विषयास्तेन तपसाङ्गेषु देहिनाम्।
स्तुयाम प्रणवात्ताङ्गै-र्वीर्यवत्प्रणवस्तुतिम्॥ १८८॥

इसलिये तप से अङ्ग विषययुक्त हो जाते हैं। ऐसे प्रणवयुक्त अंगों से हम तेजस्वी प्रणव स्तुति करें।

नन्वेवमर्थे ह्यङ्गानां कुतः स्थैर्यं विशेषणम्।
चलद्भिरपि शक्याऽङ्गैः स्तुतिः कर्तुं महात्मभिः॥ १८९॥

पू. - अभी दिखाई गयी व्याख्या में 'स्थिरैः' यह विशेषण सार्थक नहीं दिखता। सचल अङ्गों से भी तो महात्मा स्तुति करते हैं।

मैवं प्रणवपक्षे हि भवितव्यं स्थिरैर्जपे।
यतोऽचलत्वं चापेक्ष्येत्युक्तं सूत्रकृता स्वयम्॥ १९०॥

उ. - प्रणव जप पक्ष में अचलत्वं चापेक्ष्य ऐसा सूत्रकार ने स्वयं कहा है।

तदर्थभावनमपि जपे प्राह पतञ्जलिः।
स्थिरेष्वङ्गेषु तद्धि स्या-दासीनः संभवादिति॥ १९१॥

महर्षि पतञ्जलि ने ओंकारार्थ भावना भी जप में बतायी है। स्थिर अंग

हो तभी वह संभव है। इसीलिये आसीनः संभवात् बताया।

यद्वाऽर्थभावना कार्या स्थिरैरिति विशेषणात्।
अस्थिरैरपि शक्यत्वाज्जपमात्रे विवक्षिते॥१९२॥

अथवा स्थिरैः इस विशेषण से ही अर्थभावना अर्थलभ्य है। केवल जप अर्थ होता तो अस्थिर अंगों से भी वह संभव था। स्थिरैः यह विशेषण व्यर्थ होता।

हंसमन्त्रं यथा सर्वो जीवो जपति सर्वदा।
किन्त्वर्थभावना नैव सर्वदा क्रियते जनैः॥१९३॥
अत एव फलं चास्य लभ्यते नैव पामरैः।
विवक्षितार्थभावश्च स्थिरैरितिविशेषणात्॥१९४॥

जैसे हंस मन्त्र सभी सर्वदा जपते हैं। अर्थभावना नहीं करते। अतः उसका फल प्राप्त नहीं होता। अतः स्थिरैः इस विशेषण से अर्थभावना भी विवक्षित है।

जपन्ति ननु सर्वाङ्गैः सिद्धा एव न साधकाः।
न शासनीयाः सिद्धास्तु नैव ते प्रार्थयन्त्यपि॥१९५॥

पू. - अंग-अंग से स्तुति सिद्ध ही कर सकते हैं, साधक नहीं। सिद्ध के लिये यह शासन नहीं। और न उनके लिये प्रार्थनीय ही कुछ है।

सत्यं स्थिरत्वमङ्गानां सर्वाङ्गैः स्तुतिरेव च।
तेन देवहितं स्वायुर्व्याप्तिश्चात्रार्थ्यतेऽर्थिना॥१९६॥

उ. - बात सत्य है। यहां अर्थी साधक ही प्रार्थना करता है-अङ्ग स्थिर हो सर्वाङ्ग से स्तुति हो उस से देवहित आयु को व्याप्त करूं।

ननु नानाविधानेन वाक्यभेदस्तदा भवेत्।
मैवं विशिष्टमत्रैकं साधकेनार्थ्यते सता॥१९७॥
प्राप्ते कर्मणि नानेको विधातुं शक्यते गुणः।
अप्राप्ते तु विधीयन्ते बहवोऽप्येकयत्नतः॥१९८॥

पू. - अङ्गस्थैर्य सर्वाङ्गस्तुति तथा देवहितायुव्याप्ति इन सबका विधान

होने पर वाक्यभेद होगा। नहीं। विशिष्ट एक का ही विधान है। विशिष्ट विधान में वाक्यभेद नहीं होता ऐसा भट्टाचार्य भी कहते हैं।

वस्तुतः प्रार्थनायां न वाक्यभेदोऽस्ति दूषणम्।
प्रार्थ्यते ज्ञात एवार्थोऽज्ञातार्थज्ञापको विधिः॥१९९॥

वस्तुतः प्रार्थना में वाक्यभेद दूषण नहीं है। ज्ञातार्थ की प्रार्थना होती है। विधि अज्ञातार्थ ज्ञापक है।

अत एवोत्तमतिङ्ग यत्पदादेश्च मन्वते।
विधिशक्तिक्षयं लस्य मीमांसकमहाशयाः॥२००॥

इसीलिये उत्तम पुरुष यत्पद आदि से लिङादि की विधि शक्ति का क्षय मीमांसक मानते हैं।

तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः

स्थितरैरङ्गैः कृताभ्यासैर्विहितस्तुतयो वयम्।
तनूभिर्व्याप्नुयामाऽऽयु - र्यद्धि देवहितं परम्॥२०१॥

अभ्यासवश स्थिर अङ्गों से स्तुति करते हुए हम अपनी आयु को पूर्ण करे जो परम देवहित हो।

तनूभिरिति निर्दिष्टं बहुत्वं किंनिबन्धनम्।
बाल्यादौ भवतस्तर्हि सार्थक्यं नाप्नुयात् स्तुतिः॥२०२॥

उवटाचार्य के भाष्यानुसार चले तो बाल्यकाल में तनूभिर्व्यशेम का अर्थ क्या करेंगे? स्तुति बालक के लिये अर्थशून्य होगी।

ब्रह्मचारी यतिश्चैवानधिकारी जपे भवेत्।
कुटुम्बनाशे वृद्धस्य पाठाभावाद् द्विदण्डता॥२०३॥

ब्रह्मचारी संन्यासी आदि आपके मत में एतद् मन्त्र जप में अनाधिकारी होंगे। कुटुम्ब नाश हो गया एक ही वृद्ध रह गया तो वृद्धत्व का दण्ड और पाठानधिकार दण्ड ऐसे दो दण्ड भुगतने पडेंगे।

व्यशेमेति बहुत्वोक्तेस्तन्वस्तेषां भवन्ति चेत्।
आयूंषीत्यपि वक्तव्यं भवेदायुर्बहुत्वतः॥२०४॥

व्यशेम में कर्तृबहुत्व होने से शरीर बहुत्व मानो तो आयूंषि ऐसा बहुवचन कहना पडेगा। सबकी आयु अलग अलग है।

प्रत्येकपर्यवसितमायुरेकैकमेव चेत्।
एकैका तनुरप्येव प्रत्येकावसिता भवेत्॥२०५॥

व्यशेम यह प्रत्येक आयुपर्यवसित है तो तनु भी प्रत्येक पर्यवसित होगी।

अत्राहुर्जागरे स्वप्ने सुषुप्तौ च पृथक् पृथक्।
तन्वस्तिस्त्रः प्रतिव्यक्ति भवन्तीति बहुत्वगीः॥२०६॥

जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति के तीन शरीरों को लेकर बहुत्व मान लो ऐसा एक पक्ष है।

प्रबोधे स्थूलपूजाद्यैः स्वप्ने तैर्वासनोद्भवैः।
सुषुप्तौ दृढसंस्कारै-रायुर्देवहितं भवेत्॥२०७॥

जाग्रत में स्थूल पूजादि से स्वप्न में वासनाजन्य पूजादि से तथा सुषुप्ति में पूजादि विषयक दृढ संस्कार से (जिससे सुषुप्त्युत्तर तुरत भगवत्स्मरणादि हो) आयु देवहित हो जायेगा।

सुप्तोत्थितस्य संस्फूर्तिर्भवेज्जागरणे ततः।
सम्यक् स्याद्देवसेवेति तच्च देवहितं मतम्॥२०८॥

दृढ संस्कार से जाग्रत में सम्यक् स्फुरण होगा। और देवसेवा होगी। अतः दृढ संस्कारयुक्त सौषुप्त शरीर भी देवहित ही होगा।

किं च स्वप्ने प्रतिनिशं भिद्यन्ते तनवस्ततः।
तावता बहुदेहत्वं सर्वेषां युज्यतेतराम्॥२०९॥
नैयायिकमते जाग्रत्तनवो बहवो मताः।
उपचित्यमचित्योर्हि भिद्यन्ते तनवो यतः॥२१०॥

स्वप्न में प्रति रात शरीर भेद होता है। अतः सौषुप्त शरीर न लेने पर भी बहुत्व होगा। नैयायिक लोग उपचयापचय से जाग्रत में भी शरीरभेद मानते हैं।

अथवोक्तं भगवता श्रीकृष्णेनार्जुनं प्रति।
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते॥२११॥

अनेकजन्मसंसिद्ध इत्यप्येव जगौ हरिः।
तस्माद्बहुशरीरत्वं साधकानां भवेद् ध्रुवम्॥२१२॥
सर्वेष्वपि शरीरेषु यदायुः कर्मनिश्चितम्।
तच्च देवहितं कृत्वा व्याप्नुयामेति भण्यते॥२१३॥

अथवा - बहुत सारे जन्मों में किये साधनों से साधक मुझे प्राप्त होता है। अनेक जन्मों में संसिद्ध होता है, इत्यादि गीता में कहा। अतः साधकों की बहुशरीरता सुगम है। सभी शरीरों जो कर्म निर्मित है, में जो आयु है उसे देवहित विधया व्याप्त करें।

नाथ योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम्।
तेषु तेष्वचला भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि॥२१४॥
नारायणापराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति।
स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः॥२१५॥
तस्माद् बहुशरीराणि संभाव्यन्ते मुमुक्षताम्।
संभावनामात्रतोऽपि बहुत्वोक्तिर्हि युज्यते॥२१६॥

हजारों योनियों में भले जाऊं, पर सर्वत्र भक्ति हो। नारायण भक्त स्वर्ग अपवर्ग नरक किसीसे डरते नहीं इत्यादि पुराण वचनों से बहु शरीर सिद्ध है।

ननु ये जन्ममरणसंसारत्रस्तचेतसः।
नेच्छन्त्यन्यतनूर्ब्रूयुस्तनूभिरिति ते कथम्॥२१७॥

पू. - जो जन्ममरणभीत है, दूसरा शरीर नहीं चाहते वे बहुवचन से कैसे कहेंगे?

सत्यं न त्रासमात्रेण निरोद्धुं जन्म शक्यते।
प्रशान्तमनसां क्वापि नैवोद्वेगः प्रजायते॥२१८॥

उ. - त्रास मात्र से जन्म हो सकेगा नहीं। शान्त चित्तों को उद्वेग होता ही नहीं है।

तुल्यार्थदर्शिनः स्वर्गनरकादौ च ये बुधाः।
ते मुच्यन्ते न तु परे नित्यमुद्विग्नचेतसः॥२१९॥

स्वर्ग नरकादि में तुल्यदर्शी युक्त होते हैं न कि नित्य उद्विग्नचित्त।

श्रुत्वा जन्मत्रयादूर्ध्वं हरिदर्शनसंभवम्।
तपस्वी नारदात्तीव्र-मुद्विग्नो विजहौ तपः॥२२०॥
लक्षजन्मोत्तरं मोक्षं श्रुत्वान्यो मुमुदे भृशम्।
ननर्त मोक्ष्यसंज्ञासु निजनामप्रवेशतः॥२२१॥

नारदजी ने महातपस्वी को तीन जन्म के बाद मोक्ष बताया तो उद्विग्न होकर उसने तप ही छोड दिया। दूसरे तपस्वी ने लक्षजन्म बाद मुक्त होने की बात सुनकर नाचने लगा, चाहे करोड जन्म बाद सही, मुक्त होनेवालों की नामावली में मेरा नाम तो जुड गया।

नन्वस्मिन्नेव जनुषि मोक्ष्यामीति विचिन्वता।
नैव पठ्येत मन्त्रोऽयमित्तिचेत्तत्तु नैव सत्॥२२२॥

पू. - इसी जन्म में मुक्त होऊंगा ऐसा सत्य निश्चय होने पर यह मन्त्र पढा नहीं जायेगा। नहीं।

मोक्ष्याम्यत्रैव जनुषी-त्येतज्ज्योतिषविद्यया।
किं स जानाति किं वा स्वं वीक्ष्यैवाद्वैतदर्शनम्॥२२३॥

यह बताईये - इस जन्म में ही मुक्त हो जाऊंगा ऐसा ज्ञान ज्योतिष विद्या से उसको होता है या अपना अद्वैतदर्शन देख कर?

नाद्यो नित्ये नैव मोक्षे ज्योतिर्विद्या प्रवर्तते।
सा साध्यसाधनपदा भविष्यत् साध्यमेव यत्॥२२४॥

ज्योतिष से नहीं होगा। साध्यसाधनभावस्थल में वह चलता है। मोक्ष होगा। यह भविष्यत्त्व नित्य मोक्ष में नहीं घट सकता।

नान्त्योऽद्वैतप्रबोधे हि तद्दर्शी मुक्त एव सः।
मोक्ष्यामीति भविष्यद्धी-र्मिथ्या हन्त कथं विदः॥२२५॥

अपना अद्वैत प्रबोध देखकर यदि वह बोलता है कि इसी जन्म में मुक्त हो जाऊंगा। तो वह मिथ्या होगा। अद्वैतदर्शन हो गया तो वह मुक्त ही है। मुक्त होऊंगा यह कैसा?

प्रागभावप्रतिस्पर्धी भविष्यदिति भण्यते।
न कस्यापि प्रतिस्पर्धी मोक्षः किल निगद्यते॥ २२६॥

प्रागभावप्रतियोगी भविष्य होता है। मोक्ष किसी का प्रतियोगी नहीं है।

पूर्वाभ्यासवशादस्य बाधितस्यानुवृत्तितः।
मन्त्रपाठोऽस्तु किंवास्तु लोकसंग्रहहेतवे॥ २२७॥

पूर्वाभ्यास वश से या बाधितानुवृत्ति से मन्त्र पाठ वह कर ले या लोकसंग्रहार्थ ही मन्त्र पाठ कर ले इसमें क्या चर्चनीय है।

साधकानां कृते ह्येष मन्त्रः श्रुतिषु पठ्यते।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥ २२८॥
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
इतिजानन् पुमान् मन्त्रं पठतीममिति स्थितिः॥ २२९॥

साधकों के लिये ही श्रुतियों में यह मन्त्र पठित है। अनेक जन्मों में संसिद्ध होकर उसके बाद परम गति प्राप्त होती है। बहु जन्मों के बाद ही साक्षात्कार करके मुक्त हो सकते हैं ऐसा समझनेवाला यह मन्त्र पढता है यही वस्तुस्थिति है।

व्यशेम देवहितं यदायुः

देवेभ्यो यत् खलु हितं तद्देवहितमुच्यते।
तदायुः स्याद्देवहितं पूज्यन्ते यत्र देवताः॥ २३०॥

देवताओं का हित वही आयु है जिसमें देवता पूजे जाते हैं।

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥ २३१॥
देवानां हितकारि स्याद् यज्ञाद्यैः श्रुतिषूदितैः।
यदेवायुर्मनुष्याणां तदायुर्व्यश्नुवीमहि॥ २३२॥

गीता में यज्ञादि से देवता एवं मनुष्य दोनों का श्रेय बताया है। वही आयु देवहित है।

देवः प्रकाशरूपश्च स प्रकाशनकार्यपि।
स आत्मा तस्य च हितं मायावरणभञ्जनम्॥ २३३॥
तद् यस्मिन्नायुषि भवेत् तच्च देवहितं मतम्।
तादृगायुः व्याप्नुयामे-त्याशैषाचार्यशिष्ययोः॥ २३४॥

वह मायावरण भंजन जिस आयु में हो वह आयु भी देवहित है। ऐसी आयु को हम व्याप्त करे यह आशा आचार्य और शिष्य की है।

देवैर्हितं देवहितं देवस्थापितमात्मनः।
दधातेर्हिरिदंसूत्रं धारणे पोषणे डुधाञ्॥ २३५॥
धारितं पोषितं चायु-र्देवैर्देवहितं तु तत्।
कृतज्ञतावशाद्देवान् स्तुवन्तस्तान्दयाम्बुधीन्॥ २३६॥
आयुर्देवहितं तद्धि व्याप्नुयाम निजोन्नतेः।
एवं व्याख्याऽस्य मन्त्रस्य बहूनां हि महीयसाम्॥ २३७॥

देवहितं में देवैर्हितं देवहितं ऐसा तृतीय समास है-देवस्थापित अर्थ है। डुधाञ् धारणपोषणयोः इस धातु से 'त' प्रत्यय होने पर दधाते र्हिः इस सूत्र से धा धातु को हि आदेश होता है। सब देवधारित देवस्थापित देवपोषित जो आयु वह देवहित है ऐसा अर्थ निकलता है। देवपोषित आदि होने से देवता कृपा स्पष्ट है। अतएव कृतज्ञतावशात् आदरवशात् और निजोन्नतिकारणवशात् हम उन्हीं देवताओं की स्तुति करते हुए उस आयु को सफल बनायें। ऐसी व्याख्या बडे-बडे अनेक महान भाष्यकारों ने इस मन्त्र की की है।

हिकारसहितः पाठः संहितासु व्यशेमहि।
व्यशेमेति हिशून्यश्च पाठ आरण्यके स्थितः॥ २३८॥

स्वस्तिन इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्तिनः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्तिनस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥

भद्रं कर्णेभिरित्येतन्मन्त्रेण सह पठ्यते।
शान्त्यन्तः स्वस्ति न इति मन्त्रोऽयं सांप्रदायिकैः॥ २३९॥
क्रमभेदेन मन्त्रौ द्वावेतौ यजुषि संगतौ।
क्रमिकावपि साम्प्रयेतौ द्वित्वेनैव प्रदर्शितौ॥ २४०॥

स्वस्ति. न इन्द्रो इत्यादि मन्त्र भद्रं कर्णेभिः के साथ शान्तिपाठ में संप्रदायवेत्ता पढते है। यजुर्वेद में इन दोनों मन्त्रों को विपरीत क्रम से पढा है। सामवेद में यद्यपि इसी क्रम से पढा है। किन्तु दो मन्त्रों के रूप में।

न चात्रापि हि मन्त्रौ स्तां द्वावेवेति तु सांप्रतम्।
एकादश तथा चेत्स्युः शान्तयो न पुनर्दश॥ २४१॥

यहां भी दो ही मन्त्र मानेंगे तो एकादश शान्ति होंगी। न कि दस।

त्रिः शान्तिः सकृदेवान्ते पठ्यते तेत्तिरीयके।
एक एव ततः शान्तिमन्त्रोऽयमिति निश्चयः॥ २४२॥

त्रि शान्ति अन्त में एक ही बार पढी है। मन्त्र दो होते तो दो बार पढते।

वाक्यभेदाद् भवेन्मन्त्रद्वयमित्यप्यसांप्रतम्।
बहुवाक्येऽपि मन्त्रैक्य-मिषेत्वादिषु दृश्यते॥ २४३॥
भद्रंकर्णेभिरित्यत्र तिस्त्रः सन्ति क्रियाः पृथक्।
तथापि वैदिकैरेकमन्त्ररूपेण पठ्यते॥ २४४॥

वाक्यभेद से मन्त्रभेद मानना चाहिये ऐसा कहना भी उचित नहीं। इषेत्वोर्जेत्वा इत्यादि में वाक्य बहुत है। फिर भी मन्त्र संख्या एक ही मानी जाती है। भद्रं कर्णेभिः में तीन क्रियापद है। फिर भी वैदिक लोग एक मन्त्र के रूप में पढते है।

उच्छिन्नसंप्रदायत्वकल्पना त्वसती भवेत्।
प्रतिवाक्यं भाष्यकृद्भिस्तदव्याख्यानतः स्फुटा॥ २४५॥
सहनाविति मन्त्रे हि स्पष्टं वाक्यचतुष्टयम्।
तथापि सकृदेवान्ते शान्तेर्भाष्यमभाषि तैः॥ २४६॥
द्वाभ्यां हि शान्तिं कृत्वग्भ्यामुपदध्याद्बीष्टकाः।
इति शान्त्यैक्यमृगद्वैतं चाह बोधायनो मुनिः॥ २४७॥

दो ऋचांओं से शान्ति कर जल-इष्टका उपधान करें ऐसा बोधायन कल्पसूत्र में दो ऋचाओं की एक शान्ति बताया है। यहां भी दो ही मन्त्र मानेंगे तो एकादश शान्ति होगी। न कि दो। पृथक् पृथक् शान्ति

पढने का संप्रदाय बीच में टूट गया होगा ऐसी कल्पना भी असत्कल्पना है। सहनाववतु में चार वाक्य है। फिर भी एक ही शान्ति करके भाष्य किया।

दधात्विति तुरीयस्थमभिसंबध्यते त्रिषु।
इन्द्रो दधातु नः स्वस्तीत्येवं त्रिष्वपि योज्यताम्॥ २४८॥

स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ऐसा चौथे पाद में आया हुआ क्रियापद पूर्व तीनों पादों के सम्बन्धित है। इन्द्रः स्वस्ति दधातु, पूषा स्वस्ति दधातु इत्यादि।

इन्द्रो नः स्वस्ति भवतु स्वस्तिरूपो भवत्विति।
व्याख्या न शोभना कस्मात् क्रियाध्याहारगौरवात्॥ २४९॥

इन्द्र हमारे लिये मंगलरूप या मंगलकारी हो ऐसी व्याख्या समुचित नहीं है। क्योंकि उसमें भवतु इस क्रिया का अध्याहार गौरव दोषग्रस्त है।

सत्युपायान्तरे नैव ह्यध्याहाराद्युपेयते।
अस्त्युपापान्तरं ह्यत्र दधातेरपकर्षणम्॥ २५०॥

उपायान्तर होने पर अध्याहारादि मान्य नहीं है। यहां दधातु का अपकर्षण उपायान्तर है।

स्वस्त्वित्यर्थोऽपि नो युक्तो व्यत्ययक्लेशसत्त्वतः।
तुर्यपादे च वैरूप्यं यथाश्रुतपरिग्रहात्॥ २५१॥

स्वस्ति का अस्तु ऐसा अर्थ भी ठीक नहीं। क्योकि इससे लोट् के स्थान में लट् का व्यत्यय मानना पडेगा। चतुर्थ पाद में वैरूप्य भी होगा। क्योंकि वहां क्रियापद होने से यथाश्रुत अर्थ ही करना पडेगा।

अन्ये त्वस्तीति सत्तार्थे विभक्तिप्रतिरूपकम्।
अव्ययं लिङ्गवचनविभक्तिष्वैकरूप्यतः॥ २५२॥

अन्य लोगों की व्याख्या है-अस्ति यह सत्ता अर्थ में विभक्ति प्रतिरूपक अव्यय है।

सुशब्दः शोभनार्थोऽयमविनाशित्वबोधकम्।
अशोभने यतो मृत्युरमृतं ह्येव शोभनम्॥ २५३॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु-र्गम्यतेऽजत्वमप्यतः।
अजत्वाद्वृद्धिविपरि - णामापक्षयवर्जितम्॥ २५४॥
त्रिकालाऽबाध्यसंज्ञातः स्वस्तीत्येतेन गम्यते।
परमं मङ्गलं तच्च तस्मान्मङ्गलवाच्यपि॥ २५५॥
दधात्विन्द्रो मङ्गलं तत् तदाविर्भावयत्वसौ।
आविर्भावणमेवेद - मपरिच्छिन्नधारणम्॥ २५६॥

'सु' का शोभन अर्थात् अविनाशी अर्थ है। क्योंकि मृत्यु ही अति अशोभन है, अमृत ही शोभन है। उत्पन्न कि मृत्यु निश्चित है अतः अजत्व भी शामिल होगा। तब वृद्धि विपरिणाम-अपक्षय वर्जित भी होगा। फलतः त्रिकाला बाध्यसत्ता ही सुसत्ता-स्वस्ति का अर्थ होगा। वही परम मङ्गल है अतः स्वस्ति मंगल बोधक भी है। इन्द्र उस मंगल को धारण करायें। अपरिच्छिन्न ही स्वस्ति हो सकता है उसका धारण करना आविर्भूत करना ही है क्योंकि अपरिच्छिन्न नित्य प्राप्त होने से उसका प्रापण आविर्भावन ही है।

दधातु स्थापयत्वेतदब्रूतां सायणोवटौ।
तत्स्थापनं तदचलस्थितिसम्पादनं मतम्॥ २५७॥
अस्थिरंतु भवेत् स्वस्ति मध्येमध्येभिभूतितः।
मा भूदभिभवस्तस्येत्युक्तेऽर्थे पर्यवस्यति॥ २५८॥

दधातु का अर्थ सायणाचार्य तथा उबटाचार्य ने स्थापयतु किया है। अचल स्थिति संपादन हि स्थापन है। चलता-अस्थिरता आनन्द सत्ता में बीच बीच में अभिभव होने से होता है न कि चलने से या अभाव हो जाने से। अतः अनभिभूत स्थिति की प्रार्थना होने से पूर्वोक्त अर्थ में ही पर्यवसान है।

अपरिच्छिन्नसत्तैव परमं मङ्गलं भवेत्।
ततः स्वस्तीतिशब्दोऽयमुक्तो मङ्गलवाच्यपि॥ २५९॥

अपरिच्छिन्न सत्ता ही परम मङ्गल होती है अतः स्वस्ति का मङ्गल अर्थ भी होता है।

मङ्गलं भगवान विष्णुर्मङ्गलं गरुडध्वजः।
मङ्गलं पुण्डकरीकाक्षो मङ्गलायतनो हरिः॥ २६०॥
वेवष्टीति भवेद् विष्णुर्व्यापको व्याप्नुवन् जगत्।
छन्दोमयेन गरुडे-नेति भागवतेक्षणात्॥ २६१॥
वेद एव भवेत्तस्य ध्वजवत् परिचायकः।
हृत्पुण्डरीके प्रत्यक्षात् पुण्डरीकाक्ष उच्यते॥ २६२॥
हरिः पापहरत्वेन मङ्गलात्मा स गीयते।
इन्द्रो मङ्गलरूपं तं हृदि स्थापयतु प्रभुः॥ २६३॥

स्वस्ति-मङ्गल विष्णु-व्यापक सत है। भागवत में छन्दोमयेन गरुडेन बताया है। छन्द माने वेद ध्वज के समान परिचायक है। अतः गरुड ध्वज मंगल है हृत्पुण्डरीक में प्रत्यक्ष होता है अतः पुण्डरीकाक्ष वह मंगल है। पापहारी होने से मंगल है। उस स्वस्तिरूप मंगल को इन्द्र मेरे हृदय में स्थापित करे।

मङ्गलं भगवान् शम्भु-र्मङ्गलं वृषभध्वजः।
मङ्गलं पार्वतीनाथो मङ्गलायतनो हरः॥ २६४॥
शं स भावयतीत्यस्मात शम्भुर्भवति मङ्गलम्।
धर्मो हि वृषभः प्रोक्तः स मङ्गलनियामकः॥ २६५॥
तस्मान्मङ्गलरूपोऽसौ शंकरो वृषकेतनः।
पर्वतेःपूरणार्थात् स्यादतच् पूर्णस्य खल्वियम्॥ २६६॥
शक्तिस्तन्नाथरूपत्वान्मङ्गलं पार्वतीपतिः।
मङ्गलायतनः सोऽयं शिवशब्देन भण्यते॥ २६७॥
हरो हरति पापानि मङ्गलैकावशेषणः।
इन्द्रस्तं मङ्गलात्मानं हृदि स्थापयतु प्रभुः॥ २६८॥

शंभु सर्वकल्याणकारी होने से स्वस्ति-मंगल है। वृषभ का भागवत में धर्मरूप बताया है। धर्म ही ध्वजवत् परमात्मापरिचायक-दर्शक है। अतः वृषभध्वज मंगल है। 'पर्वपूरणे' 'भृसृदृशि॰' से अतच्। पूर्ण सम्बन्धी शक्ति पार्वती का नाथ होने से मंगल है। मंगल का तो घर ही है।

इसीलिये मंगलार्थक शिव शब्द उनका नाम ही है पापहारी भी है। उस स्वस्ति मंगल हर को इन्द्र हमारे हृदय में स्थापित करे।

नन्वव्ययं स्वस्तिपदं कथं नामाच्युतेशयोः।
स्वरव्ययं न किं नाम स्वर्गस्यैवं भवत्विदम्॥ २६९॥

स्वस्तिपद अव्यय है। यह विष्णु और शिव का नाम कैसे? स्वर अव्यय है स्वर्ग का वह नाम नहीं है क्या?

वस्तुतो विष्णुशिवयोर्मङ्गलत्वं विधीयते।
मङ्गलस्थापनोक्तौ चा-ऽऽयातौ विष्णुशिवाविति॥ २७०॥

वस्तुतः मङ्गलं भगवान इत्यादि में विष्णु और शिव में मंगलत्व का विधान है। फलतः मंगल स्थापन कथन से विष्णु शिव स्थापन अर्थ आता है इतना ही कहना है।

स्वस्तीति मङ्गलाशीर्वाक् पापनिर्णेजनादिषु।
भागुरिर्व्याजहारान्ये क्षेमपुण्यादिषूचिरे॥ २७१॥

स्वस्ति का मंगल आशीर्वाद एवं पाप का धोना आदि अर्थ है ऐसा भामुरि आचार्य कहते है। क्षेम एवं पुण्य आदि अर्थ है ऐसा अन्य आचार्य कहते हैं।

मङ्गलं नो दधात्विन्द्रः पापनिर्णेजनं तथा।
स्वस्तीति शब्द एवाशीर्वचनं तद्दधातु नः॥ २७२॥
स्वस्तीत्यस्मान् प्रतीन्द्रश्चेदाशीर्वाचं दधीत सः।
स्यात्सर्वकार्यसिद्धिर्न इति वेदविदां मतम्॥ २७३॥
एवं पुण्यं दधात्विन्द्र इत्यप्यर्थ इहेक्ष्यताम्।
एषैव प्रार्थना पुण्यकारणात्मतयेष्यताम्॥ २७४॥

भागुरि एवं अन्यों का वचन मिलाकर ये अर्थ होंगे-इन्द्र हमारे पापों शुद्धि करें। स्वस्ति यह शब्द हमारे प्रति आशीर्वचन के रूप में प्रयुक्त करें जिससे हमारा सर्व कार्य सिद्धि हो। इन्द्र हमारा पुण्य सम्पादन करें। बिना कर्म किये कैसा पुण्य? यही प्रार्थना पुण्यकरण हो ऐसा तात्पर्य लगायें।

एतेनाकारिचेत् पुण्यं कर्मैषा प्रार्थना वृथा।
न चेत् कृतं प्रार्थनैषा वृथैवेति समाहितम्॥ २७५॥
लोकेऽपि प्रार्थनामात्रात् प्रार्थितं ददते बुधाः।
तत्प्राप्तौ प्रार्थना हेतुस्तद्वदत्रापि बुध्यताम्॥ २७६॥

इससे इस शंका का समाधान हो जाता है कि पुण्यकर्म यदि किया तो प्रार्थना किये बिना भी पुण्य कर्मादृष्ट हो जायेगा। यदि पुण्यकर्म नहीं किया तो प्रार्थना करने से पुण्यकर्मादृष्ट कैसे मिलेगा। लोक में याचक पैसा आदि मांगता है तो मांगी चीज दाता देता है। न मांगे तो नहीं देता है। अतः मांगना इष्ट प्राप्ति के प्रति कारण हुआ। वहां यह शंका नहीं की जा सकती कि कौनसी नौकरी करने से उसे इष्ट धनादि मिला।

अस्यतिः क्षेपणे दीप्ता-वसतिश्च स्मृतौ ततः।
क्तिज्वा तिर्वाऽव्ययत्वं तु भवेच्चादिषु पाठतः॥ २७७॥
एनसां तमसां वापि क्षेपणं विदधात्वसौ।
ज्ञानदीप्तिं च विदधात्वित्यप्यर्थोऽत्र गृह्यताम्॥ २७८॥

पापों का या अज्ञानों का वह निराकरण करे। ज्ञानदीप्ति करे। असक्षेपणे अस दीप्तौ (भ्वादिः) क्तिच् या ति प्रत्यय। चादिपठित होने से अव्यय है।

इन्द्रः

परमैश्वर्यवानिन्द्रो बलाधिष्ठातृदेवता।
न स्थौल्यं बलहेतुस्तु तेज एव तथोच्यते॥ २७९॥

'इदि परमैश्वेर्य' धातु से निष्पन्न होने से इन्द्र का परमैश्वर्यवान् अर्थ है। वहां बलाधिष्ठातृ देवता है। बल हेतु स्थूलता नहीं। तेजस्विता है।

क्षुद्राङ्कुशवशो हस्ती दभ्रदीपहतं तमः।
ह्रस्ववज्रहतः शैल-स्तेज एव बलं ततः॥ २८०॥

छोटे अंकुश से हाथी वश हो जाता है। अल्प दीप से भारी तम नष्ट होता है। हड्डी से बने वज्र से पर्वत को तोडा। अतः तेज ही बल है-नीति श्लोक है:-

हस्ती स्थूलतनुः स चाङ्कुशवशः किं हस्तिमात्रोऽङ्कुशो।
वज्रेणाभिहताः पतन्ति गिरयः किं शैलमात्रः पविः॥
दीपे प्रज्वलिते विनश्यति तमः किं दीपमात्रं तमः।
तेजो यस्य विराजते स बलवान् स्थूलेषु कः प्रत्ययः॥
सत्वेन वर्धते तेजः सत्त्वेनैवैधते बलम्।
सत्त्वेन बलवानिन्द्रः स हि सत्त्वगुणाश्रयः॥ २८१॥

सत्त्वगुण से तेज बढता है। बल बढता है। सत्त्व से इन्द्र बलवान हुआ। वह सत्त्वगुणपूर्ण है। गीताः-

आयुःसत्त्वबलारोग्य-सुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥ २८२॥
विधित्सितं सात्त्विकत्वमाहारेषु न भोक्तृषु।
आहारयज्ञप्रभृतौ त्रैविध्यप्रक्रमादिति॥ २८३॥

गीता में आयु सत्त्व बल आरोग्यवर्धकरूप से सात्त्विकाहार वर्णन किया है। वहां आहारादि में सात्त्विकादि विवक्षित है। न कि आहार करनेवालों में, क्योंकि यज्ञ तप आदि के साथ आहार का उपक्रम किया है-आहारस्त्वपि सर्वस्य इत्यादि।

सत्वे समेधमाने हि देवतास्य प्रसीदति।
सुसत्त्वं साधयत्वेष इन्द्रो मे परमेश्वरः॥ २८४॥

सत्त्वगुण के बढने पर ही व्यक्ति पर देवता प्रसन्न होते हैं। परम ऐश्वर्यवान इन्द्र सुसत्त्व-स्वस्ति संपादन करे।

ननु सत्त्वं गुणो ह्येष न सद्भावोऽस्तिशब्दितः।
सत्यं सतोभाव एव सत्त्वं तेनार्थ संगतिः॥ २८५॥

कहां का कहां जोड रहे हो? सत्त्व तो सत्त्वगुण हुआ। स्वस्ति में अस्तित्व उक्त है।

षदेः क्विपि भवेत् सत्तद्-भावः सत्त्वगुणस्तु चेत्।
अस्तेः शतरि तद्भावे कः प्रद्वेषस्तवोच्यताम्॥ २८६॥

षद्‌ धातु से क्विप् और त्व प्रत्यय से सत्त्वगुण होगा। अस धातु से

शतृ और क्विप करने में आप की नाराजगी क्यों है?

सदेर्विशरणाद्यर्थः कथं सत्त्वगुणे युयात्।
कथं वा न युयाद्दीर्घजीवित्वं स्वस्तितादिके॥२८७॥

सद् धातु का विशरणादि अर्थ है। सीदन्ति मम गात्राणि आदि प्रयोग है। ऐसा आयु बलारोग्यवर्धक कैसे? यदि उसे सिद्ध कर सकते हैं तो सुअस्तित्व-शोभन जीवन भी आयुरादिवर्धक क्यों नहीं होगा? अतः शब्दार्थ कलह वृथा है।

वृद्धश्रवाः

कथं स्वस्ति दधात्विन्द्रः स हि वृद्धश्रवा यतः।
श्रवस्तु धनमत्र स्यात् पठितं धननामसु॥२८८॥

इन्द्र कैसे स्वस्ति धारण-स्थापन करेगा? इसका उत्तर है-वृद्धश्रवाः। श्रव माने धन।

श्रुधात्वर्थानुगमतः श्रवणोत्थं धनं मतम्।
ब्रह्मविद्याप्रकरणे तद्विशेषेण संगतम्॥२८९॥
विद्याधनं सर्वधन-प्रधानमिति नैतिकाः।
अध्यात्मविद्या विद्यानां सर्वश्रेष्ठधनं तु सा॥२९०॥

श्रव में श्रु धातु है उसका अर्थ जोडते हैं श्रवणोत्पन्न धन श्रवस का अर्थ होगा। ब्रह्मविद्या प्रकरण में ब्रह्मविद्यारूपी धन अर्थ होगा। ('विद्याधनं सर्वधन प्रधानं' 'अध्यात्मविद्या विद्यानां' इन दोनों वाक्यों को मिलाने पर वही सही सर्व श्रेष्ठ धनश्रव होगा।)

सुवर्णादिर्ननु धन-मुपभोगस्य साधनम्।
मुख्यं प्रसिद्धं लोके च विद्या कस्माद्धनं भवेत्॥२९१॥

सुवर्णादि उपभोग्य साधन लोक में धनरूप से प्रसिद्ध है। विद्या कैसे धन है?

ब्रह्म तेऽहं ब्रवाणीति दृप्तबालाकिरब्रवीत्।
अजातशत्रुराहाऽस्यां सहस्रं वाच्यहं ददे॥२९२॥

उत्तमात् श्रुतिसिद्धान्तान् शृण्वंश्च मिथिलेश्वरः।
आह सोऽहं भगवते सहस्रं हेम संददे॥२९३॥
अत ऊर्ध्वं विमोक्षाय ब्रूहीत्यपि वदत्यसौ।
ततः सामान्यविद्याया मूल्यं तदिति गम्यते॥२९४॥
अन्तेऽब्रवीद्भगवते विदेहान् प्रददाम्यहम्।
मां चापि सह दास्यायेत्यमूल्यं सूचयन् धनम्॥२९५॥

बृदहारण्यक में दृप्तबालाकि ने कहा 'मैं आप को ब्रह्म सुनाता हूं' इस पर अजातशत्रु ने कहा इतने वचन के लिये मैं आपको सहस्र मुद्रा देता हूं। उत्तम श्रुति सिद्धान्तों को सुनते हुए प्रत्येक के पीछे राजा जनक ने याज्ञवल्क्य को कहा-इसके लिये मैं आपको हजार सुवर्ण मुद्रा देता हूं। फिर कहा अब मोक्ष के लिये बताईये। इससे सामान्य विद्या का ही मूल्य सहस्र-सहस्र है ऐसा अर्थ निकलता है। अन्त में पूर्ण ब्रह्म विद्या कही तो राजाने कहा-पूरा विदेह राज्य आपको देता हूं और अपने आप को सेवा के लिये समर्पित करता हूं।

इन्धमेव परोक्षेण त्विन्द्रमाचक्षते बुधाः।
इन्धस्य खलु सर्वस्वं ज्ञानदीप्तिर्न संशयः॥२९६॥

इन्ध को ही इन्द्र कहते हैं। ञिइन्धी दीप्तौ। इसका सर्वस्व ज्ञान दीप्ति है।

देवेन्द्रार्थत्वपक्षेऽपि विज्ञानधन एव सः।
प्राह प्रतर्दनं प्राणः प्रज्ञात्मास्तीत्यसौ पुरा॥२९७॥
प्रजापतौ वर्षशतं ब्रह्मचर्यमुवास सः।
अवाप ब्रह्मविद्यां च तेन ज्ञानधनश्च सः॥२९८॥

इन्द्र का देवेन्द्र अर्थ हो तो भी वह ज्ञान था। प्रतर्दन को प्राणोस्मि प्राज्ञात्मा इत्यादि उपदेश इन्द्र ने दिया था। सौ वर्ष ब्रह्मचारी रहकर प्रजापति से ब्रह्मविद्या प्राप्त की थी। इसलिये भी ज्ञानधनत्व सिद्ध है।

श्रवसश्चेद् यशोऽर्थत्वमेतेनैव समर्थ्यते।
लोके प्रसिद्धिमापेन्द्रः सुप्रसिद्धयशोयुतः॥२९९॥

प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवासैकशतं हवै।
वर्षाणि मघवेत्याहुरितिच्छान्दोग्यवाक्यतः॥ ३००॥
ह शब्देन प्रसिद्धत्वं संप्रदर्शयति श्रुतिः।
आहुर्लोका इति च गीः सर्वलोक प्रसिद्धिताम्॥ ३०१॥

श्रवस् का यश अर्थ पक्ष का भी इसीसे समर्थन होता है। इन्द्र ने लोक में प्रसिद्धि पायी एकसौ एक वर्ष प्रजापति के पास ब्रह्मचर्य वास किया ऐसी जनश्रुति छान्दोग्य में बतायी है। वहां 'ह' शब्द से ही प्रसिद्धि बतायी। आहुः बहुवचन से सर्व लोक प्रसिद्धि कही। यही तो यश है।

स्वस्ति नः पूषा

वृद्धश्रवा इति पदे श्रवो नाम धनं भवेत्।
धनं च ज्ञानलक्ष्मैव वेदान्तानां प्रसङ्गतः॥ ३०२॥
तथापि श्रवणोत्थं हि ज्ञानमत्रोपतिष्ठते।
यतः श्रुधातुनिष्पन्नः शब्दोऽयं श्रव इत्यदः॥ ३०३॥
अथ द्वितीयपादेन पूषा संप्रार्थ्यते महान्।
पोषणादुच्यते पूषा श्रुतार्थपरिपोषणः॥ ३०४॥

वृद्धश्रवा में श्रव का धन अर्थ बताया वह भी ज्ञानात्मक धन। क्योंकि वेदान्त विद्यार्थी पढ रहा है। किन्तु श्रु धातु निष्पन्न होने से श्रवणजन्य ज्ञान का ही लाभ होता है। द्वितीय पाद में पूषा की प्रार्थना है। श्रुत अर्थ पोषणकारी यहां पूषा का अर्थ है।

पूषन्नेकर्ष इत्यत्र रश्मिव्यूहनमीरितम्।
कल्याणतमरूपस्य दर्शनायाऽस्य साधकः॥ ३०५॥
नामरूपात्मकं सर्वं रश्मिरूपं परात्मनः।
अस्तिभातिप्रियं तस्य कल्याणतममेव च॥ ३०६॥
नामरूपे विगमय बन्धनं यत्तदीक्षितुः।
सच्चिदानन्दरूपं च वीक्षमाणस्य मोक्षणम्॥ ३०७॥

स एव कुरुते तत्र प्रार्थितं प्रेरणं प्रभुः।
तदेवाह च गायत्र्यां धियो यो नः प्रचोदयात्॥ ३०८॥

'पूषन्नेकर्षे' इस मन्त्र में कल्याणतमरूप दर्शनार्थ रश्मिविगमन बताया। नामरूप परमात्मा का रश्मिरूप है। अस्ति भाति प्रिय कल्याणतम रूप है। नामरूप को हटाओ जो उसे देखनेवालों के लिये बन्धन है। सच्चिदानन्दरूप मोक्षकारण है। वही प्रभु सूर्य प्रार्थना करने पर तदर्थ प्रेरित करता है यही गायत्री में 'प्रचोदयात्' से बताया।

मननात् संततकृताद् विवेकज्ञानमुद्भवेत्।
नामरूपेमृषा भाता-मस्तिभात्योः पृथक्कृते॥ ३०९॥
अद्वैतस्य श्रुतार्थस्य तदेव किल पोषणम्।
ते सती पश्यतां क्वेवा-ऽद्वैतसाम्राज्यधुर्यता॥ ३१०॥
पूषानुग्रहलभ्यं तत् पोषणं श्रुतसद्धियः।
पोषणं पुष्टिरिति च प्राहुर्भागवता बुधाः॥ ३११॥
पुष्टिं चानुग्रहं कार्ये कारणस्योपचारतः।
मननादेव भवति श्रुतार्थपरिपोषणम्॥ ३१२॥
तत्र चानुग्रहः पूष्ण आप्नोति सहकारिताम्।
द्वारत्वं वा ततश्चेयं प्रार्थना पोषणार्थिनः॥ ३१३॥

निरन्तर मनन से अस्तिभाति का और नामरूप का विवेक ज्ञान होता है। अस्ति पृथक् हुआ कि नामरूप मृषा दिखने लगते हैं। यही श्रुत अद्वैत का पोषण है। नामरूप जब तक सत् दिखते है तब तक अद्वैत का बोलबाला नहीं हो सकता। यह पोषण पूषदेवानुग्रह से प्राप्य है। पोषण को भागवतलोग पुष्टि कहते हैं। उसीं को अनुग्रह कहते हैं। अनुग्रहजन्य होने से कार्य में कारणोपचार है। मनन से श्रुतिपोषण होता है। उसमें पूषा का अनुग्रह सहकारिकारण या द्वारकारण होगा। अनुग्रहार्थ स्वस्ति नः पूषा यह प्रार्थना है।

मृत्वा समभवत् प्रेतो धुन्धुकारी महाखलः।
गोकर्णः श्रवयामास तस्य भागवतं किल॥ ३१४॥

सप्तग्रन्थियंयुतं वंशं प्रेतः श्रोतुमशिश्रियत्।
सप्ताहश्रवणात्तस्य निर्भिन्नं ग्रन्थिसप्तकम्॥ ३१५॥
यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते ग्रन्थयो हृदयस्य ये।
अथ मर्त्योऽमृतो भूत्वा ह्यत्र ब्रह्मसमश्नुते॥ ३१६॥
कामः क्रोधश्च लोभश्च मोहश्च मद एव च।
दम्भोऽहंकार एवापि ग्रन्थयः सप्त कीर्ति ताः॥ ३१७॥
अहं ममेति वा स्थूल-सूक्ष्म-बीज-तनूषु षट्।
परिच्छिन्नोऽहमिति च ग्रन्थीनां वास्तु सप्तकम्॥ ३१८॥

खल धुंधुकारी मरकर प्रेत बना। गोकर्ण ने उसे भागवत सुनाया। सप्तग्रन्थिवाले बांस पर वह सुनने बैठा। सात दिन सुनने से उसकी सात ग्रन्थियां टूटी। अध्यात्म में हृदय ग्रन्थि समझ लो जिनके टूटने से मर्त्य अमृत होता है। कामः क्रोधादि सात ग्रन्थियां हैं। या तीन शरीरों में अहं मम ऐसा छः और मैं अल्प हूं ऐसा सातवां समझो।

श्रवणादागमत्तस्य विमानं धुन्धुकारिणः।
विमानमिति विज्ञानं विविक्तविषयं हि यत्॥ ३१९॥
सूर्यप्रेरणया चेदं सर्वं हि समपद्यत।
तस्यैवानुग्रहान्नूनं विमानमपि मन्महे॥ ३२०॥

सप्ताह श्रवण से धुंधुकारी को विमान आया। विमान-विज्ञान-विविक्त ज्ञान। सूर्य प्रेरणा से ही यह सब हुआ था। सूर्य के अनुग्रह से सब हुआ ऐसा हम मानते हैं, कथा भी है।

अत्रैव बहवः सन्ति श्रोतारो निर्मला मम।
कस्मान्नायन् विमानानीत्यपृच्छद् गोश्रवास्तदा॥ ३२१॥

गोकर्ण ने पूछा सब श्रोताओं के लिये अलग विमान क्यों नहीं आये।

श्रवणं तु कृतं सर्वैर्न तथा मननं कृतम्।
फलभेदस्ततो जात इति वैमानिका जगुः॥ ३२२॥

वैमानिकों ने कहा-सुना सब ने, पर मनन नहीं किया। इसलिये फल भेद हो गया।

अदृढं हि हतं ज्ञानं प्रमादेन हतं श्रुतम्।
पुष्टं ज्ञानं तु भवति मोक्षदं मननादियुक्॥३२३॥

अदृढ ज्ञान नष्ट होता है। प्रमाद से श्रुत भी नष्ट होता है। मननादि युक्त दृढ ज्ञान ही साक्षात्कार कारक और मोक्षदायी होता है।

तत्रासंभावना ज्ञानं श्रुतं शिथिलयेद् बलात्।
विपरीता भावना च कुर्यान्निर्वीर्यमेव च॥३२४॥

असंभावना श्रुतादि ज्ञान को शिथिल बनाती है। विपरीत भावना निर्वीर्य बनाती है।

श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा च सततं ध्येय इत्युक्तं तेन वेदिभिः॥३२५॥
बहुधा श्रवणं कार्यं बोधतद्दार्ढ्ययोः कृते।
श्रुतिवाक्येभ्य इति हि बहुत्वेनोदितं ततः॥३२६॥
न स्वाध्यायात्प्रवचनात् प्रमाद्यमिति च श्रुतिः।
स्वाध्यायावश्यकार्यत्वं प्रवक्तुरपि भाषते॥३२७॥

श्रुतिवाक्यों से श्रवण करो, युक्तियों से मनन करो, सतत ध्यान करो इस स्मृति में श्रुतिवाक्येभ्य इस बहुवचन बोध एवं उसकी दृढता के लिये बहुत श्रवण करने बताया। स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यं यह केवल प्रवक्ता के लिये नहीं कहा।

श्रोतव्यमितरस्माद्वा पठितव्यं स्वयं हि वा।
मुहुर्ग्रहणकर्तव्यभावस्तत्रोच्यते श्रुतेः॥३२८॥

दूसरे से सुनो या स्वयमेव पढो, ग्रहण करो बार-बार।

श्रवणावर्तनं चैव दार्ढ्यकारणमिष्यते।
विज्ञापयतु मा भूय एवेति श्रुतिदर्शनात्॥३२९॥

भूय एव मा भगवान विज्ञापयतु-ऐसी श्रुति भी लिंगविधया समर्थक है।

यद्यप्यल्पश्रवणतः प्रबुध्यन्त्युत्तमा जनाः।
तद्दौर्लभ्यात्तु कथितं श्रुतिवाक्येभ्य इत्यदः॥३३०॥

उत्तमाधिकारी अल्प श्रवण से भी कृतार्थ होता है। किन्तु ऐसा अधिकारी ही दुर्लभ है।

नित्यं नवनवार्थस्य स्फुरणं जायते मम।
गीतावर्तनतो हीति महात्मापि किलाब्रवीत्॥ ३३१॥

गीता के आवर्तन से नया नया अर्थ स्फुरण मुझे होता है ऐसा महात्माजी (गांधी) ने भी कहा।

नित्यस्वाध्यायतश्चैव तथा प्रवचनादपि।
सुसूक्ष्मार्थप्रकाशः स्याद् ज्ञानदार्ढ्यं च जायते॥ ३३२॥

नित्य स्वाध्याय और प्रवचन से अति सूक्ष्म बात प्रकाशित होगी और ज्ञान दृढ होगा।

न पाठमात्र आवृत्तिः सोपपत्तिविचारणा।
नाना च सा तथा चोक्तं मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः॥ ३३३॥
आवर्तयामास नव-कृत्वस्तत्त्वमसीति हि।
प्रत्यावृत्ति तु भिन्नैव युक्तिस्तत्र प्रदर्शिता॥ ३३४॥

आवृत्ति पाठमात्र नहीं उपपत्ति भी नाना चाहिये। यही उपपत्तिभिः इस बहुवचन से कहा। तत्त्वमसि का नौ बार आवर्तन किया किन्तु अलग अलग रखी युक्ति।

तस्मान्निर्विद्य पाण्डित्यं तिष्ठासेद् बाल्यतः सुधीः।
बलस्य भावो दार्ढ्यं तद् मननादिसमुद्भवम्॥ ३३५॥

श्रवण कर बाल्य से रहो। बल भाव-बाल्य दाढ्यार्थ है जो मनन जन्य है।

पोषणं पुष्टिरित्येतद् तद्बाल्यं मननोद्भवम्।
कार्यकारणतापन्नं पूषा संपादयेदिति॥ ३३६॥

पोषण पुष्टि बाल्य एक ही है, मनन से होता है इनकी पूषा संपन्न करता है।

श्रद्दधानस्य जिज्ञासोर्गुरूद्दिष्टोपपत्तिभिः।
बोधः स्यादनपेक्ष्यान्यद् श्वेतकेतोर्यथैव हि॥ ३३७॥

अतएव विशेषेण मध्ये उद्दालको जगौ।
श्रद्धत्स्व सोम्य सुश्रद्धा सत्यबोधकरी यतः॥ ३३८॥
श्रद्धांतिशययुक्तस्य महामेधाविनः पुनः।
न निदिध्यासनस्यापि स्यादपेक्षेति गम्यते॥ ३३९॥
अत एवोपदेशोर्ध्व-मनुक्त्वा साधनान्तरम्।
श्रुतिराचष्ट तद्धास्य विजज्ञावित्यनन्तरम्॥ ३४०॥

श्रद्धा हो तो गुरूक्त उपपत्ति मात्र से बोध हो जायेगा। इसीलिये बीच में उद्दालक ने सोम्य! श्रद्धा करो। यहां तक कि निदिध्यासन की भी जरूरत नहीं पडेगी। इसीलिये उद्दालक के उपदेश के तुरंत बाद श्वेतकेतु को विज्ञान (साक्षात्कार) हुआ बताया।

श्रद्धातिशयराहित्ये उपदेशादनन्तरम्।
कर्तव्यं मननं चैव निदिध्यासनमेव च॥ ३४१॥
अत एव च मैत्रेयीं याज्ञवल्क्यो जगावृषिः।
व्याचक्षाणस्य मे सम्यङ् निदिध्यासस्व सुप्रिये॥ ३४२॥
सामान्यानां पुनर्ग्राह्यं मननं श्रवणोत्तरम्।
भवेत्ततो ज्ञानदार्ढ्यं पूष्ण एवानुकम्पया॥ ३४३॥
निदिध्यासनमप्येवं कर्तव्यं नैव संशयः।
सामान्यानां विशिष्टानां नापेक्षेति पुरोदितम्॥ ३४४॥

अतिशय श्रद्धा न हो तो विशेष मनन और निदिध्यासन कर्तव्य है। इसीलिये याज्ञवल्क्य ने मैत्रैयी को व्याचक्षणस्य में निदिध्यासस्व कहा। सामान्य लोगों के लिये श्रवणोत्तर मनन करना ही है। ज्ञानदार्ढ्य मननकारी को पूषा कर देगा। तथा निदिध्यासन भी सामान्य महात्मा को करना है। विशिष्टों को उसकी अपेक्षा न होगी यह पहले कहा।

परे किलोपसंहार-न्यायात् सर्वस्य संजगुः।
निदिध्यासनमप्येव कर्तव्यं मोक्षमिच्छतः॥ ३४५॥
तद्धास्य च निदिध्यास्य विजज्ञाविति योज्यताम्।
श्वेतकेतोरिति जगुः श्रुतिव्याख्यानकोविदाः॥ ३४६॥

श्रुतिव्याख्यानकुशल दूसरे मनीषी कहते है-उपसंहार न्याय से निदिध्यासन अवश्य कर्तव्य है। छान्दोग्य में तद्धास्य निदिध्यास्य विजज्ञौ ऐसा जोडकर व्याख्या करो।

श्रद्धासत्त्वेऽपि मननं न दोषयोपकल्पते।
पुष्येज्ज्ञानं ततो युक्तं कर्तुं मननमात्मनः॥ ३४७॥

श्रद्धा हो तो भी मनन में हानि क्या? ज्ञानपोषण गुण ही है अतः करने योग्य ही है।

जगदेतन्मृषा सर्वं दृश्यत्वाच्छुक्तिरूप्यवत्।
न हि दृग्दृश्यसम्बन्धो घटते हि कथंचन॥ ३४८॥
अनवस्थैव सम्बन्धे सम्बन्धान्तरमस्ति चेत्।
नो चेत् सर्वत्र सर्वस्य भवेत् सम्बद्धधीः प्रमा॥ ३४९॥

यह जगत दृश्य होने से शुक्तिरूप्यवत् मृषा है। क्योंकि दृग् दृश्य सम्बन्ध नहीं बनता। ज्ञान अंदर है, घट बाहर है, क्या उनका सम्बन्ध? अतः शुक्ति रजत के समान कल्पनामात्र है। घटरूप आंख में आया उससे ज्ञान का सम्बन्ध हुआ कहो तो कौनसा सम्बन्ध हुआ? यदि संयोग हुआ तो उस संयोग का ज्ञान के साथ और घटरूप के साथ सम्बन्ध दो मानने होंगे। वे कौन से सम्बन्ध हैं? उन दोनों सम्बन्धों के संयोग के साथ चार और मानो तो अनवस्था ही होगी। बिना सम्बन्ध सम्बद्धधी हो तो सर्वत्र सर्व सम्बद्धधी होगी।

सामीप्यमेव सम्बन्ध इति चेत्तच्च दुर्भणम्।
समीपदेशसम्बन्धः सामीप्यं तुल्यमेव तत्॥ ३५०॥

अति सामीप्य ही सम्बन्ध है अलग चीज नहीं, कहो तो भी कोई फरक नहीं। समीप देश सम्बन्ध ही सामीप्य है। सम्बन्ध का झमेला फिर उसमें आ गया और अनवस्था ही होगी।

शैशवे वृत्तमखिलं स्वप्नवत्स्मर्यतेऽधुना।
अद्यगं स्वप्नवच्चैव याते काले स्मरिष्यते॥ ३५१॥

अधुनैव कुतो बन्धो स्वप्नवन्नैव वीक्षताम्।
अस्वप्नतुल्यं न स्वप्न तुल्यं भवितुमर्हति॥ ३५२॥

बचपन में जो भी हुआ रोया खाया सब आज स्वप्नवत हुआ। आज जो हो रहा है कालान्तर में वह स्वप्नवत होगा तो अभी ही इसे स्वप्नवत क्यों न मानें?

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्भूतकालात्यये सति।
स्वप्नवत् स्यात्तथा सर्वं जगच्च समयात्यये॥ ३५३॥
पूर्वकल्पभवं सर्वमधुनाऽभूदसत्समम्।
असत्कल्पमिदंकल्पभवं कल्पान्तरे भवेत्॥ ३५४॥
असत्कल्पमतः सर्वं मोहं क्वाप्येव मा गमः।
मन्वानस्यैवमद्वैतविज्ञानं परिपुष्यति॥ ३५५॥

जो उत्पन्न हुआ वह निश्चित मरेगा। समय बीतने पर स्वप्नवत होगा। वैसे सभी जगत नष्ट होकर स्वप्नवत् होगा। पूर्वकल्पीय सभी आज असत् तुल्य हो गया कोई मनुष्य स्मरण ही नहीं करता। आज का सब कल्पान्तर में उसके बाद फिर कभी भी स्मरण नहीं करेगा। अतः पूरा जगत असत् सम है, मोह व्यर्थ है ऐसा मनन करने पर अद्वैत विज्ञान निश्चित परिपुष्ट होता है।

शरीरपोषणं स्थूलं सूक्ष्मं तु ज्ञानपोषणम्।
पूषा प्रचोदनाद्दोष-विशेषपरिशोषणात्॥ ३५६॥

देहपोषण स्थूल है, ज्ञानपोषण सूक्ष्म है। दोष विशेष नाशन से पूषा पोषण करता है।

प्रज्ञामान्द्यादिकं प्रोक्तं ज्ञानस्य प्रतिबन्धकम्।
धियां प्रचोदनात्प्रज्ञामान्द्यं पूषा विपेषयेत्॥ ३५७॥

प्रज्ञामान्द्यादि ज्ञान प्रतिबन्धक है। प्रज्ञामान्द्य को बुद्धि प्रचोदन से पूषा हटायेगा।

विश्ववेदाः

वेत्तेर्वेदस्त्वसुन्नन्तो विश्वं यो वेत्त्यसौ तथा।
वेदनं सर्वविषयविशेषज्ञानमुच्यते॥ ३५८॥

यः सर्वज्ञः सर्ववित्तन्-मन्त्रभाष्ये तथोदितम्।
हिरण्यगर्भं तं प्राहुः सूर्यमण्डलवर्त्तिनम्॥ ३५९॥

विश्व को जाननेवाला विश्ववेदा है। सर्व विषय विशेष ज्ञान भाष्य में दिखाया है। सूर्यमण्डलवर्ती हिरण्यगर्भ ही विश्ववेदा है ऐसा विश्व ज्ञान बताते हैं।

समष्टिसूक्ष्मदेहाभि-मानिनं च समूचिरे।
सर्ववित्त्वं ततो ह्यस्य पश्यतः सर्ववासनाः॥ ३६०॥
वासनामय एवायं संसारः परिकीर्त्तितः।
स्मृत्यात्मना परिणतां लोकाः पश्यन्ति वासनाम्॥ ३६१॥
समुद्बुध्यन्ति यावत्यो वासनास्ताः प्रकाशयेत्।
जीवो हिरण्यगर्भो वा तेन तौ तद्विदौ मतौ॥ ३६२॥
अदृष्टादिभिरुद्बोधो जीवस्य तु कदाचन।
परं हिरण्यगर्भस्य स्वेच्छयोद्बोध इष्यते॥ ३६३॥
यद्बोद्भूतामनुद्भूतां सर्वां पश्यति वासनाम्।
अतः स भूत-भाव्यादि-सर्ववित् समुदीरितः॥ ३६४॥

समष्टि सूक्ष्म शरीराभिमानी होने से हिरण्यगर्भ सर्ववित् है। वासनामय ही तो संसार है स्मृतिरूप होने पर लोग भी स्ववासना को देखते हैं। अदृष्ट विशेष से वासनोद्बोध होता है, उद्बुद्ध अनुद्बुद्ध सबको हिरण्यगर्भ देखता है, अतः भूत भावि सबका ज्ञान उसे होता है।

नारायणं तु सवितृमण्डलस्थं ननूचिरे।
सत्यं हिरण्यगर्भः स नारायणपदोदितः॥ ३६५॥

'ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती नारायणः' कहा है? ठीक है। हिरण्यगर्भ ही नारायण है।

सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
आप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्॥ ३६६॥
तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्।
तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः॥ ३६७॥

इत्येवं मनुनाख्यातं हैमेजातत्वतस्तु सः।
हिरण्यगर्भ एवेति मेधातिथ्यादयो जगुः॥ ३६८॥
आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥ ३६९॥
इति नारायणपदव्युत्पत्तिं तदनन्तरम्।
ऊचे हिरण्यगर्भोऽतो नारायणपदाभिधः॥ ३७०॥

स्वयंभू ने प्रजासृष्ट्यर्थ प्रथम जलसृष्टि कर उस में बीज डाला। वह सूर्यप्रभ सुवर्णमय अण्ड बना। उसमें ब्रह्मा उत्पन्न भये ऐसा मनु ने कहा। सुवर्णाण्ड उत्पन्न होने से वही हिरण्यगर्भ है ऐसा मेधातिथि आदि व्याख्याकारों ने कहा। आगे मनु कहते हैं 'आपः' जल को ही नार कहते हैं। वह अयन-आश्रय होने से उस हिरण्यगर्भ को नारायण बताया।

परे नरसमूहस्या-ऽऽश्रयं नारायणं जगुः।
व्यष्टीनामाश्रयस्तावत् समष्टिर्हि भवत्यतः॥ ३७१॥

दूसरे कहते हैं नराणां समूहः नारः (तस्य समूहः सूर्य सचित नर से अण् हुआ) व्यष्टि समुदाय का आश्रय समष्टि होने से नारायण समष्टिरूप हिरण्यगर्भ ही है।

हिरण्यगर्भो वेदार्थ-गोचरां वासनां प्रभुः।
उद्बोध्य प्रेरयत्वर्थ-मननाय शमाय नः॥ ३७२॥

तब मन्त्रार्थ होगा-हिरण्यगर्भ वेदार्थ विषयक वासना को उद्बुद्ध कर शम हेतु अर्थ मनन के लिये हमें प्रेरित करें।

येषां श्रवणमात्रेण सद्बोधो नोपजायते।
तेषां मननमापाद्य स्वस्ति पूषा दधात्वसौ॥ ३७३॥

श्रवण मात्र से सद्बोध जिनको नहीं होता उन्हें मनन करा कर पूषा मंगल करे।

धनवाची च भवति वेदश्शब्दः क्वचित् क्वचित्।
निघण्टौ कश्यपेनापि पठितो धननामसु॥ ३७४॥

विद्लृ लाभे ततश्चासुन्ययं शब्दश्च सिध्यति।
भुवनार्थे स्मृतं विश्वं तद्धनं भास्वतो मतम्॥ ३७५॥
चराचरस्य जगत आत्मा तस्य धनं जगत्।
सूर्य आत्माऽस्य जगतस्तस्थुषश्चेति यच्छ्रुतम्॥ ३७६॥

वेदस् शब्द का धन भी अर्थ है। निघंटु में धननामों में वेदस् आया है। 'विद्लृलाभे' धातु से यह शब्द बना है। 'विश्वं कृत्स्ने च भुवने' ऐसा कोश है। भुवन जिस का धन हो वह विश्ववेदा है। 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' इस श्रुति से चराचर का आत्मा मालिक सूर्य है।

धनस्य क्रियते स्वस्ति धनिभिः, त्वं च नः धनी।
विश्ववेदाः स नः स्वस्ति कुर्विति प्रार्थ्यतेऽर्यमा॥ ३७७॥

धन का मंगल धनस्वामी करता है। हे पूषन् तुम्हारा हम धन है अतः हमारा भी मंगल अवश्य करो।

मानवो मननादेव मननं नो महाधनम्।
न विना मनन चैव शब्दोऽयं सार्थको मयि॥ ३७८॥
औष्णयहीनोऽनलः कः स्याद् रसहीनं च किंजलम्।
गन्धहीना तुनका पृथ्वी मा वोऽमननश्च कः॥ ३७९॥
तत्रापि स्वात्मविषय-मननं सर्वतोऽधिकम्।
तद्विना नैव सार्थक्यं मानवस्यास्य जन्मनः॥ ३८०॥
शब्दस्पर्शादयो वेद्या वैचित्र्याज्जागरे पृथक्।
ततो विभक्ता तत्संविदैकरूप्यान्न भिद्यते॥ ३८१॥
इत्यादि दर्शितं सम्यङ् मननं शास्त्रवेदिभिः।
तादृशं स्वात्ममननं विश्ववेदा दधातु नः॥ ३८२॥

मननवाला ही मानव है। मनन के बिना हम में मानव शब्द की भी सार्थकता नहीं है। गरमी न हो तो अग्नि क्या है, रस न हो तो जल क्या है, गन्ध न हो तो पृथ्वी क्या है। मनंन बिना मानव क्या। आत्म मनन सर्व श्रेष्ठ है। उसके बिना मानव जन्म की ही सार्थकता नहीं है। पञ्चदशी आदि में प्रथम मनन दिखाया। शब्दज्ञान, स्पर्शज्ञान आदि में विषय नाना है। ज्ञान

एकरूप है वही आत्मा है इत्यादि। ऐसा मनन विश्ववेदा पूषा करायें।

स्वस्ति नस्तार्क्ष्यः

दधातु स्वस्तिनस्तार्क्ष्यो गरुडो विष्णुवाहनः।
गत्यर्थकात्तृक्षधातोरचि तृक्षः स कश्यपः॥ ३८३॥
गर्गादित्वादणि भवेत्तार्क्ष्योऽपत्यार्थके पदम्।
द्विजिह्वानां विनाशाय तस्य जन्म प्रजापतेः॥ ३८४॥
कुत्सितद्रवणात् कद्रुः काद्रवेयास्तदात्मजाः।
सुगतेः कश्यपात् कद्र्वां कुगतौ फणिनोऽभवत्॥ ३८५॥
विनताया अपत्यं च वैनतेयो महान भूत्।
विशेषेणात्मनि नता नम्रा वा विनता किल॥ ३८६॥
काद्रवेयाः किल प्रायो दुष्टाः पातालवासिनः।
खेगतिर्वैनतेयश्च मातृदोषगुणान्वयात्॥ ३८७॥
गरुद्भ्यामयते व्योम्नि गरुडोसौ तलोमतः।
अपकृष्टतरा आद्या तथोत्कृष्टतरोऽपरः॥ ३८८॥

तार्क्ष्य हमारा मंगल करे। तृक्ष-कश्यप उसका पुत्र तार्क्ष्य-गरुड जो द्विजिह्व नाशार्थ पैदा हुआ। कुत्सित गतिवाली कद्द्रु उसके पुत्र काद्रवेय-सर्प। कश्यप की ही दोनों पत्नियां थी। विनता आत्मनत या नम्र थी। माता के दोष गुण से पुत्र तदनुरूप हुए। फलतः सर्प पातालवासी अधोगति हुए और गरुड आकाश गति ऊर्ध्वगति हुए। गरुत्-पंख, दो पंखों से जो आकाश में डयन उड्डयन करे वह गरुड है। त का लोप हुआ।

उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां गतिः।
तथैव ज्ञानकर्मभ्यां जायते परमं पदम्॥ ३८९॥
इति वासिष्ठवचनाद् ज्ञानकर्मयुतः पुमान्।
अयते परमाकाश इत्येषा गारुडी गतिः॥ ३९०॥

दो पंखों से आकाश में पक्षियों की गति है वैसे ज्ञान कर्म से परम गति होती है। इस वसिष्ठ वचन से ज्ञान कर्मयुक्त पुरुष परम पद में पहुंचता

है। यही तार्क्ष्य सूचित गारुडी गति है।

कर्तृत्वादिविमर्देन ज्ञानं स्यात् कर्म तद्वता।
कथं समुच्चयो ज्ञान-कर्मणोरिति चेन्न तत्॥ ३९१॥
विज्ञानकर्मणोर्मोक्षे मा भूत समसमुच्चयः।
तथापि स्वीकृतः सद्भिस्तयोः क्रमसमुच्चयः॥ ३९२॥

कर्तृत्वादि समास हो तब ज्ञान होता है। कर्तृत्वादि हो तब कर्म होता है। तब ज्ञान कर्म समुच्चय कैसे वसिष्ठजी कह रहे हैं। सुनो। ज्ञान और कर्म का समसमुच्चय भले न हो, क्रम समुच्चय संतों ने माना है।

ननु दृष्टान्तवैषम्यं यतः समसमुच्चयः।
पक्षयोर्व्योमगमने न मोक्षगमने तु सः॥ ३९३॥

पू. - दृष्टान्त विषम है। पंखों का आकाशगमन में समसमुच्चय है। मोक्षगमन में ज्ञान कर्म का समसमुच्चय नहीं है।

सत्यं यद्यत्फलेच्छुः स्याच्छ्रौतं तत्तदियात्फलम्।
तत् संयोगपृथक्त्वेन स्वर्गो वा ज्ञानमेव वा॥ ३९४॥
न च श्रवणतो ज्ञानं न यज्ञेनेति सांप्रतम्।
चित्तशुद्ध्यादिकद्वारा कर्मापि ज्ञानकारणम्॥ ३९५॥
न च कर्मान्यथासिद्धं, चित्तशुद्धिर्हि कारणम्।
भक्त्यादिभिश्च तच्छुद्ध्यानैकन्त्यादिति सांप्रतम्॥ ३९६॥
चित्तमालिन्यविरहोऽभावात्मा शुद्धिरिष्यते।
कामक्रोधादि मालिन्यं तत्तु स्यात्प्रतिबन्धकम्॥ ३९७॥
प्रतिबन्धकशून्यत्वमागते तर्हि कारणम्।
नैतन्नखल्वभावो हि कारणं वेदसम्मतम्॥ ३९८॥
स्यात्तत्तदव्यवहितो-त्तरे तत्तद्धि कारणम्।
ज्ञानेऽनैकान्तिकत्वं तद् न भक्तौ नापि कर्मणि॥ ३९९॥

उ. - फलेच्छा न हो तो मीमांसकों ने कर्म को निष्फल माना है (इष्टसाधनताज्ञान कर्म कारण है। तब इच्छा आ ही गयी) कर्म का फल

संयोग पृथक्त्वेन स्वर्गादि और ज्ञानादि है। यह कहो कि श्रवणादि ज्ञानकारण है, न कि यज्ञादि। नहीं। चित्तशुद्धि द्वारा यज्ञादि भी कारण है। यह कहें कि चित्तशुद्धि ही कारण है यज्ञादि कुलालपितृवत् अन्यथा सिद्ध है। नहीं। भक्ति आदि भी कारण होने से अनैकान्तिक होगा। भक्ति आदि भी चित्तशुद्धि द्वारा कारण मानो तो चित्तशुद्धि ही कारण निश्चित हुआ। नहीं। मालिन्याभाव ही चित्तशुद्धि हैं। अभाव कारण नहीं होता। रागद्वेषादि मालिन्य है वह ज्ञान का प्रतिबन्धक मात्र है। तब प्रतिबन्धक संसर्गाभावत्वेन कारण हो गया। नहीं नहीं। अभाव को वैदिक कारण मानते ही नहीं है। यह सब नैयायिकों की बात है। अभाव असत है कारण कैसे होगा। कर्म भक्ति आदि परस्पर व्यभिचरित ज्ञानकारण कैसे? अव्यवहितोत्तर जोड दो। भक्त्युत्तरज्ञान में भक्ति कारण है, कर्मोत्तरज्ञान में कर्म कारण है।

यज्ञैर्विविदिषन्तीति यज्ञं वेदनकारणम्।
भक्त्या माभिजानातीत्याह भक्तिं च कारणम्॥ ४००॥

विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा इत्यादि श्रुति यज्ञादि को वेदनकारण बताती है। भक्त्या मामभिजानाति यह भगवदुक्ति भक्ति को ज्ञानकारण बताती है।

चित्तशुद्ध्या विजानीयादिति कुत्रापि नोदितम्।
यतः शुद्धिरभावात्मा भावः सर्वत्र कारणम्॥ ४०१॥

चित्तशुद्धि से ज्ञान प्राप्त करो ऐसा कहीं नहीं कहा। क्योंकि भाव ही कारण होता है।

नाभावः कारणं तर्हि कार्यं स तु कथं भवेत्।
न चेष्टापत्तिरुचिता तत्कार्यत्वावलोकनात्॥ ४०२॥
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये।
एवं भगवतैवोक्ता चित्तशुद्धेर्हि कार्यता॥ ४०३॥
मैवं नाशोऽदर्शनं स्याद्धात्वर्थोऽदर्शनं यतः।
नाशोऽसद्भाव एवेति निगदन्ति बुधाः परे॥ ४०४॥

घटादेर्नन्वसद्भावस्सत्ता नैव तु युज्यते।
तथा चाहस्म भगवान् नाभावो विद्यते सतः॥४०५॥
सत्यं घटादिकं सन्तं भवन्तं प्राह कः खलु।
सदसद्भिन्नमेवेदं यतो हि सकलं जगत्॥४०६॥
दृष्टिसृष्टं खलु जगद् दृष्ट्यभावे न विद्यते।
अदर्शने णशं प्राह तत एव हि पाणिनिः॥४०७॥

अभाव कारण नहीं तो कार्य भी नहीं होना चाहिये। इष्टापत्ति नहीं कर सकते। भगवान ने कहा कर्म से चित्तशुद्धि (मालिन्य नाश) होती है। नहीं। नाश का अदर्शन अर्थ पाणिनि ने बताया है। असत् होना नाश है ऐसा अन्य लोग कहते हैं। परंतु सत् का अभाव नहीं होता इस गीतोक्ति से विरोध होगा। नहीं। जगत् सदसद्भिन्न है, सत कहां है। दृष्टि सृष्टि होने से जब तक दृष्टि है तब तक प्रतीत होगा-'यह है'। दृष्टि बंद हो गयी तो 'नहीं है' बोलते हैं, 'नष्ट हो गया' बोलते हैं। नाश नाम कोई उत्पन्न नहीं होता।

कर्मादिभिर्भवेज्ज्ञान-मिति सिद्धं न शुद्धितः।
स्वर्गेप्सिनः फलं स्वर्गो ज्ञानं ज्ञानेप्सिनस्तथा॥४०८॥
स्वर्गकामो यजेतेति स्वर्गं यज्ञेन भावयेत्।
यज्ञैर्विविदषन्तीति यज्ञैर्ज्ञानं च भावयेत्॥४०९॥

इससे यह सिद्ध हुआ कि कर्मादि से ज्ञान होगा चित्तशुद्धि कारणात्मक नहीं। स्वर्गेच्छु को स्वर्ग फल और ज्ञानेच्छु को ज्ञान मिलेगा। स्वर्गकामो यजेत का अर्थ होगा यज्ञ से स्वर्ग उत्पन्न करो। यज्ञैर्विविदिषन्ति का अर्थ होगा-यज्ञादि से ज्ञान उत्पन्न करो।

ज्ञानं निर्विषयं नावगम्यते काम्यतेऽपि वा।
तमेतमिति तत्रैव विषय श्चसमर्प्यते॥४१०॥

निर्विषय ज्ञान न जाना जाता है और न उसकी कामना बनती हैं। 'तमेतं' उस आत्मा को ऐसा विषय समर्पण भी है। आत्मविषयक ज्ञान ही कामविषय है।

भाष्यकृच्चौपनिषदं पुरुषं तत्पदं जगौ।
विना तद्वेदनं नैव स्यात्तद्वेदनकामना॥४११॥
वेदने ननु संजाते वेदनेच्छा कुतो भवेत्।
सिद्धे नेच्छेति सिद्धान्तात् सिद्धत्वाद् वेदनस्य हि॥४१२॥
सामान्यावगतस्यापि विशेषावगमैषणा।
स्यादित्यपि न, सामान्यविशेषौ पुंष्यसंमतौ॥४१३॥
मैवं परोक्षविदितेऽपरोक्षेच्छावलोक्यते।
उक्तिर्विविदिषन्तीति युक्तैवातः श्रुतिस्थिता॥४१४॥

भाष्यकारों ने भी तमेतं का औपनिषद पुरुष अर्थ बताया है। ज्ञान के बिना इच्छा नहीं होगी। ज्ञान हो गया तब भी तो ज्ञानेच्छा नहीं होगी? यह कहें कि सामान्य ज्ञान से विशेष को जानने की इच्छा हो सकती है। नहीं। ब्रह्म निःसामान्य निर्विशेष है। इसका जवाब यह है कि परोक्ष ज्ञान होने पर भी अपरोक्ष ज्ञान की इच्छा होती है। श्रुति में विविदिषन्ति का अर्थ है अपरोक्ष ज्ञानेच्छा करते हैं।

ननु वेदानुवचनात् परोक्षा जायते मतिः।
ततः परोक्षधीरेव भवेद्विविदिषास्पदा॥४१५॥
नैवं समानपठितैर्यज्ञाद्यैर्वेदनं कथम्।
चित्तशुद्ध्यर्थताति चेत्तुल्यं वेदानुवचनेन च॥४१६॥
निष्कामयज्ञदानाद्यैश्चित्तशुद्धिर्यथा मता।
वेदानुवचनेनापि चित्तशुद्धिस्तथेष्यते॥४१७॥

वेदानुवचन से परोक्ष ज्ञान होता है। अतः विविदिषाविषय परोक्ष ज्ञान है। नहीं। समान पठित यज्ञदानादि से वेदन नहीं होता। चित्तशुद्धि द्वारा सहकारी होता है कहें तो वेदानुवचन भी चित्तशुद्धि द्वारा सहकारी मात्र होगा।

मुख्यं वेदानुवचनं यज्ञाद्याः सहकारिणः।
तन्न सत् वचनं नाम कथनं ह्यन्वधीतितः॥४१८॥
नित्यस्वाध्याय एवायमिति भाष्येऽपि दर्शितम्।

स्वाध्यायं जपमेवाह मन्त्राणां व्यास एव च॥४१९॥

वेदानुवचन मुख्य है। चित्तशुद्धि द्वारा यज्ञादि सहकारी हैं। नहीं। वचन का कथन अर्थ है जो अध्ययन के बाद में हो वह अनुवचन है। नित्य स्वाध्याय ही वेदानुवचन है ऐसा भाष्य में भी कहा है। स्वाध्याय पवित्र मन्त्रों का जप है ऐसा व्यास वचन है।

नन्वात्मवेदनं पूर्वं परोक्षमिति नैव सत्।
अपरोक्षे परोक्षं न विरोधात् पुंसि वेदनम्॥४२०॥
ततो हि तत्त्वमस्यादि-शब्दैरुक्ताऽपरोक्षधीः।
वेदान्त वेदिभिर्बन्धैरिति चेदुच्यते शृणु॥४२१॥
न सद्रूपाऽपरोक्षत्व-जातिर्ब्रह्मणि विद्यते।
स्याच्चेदद्वैतहानिः स्यादसतो न विरोधिता॥४२२॥
निधर्मिकं स्वयंज्योतिरपरोक्षं यदेष्यते।
को विरोधोऽक्षमान्यायात् परोक्षज्ञानजन्मनि॥४२३॥
अक्षमा भवतः केयं साधकत्वप्रकल्पने।
किं न पश्यसि संसारं तत्रैवाज्ञानकल्पितम्॥४२४॥
अपरोक्षधिया तस्मिन्नज्ञानावरणक्षये।
प्रकाशमानं भवति स्वयंज्योतिरिति स्थितिः॥४२५॥

ब्रह्मज्ञान स्वाध्यायाध्ययन से प्रथम परोक्ष होगा यह कहना ही गलत है। अपरोक्ष ब्रह्म में आत्मा में विरुद्ध परोक्ष ज्ञान नहीं हो सकता। इसीलिये तत्त्वमसि आदि से अपरोक्ष ज्ञान माना गया है। इसका उत्तर यह है कि ब्रह्म में सद्रूप कोई अपरोक्षत्व जाति है तो अद्वैत हानि होगी। निर्धर्मक स्वयं ज्योति ब्रह्म ही अपरोक्ष है तो 'अक्षमा भवतः केयं' इस न्याय से परोक्ष ज्ञान होने में क्या विरोध है जबकि पूरा संसार उसमें उत्पन्न हुआ। वृत्ति ज्ञान अपरोक्षरूप हो जाती है तो अज्ञानावरण नाश होने से स्वयं ज्योति ब्रह्म प्रकाशमान होता है इतनी बात है।

ननु ज्ञानापरोक्षत्वे किं प्रजोयकमिष्यताम्।
अपरोक्षार्थकत्वं चेदन्योन्याश्रयता तदा॥४२६॥

ब्रह्मास्तीत्यादि वाक्याच्च ब्रह्मसाक्षात्कृतिर्भवेत्।
मैवं प्रमातृचैतन्याभिन्नचैतन्यता तथा॥४२७॥
तन्निरूपकता वृत्तौ स्याज्ज्ञानस्यापरोक्षता।
तदभावे परोक्षत्वं ज्ञानस्येति विदां मतम्॥४२८॥

ज्ञान अपरोक्ष या परोक्ष होने में ही प्रयोजक क्या है? अर्थ अपरोक्ष हो तो ज्ञान अपरोक्ष मानो तो अन्योन्याश्रय दोष है। ज्ञान अपरोक्ष हो तो अर्थ अपरोक्ष और अर्थ अपरोक्ष हो तो ज्ञान अपरोक्ष। फिर ब्रह्म है इस वाक्य से अपरोक्ष होने लगेगा। दशमोऽस्ति इस वाक्य से अपरोक्ष होने लगेगा। इस पर आचार्यों का कहना है कि प्रमातृ चैतन्य और विषय चैतन्य एक होने पर विषय और ज्ञान अपरोक्ष होंगे और ज्ञान भी अपरोक्ष होगा। प्रमातृ अभिन्नता लाघवात् कह सकते हैं।

दुःसंशयविपर्यासौ भवेतां प्रतिबन्धकौ।
तदभावे तु साक्षात्वं प्रायः शब्दस्थले भवेत्॥४२९॥
प्रज्ञामान्द्यं कुतर्कश्च विपर्ययदुराग्रहः।
विषयासक्तिरप्युक्ता ज्ञानस्य प्रतिबन्धकाः॥४३०॥
दिग्भ्रमः खलु केषांचित्पश्यतोप्युदयं रवेः।
न निवर्तेत तद्वद्धि ब्रह्मण्यपि विपर्ययः॥४३१॥
प्रमाणेषु स्थितेष्वव संशयं कुरुते कुधीः।
तमादायाह भगवान् संशयात्मा विनश्यति॥४३२॥
तदर्थमेव मननं निदिध्यासनमेव च।
श्रुतिर्विधत्ते मन्दादेरुपास्त्यादिकमेव च॥४३३॥

दुस्तर संशय तथा विपर्यय साक्षात्कार के प्रतिबन्धक भी होते हैं। शाब्द ज्ञान से उनका निरास होने पर ही साक्षात्कार होगा। बुद्धिमान्द्य से कुतर्कादि भी प्रतिबन्धक बताये हैं। दिग्भ्रम हो गया तो सूर्योदय दिखने पर भी बहुतों को विपरीत दिशा दिखती है। प्रमाण का ढेर हो तो भी किसी किसी को संशय नहीं हटता। उनको गीता में संशयात्मा विनश्यति बताया हैं। अतः श्रुति ने मनन और निदिध्यासन करने बताया फिर भी मन्द

बुद्धियों को समझ में नहीं आता तो उपासनादि विधान किया।

प्रज्ञामान्द्यमुपास्त्या च श्रद्धया च कुतर्कता।
निदिध्यासासमृद्ध्या च विपर्ययमहाग्रहः॥४३४॥
भक्त्या च विषयासक्ति - र्हरावपि गुरावपि।
इति रीत्या निवर्त्तेरन् यदैव प्रतिबन्धकाः॥४३५॥
स्वाभेदबोधकाद् वाक्याद् स्वयंज्योतिः प्रकाशते।
दशमस्त्वमसीत्यत्र यथा बाधकबाधनात्॥४३६॥

सरस्वती आदि की उपासना से प्रज्ञामान्द्य निवृत्त होता है। श्रद्धा से कुतर्क, पर्याप्त निदिध्यासन से विपर्यय दुराग्रह महाग्रह; हरिगुरु में भक्ति से विषयासक्ति प्रतिरूप प्रति निवृत्त होते हैं तब स्वाभेदबोधक वाक्य से स्वयं ज्योति प्रकाशित होता है जैसे दशमस्त्वमसि से।

इदं तु बोध्यं चित्तत्त्वमनाद्यन्तं स्वयंप्रभम्।
मायाऽऽवृतौ बहिस्थानामावृतं न प्रकाशते॥४३७॥

चित्तत्त्व (चैतन्य) आदि-अन्तरहित है, स्वयं प्रकाश है। उस पर माया का आवरण होने से उस माया को लेकर जो चित्त से बाहर है उसके लिये आवृत होने से प्रकाशित नहीं होता। जैसे सूर्य के सामने बादल है उस बादल से जो बाहर है (नीचे है) उसके लिये सूर्य आवृत है। बादल के अंदर (ऊपर) है उसके लिये नहीं।

अहमाकारवृत्तिस्तु नित्यं तत्र प्रवर्तते।
सुप्तोत्थिते स्वविषयसंशयादेरदर्शनात्॥४३८॥

अहमाकारवृत्ति नित्य ही चित्तत्त्व में रहती है। यही कारण है सुषुप्ति में उठने पर मैं था कि नहीं, मैं नहीं था इत्यादि संशय विपर्यय नहीं होता। मैं था ही ऐसा निश्चित स्मरणात्मक ज्ञान होता है।

वृत्त्यन्तर्नास्ति सा मायाऽऽवृतिनाशक सत्त्वतः।
वृत्तिर्विरोधिनी तत्र वर्ततां कथमावृतिः॥४३९॥
ततोऽनावृतचैतन्य - तादात्म्यादपरोक्षता।
वृत्तेरनादिभावाच्च चोद्यं तत्र न विद्यते॥४४०॥

वृत्ति और चैतन्य के बीच में मायावरण नहीं है। क्योंकि वृत्ति आवरणनाशिका बैठी है। नाशक होने से वृति विरोधिनी बैठी है। तब अनावृत्त चित्तादात्म्य होने से वृत्ति अपरोक्षात्मिक होगी। इसमें अन्योन्यश्रय होगा। चित्तादात्म्य हो तो अपरोक्षता वृत्ति में, अपरोक्ष हो तब आवरण भङ्गकारी होने से विरोध होगा। नहीं। अनादि काल से चित्तादात्म्य प्राप्त वृत्ति होने से आवरण बीच में नहीं रह सकता। अनादि में अन्योन्याश्रयादि दोष नहीं होता।

तत्त्वमस्यादिवाक्येन भेदे ब्रह्मणि निर्हृते।
तदावरणभङ्गेन ब्रह्मात्मत्वं प्रकाशते॥ ४४१ ॥

तत्त्वमसि वाक्य से ब्रह्म में जीवभेद निराकरण हुआ तो वही आत्मवृत्ति ब्रह्म में पहुंचकर ब्रह्मावरण का भी भंग कर देगी तब ब्रह्मात्म भाव प्रकाशमान होगा।

ब्रह्मणो व्यापकत्वेनाऽऽत्मनि भेदे निराकृते।
तदावरणभङ्गेनाऽपरिच्छिन्नात्मदर्शनम् ॥ ४४२ ॥

तत्त्वमसि के समान त्वंतदसि का भान होने से आत्मा में ब्रह्मभेद निराकरण होने से ब्रह्मगत व्यापकत्व का भी आवरणभंग होने से अपरिच्छिन्न आत्मदर्शन होता है।

एतच्चोक्तं भगवता भाष्यकारेण सुस्फुटम्।
वाक्यवृत्तौ, तद्विवृतौ वीक्ष्यतां च विशेषतः॥ ४४३ ॥

इस बात को अत्यन्त स्पष्टरूप से वाक्यवृत्ति में भाष्यकार ने बताया है। उसकी अस्मत्कृत विवृति में विशेषरूप से उसका वर्णन है वहीं उसे देख लेवें।

दशमोऽस्तीति वाक्येन भेदो नैव निवर्तते।
स्वाऽभेदाऽबोधनान्नैव दशमो हि प्रकाशते॥ ४४४ ॥
दशम,स्त्वमसीत्युक्तावाश्चर्यं संशयोऽथवा।
गणनायां निजाभेदाद्दशमः संप्रकाशते॥ ४४५ ॥

दशमोऽस्ति यहां अपने से अभेद बोधक शब्द न होने से भेदनिवृत्ति नहीं होती। दशम प्रत्यक्ष भी नहीं होता। दशमत्वमसि में प्रथम आश्चर्य

वासंशय होगा और गणना से अपने से अभिन्नता प्रामाणिक होने से प्रत्यक्ष होगा।

ज्ञानस्थानावृतचितितादात्म्यादपरोक्षता ।
तद्गोचरत्वाद्विषयाऽऽ - परोक्ष्यं केचिदूचिरे॥४४६॥
साक्षादनावृतचितितादात्म्यात्तत्तु युज्यते।
सर्वज्ञानेषु भवति चित्तादात्म्यं यतः स्फुटम्॥४४७॥
स्मृतिवृत्तेरपि ततोऽ परोक्षत्वाद् घटादयः।
तदीयविषयत्वेन गच्छेयुरपरोक्षताम्॥४४८॥

अनावृत चित्तादात्म्य से ज्ञान अपरोक्ष होता है। उसका विषय होने से घटादि अपरोक्ष है ऐसा कुछ लोग मानते हैं। किन्तु साक्षात् अनावृत्त चित्तादात्म्य से घटादि अपरोक्ष होता है यही मानना उचित है। अन्यथा सभी ज्ञान अपरोक्ष होने से स्मृति विषय घटादि भी अपरोक्ष होने लगेंगे।

तादात्म्यं तु न सम्बन्ध इत्येतद् विदुषां मतम्।
सम्बन्धत्वेऽभिन्नतैव वाच्येत्यन्यत्र विस्तरः॥४४९॥

तादात्म्य कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि सम्बन्ध हेतु चिदभिन्नत्व कहो इत्यादि अन्यत्र विस्तार है।

एवं च स्वप्रभत्वेनाऽपरोक्षेऽपि परोक्षधीः।
शब्दादिना भवेदेव ततो विविदिषा भवेत्॥४५०॥
तया समुच्चयश्चैव कर्मादीनां भवेदिति।
उभाभ्यामेव पक्षाभ्यामित्युक्तोऽस्तु समुच्चयः॥४५१॥

इस प्रकार विरोधादि न होने से अपरोक्ष ब्रह्म में परोक्ष ज्ञान एवं विविदिषा संभव है। शब्दादि से परोक्ष ज्ञान होगा। उसीसे कर्मादि का समसमुच्चय उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां इत्यादि वासिष्ठ वचन में उपपन्न है।

ननु तत्र फलं प्रोक्तं जायते परमं पदम्।
मोक्ष एव स, तत्रैव युज्यते न समुच्चयः॥४५२॥
तन्न सत् जायमानो हि मोक्षः साक्षात्वमात्मनः।
जीवन्मुक्तिः खलु ब्रह्मसाक्षात्कारो निगद्यते॥४५३॥

साक्षात्कारे कृते तेन नास्ति कर्मसमुच्चय।
स्यात्साक्षात्कारपर्यन्तो ज्ञानकर्म समुच्चयः॥४५४॥

पू. - ज्ञानकर्म समुच्चय फल वासिष्ठ में परम पद बताया। न कि साक्षात्कार। सुना परम पद में जायते का अन्वय नहीं होगा। उत्पन्न होनेवाली जीवन्मुक्ति ब्रह्म साक्षात्कार ही है। उसी को लेकर जीवन्मुक्त पद है। साक्षात्कार और कर्म का समुच्चय न हो साक्षात्कारार्थ ज्ञानकर्म समुच्चय तो होगा ही।

किं च जातेऽपि च ब्रह्मसाक्षात्कारे महात्मनः।
सद्यः शरीरपातो न क्वचिदप्यवलोक्यते॥४५५॥
विदेहमुक्तिर्भवति देहपातादनन्तरम्।
संस्कारः शिष्यते तेन प्रारब्धं चेति सम्मतम्॥४५६॥
संस्कारेण च तेनैव योगभ्रंशे पुनर्जनिः।
तस्माद्योग्यनि कर्माणि कर्तव्यानि महात्मनाम्॥४५७॥
उक्तं च भाष्ये कर्माणि नाग्निहोत्रादिकानि हि।
ब्रह्मचर्यं तपः सत्यवाक्यं शमदमावपि॥४५८॥
स्युः साधकतमं ध्यान-धारणादिकमेव च।
कर्तृत्वाभिनिवेशेन विनैव सुकरं बहु॥४५९॥
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः।
इत्युक्तं हरिणा चैव देहरक्षणमात्मनः॥४६०॥
देहे सत्येव भवति ज्ञानाभ्यासो न चान्यथा।
तथा च ज्ञानकर्मभ्यां जायते परमं पदम्॥४६१॥

और भी, ब्रह्म साक्षात्कार हो तुरंत देहपात और विदेहमुक्ति नहीं होती। अतः संस्कारशेष मानना होगा। प्रारब्ध भी। पूर्व संस्कार से योग भ्रंश भी संभव और पुनर्जन्म भी संभव है। उससे बचने के लिये ज्ञान अविरुद्ध योग्य कर्म करना चाहिये। और अग्निहोत्रादि ही कर्म हो ऐसी बात नहीं। तैत्तिरीय भाष्य में ही ब्रह्मचर्य, तप सत्यवचनादि एवं मुख्य मनननिदिध्यासनादि कर्म बताया है। कतृत्व-भोक्तृत्वादि अभिनिवेश के बिना ये सब कर सकते हैं। भगवान कहते हैं। कर्म किये बिना तुम्हारी

शरीर यात्रा भी नहीं होगी। शरीर निर्वाह न हो तो मनन निदिध्यासन क्या होगा? अतः वसिष्ठजी ने ठीक ही कहा।

ननु कर्तृत्वधीर्नो चेत्कर्माभासो भवेदयम्।
कर्तृत्वभावनासत्त्वे कथं ज्ञानसमुच्चयः॥ ४६२॥
प्रसुप्तस्यत्यथा पार्श्व परिवर्तादिकाः क्रियाः।
न हि दंशादिहनने पापं तस्य भवेत्तदा॥ ४६३॥
न,, बाधितानुवृत्त्यैव कतृत्वं तेन कर्म च।
अयं कर्म करोतीति लोकव्यवहृतीक्षणात्॥ ४६४॥
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि।
इति ज्ञानित्वपक्षेण हरिणा कर्मचोदनात्॥ ४६५॥

पू. - यदि कर्तृत्व बुद्धि नहीं है तो वह कर्माभास होगा। वसिष्ठजी कर्माभास नहीं कह रहे हैं। कर्त्तृभावना हो ज्ञान उससे विरुद्ध होने से समुच्चय संभव नहीं। उ. - बाधितानुवृत्ति से कर्तृत्व एवं उससे कर्म भी होगा। लोकसंग्रहमेवापि यह ज्ञानी पक्ष को लेकर भगवान कह रहे हैं। अतः कर्तृत्वबाध होने पर भी कर्म ही वह है।

ननु भोक्तृत्वधीर्नो चेत्कर्म नैवोपपद्यते।
भोक्तृत्वभावनासत्त्वे कथं ज्ञान समुच्चयः॥ ४६६॥
अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्।
यद्यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत्कामस्य चेष्टितम्॥ ४६७॥
न च कर्तृत्ववद् युक्तं भोक्तृत्वमपि बाधितम्।
परिव्राज्यविधिस्तर्हि व्यर्थ एव भविष्यति॥ ४६८॥
उत्पन्नात्मावबोधस्य ह्यद्वेष्टृत्वादयो गुणाः।
अयत्नतो भवन्त्यस्येत्याचार्योक्त्यवलोकनात्॥ ४६९॥

अबाधित कर्तृत्व के विनापि कर्म भले हो किन्तु अबाधित भोक्तृत्व के बिना कर्म नहीं हो सकता। भोक्तृत्व भावना हो तो ज्ञान समुच्चय कैसे हो? महाभारत में कहा है कि अकाम का कभी भी कोई भी कर्म देखा नहीं गया है। सभी क्रियायें कामना की ही चेष्टा

है। भोक्तृत्व भी बाधित मान लो। नहीं। तब परिव्राज्य विधि ('पुत्रैषणायाश्च' इत्यादि) व्यर्थ होगी। आत्मबोध हुआ तो बिना यत्न ही अद्वेष्टा सर्वभूतानां इत्यादि गुण उसमें आ जाते हैं। ऐसा आचार्य वचन है।

भोगोत्तरमिदं सर्वं मिथ्येति सुवचं वचः।
तत्तु ज्ञानखलस्यैव युज्यते न तु सद्विदः॥४७०॥

भोगोत्तर यह सब मिथ्या कहना आसान है। पर यह ज्ञान खल का लक्षण है ज्ञानी का नहीं।

भोगसौन्दर्यतः कामश्चेष्टा तत्प्राप्तये ततः।
तुल्यप्रियाप्रियो यस्तु तस्य सौन्दर्यधीः कथम्॥४७१॥
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः।
योऽस्य सौन्दर्यधीहानात् कुतः कामः कुतः कृतिः॥४७२॥
सर्वारम्भपरित्यागात्क्व भोगो भोक्तृता कुतः।
मुग्धस्य भोगसौन्दर्यमति कामप्रवृत्तयः॥४७३॥
ज्ञानिनस्तदभावेन कथं कर्मसमुच्चयः।
ततश्च ज्ञानकर्मभ्यां न तस्य परमं पदम्॥४७४॥

पू. - विषय सौन्दर्य में काम और उससे चेष्टा होती है। अद्वेष्टृत्वादि तुल्यप्रियाप्रियता शीतोष्णसुखदुःखसमता आदि बताया है। ऐसे व्यक्ति में विषय सौन्दर्य ज्ञान नहीं होगा, कामना नहीं होगी। वह सर्वारम्भ परित्यागी होगा। भला उसका भोग एवं भोक्तृत्व कैसे हो। ज्ञानी में यह सब न होने से कैसे कर्म तथा कर्मसमुच्चय हो।

उच्यते परिलोक्येमां संसृतिं दुःखरूपणीम्।
वैराग्यात्तदकामोऽयमन्विच्छति परं सुखम्॥४७५॥
नन्वज्ञात्वा परानन्दं कथंकारं तमिच्छति।
शृणु सुप्तौ समाधौ च दृष्टत्वाच्छ्रुतितोऽपि च॥४७६॥

उ. - सुनो। इस संसार को दुःखरूप देखकर (दुःखमेव सर्वं विवेकिनः) सांसारिक विषयों से उसे वैराग्य होता है। उसकी कामना छूट

जाती है। वह परम सुख का अन्वेषण करता है। शंका होगी कि परम आनन्द को कभी देखे बिना इच्छा अन्विच्छा आदि कैसे होगी? सुनो- सुषुप्ति में आनन्दानुभव होता है। समाधि में भी आनन्दानुभव होता है। श्रुति भी परम आनन्द को बताती है।

द्रष्टैकः सलिलोऽद्वैत इत्युक्त्वात्मानमाह च।
श्रुतिरेषोऽस्य परम आनन्द इति विस्तरात्॥४७७॥
ततोऽयमात्मकामः सन्नन्विच्छति समुत्सुकः।
उपायैः श्रुतिषु प्रोक्तैस्तथाचाथर्वणा जगुः॥४७८॥
सत्येन लभ्यस्तपसाचात्मा ज्ञानेन चात्मनि।
ब्रह्मचर्येण चेक्षन्ते यतयो वीतकल्पषाः॥४७९॥

सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतः ऐसा द्रष्टा आत्मा को उपस्थित कर एषोऽस्य परम आनन्दः इत्यादि सविस्तर श्रुति ने उसे परमानन्द बताया। तब वह आत्मकाम हो गया। और श्रुति प्रोक्त उपायों से अन्वेषण शुरू करता है। अथर्वोपनिषत में कहा सत्य से, तप से, सम्यक् ज्ञान से और ब्रह्मचर्य से आत्मदर्शन होता है जिसे यति कल्मषरहित होकर दर्शन करते हैं।

सुषुप्तौ च समाधौ च स्वानन्दानुभवो यदि।
कुतस्तदाऽऽत्मकामत्वं न मोक्षश्चेति चेच्छृणु॥४८०॥

पू. - सुषुप्ति और समाधि में स्वात्मानन्दानुभव है तो आत्मकामता कैसे? आनन्दानुभव ही आत्मानुभव होने से मोक्ष भी क्यों नहीं? सिद्धे नेच्छा। परमानन्दाप्ति मोक्ष है।

त्वयैतदल्पमेवोक्तं जाग्रत्यपि स विद्यते।
अन्नपानादिकानन्दोऽप्यात्मानन्दान्न भिद्यते॥४८१॥
आनन्दस्योपजीवन्ति मात्रामस्यैव सर्वके।
एषा समर्थयत्येतं प्रोक्तमर्थं यतः श्रुतिः॥४८२॥

उ. - यह आपने अल्प कहा। जाग्रत में जो आनन्द अन्नपानादि का है वह भी ब्रह्म का है।

वस्तुतस्तु धनीभूतमानन्दावरणं क्वचित्।
विरलं मन्दमानन्दतरं विच्छिन्नमेव च॥४८३॥

वस्तुतः आनन्दावरण अनेक प्रकार का है। कहीं घना आवरण है, कहीं विरल कहीं मंद, कहीं मन्दतर एवं कहीं विच्छिन्न है।

आनन्दावरणं यत्र घनीभूतं निरन्तरम्।
दुःखमात्रं भवेत्तत्र सुखवार्ताऽतिदूरतः॥४८४॥
सदूषत्कणमिष्टान्न-भोगादौ विरलं मतम्।
मध्ये मध्ये दुःखलेश - संस्पर्शानुभवादिति॥४८५॥
मन्दे सुषुप्तिकाले स्यात् न दुःखं तत्र दृश्यते।
नात्युत्कटस्तदाऽऽनन्दो मन्दावरणमस्त्यतः॥४८६॥
विच्छिन्नं तु समाधौ स्याद् व्युत्थाने दुःखदर्शनात्।
यूनश्च स्त्रीपरिष्वङ्गे तथैव श्रुतिदर्शनात्॥४८७॥
भगवत्परम प्रेम्णि भवेन्मन्दतरं तु तत्।
भक्तिकालेऽपि भक्तानां मिष्टान्ना स्वाद दर्शनात्॥४८८॥
मोक्षे तु परमानन्दो निरावरणतुन्दिलः।
न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखताम्॥४८९॥
एषोऽस्य परमानन्द इत्यादिश्रुतिदर्शनात्।
जीवन्मुक्तावधि तथा विदेहायां तु का कथा॥४९०॥
समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते
मैत्रायणीश्रुतावेवं जीवन्मुक्तस्य दर्शितम्।
वाचामगोचरं किंचित् स्वसंवेद्यं सुखं परम्॥४९१॥

जहां आनन्दावरण कहीं घनीभूत होता है निरन्तर चलता है वह दुःखमात्र होगा। सुखवार्ता दूर होगी। विरल आवरण होता है-जिस मिठाई में रेत पड गया उसे खाते समय क्योंकि बीच बीच में दुःख होता है। सुषुप्तिकाल में मन्द आवरण है। वहां दुःख नहीं है। फिर भी परमानन्द भी नहीं है। समाधि आनन्द विच्छिन्न कोटिका है। क्योंकि व्युत्थान में पूर्ववत् दुःख होता है। यथस्त्रिया

संपरिष्वक्त इत्यादि श्रुत्यनुसार स्त्रीसंपर्कादिजन्य सुख में विच्छिन्नावरण है। भगवत्परमप्रेम में मन्दतर आवरण रहता है। क्योंकि मिठाई आदि सामने आई तो उसे खाने में विशेष आनन्द भक्तों में भी देखने में आता है। मोक्ष में निरावरण परमानन्द है। श्रुति कहती है वह मृत्युरोग दुःखादि का अनुभव नहीं करता यह उसका परम आनन्द है इत्यादि श्रुतिवचन है। जीवन्मुक्ति में भी यही बात है, फिर विदेह मुक्ति में कहना क्या। 'समाधिनिर्धूतमलस्य' इत्यादि मैत्रायणी श्रुति में वाणी का अविषय स्वसंवेद्य सुख वहां बताया है।

ये तु भक्तौ सर्वसुखं मुक्तावल्पसुखं जगुः।
उभयं ते न जानन्ति न वाग्वृत्तिरवाग्गतौ॥४९२॥

जो भक्ति में सर्व सुख एवं मुक्ति में एक सुख कहते हैं वे दोनों को नहीं जानते। जो वाणी का अविषय है उसमें यह खण्डनमण्डनात्मक वाक् प्रवृत्ति कैसी? न शक्यते वर्णयितुं यह स्वयं श्रुति कहती है।

यथा मेघः क्वचित्सान्द्रो मन्दोमन्दतरोपि चः।
विच्छिन्नश्चाऽऽवृणोतीन्दुं नानारूपस्तथाऽऽवृतिः॥४९३॥

जैसे काला बादल हो, चन्द्रादि कुछ भी आसमान में नहीं दिखता, विरल में कटा कटा दिखेगा मन्द मन्दतर में कम बेसी दिखेगा। थोडी देर अच्छा दिखेगा। किन्तु फिर जुडने से नहीं दिखेगा। सर्वथा बादल के अभाव में स्पष्ट दिखेगा।

अरिष्टनेमिः

तार्क्ष्यस्तु गरुडः प्रोक्तः स च च्छन्दोमयो मतः।
अरिष्टनेमिरिति च तस्येहाह विशेषणम्॥४९४॥

तार्क्ष्य का गरुड अर्थ बताया। छन्दोमयेन गरुडेन समुह्यमानः ऐसा भागवत में गजेन्द्र स्तुति में आया है। उसका विशेषण 'अरिष्टनेमिः' दिया।

अरिष्टमशुभे चक्रे सूतिकागार आसवे।
शुभे मरणचिह्ने चेत्येवं कोशेषु दर्शितम्॥४९५॥

विरुद्धमत्र कोशेऽर्थ-द्वयं स्पष्टं विलोक्यते।
शुभं चाप्यशुभं चैव कथ्यतेऽरिष्टशब्दतः ॥ ४९६ ॥
नेमिश्चक्रस्य भूस्पर्शिभागो गोलाकृतिर्मतः।
निघण्टौ नेमिशब्दश्च पठितो वज्रनामसु ॥ ४९७ ॥

अरिष्ट शब्द के चक्र सूतिकागार आदि अर्थ हैं ही, अशुभ तथा शुभ दोनों भी कोश में हैं। नेमि का-चक्र का भूमिस्पर्शी गोलाकृति भाग अर्थ है। निघंटु में वज्र अर्थ भी बताया है।

निदिध्यासनमेकात्मप्रत्ययावर्तनं मतम्।
सममावर्तते चक्रं रथस्य किल धावतः ॥ ४९८ ॥

निदिध्यासन एकात्मप्रत्ययवर्तन है और चक्र का घूमना भी सम आवर्तन ही तो है।

चक्रावर्तनसाम्येऽपि लक्ष्यं प्रत्येधते रथः।
प्रत्ययावृत्ति साम्येऽपि लक्ष्यं प्रत्येधते पुमान् ॥ ४९९ ॥

चक्रावर्तन सम है पर वह लक्ष्य की ओर बढता है। प्रत्ययावृत्ति में भी लक्ष्य ब्रह्म की ओर साधक बढता है।

आत्मसाक्षात्कृतिर्लक्ष्या प्रत्ययावर्तनस्य हि।
प्रत्ययावर्तनान्नित्यं ब्रह्मसाक्षात्कृतिर्भवेत् ॥ ५०० ॥

ज्ञानावर्तन का लक्ष्य आत्म साक्षात्कार है। नित्य आवर्तन से साक्षात्कार होता है।

ब्रह्मदर्शनमेवात्र परमं शुभमिष्यते।
वासनामयसंसारस्तथैवाशुभ उच्यते ॥ ५०१ ॥
शुभनेमिःप्रापयति ब्रह्मदर्शनमुत्तमम्।
संसृतेरशुभायाश्च वज्रं नेमिर्भनक्ति ताम् ॥ ५०२ ॥

शुभ ब्रह्मदर्शन का प्रापक चक्रनेति और अशुभ संसार वासना का भञ्जक नेमि गरुड है। (तार्क्ष्य)

श्रवणे परमे वृद्धश्रवसा प्रापिते सति।
मनने च तथा सम्यक् कारिते विश्ववेदसा ॥ ५०३ ॥

अरिष्टनेमिना चैव ध्याने तार्क्ष्येण लम्भिते।
शुभं प्रवर्धते नित्यमशुभं च निवर्तते॥५०४॥

वृद्धश्रवा-श्रवणवर्धक गरुड ने परम श्रवण कराया। सर्वज्ञ ने सम्यक् मनन कराया। तार्क्ष्य ने ध्यान भी कराया तो शुभ ज्ञान वृद्धि और अशुभ संसृतिवासनानिवृत्ति होती ही है।

अरिष्टमशुभं चैव मृत्युचिह्नं च कथ्यते।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति मृत्युचिह्नं च वासना॥५०५॥
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति वासनाबद्धमानसः।
कर्मसाचिव्यमत्रेति निश्चिन्वन्ति विपश्चितः॥५०६॥

अरिष्ट अशुभ तथा मृत्यु चिह्न को कहते हैं। अशुभ पुण्य पाप दोनों है। मृत्युचिह्न वासना है। मृत्यु से एक मृत्यु नहीं। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति महामृत्यु। वह वासना से होगी। कर्म केवल सहयोगी होगा।

यं यं भावं स्मरन् प्रेयात्तं भावं देह्यवाप्नुयात्।
जातस्य च ध्रुवो मृत्युरिति गीतासु दर्शितम्॥५०७॥
श्रवणं मननं चैव नित्यमेव प्रकुर्वतः।
संसारवासना तस्य क्रमात् प्रक्षीयते यतः॥५०८॥
मामनुस्मर सर्वेषु कालेष्वित्याह माधवः।
भगवद्वासनैवातो धुनोति भववासनाम्॥५०९॥

वासनानुसार जिस भाव को स्मरण कर प्राणी मरता है उसी भाव को वह जन्मान्तर में पाता है। और जो पैदा हुआ वह निश्चित मरता है। फलतः वासना ही जन्म मरण का मूल हुआ। नित्य श्रवण मनन से संसार वासना क्रमशः नष्ट होती है इसीलिये हमेशा भगवत्स्मरण करने बताया। वही वासना संसारवासनानाशिनी है।

धर्ममेघसमाधिश्च तस्य सम्पद्यते तदा।
वर्षत्येष परा धर्माऽमृतधारा सहस्रशः॥५१०॥
रिषिर्हिंसार्थकोऽरिष्टममृतं तेन कीर्त्तितम्।
नेमिस्तन्नयतीत्यस्मान्नियोमिरमृतापनः॥५११॥

भव वासना क्षय से धर्म मेघ समाधि लगती है जिससे धर्मामृत धारायें बहती हैं। रिष हिंसायां, रिष्ट का मृत अर्थ है। उससे विपरीत अमृत अरिष्ट को प्राप्त कराता है। नियो मिः नेमि नी प्रापणे धातु से मि प्रत्यय और गुण होने से नेमि होता है।

संसारो विषरूपत्वाद् रिष्टं स्याद् हिंसितं मृतम्।
गरुडो विषहारी सोऽमृतवाट् प्रथितो भुवि॥५१२॥

संसार विषरूप होने से रिष्ट हिंसित मृत है। गरुड विषहारी प्रसिद्ध है और अमृतवाहक जगत में प्रसिद्ध है।

स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु

इन्द्रः श्रवणवृद्ध्यर्थं बलार्थं चादितः स्तुतः।
श्रुतार्थपोषणः पूषा मननार्थं ततो नुतः॥५१३॥
निदिध्यासनसिद्ध्यै चारिष्टिनेमिस्ततोऽर्थितः।
प्रतिबन्धक धूत्यै च प्रार्थ्यतेऽतो बृहस्पतिः॥५१४॥

श्रवण वृद्ध्यर्थ बलार्थ इन्द्र स्तुति है। श्रुतपोषणार्थ मननार्थ पूष स्तुति है। एवं निदिध्यासन सिद्धि के लिये अमृतवाहक तार्क्ष्य स्तुति के बाद सर्व प्रतिबन्धकनाशार्थ बृहस्पति स्तुति करते हैं।

यन्मे छिद्रं चक्षुषोऽस्ति हृदश्च मनसोऽपि च।
अतितृष्णं हिंसितं यत् तद्धातु बृहस्पतिः॥५१५॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
मध्ये मध्येऽदर्शनं तु चक्षुषश्छिद्रमुच्यते॥५१६॥

यन्मे छिद्रं इत्यादि यजुर्मन्त्र है, 'यो मां पश्यति' के अनुसार ब्रह्म को सर्वत्र देखना। सब को ब्रह्म में देखना है। बीच में न दिखना चक्षु का छिद्र है। यह दर्शन का छिद्र है।

हार्दब्रह्मास्पदमति - वृत्तयो हृदये मताः।
छिद्रं तत्रैव विषय-स्मृतयो मध्यमागताः॥५१७॥
यद्वाऽऽसुप्तेरामृतेश्च कालं वेदान्तचिन्तनम्।
हृदयं, तस्य च च्छिद्रं मध्ये विषयचिन्तनम्॥५१८॥

हृदय ब्रह्ममतिवृत्तिरूपी हृदय का छिद्र बीच में विषय स्मृति है। अथवा सर्वदा वेदान्त चिन्तन 'आसुप्तेः' इत्यादि में बताया है। मध्य में विषयचिन्तन छिद्र है। यह चिन्तन छिद्र है।

समाधेयं मनः सम्यङ् निर्विकल्पे परात्मनि।
तदाऽन्यविषयोन्मेषो मनसश्छिद्रमुच्यते ॥ ५१९ ॥
वेदान्तचिन्तनं तावदनेकाकारमीरितम्।
एकाकारं समाधानमित्येवमुभयोर्भिदा॥५२०॥

निर्विकल्प ब्रह्म में मनः समाधान करना चाहिये। तब अन्य विषय आये तो वह मन का छिद्र है। पूर्वोक्त वेदान्त चिन्तन से इस में क्या फरक है? वेदान्त चिन्तन अनेकाकार है। मनःसमाधान एकाकार वृत्ति प्रवाह है।

अपाठि धातुरुतृदिर् हिंसानादरयोस्ततः।
तृण्णं स्याद् हिंसितं चानादृतं चाप्यतिपूर्वकम्॥५२१॥
नष्टप्रायं भवति चेद् हिंसितं तदुदीरितम्।
फलवैकल्यतोऽनास्था साधने स्यादनादरः॥५२२॥

'उतृदिर् हिंसानादरयोः' धातु से तृण्णं होता है। उसमें 'अति' उपसर्ग है। नष्ट प्राय और अनास्था से अनादर होता है।

प्रथमं जातमखिलं ब्रह्मैवेति हि दर्शनम्।
केनचिद्धेतुना नष्टप्रायं पश्चादभूद्यदि॥५२३॥
वेदान्तचिन्तनं पूर्वं निरन्तरमजायत।
नानाव्यवहृतिप्राप्ते तदुच्छिन्नमिवाभवत्॥५२४॥
ध्यानमग्नोऽभवत् पूर्वं व्याधिस्त्यानादिना पुनः।
यत्नतोऽपि तथा नैवेत्येवं सर्वं हि हिंसितम्॥५२५॥

सर्वत्र समदर्शन प्रथम होने लगा था फिर वह गायब हो गया। वेदान्त चिन्तन पहले खूब चलता रहा। बाद में व्यवहार में पड गया तो टूट गया। पहले ध्यान मग्न रहता था व्याधि आदि से बाद में यत्न करने पर भी ध्यान नहीं लगता। यह सब हिंसित है, तृण्ण है।

अनादरो व्यर्थमेव सर्वत्र समदर्शनम्।
वेदान्तचिन्तनं ध्यानं सर्वं चैवेति दुर्मतिः ॥५२६॥

कुतर्कादि से समदर्शन वेदान्त चिन्तन एवं ध्यान में अनादर तृणता है।

बृहती वाक् पतिस्तस्या बृहस्पतिरिति श्रुतिः।
अर्थयुक्ता च वागत्र मन्त्रे तावद्विवक्षिता॥५२७॥
स स्वकीयवचोमात्रादपि स्वस्ति भवत्विति।
कर्तुं शक्नोति कल्याणमतः स प्रार्थ्यते शिवम्॥५२८॥

बृहती वाक् तस्या एष पतिः ऐसी श्रुति है। अर्थ सहित वाणी विवक्षित है। वह स्वस्त्यस्तु कह दे तो भी कल्याण होगा अतः उसके प्रति यह प्रार्थना है।

बृहद् ब्रह्मेति वेदेऽपि लोकेऽपि प्रथितं पदम्।
ब्रह्मवेदस्तस्य पति-रप्येष स्याद् बृहस्पतिः ॥५२९॥

बृहत् का ब्रह्म अर्थ और बह्म का वेद अर्थ भी लोक प्रसिद्ध है। उसका पति तो सर्व समर्थ होगा। वेदमन्त्रों की शक्ति अपार है ही।

यद्वेदवाक्प्रभावेण कल्याणं नो भवेद्भृशम्।
तं प्रयुज्यास्मदुद्धारं स दधातु बृहस्पतिः॥५३०॥

वेदपति होने से जिस वेदमन्त्र के प्रभाव से हमारा उद्धार हो उसका प्रयोग करो यह तात्पर्य है।

बृहतां पतिरित्यर्थमपरे प्रतिपेदिरे।
स किं खलु न शक्नोति सर्वेषां महतां पतिः॥५३१॥
श्रवणं मननं चैव निदिध्यासनमेव च।
सम्यक्कर्तुं प्रभुरसाविति स प्रार्थ्यते मुदा॥५३२॥

बृहतां पतिः ऐसा विग्रह भी दिखाया है। समस्त महानों के पति सर्वसमर्थ होगा ही वह श्रवणमनननिदिध्यासनों को सम्यक् बना सकते है। अतः उनकी यह प्रार्थना है।

बृहत्वाद् बृंहयतु नः श्रवणादिं बृहस्पतिः।
विद्यार्थिनां स तेनैव स्वस्ति नः कुरुतात् प्रभुः॥५३३॥

स्वयं बृहन् ही बृहस्पति होगा। हमारे श्रवणादि को वह बृंहण करे। उसी से हम विद्यार्थियों का वह प्रभु कल्याण करें।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

व्याधिस्त्यानादयो ये स्युरुपसर्गाः शरीरगाः।
पूर्वपापभवा वा स्यु-रिहासंयमजा उत॥५३४॥
प्रमादसंशयाद्याश्च मानसा बहुधोत्थिताः।
आध्यात्मिका इति प्रोक्ता ज्ञानोत्पत्तिविघातकाः॥५३५॥

व्याधि स्त्यान (अकर्मण्यता) आदि शरीरगत उपसर्ग हैं। पूर्व जन्मीय पाप के कुछ हैं और कुछ तो इस जन्म में किये असंयम का परिणाम है। वैसे संशय प्रमादादि मानसिक उपसर्ग हैं। ये सब ज्ञानोत्पत्ति में प्रतिबन्धक हैं। ये शारीर तथा मानस दोनों आध्यात्मिक उपसर्ग हैं।

अलब्धभूमिकत्वं च लब्धायां चानवस्थितिः।
भ्रान्तिदृष्ट्यादयश्चैव क्वचनैते हि देवजाः॥५३६॥
प्रीणन्ति ये न स्वीयानां पशूनामूर्ध्वगामिताम्।
तत्कृता उपसर्गास्ते दर्शिता आधिदैविकाः॥५३७॥

प्रयत्न करने पर भी योग भूमिका प्राप्त नहीं होती, प्राप्त होने पर भी टिकती नहीं है ये आधिदैविक उपसर्ग हैं। अविरति भ्रान्ति दर्शनादि क्वचित देवज है क्वचित स्वप्रमादज हैं। क्यों देवज हैं? देवता नहीं चाहते कि ये मनुष्य हमसे भी ऊपर जायें जो आज हमारे पशु जैसे सेवक हैं। इनके ये उपसर्ग आधिदैविक हैं।

पूर्वजन्मकृताघानां प्रतिशोधाय कर्मणाम्।
वृश्चिका देशमशका येऽमी व्याघ्रादयश्च ये॥५३८॥
तदुद्भवबहुक्लेशा उपसर्गास्तपस्विनाम्।
ते त्वाधिभौतिकाः प्रायो वनादौ वसतां सताम्॥५३९॥

पूर्वजन्मकृत हननादि पापकर्म के प्रतिशोधार्थ बिच्छू, मच्छर आदि एवं व्याघ्रादि बनकर तपस्वियों के तप में उपसर्ग डालते है प्रायः एकान्त

वनादि में रहनेवालों के ये आधिदैविक है।

आध्यात्मिकादय इमे उपसर्गास्त्रयः खलु।
सर्वेषामेव बहुशो दृश्यन्ते देहिनां भुवि॥५४०॥
ततस्तदुपशान्त्यर्था त्रिः शान्तिः पठ्यते बुधौः।
उपसर्गप्रशान्तौ हि सद्विद्या कल्पतेऽञ्जसा॥५४१॥

आध्यात्मिकादि ये तीन उपसर्ग सबके देखने में आते हैं। उनकी शान्ति के लिये तीन बार शान्ति कही जाती है जिससे उपसर्ग शान्त हो और विद्या आराम से प्राप्त हो।

ननूपसर्गाः सर्वेषां दृश्यन्ते देहिनामिह।
न शान्तिपाठमात्राच्च विलीयन्तेऽखिला इमे॥५४२॥
एतच्छमनतो ज्ञानं जायमानं यदीष्यते।
ब्रह्मविद्या तदा नूनं खसुमायिष्यते भुवि॥५४३॥
ज्ञानिनामपि दृश्यन्ते असाध्या आमयादयः।
जिज्ञासूनां तु किं वाच्यं प्रारब्धं कर्म दुर्हरम्॥५४४॥

पू. - ये उपसर्ग-क्लेश समस्त प्राणियों को होते हैं। शान्तिपाठ से विलीन भी नही होते। इन क्लेशों के शमन होने पर ही यदि ज्ञान होता हो तो ब्रह्मविद्या आकाश पुष्पमात्र होगी। बल्कि जो ज्ञानी माने गये हैं उनके भी ये सब क्लेश होते हैं। जिज्ञासुओं की बात क्या? प्रारब्ध तो भोगना ही पडता है।

अत्रोच्यते सत्यमुक्तं प्रारब्धं दुर्हरं नृणाम्।
तथापि पापशैथिल्य - मुपायेनोपजायते॥५४५॥
नन्वल्पं किन्तु दृङ्क्ष्यन्ति दंशाः शान्तिप्रपाठिनम्।
न चैतच्छक्यते श्रद्धाचित्तादन्यत्र भाषितुम्॥५४६॥
जघान पाणिनिं व्याघ्रो जैमिनिं कुञ्जरो न्यहन्।
पिङ्गलं मकरोऽहिंसीत् प्रारब्धं हि जहाति कम्॥५४७॥

इस पर हमारा कहना यह है प्रारब्ध दुर्हर हो, पर उसको शिथिल किया जा सकता है। क्या मतलब? मच्छर कम काटेंगे। शान्ति पढने पर

यह तो श्रद्धामात्र है। पाणिनि को व्याघ्र ने मारा, जैमिनि को हाथी ने मारा, पिंगल को मगर खा गया।

शूलायतेऽघिनां कीलः शूलं कीलायते सताम्।
लोकोक्तिः सर्वथा नैषाऽमूला भवितुमर्हति॥५४८॥

पापियों की कील भी शूल बन जाती और पुण्यात्माओं का शूल भी कील होकर रह जाता है इत्यादिं लोककथा सर्वथा निर्मूल नहीं हो सकती।

औग्र्याभावेऽपि शान्तिः स्यात् शान्तो दान्तोऽपि युज्यते।
ज्वालानिःसरणेऽप्येव शान्तोऽग्निरिति कथ्यते॥५४९॥

उग्रता का अभाव होने मात्र से भी शान्ति मानी जाती है। ज्वाला समाप्त होने पर अग्नि शान्त हो गयी कहते हैं। भले राख में अंदर अग्नि हो कोलसा हो। शान्तो दान्ते रसान्तरे ऐसा कोश है। क्रोधादि दमन होने पर मनुष्य शान्त होता है।

स्वकार्यकरणाभावादपि शान्तिरुदीर्यते।
उपसर्गा यदा पाठविघातादि न कुर्वते॥५५०॥

उपसर्ग अपने कार्य विघ्न न कर पाये इतने से उनकी शान्ति मानी जाती है।

सकलं शान्तिपठनं शिष्टैराचरितत्वतः।
विघ्नशैथिल्यमात्रेणाप्येतदस्योपपद्यते ॥५५१॥

शिष्टाचरित होने से शान्तिपाठ सफल है। विघ्न शैथिल्य भी सफलता है।

मङ्गलाचरणात्मत्वं शान्तिपाठस्य के चन।
वाञ्छन्ति किल विद्वांसो न तद् भाष्यकृतोदितम्॥५५२॥
विघ्नप्राचुर्यसत्त्वे तु कार्यं बहुलमङ्गलम्।
न चैतत् क्रियेत शिष्टैः पाठस्य नियतत्वतः॥५५३॥

शान्तिपाठ को कुछ लोग मंगलाचरण मानते हैं। किन्तु विघ्न बहुत हो तो बहुत शान्ति पढने का शिष्टाचार नहीं है। जैसे मंगलाचरण के बारे में

कहते हैं।

न वा रचयितुर्विघ्नशान्तये शान्तिरुच्यते।
वेदस्यापौरुषेयत्वात्ताद्दृग्विघ्नाद्यसत्त्वतः ॥५५४॥

ग्रन्थरचयिता का विघ्न निवारणार्थ समाप्ति संपत्त्यर्थ मंगल हो ऐसी भी बात नहीं है। क्योंकि वेद अपौरूषेय हैं।

स्वातन्त्र्येण न पाठश्चेच्छान्तीनां क्रियते तदा।
पुण्यं फलं लिङ्गतश्च शान्तिरेव सतां फलम्॥५५५॥

स्वाध्यायाध्ययनार्थ नहीं किन्तु स्वतन्त्ररूप से शान्तिपाठ करते हैं तो भी वेदपाठ पुण्य होगा ही। शान्तिलिङ्ग से शान्तिप्राप्ति फल भी होगा।

मन्त्राणां च जपोऽप्येव प्रसिद्धो वेदवेदिषु।
तथा च मन्त्रावृत्तिश्च पुण्याधिक्यादि वाञ्छताम्॥५५६॥

मन्त्र जप प्रसिद्ध है। अतः अधिक-पुण्यादि के लिये मन्त्रावृत्ति भी हो सकती है।

इति श्रीकाशिकानन्दगिरिणा कृतिना कृतम्।
नवमं सर्ववेदीय शान्तिव्याख्यानवार्तिकम्॥



ॐ

ॐ यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै तँ ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

यो=जो (देव), पूर्वं=सर्वप्रथम, ब्रह्माणं=ब्रह्माजी को, विदधाति=उत्पन्न करता है, च=और, यो=जो वै=निश्चितरूप से, तस्मै=उस (ब्रह्मा) को वेदान्=वेदों को, प्रहिणोति=प्राप्त कराता है, तं=उस, ह=प्रसिद्ध आत्म बुद्धि प्रकाशं=आत्मा और बुद्धि को प्रकाशित करनेवाले, देवं=स्वयं प्रकाश देव को अहं=मैं, मुमुक्षुः=मुमुक्षु होकर वै=निश्चयरूप से, शरणं प्रपद्ये=शरणापन्न होता हूं।

नमः स्वयं प्रकाशाय ह्यात्मबुद्धिप्रकाशिने।
पूर्वेषां चापि गुरवे संप्रदायप्रतायिने॥१॥

स्वयं प्रकाश होता हुआ ही आत्मा और बुद्धि को प्रकाशित करनेवाले पूर्व जातों के भी गुरु संप्रदायप्रवर्त्तक देव को हम नमन करते हैं।

प्राप्तव्या ब्रह्मविद्या हि संप्रदायपुरःसरम्।
आवश्यकी मुमुक्षूणां श्रीगुरोः शरणागतिः॥२॥

संप्रदाय पुरःसर ब्रह्मविद्या प्राप्त करना चाहिये। तदर्थ गुरु शरणागति भी आवश्यक है।

ननु कस्य तु कर्त्तव्या गुरोर्हि शरणागतिः।
गुरवः सन्ति बहवो नानाबोधविधायिनः॥३॥
न चैकस्माद्धि सकल-मध्येयमिति सांप्रतम्।
तदयोगात् तथा चोक्तं श्रीमद्भागवते स्फुटम्॥४॥
न ह्येकस्माद्गुरोर्ज्ञानं सुस्थिरं स्यात् सुपुष्कलम्।
ब्रह्मैतदद्वितीयं वै गीयते बहुधर्षिभिः॥५॥

पू. - 'शरणमहं प्रपद्ये' यह शरणागति किस गुरु की करें? नाना बोधकारी गुरु अनेक होते हैं। एक ही गुरु से सीखो। नहीं। भागवत में कहा है-एक गुरु से पुष्कल ज्ञान नहीं हो पायेगा। अनेक ऋषियों ने अनेक प्रकार से अद्वितीय ब्रह्म.का किया है।

न च स्वीक्रियतां सर्वगुरूणां शरणागतिः।
इति वाच्यमशक्यत्वाद् भिन्नस्वाभाव्यतोऽपि च॥६॥

सभी गुरुओं की शरणागति स्वीकार लो। नहीं। यह अशक्य है। गुरुओं का स्वभाव भी तो अलग-अलग होता है।

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यविवर्जनम्।
रक्षिष्यतीतिविश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा॥७॥
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षोढा हि शरणागतिः।
एकत्र स्वात्मनिक्षेपे स परत्र कथं भवेत्॥८॥

अशक्य इसलिये कि आनुकूल्य संकल्प, प्रतिकूल त्याग, रक्षा विश्वास, रक्षकत्वेन वरण, स्वयं का समर्पण तथा दीनता इन षड्विध शरणागति में एक को समर्पण किया तो दूसरे को कैसे करेंगे?

अत्रोच्यते परं ब्रह्म परमो गुरुरुच्यते।
स च सर्वेषु गुरुषु गुरुरूपेण तिष्ठति॥९॥
परिपक्वमलान् ज्ञानशक्तिपातेन योजयेत्।
परे तत्त्वे ददद्दीक्षां गुरुमूर्त्तिस्थितः स च॥१०॥

उ. - उत्तर यह है पर ब्रह्म ही परम गुरु है। सब गुरुओं में वही गुरुरूप से स्थित है। निर्मल शिष्यों में ज्ञान शक्तिपात कर दीक्षा से गुरु शरीर स्थित होकर वही परम तत्त्व में जोडता है।

श्रीमद्भागवते चैतद् व्यासेनापि निरूपितम्।
ब्रह्मैव परमार्थं तु ज्ञानं यच्छेद् गुरुस्थितः॥११॥
कस्मै विभासितो ज्ञानदीपस्तद्रूपतः पुनः।
नारदाय च तद्रूपाद् व्यासायेत्यादिना क्रमात्॥१२॥

यही भागवत में भी कहा-परमात्मा ने ब्रह्मा को ज्ञानदीप प्रकाशित किया। वही ब्रह्मारूप में नारद को और नारदरूप में वही परमात्मा व्यास को तत्त्व बताया इत्यादि।

अत एवात्र मन्त्रेऽपि देवं यत्पदशब्दितम्।
प्रपन्नः शरणं साक्षा-न्न ब्रह्माणं न चापरम्॥१३॥

यत्पदेन परब्रह्मपरमात्माऽतोत्र गम्यते।
आत्मबुद्धिप्रकाशः स नामरूपविवर्जितः॥ १४॥

इसलिये 'यो ब्रह्माणं' मन्त्र में भी यत्पदार्थ ब्रह्म की शरणागति ब्रह्मा आदि की नहीं।

मुख्यमेकं गुरुं मत्वा तस्मिंश्च ब्रह्म लक्षयन्।
तद्रूपमवलोकेत सर्वत्र ज्ञानदातृषु॥ १५॥

मुख्य एक गुरु मानकर उसमें ब्रह्मदर्शन करो ज्ञानदाताओं में ब्रह्मरूप दर्शन करो।

आत्मनिक्षेपणं तत्र केवले परमे गुरौ।
तद्रूपानन्यभावेन गुराविति विनिश्चयः॥ १६॥

आत्म निक्षेपण परम गुरु में और उससे अनन्यता देखते हुए गुरु में ऐसा ही निश्चय है।

आद्यो गुरुः सर्वनाम्ना देवशब्देन चोदितः।
संप्रदायं विनिर्देष्टुं ब्रह्माणं च ततो जगौ॥ १७॥

यो देव शब्दों से प्रथम गुरु का निर्देश है। आगे संप्रदाय दिखाने के लिये 'ब्रह्माणं' इत्यादि बताया।

ब्रह्मणो जननोक्तौ तद्-वेद ग्राहणवर्णने।
नान्यत् प्रयोजनमिह शान्तिपाठेऽवलोक्यते॥ १८॥

ब्रह्मा के उत्पादन कथन और वेदपाठन वर्णन का शान्तिपाठ में अन्य प्रयोजन नहीं है।

नन्वयं पठितो मन्त्रः श्वेताश्वतरशाखिभिः।
शान्तिमन्त्रात्मना शिष्टैस्तस्य पाठ इहादृतः॥ १९॥

पू. - पर यह मन्त्र श्वेताश्वतर का है। शिष्टों ने शान्तिमन्त्र रूप से केवल यहां पढा है।

सत्यं तृतीये ह्यध्याये सर्वस्त्रष्टृत्वमीशितुः।
निरूपितमतोऽन्यार्थं केवलं तदनूद्यते॥ २०॥

वेदप्रदानमिह तु मुख्यरूपेण वर्ण्यते।
ततोऽस्य मुख्यतात्पर्यं संप्रदायप्रवर्त्तनम्॥ २१ ॥
विज्ञानभिक्षुरप्याह वेदानां प्रलये लये।
विच्छिन्नसंप्रदायत्वात् संप्रदायप्रवर्तनम्॥ २२ ॥

उ. - बात सत्य है। किन्तु तृतीयाध्याय में ही सर्वस्रष्टृत्व वर्णन होने से यहां उसका अनुवाद मात्र है। यहां मुख्यतया वेदप्रदान वर्णन है। अतः संप्रदाय प्रवर्तन में मुख्य तात्पर्य है। प्रलय में वेदों का भी लय होने से संप्रदाय विच्छिन्न हो गया उसका प्रवर्तन यहां है ऐसा यहां विज्ञान भिक्षु ने भी व्याख्यान किया है।

अन्यत्रोक्ता विस्तरेण संप्रदायपरम्परा।
सा चोपलक्ष्या किन्त्वाद्यबोधो भूरिप्रयोजनः॥ २३ ॥

लंबी संप्रदाय परम्परा अन्यत्र कथित है। वह भी उपलक्षणीय है। किन्तु प्रथम संप्रदान अधिक महत्त्वपूर्ण सप्रयोजन है।

ब्रह्मा बभूव देवानां प्रथमो विश्वसृष्टिकृत्।
सोऽथर्वाय परामेतां ब्रह्मविद्यामुपादिशत्॥ २४ ॥
तामथर्वाङ्गिरे प्राह भारद्वाजाय सोऽपि ताम्।
भारद्वाजश्चाङ्गिरसे शौनकाय स तां जगौ॥ २५ ॥
इत्येवं मुण्डके दृष्टा काचिद्गुरुपरम्परा।
किंचिद्विस्तरतो वंशब्राह्मणादौ निरूपिता॥ २६ ॥

मुण्डक में ब्रह्मा, अथर्वा, अङ्गिर, भारद्वाज, अङ्गिरस् और शौनक इतनी क्रम परम्परा कही। और विस्तार से वंश ब्राह्मण में बताया।

नारायणं पद्मभवं वसिष्ठं शक्तिमेव च।
पराशरं च व्यासं च शुकं गौडपदं तथा॥ २७॥
योगीन्द्रवर्यगोविन्दं भगवत्पादशंकरम्।
पद्मपादादिकांश्चैव स्मरन्त्यद्य सतां वराः॥ २८॥

आज बडे-बडे संत नारायण, ब्रह्मा, वसिष्ठ, शक्ति, पराशर, व्यास, शुक, गौडपाद, योगीन्द्रवर्य गोविन्द, भगवत्पाद शंकर एवं पद्मपादादि का

स्मरण करते हैं।

नन्वाद्यमुख्यता कस्माद् यच्छ्रुत्या स्वपदोदितः।
शृण्वाद्य एव देवोऽयं सर्वत्र गुरुरूपतः॥२९॥

इतनी लंबी परम्परा में प्रथम मुख्य क्यों है जिसे स्वयं श्रुति ने स्वशब्देन कहा? सुनो आद्य देव ही सर्वत्र गुरुरूप में स्थित है। यह पहले ही दिखा चुके हैं।

द्वावेषु मुख्यरूपेण शरणीयौ विशेषतः।
आद्यो गुरुः परं ब्रह्म परो दीक्षाप्रदो गुरुः॥३०॥

इनमें दो मुख्य रूप से शरणीय हैं। प्रथम गुरु ब्रह्म तथा दूसरा गुरु।

ननु ब्रह्माणमित्यत्र कोऽयं ब्रह्मा विवक्षितः।
हिरण्यगर्भः किं वाऽसौ त्रिदेवेषु चतुर्मुखः॥३१॥
न च कोशेष्विमौ शब्दौ पर्यायत्वेन दर्शितौ।
यतः श्रुतिषु दृश्येते द्वावेतौ भिन्नलक्षणौ॥३२॥
समष्टिसूक्ष्मदेहाभि-मानी तत्राद्य ईक्षितः।
पूर्वकल्पकृतोत्कृष्ट - ज्ञानकर्मसमुच्चयी॥३३॥
द्वितीयस्त्वीश्वरो यो हि मायावच्छिन्नचेतनः।
रजःप्रधानविधया सृष्टिकार्यव्यवस्थितः॥३४॥
रजोवृत्तिः सृष्टिविधौ सत्त्ववृत्तिश्च पालने।
तमोवृत्तिश्च संहारे ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः॥३५॥

यह ब्रह्मा कौन है? हिरण्यगर्भ या चतुर्मुख? यद्यपि कोशों में दोनों शब्द पर्याय हैं। तथापि शास्त्रों में भिन्न बताये हैं। समष्टि सूक्ष्म शरीराभिमानी हिरण्य गर्भ है, जो पूर्वकल्प में ज्ञानकर्मसमुच्चय विशेषरूप से किये हुए है। द्वितीय जो मायावच्छिन्न चेतनरूपी ईश्वर है रजःप्रधान होकर वही सृष्टिकार्यस्थित ब्रह्मा है। सृष्टि में रजोवृत्ति ब्रह्मा, रक्षा में सत्त्ववृत्ति विष्णु और संहार में तमोवृत्ति महेश्वर ऐसा विभाग है।

हिरण्यश्मश्रुकेशादिः सुवर्णसकलाङ्गवान्।
हिरण्यगर्भो ब्रह्मा तु लोहितो राजसत्वतः॥३६॥

हिरण्यगर्भ को हिरण्यकेश हिरण्यश्मश्रु एवं आप्रणखात् सुवर्ण ऐसा बताया है। ब्रह्मा रजोगुणवाला होने से रक्तवर्ण है।

अत्राहुः प्रायशः सर्वे व्याख्यातारो महाधियः।
हिरण्यगर्भ एवात्र ब्रह्मा श्रुत्यां विवक्षितः॥ ३७॥
ब्रह्माणं विदधातीति तदुत्पत्तिरुदीर्यते।
ईश्वरः खलु नोत्पन्नः षट्स्वनादिषु कीर्त्तितः॥ ३८॥
एक एवेश्वरः सत्त्वरजस्तम उपाधितः।
विष्णु ब्रह्मादि शब्देन गीयते शास्त्रकोविदैः॥ ३९॥

उ. - इस विषय में संतों का कहना है कि प्रायः सभी व्याख्याता हिरण्यगर्भ बता रहे हैं। ब्रह्माणं विदधाति में ब्रह्मा की उत्पत्ति बतायी है। स्रष्टा ब्रह्मा तो ईश्वर है। जीव ईश इत्यादि में ईश्वर को अनादि बताया है। एक ही ईश्वर कार्यभेद से ब्रह्मा आदि तीन है।

हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वमिति श्रुतिः।
हिरण्यगर्भजन्माह स एवात्र ततो भवेत्॥ ४०॥
स्रष्टुः स्रष्टाऽपरश्चेत्स्यात्तस्य स्रष्ट्रन्तरं भवेत्।
तथा सत्यनवस्था स्यात् तस्मात्स्रष्टा न सृज्यते॥ ४१॥

हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं इस श्रुति से हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति है। स्रष्टा का और स्रष्टा हो तो उसका भी स्रष्टा ऐसी अनवस्था होगी।

अत्रापरे प्रतिष्ठन्ते स्रष्टा ब्रह्मापि जन्मवान्।
देवानां प्रथमो ब्रह्मा संबभूवेति हि श्रुतिः॥ ४२॥
न चात्रोद्भवमात्रं तु प्रोक्तं नोत्पादनं पुनः।
स्मृतिरप्येतदेवाह स एव स्वयमुद्बभौ॥ ४३॥
इह तूत्पादनं देवो विदधातीति शब्दतः।
इतिवाच्यं यदुत्पत्तिः स्यान्नैवोत्पादनं विना॥ ४४॥
उत्पाद्योत्पादयित्रोर्हि नैक्यमस्तीत्यसांप्रतम्।
सोपाधिनिरूपाधिभ्यामुभयोरुपपत्तितः ॥ ४५॥

देवदत्तो ह्यलंकारैः सुन्दरं स्वं करोति हि।
योऽसावतीन्द्रियोऽग्राह्यो ग्राह्यरूपं व्यधान्निजम्॥४६॥

हिरण्यगर्भ ही उत्पन्न होता है इस विषय में दूसरों का मत हैं, नहीं ब्रह्मा का भी जन्म है। ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव ऐसी उत्पत्ति श्रुति है। यह कहें कि ब्रह्मा की उत्पत्ति हो, किन्तु उत्पादन किसीने नहीं किया- **योऽसावतीन्द्रिया ग्राह्यः स एव स्वयमुद्बभौ** यह मनुस्मृति में कहा। प्रकृत में यो ब्रह्माणं विदधाति ऐसा उत्पादन कहा जा रहा है। सुनो। उत्पादन के बिना उत्पत्ति नहीं हो सकती। यह कहें कि 'स्वयमुद्बभौ' इस स्मृति में उत्पादक के बिना स्वयं उत्पन्न बताया। नहीं। स्वयं ही स्व का उत्पादक है। क्या यह असंभव बात नहीं है? नहीं। देवदत्त ने अपने को अलंकृत कर सुन्दर बनाया ऐसा कहते नहीं है क्या? निरुपाधि एवं सोपाधिरूप से एक ही उत्पादक और उत्पाद्य हो सकता है। योऽसावतीन्द्रियोऽग्राह्य ऐसा वह परमात्मा अपने को इन्द्रिय विषय एवं ग्राह्य बनाया यह स्मृति कहती है। स्मृति में अग्राह्य पाठ भाष्यसम्मत है। (द्रष्टव्यः मुण्डकः)

सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
इत्येवं सशरीरत्वं सोपाध्युद्भवमिङ्गति॥४७॥
स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते।
आदिकर्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत॥४८॥
हिरण्यगर्भ एवायमितिचेत्तन्न युज्यते।
अप्सृष्टेर्बीजवपनादूर्ध्वं तज्जन्मकीर्त्तनात्॥४९॥

स्वयमुद्बभौ के बाद मनु में अपने शरीर से नानाभूत सृष्टि की इच्छा बतायी है। **'सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात्'**। अर्थात् तब तक वह सशरीर हो गया है। **'स वै शरीरी प्रथमः'** इस वचन से उसे, ब्रह्मा बताया है। यह कहें कि वही हिरण्यगर्भ है ऐसा व्याख्याता भी मानते हैं। नहीं। इसके बाद जल सृष्टि और उसमें बीजावसृजन के बाद 'तदण्डमभवद्धैमं' इत्यादि से हिरण्यगर्भ सृष्टि बतायी है। वहां व्याख्याताओं ने ब्रह्म शब्द का हिरण्यगर्भ अर्थ किया है।

तदण्डमभवद्धैममिति हैमत्वकीर्त्तनात्।
युक्तं हिरण्यगर्भत्वं तस्येति तु सतां मतम्॥५०॥
ब्रह्मा हिरण्यगर्भश्च शब्दौ पर्यायरूपतः।
प्रयुक्तौ तावता नैव भ्रमितव्यं मनीषिभिः॥५१॥

'तदण्डमभवत् हैमं' ऐसा मनुमें हमें निर्देश होने से हिरण्यगर्भ वहां बराबर है। ब्रह्मा और हिरण्यगर्भ पर्यायरूप से प्रयुक्त हुए हैं। अर्थात् दोनों नानार्थ है। अतः भ्रमित न हो।

किं तच्छरीरमिति चेद् मायैवेतिविदुर्बुधाः।
अव्याकृतमिति त्वन्ये शरीरं व्याचचक्षिरे॥५२॥
मायावच्छिन्नचैतन्यमीश्वरः परिकीर्त्तितः।
सोऽयं सृजत्यबादिं च बीजमण्डं च संप्रभुः॥५३॥

स्वात् शरीरात् में शरीर क्या है? माया। उसीको अन्य लोग अव्याकृत कहते हैं। मायावच्छिन्न चैतन्य ईश्वर है। वही अबादि एवं बीज़ तथा अण्ड के स्रष्टा है।

सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाऽविद्ये जगुर्बुधाः।
मायाशरीर ईशः स्याज्जीवोऽविद्यायुता चितिः॥५४॥

विशुद्धसत्त्वप्रधान माया है उससे युक्त ईश्वर है। मलिन सत्त्वोपाधिक जीव है।

स ईशः समुपादाय रजः स्रष्टा सहायकम्।
सत्त्वं च रक्षिता हर्ता तमश्चैव सहायकम्॥५५॥
रजआद्यैरवच्छिन्नाः स्रष्ट्राद्या इतिकेचन।
तन्न सद् ब्रह्मशिवयोरज्ञानित्वप्रसङ्गतः॥५६॥

वही विशुद्ध सत्त्वप्रधान चैतन्य रज को सहायक बनाने पर स्रष्टा सत्त्व को सहायक बनाने पर विष्णु और तम को साधन बनाने पर रुद्र होते हैं। रजउपाधिक और तम उपाधिक ब्रह्मा और रुद्र को जो कहते हैं वह गलत है तब वे अज्ञानी हो जायेंगे।

अत्र किं बहुना सत्त्व-प्रधानाः सर्व एव हि।
देवाः स्युः किं च यतयः समाधिनिरता अपि॥५७॥

अधिक क्या सभी देव सत्त्वप्रधान है, समाधिशील यति भी सत्त्वप्रधान है।

रजःकरणयुक् शुद्ध-सत्त्व मायातनुर्विधिः।
स्वेच्छया परिगृह्णति चतुरास्यकलेवरम्॥५८॥
सत्त्वसाधनयुक् शुद्ध-सत्त्वमायातनुर्हरिः।
स्वेच्छया परिगृह्णाति चतुर्भुजकलेवरम्॥५९॥
तमःसाधनयुक् शुद्ध-सत्त्वमायातनुर्हरः।
स्वेच्छया परिगृह्णाति त्रिनेत्रादिकलेवरम्॥६०॥

रजोगुणकरणवाला ईश्वर अपनी इच्छा से चतुर्मुख शरीर ग्रहण करता है। सत्त्वगुण करणवाला ईश्वर अपनी ईच्छा से चतुर्भुज शरीर और तमोगुण करणवाला ईश्वर अपनी इच्छा से त्रिनेत्रादि शरीर धारण करता है।

ननु भिन्नोपकरणा-दानमात्रेण भो कथम्।
भिदा विधिहरीशानां विभागोऽतश्च दुर्घटः॥६१॥
न हि दण्डं धरन् खड्गधारणे भिद्यते नरः।
तस्माच्छरीरभेदेन भेदो वाच्यस्त्रयस्य हि॥६२॥
शुद्धसत्त्वप्रधानैक - मायावच्छिन्नतेशितुः।
गुणत्रयशरीरत्वं त्रयाणामिति निर्णयः॥६३॥

पू. - उपकरण भेद से व्यक्तिभेद नहीं होता। प्रथम देवदत्त ने दण्ड लिया फिर खडग लिया तो क्या दो व्यक्ति होंगे? शुद्ध सत्त्व प्रधान ईश्वर है तो त्रिगुण शरीरों को लेकर ही त्रिदेव भेद होगा।

मैवं ह्यनिर्वाच्य-भेदाभेदादियोगिनी।
न साङ्गा नाप्यनङ्गा साऽनन्तशक्तियुतापि च॥६४॥
इन्द्रो मायाभिरित्यत्र निर्दशन्ती बहूक्तितः।
अनन्तशक्तिसंपन्ना भिन्ना भिन्नात्मशक्तितः॥६५॥
इत्थं च शक्तिनानात्वान्नानाकार्यव्यवस्थितः।
ईश्वरात्मतया चैक्यं चितो भेदाद्यभावतः॥६६॥

उ. - समाधान यह है माया में अनिर्वचनीय भेद एवं अभेद है। माया साङ्ग अनङ्गादिरूप से निर्वचनीय नहीं है। भिन्नाभिन्न अनन्त शक्ति सम्पन्ना माया है। अनिर्वचनीय सांगता को लेकर नाना शक्तियों को लेकर व्यवहार के कार्य व्यवस्था है। चैतन्य का भी है।

अहं ब्रह्मा च शर्वश्च जगतः कारणं परम्।
आत्मेश्वर उपद्रष्टा स्वयंदृगविशेषणः ॥ ६७ ॥
आत्ममायां समाविश्य सोऽहं गुणमयीं द्विज।
सृजन् रक्षन् हरन् विश्वं दध्रे संज्ञां क्रियोचिताम् ॥ ६८ ॥
तस्मिन् ब्रह्मण्यद्वितीये केवले परमात्मनि।
ब्रह्मरुद्रौ च भूतानि भेदेनाऽज्ञोऽनुपश्यति ॥ ६९ ॥
इति भागवतोक्त्या च सर्वमेव समर्थितम्।
न चातिशङ्कनीयं च मायायां सर्वसंभवात् ॥ ७० ॥

भागवत में विष्णु वचन है-मैं (विष्णु) ब्रह्मा शंकर तीनों जगत के परम कारण है (ब्रह्मरूप है) आत्मा है निर्विशेषणता में ईश्वर उपद्रष्टा स्वयं प्रकाश है। माया में अनिर्वचनीय रूप से प्रवेश कर सृष्टि रक्षा और संहार गुणानुसार करते हुए तदनुरूप नामधारी हुए हैं। उस अद्वितीय ब्रह्म में भेददर्शन अज्ञानी करते हैं। अति शंका मत करो। माया में सभी संभव है।

नन्वविद्यापि मायेवा-नादिरेकाऽनयैकता।
जीवानामीश्वरस्येव स्यादेवमिति चेन्न तत् ॥ ७१ ॥
स्वं स्वं शरीरं जीवो न स्वेच्छयैव करोत्यसौ।
किं तु कर्मवशात्तस्याविद्या चैव पृथक् पृथक् ॥ ७२ ॥
एवं हिरण्यगर्भः स्वज्ञानकर्मवशाद् भवेत्।
ईशो हिरण्यगर्भं च जीवं च जनयेत्ततः ॥ ७३ ॥
हिरण्यगर्भं जनया-मास पूर्वमिति श्रुतिः।
प्रत्यक्षं चास्मदादीनां जन्मैतत् पारवश्यतः ॥ ७४ ॥

ईश अनादि है तो जीव भी तो अनादि ही है। किन्तु स्वीय ज्ञान-

उपासना-कर्म परवश होकर नाना शरीर लेता है। वैसे हिरण्यगर्भ भी है। स्वेच्छागृहीत-शरीर नहीं है।

प्रकृते ब्रह्मशब्देन त्वात्मभूर्हि विवक्षितः।
मुण्डकेऽप्यात्मभूरेव प्रसिद्धो यश्चतुर्मुखः॥७५॥
अस्य पत्नी तु सावित्री सरस्वत्यपि कीर्त्यते।
सन्ति पुत्रा अथर्वाद्या भृग्वाद्याश्च महर्षयः॥७६॥
न वै हिरण्यगर्भस्य पत्नीपुत्रादयः क्वचित्।
निर्वर्णिताः सूक्ष्मतनुसमष्टेरभिमानिनः॥७७॥

प्रकृत में ब्रह्मा चतुरानन ही है। मुण्डक में भी चतुर्मुख ही है जो अवतार है। ब्रह्मा की पत्नी सावित्री सरस्वती आदि है। पुत्र अथर्वा भृगु आदि है सूक्ष्म शरीर समष्ट्यवच्छिन्न चैतन्य हिरण्यगर्भ की क्या पत्नी क्या पुत्र हो? कहीं प्रसिद्ध भी तो नहीं है।

हिरण्यगर्भो ब्रह्मात्रेत्येवं व्याहरतां सताम्।
उक्तेऽर्थेऽप्यस्ति वक्तव्यं तदप्यत्र प्रदर्श्यते॥७८॥
स्वेच्छागृहीतवपुषे स्वस्मै ईशः स्वयं कथम्।
वेदानुपदिशेत् स्वज्ञः सर्वज्ञः परमेश्वरः॥७९॥

हिरण्यगर्भ ही प्रकृत में ब्रह्म है कहनेवाले कहते है ईश्वर ने स्वेच्छया चतुर्मुख शरीर का ग्रहण किया अपने को जाननेवाला अपने आपको वेदोपदेश कैसे करेगा?

न च वाच्यं परं ब्रह्म दैवशब्देन गृह्यते।
स ईश्वरायोपदिशे — दवताराय वा धियम्॥८०॥
यतः परं ब्रह्म नैवो-पदिशेन्निरुपाधिकम्।
मायोपाधिर्यदि तदा स एवेश्वर उच्यते॥८१॥
स एष स्वेच्छयोपात्त-शरीरश्चेच्चतुर्मुखः।
स्वेच्छोपात्तशरीरस्य स्वस्याऽज्ञत्वं कथं खलु॥८२॥

यह कहें कि तदेवं यह देव शब्द परब्रह्मार्थक है वह ईश्वर या अवतार को उपदेश देगा। नहीं निरुपाधिक ब्रह्म उपदेश नहीं करता। मायोपाधिक

हो तो वही तो ईश्वरः है। वह ईश्वर स्वेच्छागृहीत शरीर स्वयं होने से अज्ञ कैसा? यदर्थ उपदेश हो।

विदधातिपदस्यार्थोऽ-प्यत्र लाक्षणिको भवेत्।
जनयत्यर्थता तस्य न स्वं जनयति स्वयम्॥८३॥
ब्रह्मात्मना योऽवतरेद् वेदान् तस्मै स यच्छति।
इत्यर्थस्तस्य कस्यापि बुद्धौ नैवाञ्जसा स्फुरेत्॥८४॥

विदधाति का जनयति अर्थ भी छूटेगा। स्वयं स्व को कैसे उत्पन्न करेगा। ब्रह्मरूप से स्वयं अवतीर्ण को वेदोपदेश किया ऐसा अर्थ लाक्षणिक है। सहसा किसी के दिमाग में नहीं आयेगा।

शास्त्रे हिरण्यगर्भोऽर्थो ब्रह्मशब्दस्य विश्रुतः।
जन्म तस्याञ्जसा वेदग्रहणं चोपपद्यते॥८५॥
एवं सत्यात्मभूरर्थः कस्मात् क्लेशेन गृह्यते।
प्रसिद्ध्याधिक्यत इति नोत्तरं दुर्वचत्वतः॥८६॥

शास्त्रों में ब्रह्मा शब्द का हिरण्यगर्भ अर्थ प्रसिद्ध है। ज्ञानकर्म समुच्चयी होने से उसका जन्म और वेद ग्रहणादि सभी समञ्जस है। तब आत्मभू चतुर्मुख अर्थ अति क्लेश से क्यों करते हैं। अधिक प्रसिद्धि कहो तो वह दुर्वच दुःसाध्य है।

ननु स्रष्टरि तच्छक्तिः कोशादिषु निरूपिता।
हिरण्यगर्भे तच्छब्दो भवेल्लक्षणया ततः॥८७॥
सोऽपि किंचित्सृजत्येव तस्मात्ताच्छब्यमिष्यते।
शक्यग्रहे फलमुखगौरवं स्यादकिंचनम्॥८८॥

पू. - कोशादि में ब्रह्म शब्द की स्रष्टा में शक्ति बतायी है। तब हिरण्यगर्भ में लक्षणा होगी। शक्य ग्रह में लाघव होने से विदधाति आदि में अर्थान्तर गौरव फलमुख गौरव होने से विदधाति में दोषावह नहीं है।

न चात्र विदधात्यादेः शक्यार्थे लाघवं समम्।
लक्ष्यार्थे गौरवं चेति कथं नेतीति सांप्रतम्॥८९॥

उद्देश्यं प्रथमं ज्ञात्वा विधेयं तत्र भण्यते।
ब्रह्मणः क्रियमाणत्ववेदग्रहणयोर्विधिः ॥ ९० ॥
अतश्च प्रकृते ब्रह्मोद्देश्यमादौ निबुध्यते।
तत्रासह्यं गौरवं स्यात् सह्यमुत्तरयोस्तु तत् ॥ ९१ ॥

पू. - पूर्वोक्त बात विदधाति आदि में भी समान है। अतः विदधाति आदि में शक्यार्थ बाद में ब्रह्म में लक्षणा हो। नहीं। उद्देश्य प्रथम उपस्थित होता है विधेय बाद में। ब्रह्म उद्देश्य है उत्पादन और वेदग्राहण बाद में। अतः उद्देश्य में गौरव असह्य है।

मैवमेवं सति तव बह्वनर्थो भविष्यति।
सहस्त्रयुयपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः ॥ ९२ ॥
इत्यादावपि च ब्रह्मा स्वयंभूर्भवतो भवेत्।
परं तु तन्न युक्तं स्यात् कल्पान्तेऽसौ हि मुच्यते ॥ ९३ ॥
ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ॥ ९४ ॥
मुच्यतां तव काऽसूया, स्त्रष्टान्यः को ह्यनन्तरम्।
न च ब्रह्मान्तरं वाच्यमीशस्यापि विमोक्षणात् ॥ ९५ ॥
तस्मिन्मुक्ते कथं हीशस्तदभिन्नो न मुच्यताम्।
स्त्रष्ट्रन्तरस्य तु स्त्रष्टा तदानीं नैव वर्त्स्यति ॥ ९६ ॥
ईश एव खलु ब्रह्मा जायतेऽज्ञोऽभवत् स्वयम्।
तस्मिन् ब्रह्मणि मुक्ते न स्वस्मिन्नीशस्तु मुच्यते ॥ ९७ ॥
ईशो न जायते नैव यावत् सृष्टि स मुच्यते।
ब्रह्मा तु जायते चैव मुच्यते प्रतिसंचरे ॥ ९८ ॥
तयोरैक्यं कथंकारं कथा सैषा विलक्षणा।
उन्मत्तमत्ततुल्यानामेव नैव विपश्चिताम् ॥ ९९ ॥

उक्त न्याय से उद्देश्य ब्रह्मा स्वयंभू है तो 'सहस्त्रयुग पर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणः' इत्यादि में भी ब्रह्म स्वयंभू होगा। उद्देश्य है। तब प्रतिसंचर में (कल्पान्त में) वह मुक्त हो जायेगा-ब्रह्मणा सह ते सर्वे... प्रविश्यन्ति परं

पदं बताया है। होने दो मुक्त, आप को क्या असूया है? पर प्रलयोत्तर स्रष्टा कौन होगा? दूसरा ब्रह्मा आयेगा। नहीं। ब्रह्मा से अभिन्न ईश्वर भी तो मुक्त होगा। तब ब्रह्मान्तर को कौन उत्पन्न करेगा? ईश्वर ही तो ब्रह्मा है। ईश्वर स्वयं अज्ञ होकर पैदा हुआ ब्रह्मा के रूप में। फिर ब्रह्मा ज्ञानी होकर मुक्त हुआ तो तदभिन्न ईश्वर मुक्त नहीं हुआ बाबा! ईश्वर अनादि है यावत्सृष्टि क्रम मुक्त नहीं होता। ब्रह्मा पैदा होता है मुक्त भी होता है सादि सान्त है। उन दोनों की कथा पागलों की कथा है।

एवं चात्यन्तभिन्नोऽयं ब्रह्मा स्यादीश्वरात्तव।
हिरण्यगर्भं तं ब्रूमो जायते मुच्यते च यः॥१००॥
ब्रह्मा तु नित्यएवैको जायते न च मुच्यते।
रजः सहायवानीशः सृष्टिकृद् ब्रह्मशब्दितः॥१०१॥
स एव सत्त्वकरण रक्षाकृद् विष्णुशब्दितः।
तमःसहायश्च स हि संहर्ता रुद्रशब्दितः॥१०२॥

फलतः ईश्वर से भिन्न ही यह उत्पन्न एवं मुक्त होनेवाला ब्रह्मा है उसे हिरण्यगर्भ कहते हैं। ब्रह्मा (स्वयंभू) एक ही है वह उत्पन्न एवं मुक्त नहीं होता। रजः सहाय ईश्वर सृष्टिकर्ता ब्रह्मा है वही सत्त्वसहाय रक्षाकर्ता विष्णु है और तमः सहाय संहारकर्ता रुद्र है।

ननु प्रश्नोपनिषदि सृष्टिकर्ता प्रजापतिः।
उक्तो हिरणगर्भोऽयं भाष्येऽभाषि तथैव च॥१०३॥

पू. - प्रश्नोपनिषद में सृष्टिकर्ता प्रजापति बताया। वही हिरण्यगर्भ है। ऐसा ही भाष्य भी है।

ईक्षणादि प्रवेशान्ता भवन्तीश्वरसृष्टयः।
देवादिस्तम्बपर्यन्ताः प्राजापत्यविसृष्टयः॥१०४॥

उ. - तदैक्षत से अनुप्रवेश तक ईश्वर सृष्टि है। देवादि स्तम्ब पर्यन्त प्रजापति सृष्टि है।

जीवा अपीष्टाः स्त्रष्टारः का तत्र भवति व्यथा।
घटादिगृहपर्यन्ता जायन्ते जीवसृष्टयः॥१०५॥

यो यत्राधिकृतस्तद्धि कुरुते स न संशयः।
प्रजासृष्टावधिकृतः प्रजापतिरिति स्थितिः॥१०६॥

जीव भी तो घट गृहादि के स्रष्टा है इसमें क्या मुसीबत है? जो जिसमें अधिकृत है वह कार्य करता है। प्रजा सृष्टि में प्रजापति (हिरण्यगर्भ) अधिकृत है।

नन्वेवं जायमानत्वान्मुच्यमानत्वतोऽपि च।
हिरण्यगर्भो ब्रह्मायं मूलब्रह्मेतरो यदि॥१०७॥
विष्ण्वादयोऽपि भिन्नाः स्युर्मूलविष्ण्वादितस्तव।
तथा च वचनं तावदे-तदत्र विविच्यताम्॥१०८॥
चतुर्युगसहस्त्रं तु ब्रह्मणो दिनमुच्यते।
एतावदुद्धृतं कैश्चिद् वचनं विदुषां वरैः॥१०९॥
अर्धश्लोक इतोऽप्यूर्द्धमुद्धृतोऽस्त्यपरैर्बुधैः।
रुद्रकोटिसहस्त्रं तु देव्यास्तु त्रुटिरुच्यते॥११०॥

ब्रह्मा उत्पन्न होता है और मुक्त होता है इतने हेतु से मूल ब्रह्मा (ईश्वरात्मक ब्रह्मा) से पृथक् यह ब्रह्मा हिरण्यगर्भ है कहो तो मूल विष्णु आदि से कार्य विष्णु आदि भी अलग होंगे। यह वचन देखिये-हजार चतुर्युग ब्रह्माजी का दिन है (ऐसी ही रात है उस हिसाब से सौ वर्ष २०००×७२०×१००=१४४०००००० चतुर युग) विष्णु की एक घडी (ऐसी साठ घडी दिन फिर साल और सौ साल जोड लो) और उस क्रम से सौ वर्ष आयु है। ऐसे हजार ब्रह्मा का काल विष्णु की एक घडी है। उस घडी के हिसाब से बारह लाख विष्णुओं के बीतने पर शंकर की आधी कला होती है इतना उद्धरण एक जगह विद्वानों ने दिया है। दूसरे विद्वानों ने अर्ध श्लोक का और उद्धरण दिया है। - ऐसे हजार करोड रुद्र का समय शक्ति देवी की एक त्रुटि है। त्रुटि का अर्थ है चुटकी या निमेष।

क्षणद्वयं लवः प्रोक्तो निमेषस्तु लवद्वयम्।
अष्टादशनिमेषास्तु काष्ठा त्रिंशत्तु ताः कलाः॥१११॥

तास्तु त्रिंशत् क्षणस्ते तु मुहूर्तो द्वादशाऽस्त्रियाम्।
ते तु त्रिंशदहोरात्रः सटीके दर्शितोऽमरे॥ ११२॥
द्वौ निमेषौ त्रुटिर्नाम द्वौ त्रुटी तु लवः स्मृतः।
इत्याग्नेयपुराणादावन्यथा चैव वर्णितः॥ ११३॥

दो क्षण लव, दो लव निमेष, दो निमेष त्रुटि, अठारह निमेष काष्ठा, तीस काष्ठा क्षण (यह अलग क्षण शब्द है) तीस क्षण मुहूर्त। (दो घडी) तीस मुहूर्त दिनरात।

अत्र ब्रूमो यथाप्रोक्त-विष्ण्वादिविषयोक्तिषु।
प्रामाण्यं सहसा नैव निश्चेतुं पारयामहे॥ ११४॥

पूर्वोक्त वचनों की प्रामाणिकता का निश्चय करना कठिन पड रहा है।

ब्रह्मणः शयने तावद् विष्णुर्जागर्त्ति वा न वा।
यदि जागर्ति कं रक्षेद् नो चेज्जागरणं वृथा॥ ११५॥
न जागर्ति तदा विष्णु-रिति चेन्मन्यते भवान्।
तस्यापि तर्हि प्रलयो ब्रह्मवत् स्वीकृतो भवेत्॥ ११६॥
ब्रह्म विष्ण्वोः सुषुप्तौ च सृष्टिस्थित्योरभावतः।
रुद्रः संहरतां जाग्र-दजाग्रच्चेल्लयोऽस्य च॥ ११७॥

ब्रह्मा के सोने पर विष्णु यदि जागता है तो सृष्टि के अभाव में रक्षा किसकी? यदि नहीं जागता विष्णु की भी सुप्ति होगी दिन नहीं होगा। इसी प्रकार ब्रह्मा और विष्णु के सोने पर सृष्टि और स्थिति न होने से शंकर जगकर क्या करेंगे? न जागे तो शंकर भी प्रसुप्त ही हुआ।

नियते दिनरात्रौ चेद्वर्तेतां ब्रह्मणो दिवा।
विष्णुसुप्तौ तु जागर्याद् ब्रह्मा किंतु सृजेत् स कम्॥ ११८॥
सृष्टं च रक्षेत् को वा तं रुद्रसुप्तौ हरेच्च कः।
जातोऽवितो रुद्रसुप्तावतिदीर्घायुराभवेत्॥ ११९॥

शास्त्रानुसार ब्रह्मा के दिन रात बराबर चलें तो विष्णु की सुप्ति में बीच में ब्रह्मा जाग्रत होगा किन्तु किसकी सृष्टि करेगा? सृष्ट की रक्षा कौन करेगा? रुद्र सुप्ति में संहार नहीं होगा वह अति दीर्घायु होगा।

एवंविधा बहुतरा जायन्तेऽत्र दुरुत्तराः।
शङ्का इत्युत्तराभावे प्रामाण्यं कथमिष्यताम्॥१२०॥
किं च ब्राह्मा वैष्णवाश्च रौद्राःशान्ताश्च तादृशाः।
चतुर्धा प्रलया नैव दृश्यन्ते क्वापि वर्णिताः॥१२१॥

ऐसे असमाधेय कई प्रश्न उठते हैं और ब्राह्म, वैष्णव, शैव, शाक्त ऐसा चार प्रलय वहां आते नहीं है।

ब्रह्मतोऽधिकमाहात्म्यं विष्णोर्वक्ति हि कश्चन।
वैष्णवो वैष्णवं कालं लिलेखेति प्रतीयते॥१२२॥
विष्णुतोऽधिकमाहात्म्यं शंभोः साधयितुं परः।
शैवः शैवं तदधिकं कालमाहेति मीयते॥१२३॥
शक्तेः सर्वाधिकत्वं च दिदर्शयिषुणा सता।
शक्तिकालमहीयस्त्वमुक्तमित्यनुमीयते ॥१२४॥
यद्येतेषां तु विद्येत प्रामाण्यं वचसां तदा।
अर्थवादतया नेयं श्रद्धावृद्ध्यै यथायथम्॥१२५॥
प्रजापतिर्ह्युदखिदद् यज्ञक्लृप्त्यै वपां निजाम्।
इत्यर्थवादविधया यथा वाक्यं विलोक्यते॥१२६॥

ब्रह्मा से अधिक श्रेष्ठ दिखाने के लिये किसी वैष्णव ने पितामह सहस्र को विष्णु की एक घडी लिख डाली। शंकरभक्त विष्णु से अधिक महत्त्व बताने तदनुरूप लिखा। फिर देवीभक्त क्यों पीछे रहता? उसने अपनी करामात लिख डाली। और ये सब वचन यदि किसी शास्त्र में उपलब्ध है तो अर्थवाद रूप से लिखा। जैसे वेद में कहा-प्रजापति ने यज्ञार्थ अपनी वपा खोद निकाली। अपनी वपा निकाली तो स्वयं मरेगा यज्ञ कौन करेगा। अतः उसे प्राशस्त्यबोधक अर्थवाद माना।

तस्मान्न स्तो विष्णुशिवा-वतिरिक्तौ विनाशिनौ।
हिरण्यगर्भः शास्त्रस्थः विद्यते चैव तादृशः॥१२७॥
ब्रह्मविष्णुशिवास्त्वेते भिद्यन्ते कार्यभेदतः।
अनादयोऽथ वर्त्स्यन्ति यावत्सृष्टीति निश्चयः॥१२८॥

इसलिये विष्णु और शिव अतिरिक्त नहीं हैं। हिरण्यगर्भ ज्ञान-कर्म-समुच्चयी शास्त्रोक्त है। मायावच्छिन्न चैतन्य ईश्वर है कार्य भेद और उपकरण भेद से वे ब्रह्मा विष्णु महेश्वर हैं। वे तीन अनादि हैं यावत्सृष्टि रहेंगे।

इत्थं हिरण्यगर्भोऽत्र ब्रह्मेत्युक्तं समर्थितम्।
पक्षान्तरे च विषये किंचिदत्र विचार्यते॥१२९॥

इस प्रकार प्रकृत मन्त्र में हिरण्यगर्भ समर्थन हुआ। अब पक्षान्तर पर थोडा विचार करेंगे।

कोऽयं चतुर्मुखो ब्रह्मा कश्च विष्णुश्चतुर्भुजः।
त्रिनेत्रः कश्च रुद्रोऽयं किं नित्याः किमुतान्यथा॥१३०॥

ये चतुर्मुख, चतुर्भुज और त्रिनेत्र ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र नित्य हैं या अनित्य या अन्यथा।

प्रायोऽत्र विषये सर्वं पूर्वमेव निरूपितम्।
तथापि स्पष्टबोधार्थं किंचिद्वक्ष्यामहेऽधिकम्॥१३१॥

यद्यपि पूर्व में इस विषय में बहुत कहा। फिर भी स्पष्ट बोधार्थ कुछ अधिक बताते हैं।

मायावच्छिन्नचैतन्यमीश्वरः परिकीर्त्तितः।
सृष्ट्याद्येकैकशक्त्याढ्या ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः॥१३२॥

मायावच्छिन्न चैतन्य ईश्वर, विशेषरूप से सृष्टिशक्ति के धनी चैतन्य ब्रह्मा, रक्षण शक्ति अवच्छिन्न चैतन्य विष्णु और संहार शक्ति अवच्छिन्न चैतन्य महेश्वर है।

निराकारास्त्रयस्ते तु शक्तीनां तादृशत्वतः।
चतुर्मुखादयस्तेषामवतारा उदीरिताः॥१३३॥

सत्त्वादि सहाययुक्त तीनों निराकार हैं। उनके अवतार हैं चतुर्मुख चतुर्बाहु और त्रिनेत्र।

अवतारेष्वपि सम - पर्यायो बहुधेक्ष्यते।
विष्णुर्नारायणः कृष्ण इत्येवं कोशदर्शनात्॥१३४॥

अवतारों को लेकर भी समपर्याय विष्णु नारायण कृष्ण इत्यादि में है।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यत्ममायया॥१३५॥

अज अव्ययादि होने पर भी प्रकृति अधिष्ठित होकर अपनी माया से मैं प्रकट होता हूं।

स्वयं भगवतैवोक्तमिदं गीतासु जिष्णवे।
अरूपोऽपि सरूपोऽत इत्यादिः संभवोक्तितः॥१३६॥

उक्त गीतावचन में संभव पद से अरूपादि भी सरूपादि होते हैं यह अर्थ आता है।

विदधातीतिशब्देन तदेवात्र निगद्यते।
मूल एवेश्वरो देवस्त्रैरूप्यं विदधाति वा॥१३७॥
हिरण्यगर्भं स्थूलार्थ-सृष्ट्यर्थं विदधाति सः।
संप्रदायप्रतानार्थं ब्रह्माणं विदधाति सः॥१३८॥

विदधाति से वही संभवन बताया। अथवा मायावच्छिन्न चैतन्य ब्रह्मोत्पादक है।

यदा पद्मभवार्थत्वं ब्रह्मशब्दस्य गृह्यते।
पत्नीपुत्रादयस्तस्य कल्पन्ते बोद्धुमञ्जसा॥१३९॥
मरीच्यादय उच्यन्ते मानसास्तस्य सूनवः।
अथर्वस्तस्य तनयः प्रत्यपाद्यत मुण्डके।
सावित्री तस्य पत्नी च पुराणादौ निरूपिता॥१४०॥
प्रजावृद्धीच्छुको ब्रह्मा द्वेधात्मानमपातयत्।
ततः पतिश्च पत्नी चाऽभवतामिति च श्रुतिः॥१४१॥
मनुश्च शतरूपा च तावभूतां तयोः सुताः।
प्रसुताद्याश्च बहवः पुराणेष्वनुवर्णिताः॥१४२॥
एवं हिरण्यगर्भस्य पत्नीपुत्रादयः किल।
न क्वापि वर्णितास्तेन ब्रह्माऽत्र स्याच्चतुर्मुखः॥१४३॥

चतुर्मुख ब्रह्मा के पत्नी पुत्रादि प्रसिद्ध है। मरीचि आदि मानस पुत्र है, सावित्री पत्नी है, प्रजावृद्ध्यर्थ ब्रह्मा ने अपना शरीर द्वधा विभक्त किया तो

मनु शतरूपा हुए। उनकी पुत्री देवहूति की नौ कन्यायें और उनका मरीचि आदि से विवाह होने से सृष्टि वृद्धि पुराणों में बतायी है। परंतु हिरण्यगर्भ की ऐसी कोई बात नहीं आयी है।

यत्विन्धो नाम पुरुषो दक्षिणेऽक्षणि वर्तते।
तस्य पत्नी विराड् वामे चाक्षणि श्रुतिकीर्तिता॥ १४४॥
हिरण्यगर्भ एवासौ प्रोक्तो भवितुमर्हति।
तस्माद्धिरण्यगर्भस्याप्यस्ति पत्न्यादिरस्य चेत्॥ १४५॥
मैवं देहान्तरुदितं श्रुत्योपास्त्यादि हेतवे।
न वा तत्र सुतादीनां वर्णनं चावलोक्यते॥ १४६॥
तस्माच्च पद्मभूरेव मुण्डकादावुदीरितः।
हिरण्यगर्भो व्याख्यात-स्तत्पर्यायतया परैः॥ १४७॥

इन्धो ह वै नाम दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः वामेऽक्षणि पुरुषरूपमेषास्य विराट् इत्यादि श्रुति में हिरण्यगर्भ और उनकी पत्नी का वर्णन किया है। नहीं। वह उपासनार्थ वर्णनमात्र है। विराट् पुरुषरूप है वह पत्नी कैसी। माना जाये पत्नी है तो भी पुत्रवर्णन कहां है। ब्रह्माजी का पुत्रवर्णन स्पष्ट है। अतः मुण्डक में किन्हीं आचार्यों ने ब्रह्मा का हिरण्यगर्भ अर्थ किया तो वह कोशोक्त पर्यायोक्ति मात्र है।

देवानां प्रथमस्सोयं ब्रह्माभूच्चतुराननः।
विद्वांसः खलु वै देवा इति शातपथी श्रुतिः॥ १४८॥

देवों में ब्रह्मा प्रथम हुए। ब्रह्मा-चतुर्मुख। देव विद्वान।

चतुर्वेदप्रवक्तृत्वाच्चतुर्मुख इतीरितः।
विद्वांसो जगृहुश्चैतान् देवा वेदान् महाधियः॥ १४९॥

चारों वेदों के प्रवक्ता होने से चतुर्मुख है। विद्वानों ने देवों ने उनका ग्रहण किया।

यथाश्रुतेऽपि वेदान् स प्रावोचत् क्रमशो मुखैः।
पूर्वादिभिरधीयानानृग्वेदादीन् पितामहः॥ १५०॥

मुख ही चार हैं तो भी पूर्वादि मुखों से ऋग्वेदादि को ब्रह्मा ने पढाया।

यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै

अनादिरीशः कथितो मायावच्छिन्नचेतनः।
तदीयेक्षणतः किंचिन्मायाऽऽवृतिपरिक्षयः॥१५१॥
ततः प्रकटया सृष्टिशक्त्यावच्छिन्नचेतनः।
ब्रह्मेति कथ्यते स्रष्टा रजोगुणसहायवान्॥१५२॥
तस्यैव त्ववतारो वा तज्जन्यो वा चतुर्मुखः।
तमाह पूर्वं ब्रह्माणं विदधातीति पादतः॥१५३॥

मायावच्छिन्न चैतन्य ईश्वर है वह अनादि है यह बताया। उसी के ईक्षण से प्रथम कुछ मायावरण भंग होने से प्रकट सृष्टि शक्ति अवच्छिन्न चैतन्य स्रष्टा ब्रह्मा हुआ। उसका अवतार या उससे चतुर्मुख साकार ब्रह्मा हुआ। उसीको 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं' इस पाद से श्रुति ने बताया।

नन्वीश्वरावतारास्ते ब्रह्माद्यास्तदभेदतः।
वेदांश्च प्रहिणोतीति न युक्तं ज्ञानिनो हि ते॥१५४॥
नैषा शङ्काऽवताराणां स्मर्यतेऽध्ययनं गुरोः।
रामो वसिष्ठादध्यैष्ट कृष्णः सांदीपनेर्मुनेः॥१५५॥

पू. - ईश्वर सर्वज्ञ होता है। तदभिन्न होने से ईश्वरावतार ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर भी सर्वज्ञ ही होंगे। तब वेदों को ब्रह्माजी को पढाया यह असंगत होगा। उ. - नहीं अवतारों का अध्ययनादि प्रसिद्ध है। राम ने वसिष्ठजी से अध्ययन किया। कृष्ण ने सांदीपनी से अध्ययन किया।

अवतारेष्वतः किंचिदज्ञानमनुमीयते।
अथवाऽधीतवन्तस्ते लोकसंग्रहहेतवे॥१५६॥
विस्तरेण च तत्प्रोक्तं गीतायां हरिणा स्वयम्।
लोकसंग्रहमेवापीत्यादीना फल्गुनं प्रति॥१५७॥
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्यांद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥१५८॥

न बुद्धिभेदं जनयेदेषां स्वच्छन्दचारिता।
तथा सति भवेदेवमुत्सीदेयुः प्रजा इमाः॥ १५९॥
पुस्तकप्रत्ययाधीतं नाधीतं गुरुसंनिधौ।
दोषाः स्युस्तत्र नानेति भवेल्लक्ष्यच्युतः पुमान्॥ १६०॥

रामादि ने वस्तुतः ज्ञानार्थ अध्ययन किया तो अवतारों में कुछ अज्ञान का रहना सिद्ध होता है। या लोकसंग्रहार्थ उन्हों ने अध्ययन किया। गीता में लोकसंग्रह का विस्तृत वर्णन है। लोग पुस्तक बांच बांचकर समझेंगे हम ज्ञानी हो गये। परंतु कई ग्रंथियां रह जाती हैं। परिणाम लक्ष्यच्युति होगी।

नन्वेवं भगवान् सत्यमावृणोतीति चेन्न तत्।
लीलामात्रमिदं तस्य पररक्षणहेतवे॥ १६१॥

परं तु अज्ञवत व्यवहार करें तो सत्य को ढकना हुआ। नहीं। यह लीलामात्र है। लीला में किंचित्सत्यआवरण पररक्षणार्थ होने से दोषावह नहीं है।

विद्वान् युक्तस्तथा कुर्यादित्यादेशावलोकनात्।
अन्येषामपि तत्कार्यमित्येतदवगम्यते॥ १६२॥
अशुद्धमितिचेन्नैतच्छब्दादिति हि सूत्रितम्।
तथा च नात्र दोषोऽस्ति किंचित्सत्यावृताविति॥ १६३॥

'कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्' इस प्रकार भगवान ने अन्य विद्वानों को भी यह आदेश दिया है। पर सत्यावरण दोष तो दोष ही होगा। नहीं। सूत्रकार ने कहा है-'अशुद्धमितिचेन्न शब्दात्' विधिस्पृष्ट में निषेध प्रवेश नहीं होता।

ननु सत्यान्न प्रमाद्य-मिति श्रुतिनिषेधतः।
नासत्याश्रयणं युक्तं लीलयापि मनीषिणाम्॥ १६४॥
अनृतान्तर्हितात्मा हि हन्यते चौर इत्यपि।
बलीयसी श्रुतिः स्मृत्या नैव संकोचमर्हति॥ १६५॥

पू. - सत्यान्नप्रमादितव्यं यह श्रुति है। प्रमाद शब्द से यथार्थ या

लीलात्मक सभी प्रकार के असत्य का वहां निषेध किया है। अनृत से आत्मा को आच्छादित करनेवाला चोर तप्त परशु से मारा जाता है ऐसा भी श्रुति में बताया है। श्रुति स्मृति से बलवती होने से बाधित या संकोचित नहीं होती।

ननु श्रुतावनृतया वाचाच्छादनमीरितम्।
अत्रानृतेन कर्तृत्वादिना वैषम्यमस्त्यतः॥१६६॥
मैवं मिथ्यार्थघटितमसत्यं चौर्यमेव च।
चौरः सत्यं वदंश्चातो दण्ड्यो भवति भूपतेः॥१६७॥
स्वस्वामित्वमसत्यं तद्धने भवति मुष्णतः।
तद्दर्शयति चौरोऽतो हन्यते चौर्यदोषतः॥१६८॥

पू. - चोर चोरी कर के पकडे जाने पर मैंने चोरी नहीं की ऐसा अनृत बोलता है। तब परशुतप्त होने पर मारा जाता है। विद्वान झूठ बोलता नहीं, खाली कर्तृत्व दिखाता है। अतः दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक में वैषम्य है। उ.-नहीं, मिथ्यार्थघटित होने से चौर्य स्वयं भी अनृत है। चोरित धन में वह स्वस्वामित्व दिखाता है। वह स्वस्वामित्व मिथ्या है। अतएव मैंने चोरी किया ऐसा मार खाकर सत्य बोलने पर भी उनको दण्ड मिलता है।

तदकर्ता यदि भवेत् तदा परशुतप्तितः।
न हन्यते मुच्यते च न तु सत्योक्तिमात्रतः॥१६९॥

इसीलिये श्रुति में चौर्य-अकर्ता हो तो ही परशुताप से अहनन और मोचन बताया।

मैवं श्रुतिर्मानुषीय-स्मृतेर्युक्त्या बलीयसी।
यथा चौदुम्बरी सर्व-वेष्टनस्मृतिरीक्ष्यते॥१७०॥
श्रुतिं तु भगवानेव पूर्वकल्पभवां स्मरन्।
ब्रह्मणे प्रहिणोतीति श्रुतावत्रैव दर्शितम्॥१७१॥
श्रुतिः सर्वज्ञकल्पोक्ता सर्वज्ञो भगवान् स्वयम्।
तदुक्ते श्रुतिवत् सर्वं प्रमाणमिति निश्चयः॥१७२॥

क्वचिद् विरोधो दृश्येत तदा संकोच्यते श्रुतिः।
तादृशश्रुतिरस्त्यत्र संशयस्याऽप्रसारतः॥१७३॥

उ. - समाधान यह है कि स्मृति से बलवती श्रुति है। किन्तु मनुष्यकृत स्मृति से। जैसे औदुम्बरी सर्वा वेष्टयितव्या यह स्मृति औदुम्बरीं स्पृष्ट्वोद्गायेत् से निर्बल है, बाधित होती है। यहां तो पूर्वकल्पीय श्रुति को स्मरण कर भगवान स्वयं भगवान बोलते है यही 'वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' से वह स्पष्ट है। वेद सर्वज्ञकल्प है। भगवान स्वयं सर्वज्ञ है। तब भगवदीय स्मृति श्रुति समान ही है। इस अर्थ की श्रुति है कि नहीं इस संशय के लिये अवसर ही नहीं है। अतः गीतोक्तवचन से श्रुति में संकोच हो सकता है। क्योंकि सर्वज्ञ भगवदुक्ति श्रुति मूलक ही है। अतः परोपकारार्थ लीलातिरिक्त स्थल में अनृत निषेध है।

प्रहिणोतीति शब्देन निर्माणं विनिवर्तितम्।
विद्यमानान् हि वेदान् स प्रहिणोति महेश्वरः॥१७४॥
अपौरुषेयता तेन वेदानां श्रुतिसम्मता।
तस्माद्वेदा अजायन्तेत्यादि प्राकट्यतत्परम्॥१७५॥

प्रहिणोति का भेजना प्राप्त कराना आदि अर्थ है। इससे निर्माण की व्यावृत्ति है। विद्यमान का प्रेषणमात्र है। वेदों की अपौरुषेयता श्रुति सम्मत है। 'तस्मात्तपस्तेयानास्त्रयो वेदा अजायन्त' यहां उत्पत्ति अर्थ नहीं उच्चारणजन्य प्राकट्य अर्थ है।

ईश्वरो जनयत्येनानिति नैयायिका जगुः।
तन्न युक्तं यतो धाता यथापूर्वमकल्पयत्॥१७६॥
तद्बोधकाः पुनर्वेदा भिद्येरन् पूर्वतः कुतः।
वेदपूर्वत्वतः सृष्टेः कल्पनागौरवं स्फुटम्॥१७७॥
न पूर्वकल्पे यज्ञादिः पापं भवितुमर्हति।
न वा हिंसा भवेत् पुण्यं वाच्यं यद्वैपरीत्यतः॥१७८॥
न पुरा शीतलो वह्नि-रुष्णं नाम्बु कदाचन।
यतस्तद्भेदतः शब्द-भेदापेक्षा प्रवर्तताम्॥१७९॥

न च मानं विना मेयः शब्दश्चेदस्ति हि श्रवः।
स्पर्शोऽस्ति चेत्त्वगप्यस्ति रूपं चेच्चक्षुरेव च॥१८०॥
रसश्चेद्रसनाप्यस्ति गन्धे घ्राणश्च विद्यते।
धर्माधर्मौ प्रमेयौ स्तां किं मग्नं तत्र भण्यताम्॥१८१॥
अतीन्द्रियत्वान्मानं तु शब्द एव न चापरम्।
सुखदुःखस्वरूपोऽयं संसारोऽनादिकालतः॥१८२॥
प्रवर्तते तत्र मूलं धर्माधर्मौ न संशयः।
तयोर्मानं च वक्तव्यमनादि विदुषां वरैः॥१८३॥
कारणं नियतं यज्ञदानोपास्त्यादिकं सुखे।
दुःखे निन्दा परद्रोह हिंसाचौर्याद्यनेकधा॥१८४॥
तत्र प्रमाणे शब्दे च प्रतिसृष्टि विभिन्नताम्।
बलात् कल्पयितुर्नूनं कल्पनागौरवं वृथा॥१८५॥
एकानुपूर्वीकत्वं चे-दनादेर्वेदसंहतेः।
अपौरुषेयताप्येव बलात् सिध्यत्यसंशयम्॥१८६॥

वेदों के रचयिता ईश्वर है ऐसा नैयायिकादि कहते हैं। वह गलत है यथापूर्वकल्प सृष्टि हुई ऐसा वेद ही कहता है। तब सृष्टि बोधक प्रतिकल्प भिन्न क्यों होंगे? ऐसा तो नहीं कि पूर्वकल्प में यज्ञदानादि पाप अब पुण्य हो गया, हिंसादि पुण्य था अब पाप हो गया। अतः शब्द बदलना पडा। पहले अग्नि शीतल थी अब गरम हो गयी, जल गरम था अब ठंढा हो गया। तब बोधक शब्द भेद कैसे? प्रमाण के बिना प्रमेय सिद्धि नहीं होती। शब्द है तो श्रोत्र भी है। स्पर्शादि है तो त्वगादि भी है। धर्माधर्म प्रमेय है तो वेद प्रमाण होगा। वह भी अनादिकाल से। क्योंकि सुखदुःखात्मक संसार अनादि है। कोई मायी का लाल बता नहीं सकता कि यह संसार कब शुरू हुआ। धर्म-अधर्म के बिना सुख दुःख नहीं। वह प्रमेय है तो प्रमाण वेद भी अनादि है। कारण नियत है सुख में यज्ञदानादि, दुःख में हिंसाचौर्यादि। तब प्रतिसृष्टि बदल बदलकर ईश्वर वेद बनाता है यह कल्पना कुकल्पना है। समानानुपूर्वी कहा तो बलात् वेद-अनादित्व भी निश्चित है।

शब्दानां नन्वनित्यत्वाद् वेदान् रचयतीश्वरः।
इत्यसत् किं पठन् गीतां गीतारचयिता भवान्॥१८७॥
एवं चेदीशितुः शब्दात्त्वदुक्तो हि पृथग् भवेत्।
ब्रूहि तर्ह्यहमेवास्मि वेदकर्तेति धाष्टर्यतः॥१८८॥

शब्द अनित्य है प्रलय में लीन होते हैं। ईश्वर शब्दरचना करता है वेद बनाता है। नहीं। आप भी बोलते हैं तो शब्द उत्पन्न होता है। वह ईश्वरीय शब्द से अलग है। तो गीता बांचनेवाला क्या रचयिता माना जा सकता है कि नहीं?

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
सर्वथा च कथं नाशः प्रलये सृष्टिषूद्भवः॥१८९॥
मन्त्रावच्छिन्नचैतन्यं स्याद्वेदो भगवानतः।
प्रलयेऽव्याकृतात्मानो मन्त्रास्तिष्ठन्ति सर्वशः॥१९०॥
अव्याकृतव्याकरणं सृष्टौ स्याद् न त्वसज्जनिः।
तदवच्छिन्नचैतन्यं यत्तु स्याद्वेदलक्षणम्॥१९१॥
न तस्य नाशो नोत्पत्तिर्वेदा नित्यास्ततो ध्रुवम्॥१९२॥
अनादिनिधना वेदा वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥१९३॥

उत्पत्तिविनाशरहित है वेद। ऐसे वेदमयी वाणी स्वयंभू ने प्रथम उपदिष्ट किया जिससे समस्त प्रवृत्तियां (कर्म) हुईं।

विरूपनित्यया वाचा तस्मै नूनमभित्विषे।
वर्षकायाग्रये वृष्णे स्तुहि चोदस्व सृष्टुतिम्॥१९४॥
इत्यृग्वेदेऽपि नित्यत्व-मष्टमे पञ्चसप्ततौ।
व्याहृतं षष्ठमन्त्रेण वेदानामवलोक्यते॥१९५॥

वाचा विरूपनित्यया इत्यादि ऋक् मन्त्र में भी वेद को नित्य बताया है (तस्यै नूनमभिद्यवे वाचा विरूपनित्यया वृष्णे चोदस्व सुष्टुतिम् (८.७५.६) विविधरूपधारी किसी ऋषि का यह सम्बोधन है। अभिद्यवे का अर्थ है-अभित्विषे। वृष्णे का अर्थ वर्षकाय है। चोदस्व का अर्थ है-स्तुहि)।

नन्वव्याकृतरूपेण घटाद्याः प्रकृतौ स्थिताः।
तेऽपि नित्या भवन्त्येवं घटावच्छिन्नचित्त्वतः॥१९६॥
मैवं घटादयो नैव घटावच्छिन्नचेतनाः।
घटादि नित्यताऽऽख्यातृ—प्रमाणविरहादिति॥१९७॥
ये मायिके नामरूपे तयोर्नास्त्येव नित्यता ।
मिथ्यात्वान्न मृषार्थस्य भवत्यस्तित्वमेव यत्॥१९८॥

अव्याकृत रूप से घटादि भी माया में हैं। वे भी नित्य क्यों नहीं? घटावच्छिन्न चैतन्य बोल दो। नहीं। घट में पानी लावो बोलने पर घटावच्छिन्न चैतन्य में पानी लाओ ऐसा कौन अर्थ करेगा? घटादि को नित्य बतानेवाला कोई प्रमाण भी नहीं है। मायिक नामरूप मिथ्या है उसका वास्तविक अस्तित्व ही कहां है। मिथ्यार्थ नित्य नहीं होता।

उच्यते वेदभगवनानिति सर्वैर्मनीषिभिः।
तस्मान्मन्त्राद्यवच्छिन्न—चैतन्यं वेदशब्दितम्॥१९९॥

वेद के लिये वेद भगवान कहते हैं। अतः मन्त्राद्यवच्छिन्न चैतन्य वेद है।

अस्ति वैदिकमन्त्रेषु शक्तिः काचिद्विलक्षणा।
मन्त्रैः प्रदीयमानं हि द्रव्यं यागः सदेवतम्॥२००॥
अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः सर्वोद्भवस्ततः॥२०१॥

वैदिक मन्त्रों में विलक्षण शक्ति है। मन्त्रों से दीयमान द्रव्य एवं देवता यज्ञ है। अन्न से सब प्राणी होते हैं। पंर्जन्य से अन्न होता है। यज्ञ से पर्जन्य। अतः यज्ञ सर्व कारण हुआ।

यज्ञः कर्मोद्भवः कर्म ब्रह्मोद्भवमितीरितम्।
ब्रह्मेति वेदस्तस्माच्च वेदः सकलकारणम्॥२०२॥

यज्ञः कर्मसमुद्भवः कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ऐसी गीतोक्ति है। ब्रह्म वेद है अतः सर्व मूल वेद हुआ।

कर्माकर्मविकर्मेति वेदवादो न लौकिकः।
वेदस्य चेश्वरात्मत्वात्तत्र मुह्यन्ति सूरयः॥२०३॥
एवंविधस्य वेदस्य घटकुड्यादितुल्यताम्।
प्रदर्श्य तदनित्यत्वापादनं नन्वशोभनाम्॥२०४॥

कर्म अकर्म एवं विकर्म वेदमात्र गम्य है। लौकिक नहीं। वेद ईश्वररूप है अतः उसमें विद्वान भी भटक जाते हैं। ऐसे वेद को घटपटादितुल्य दिखाकर अनित्य कहना कुत्सित वृत्ति है अशोभन है।

तँ ह देवम्

नन्वीशादि पदं त्यक्त्वा कुतो देवपदश्रुतिः।
न च देवपदं त्यक्त्वेत्येवं शङ्का भवेत्तदा॥२०५॥
शक्तियुक्तस्य हि ब्रह्मविधानं सुसमञ्जसम्।
न च देवपदेनात्र प्रकाशोपस्थितिर्भवेत्॥२०६॥
ईशोक्त्यादि प्रकाशस्योपस्थितिः संभवेद्यतः॥२०७॥
ईश्वरो जगतः कर्ता नाविद्वान् ब्रह्मजन्मदः।
उपादानापरोक्षेच्छा कृतिः कर्ता भवेत् किल॥२०८॥
अमरा निर्जरा देवाः प्रथमं स्युरुपस्थिताः।
देवानां प्रथमो ब्रह्मा संबभूवेति हि श्रुतिः॥२०९॥

पू. - ईश ईश्वर आदि पद छोडकर देव पद क्यों कहा? यह कहो कि ईशादि पद रखने पर देव पद क्यों छोडा यह भी प्रश्न उठेगा। नहीं। ब्रह्मा शब्द से विदधाति-बनानेवाला उपादानगोचरा-परोक्षज्ञानेच्छाकृतिमान् की उपस्थिति हो जाती है। अतएव देव ज्ञानप्रकाशबोधनार्थ है यह भी समाधान नहीं होगा। और अमरा निर्जरा देवा यह साधारण देव प्रथम उपस्थित होगा। 'ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव' वह देव कनिष्ठ है।

मैवं द्युत्यर्थको धातुर्दीव्यतिर्भावघञ्व्ययम्।
देवो ज्ञानस्वरूपत्वबोधनाय प्रयुज्यते॥२१०॥

सत्यं ज्ञानमनन्तं तदित्यस्मिन् भावसाधनम्।
यथा ज्ञानपदं तद्वदिहेदं भावसाधनम्॥ २११॥
न चैवं विदधातीति कर्तृत्वोक्तिरसंगता।
आरोप्यकर्तृतां तत्र विदधातीत्युदीरणात्॥ २१२॥
मायोपाधिकचैतन्यं विदधातीति केचन।
मायाद्वारा परं ब्रह्म विदधातीति चापरे॥ २१३॥

पू. - तं ह देवं यहां द्युति (प्रकाश) अर्थक दिव् धातु से भाव में घञ् प्रत्यय कर देव शब्द बनाया हुआ है। ज्ञान स्वरूप बोधनार्थ देव शब्द प्रयोग है। जैसे सत्यं ज्ञानमनन्तं में भावार्थक प्रत्यय है। तब विदधाति यह कर्तृत्व कैसा? आरोप मात्र है। मायोपाधितः कर्तृत्व है ऐसा एक है। माया द्वारकारण है ऐसा मतान्तर है।

मा स्त्रष्टुरुपदेष्टुश्च भेदो भूदित्यपाठि चः।
सर्वज्ञः सर्वकर्त्ता च देवोऽयमिति गम्यते॥ २१४॥

वेदांश्च यह चकार स्त्रष्टा एवं उपदेष्टा में भेदवारणार्थ है। अतः देव सर्वज्ञ सर्वकर्ता सिद्ध है।

आत्मबुद्धिप्रकाशं

नन्वात्मानं च बुद्धिं च प्रकाशयति चेतदा।
कर्मकर्तृविरोधः स्यादात्मांशे देव एव सः॥ २१५॥
देवात्मत्वात् स्वप्रकाश इति चेद्योजना तदा।
प्रकाशान्वयवैरूप्यात् समासो दुष्करो भवेत्॥ २१६॥

आत्मा च बुद्धिश्चात्मबुद्धी ते प्रकाशयति-आत्मा और बुद्धि दोनों को प्रकाशित करनेवाला ऐसा यदि विग्रह है तो आत्मा और देव की एकता होने से उस अंश में कर्मकर्तृविरोध होगा। यदि आत्मांश में प्रकाश का कर्मत्वेन अन्वय नहीं मानते हैं किन्तु तादात्म्येन मानते हैं तो अन्वय वैरूप्य होने से समास नहीं होगा।

मैवमात्मेति जीवात्मा प्रकृते परिगृह्यते।
स किलाभास एवेति तत्स्थः सन् ते प्रकाशयेत्॥ २१७॥

उ. - ऐसी बात नहीं। आत्मा से यहां जीवात्मा लेना है। वह आभासरूप है। उसमें रहकर देव उसीको प्रकाशित करता है।

आभासेन करोत्येषा जीवेशाविति हि श्रुतिः।
प्रतिबिम्बे स्फुरन्नीशः कर्त्ता ज्ञातेति वार्तिकम्॥ २१८॥

जीवेशावाभासेन करोति ऐसा तापनीय में बताया है। आभास माने प्रतिबिम्ब। उसमें स्फुरित होनेवाला परमात्मा कर्ता और ज्ञाता होता है ऐसा वार्त्तिककार ने कहा है।

ज्ञानशक्ति-क्रियाशक्त्यो-रन्तःकरणभागयोः।
चिदाभासे स्फुरेद् देवो ज्ञाता कर्ता भवेदसौ॥ २१९॥
साभासमन्तःकरणमात्मानं बुद्धिमेव च।
प्रकाशयन्नात्मबुद्धिप्रकाश इति कीर्त्तितः॥ २२०॥

ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति रूप अन्तःकरण के दो भागों में जो चिदाभास पडता है उस चिदाभासरूपी प्रतिबिम्ब में बिम्ब स्फुरित होकर ज्ञाता एवं कर्ता होता है। साभास अन्तःकरण को ही 'मैं' शब्द से बोलते हैं ऐसा वह आत्मा हुआ। दोनों ही जड होने पर भी उसके अंदर बिम्बात्मक देव स्फुरित रहता है और दोनों को प्रकाशित करता है। तथा बुद्धिवृत्ति को भी प्रकाशित करता है। अतः आत्मबुद्धिप्रकाशं यह विशेषण हुआ।

परे पुनरहंतत्त्व-मुदेति पृथगेव यत्।
आभासयुक्तं तत्तावदहमात्मेत्युदीर्यते॥ २२१॥
आत्मस्थं ये तु पश्यन्ति सुखं तेषां हि शाश्वतम्।
इत्येवं पूर्वमन्त्रेऽपि देवमात्मस्थमाह हि॥ २२२॥
तस्मात्त्छुद्धो न चात्मात्र निगदत्यात्मशब्दतः।
साभासमत्राहंकारमसत्त्वमात्मेत्युदीरितम् ॥ २२३॥
तत्र तिष्ठत्यसौ देवः स्फुरद्रूपो महेश्वरः।
प्रकाशयेत् स आत्मानं बुद्ध्यादिकमपीति शम्॥ २२४॥

दूसरे महापुरुषों का कहना है-अहंकार तत्त्व अलग है। उसीको लेकर अहं बोलते हैं। वही तो आत्मा है। **'तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीराः'** ऐसा पूर्व मन्त्र में आया है। आत्मा में आत्मा क्या रहेगा। अतः साभास अहं तत्त्वरूपी आत्मतत्त्व में स्फुरणरूप से रहकर आत्मा को और बुद्धि आदि को प्रकाशित करता है वही अर्थ युक्त है।

आत्मैव बुद्धिर्ज्ञानं स प्रकाश इति केचन।
कर्मधारयमत्राहुस्त्रयं व्याकरणप्रियाः ॥ २२५ ॥
स्वबुद्धिसाक्षिणमिति व्याचख्युरपरे बुधाः।
अपरे त्वत्रात्मबुद्धि-प्रसादमपठन् श्रुतिम् ॥ २२६ ॥

आत्मा ही बुद्धि ज्ञान वही प्रकाश ऐसा कर्मधारय त्रय कुछ महापुरुषों ने माना। स्वबुद्धि साक्षी ऐसा अर्थ अन्य विद्वानों ने माना। आत्मबुद्धि प्रसादं ऐसा श्रुतिपाठ भी कईयों ने माना।

मदीयमेव चात्रत्यं व्याख्यान्तरमुदीर्यते।
युक्तं तच्चानुसन्धातुं व्युत्पित्सूनां तपस्विनाम् ॥ २२७ ॥

स्वयं कृत एक अन्य भी व्याख्या है व्युत्पित्सु तपस्वियों के लिये वह भी अनुसन्धान योग्य है।

चित्ताहंकारयोस्तर्हि त्यागान्न्यूनत्वमापतेत्।
न देहे सप्तदशके लिङ्गे द्वे एव संगते ॥ २२८ ॥
कोशो मनोमयो दृष्टो विज्ञानमय एव च।
न तु चित्तमयः कश्चि-दहंकारमयोऽथ वा ॥ २२९ ॥

मन और बुद्धि का ग्रहण किया तो चित्त और अहंकार को छोडने से न्यूनता होगी। नहीं। सप्तदशक लिंग देह में दो ही प्रविष्ट हैं। कोशों में भी मनोमय विज्ञानमय दो ही है। चित्तमय अहंकारमय ऐसे अतिरिक्त दो नहीं है।

द्वयोर्हि ज्ञानहेतुत्वं सांख्यादिभिरुदीरितम्।
संमुग्धं मनसा ज्ञानं बुद्ध्या च सविकल्पकम् ॥ २३० ॥
संमुग्धं वस्तुमात्रं हि प्रागगृह्णन्त्यविकल्पितम्।
तत्सामान्यविशेषाभ्यां कल्पयन्ति मनीषिणः ॥ २३१ ॥

सर्वत्र उपलक्षण मान लो। नहीं। ज्ञानहेतु मन और बुद्धि दो ही है। मन से संमुग्ध ज्ञान होता है, बुद्धि से सविकल्पक ज्ञान होता है। यही पूर्वाचार्यों ने कहा-प्रथम निर्विकल्पक संमुग्ध ज्ञान होता है। सामान्य विशेष धर्मों के साथ बुद्धि से सविकल्पक ज्ञान होता है।

बुद्धिर्मनीषा धिषणा तद्वन्तो हि मनीषिणः।
विशिष्टोक्तिः पुनरुप-संक्रामति विशेषणम्॥ २३२॥

मनीषा बुद्धिपर्याय है। विशिष्टोक्ति विशेषण पर आ जाती है। बुद्धि विकल्पक है।

अस्ति ह्यालोचनं ज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम्।
बालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम्॥ २३३॥
ततः परं पुनर्वस्तु धर्मैर्जात्यादिभिर्यया।
बुद्ध्यावसीयते सा हि प्रत्यक्षत्वेन संमता॥ २३४॥
इत्येवं स्पष्टमाचख्युर्भट्टाचार्याश्च वार्त्तिके।
तस्मादत्र मनोबुद्धी विशिष्येते उभे इति॥ २३५॥

भट्टवार्तिक में स्पष्ट कहा है-प्रथम अविशिष्ट वस्तुमात्र विषयक निर्विकल्पक ज्ञान मन से होता है। बाल मूलादि ज्ञानवत् वह होता है। फिर जात्यादि धर्म विशिष्ट वस्तु ज्ञान बुद्धि से होता है। अतः मन और बुद्धि दो विशेष है।

आलोचितं हीन्द्रियेण वस्तु संमुग्धमुच्यते।
इदमित्थमिति ज्ञानं मनसा च विकल्पितम्॥ २३६॥
इति वाचस्पतिवचो-विरोध इति चेन्न तत्।
इन्द्रियत्वेन संमुग्धं बुद्धित्वेन विकल्पितम्॥ २३७॥
इत्येव तत्र तात्पर्यमित्यतो न विरोधिता।
संकल्पकं चेन्द्रियं च मन इत्युक्तिमूलतः॥ २३८॥

इन्द्रियों से आलोचित ही संमुग्ध है, यह ऐसा ही है यह मनसा संकल्पित (सम्यक कल्पित) है ऐसा वाचस्पति वचन विरोध होगा। नहीं। मन को इन्द्रिय तथा संकल्पक दोनों वहां मूल में माना है। इन्द्रियत्वेन

संमुग्ध ज्ञान मनस्त्वेन सविकल्प ज्ञान यही वहां अर्थ है।

तत्र नामान्तरं प्रोक्तं संमुग्धं मनसा भवेत्।
सविकल्पं च बुद्ध्येति विरोधोऽतो न कश्चन॥२३९॥
तत्र तत्त्वद्वयं तावच्छ्रुत्युक्तत्वेन मन्महे।
एकं मनो द्विधा तत्रेत्यश्रुतत्वादुपेक्ष्यते॥२४०॥

हमने अलग नाम से कहा-मन से संमुग्ध और बुद्धि से सविकल्प। श्रुति में दो तत्त्व मन बुद्धि कहा। उसे हमने माना। एक ही मन द्विधा हो गया यह श्रुत्यनुक्त होने से हमने छोडा।

इदं व्याख्यान्तरं चात्र दर्श्यते तत्त्वदर्शनम्।
वेदान्तशास्त्ररसिक - हृदयानन्दवर्धनम्॥२४१॥

एक अन्य व्याख्या भी हम दिखाते है जो वेदान्त शास्त्रियों को आनन्ददायी होगा।

आत्मशब्दः स्ववाच्यत्र प्रकाशेनान्वियादयम्।
स्वप्रकाशस्ततोऽर्थः स्याद्देवस्यैतद्विशेषणम्॥२४२॥
सूर्यचन्द्रादिवत् किं स प्रकाशो भौतिको मतः।
तत्र नेत्याह बुद्धीति प्रकाशो बोधलक्षणः॥२४३॥
न भौतिकः प्रकाशोऽयं किन्तु चैतन्यलक्षणः।
माऽस्य भूद् बोधकर्तृत्व-मिति क्तिन् भावबोधनः॥२४४॥
न चायं देवशब्देन लभ्योऽर्थ इति सांप्रतम्।
पचादित्वेन कर्तर्यच् - प्रत्यये देव इत्ययम्॥२४५॥
देवशब्देऽपि कर्तृत्वमनभीष्टं प्रशासती।
श्रुतिर्भगवती माता बुद्धिशब्दमयूयुजत्॥२४६॥

आत्म बुद्धि प्रकाशं में आत्मा का स्व अर्थ है। प्रकाश के साथ अन्वय है। स्वप्रकाशं में सूर्य स्वप्रकाश में जैसे भौतिक प्रकाश अर्थ है क्या? नहीं। बुद्धि ही प्रकाश है। बुद्धि माने बोध। बोधकर्ता अर्थ न हो अतः भाव में क्तिन् प्रत्यय है। देव शब्द से ही इतना अर्थ नहीं निकलेगा। क्योंकि प्रकाशकर्ता ऐसा कर्त्ता अर्थ में वहां पचादि अच् प्रत्यय है बल्कि देव शब्द

में भी कर्तृत्व अनभीष्ट है यह बताने बुद्धि पद भाव प्रत्ययान्त है।

आत्मप्रकाश इत्यस्य स्वप्रकाशार्थता स्थिता।
ज्ञानरूपः प्रकाशश्च बुद्धिशब्दविशेषणात्॥ २४७॥
अथात्र स्वप्रकाशे हि कः समासो विवक्षितः।
स्वं प्रकाशयतीत्येवं कर्मण्यण् चेन्निगद्यते॥ २४८॥
कर्मकर्तृविरोधः स्यान्न ह्येतदुपपद्यते।
स्वस्य प्रकाश इत्युक्तेऽप्ययं दोषो न मृज्यते॥ २४९॥
कर्मण्येव यतः षष्ठी सम्बन्धो भेदगर्भितः।
भेदे स्वशब्दविषयो ह्यप्रकाशो जडो भवेत्॥ २५०॥
न च वाच्यं स्वमेवात्र प्रकाशः कर्मधारयात्।
एवंविधेषु शब्देषु नेक्ष्यते कर्मधारयः॥ २५१॥
प्रकाशो यः स्वयं सोयं प्रकाशो हि भविष्यति।
व्यर्थं विशेषणं तत्र स्वमित्येतत् समापतेत्॥ २५२॥

पू. - आत्मप्रकाश का स्वप्रकाश, बुद्धि विशेष ज्ञानरूप प्रकाश इतना अर्थ आया। स्वप्रकाश में कौनसा समास है? 'स्वं प्रकाशयति' अर्थ हो तो कर्म उपपद में अण् प्रत्यय होने से एक ही कर्म और कर्ता हो जायेगा। स्वस्य प्रकाश विग्रह में कर्म में षष्ठी हो तो वही दोष। सम्बन्ध सामान्य में षष्ठी हो तो सम्बन्ध भेदगर्भित होने से प्रकाश से भिन्न स्व जड हो जायेगा। स्व ही प्रकाश है ऐसा कर्मधारय नहीं होगा। प्रकाश स्वयं तो प्रकाश ही है विशेषण व्यर्थ होगा।

स्वयं प्रकाशो यस्येति बहुब्रीहिरतो मतः।
विशेषणमिदं देवपदार्थस्येति कोविदाः॥ २५३॥

स्वयमेव प्रकाशो यस्य ऐसा यहां बहुव्रीह है। देव का विशेषण है।

राहोः शिर इतीवात्र षष्ठी स्यादौपचारिकी।
अभेद एव तत्रार्थ इति सर्वं समञ्जसम्॥ २५४॥

बहुव्रीहि घटक षष्ठी का अर्थ उपचारतः अभेद है। अतः सभी समञ्जस है।

यत्तु षष्ठीसमासेऽपि तथैवार्थो भविष्यति।
इति यत्तन्न युक्तं स्यादर्थदुर्बोधता यतः॥ २५५॥

अभेदार्थक षष्ठी समास माने तो अर्थ दुर्बोधता होगी।

स्वयंप्रभो देव इति स्वप्रभो देव इत्यपि।
पुंस्त्वे प्रयुज्यते तच्च न बहुव्रीहिमन्तरा॥ २५६॥

स्वयंप्रभः देवः स्वप्रभः देवः इत्यादि पुंलिङ्ग प्रयोग बहुव्रीहि में ही संभव है।

कर्मकर्तृविरोधो हि कुतश्चेच्छृणु कर्म हि।
कर्तृनिष्ठक्रियाजन्य फलाश्रय उदीरितः॥ २५७॥
प्रकाशयेद् घटं सूर्यः किरणक्रियया घटे।
नीत्वा प्रकाशसम्बन्धं कर्मतामापयेद्धटम्॥ २५८॥
स्वं चेत्प्रकाशयेत् सूर्यः स्वयंकर्ता च कर्म च।
तत्र स्यात् प्रक्रिया केति व्याख्यातव्यं भविष्यति॥ २५९॥
निःसृत्य किरणाः सूर्यात् ततः प्रतिनिवृत्त्य च।
सूर्यं चेद् व्याप्नुयात्तर्हि कर्म सूर्यो भविष्यति॥ २६०॥
गत्वा निवृत्त्य यत्कार्यं करिष्यन्ति गभस्तयः।
सोऽस्ति प्रकाशसम्बन्धः पूर्वमेव दिवाकरे॥ २६१॥
शिरोवेष्टनपूर्वोऽयं नासास्पर्शो भविष्यति।
गमनागमने व्यर्थे सिद्धत्त्वातत्र रोचिषाम्॥ २६२॥

यह कर्तृ कर्म विरोध क्या है। सुनो कर्ता की क्रिया के फल का आश्रय कर्म होता है। सूर्य ने घट को प्रकाशित किया तो सूर्य किरणें निकलकर घट तक पहुंची उसका फल प्रकाश का आश्रय घट हुआ। यही कर्मता है। सूर्य अपने को प्रकाशित करे तो इस प्रकार किरण निकलकर जाये फिर वापिस आकर प्रकाश सम्बन्ध कराता है क्या। प्रकाश सम्बन्ध पहले से हैं। किरणों का जाकर वापस आना यह शिरोवेष्टननासिकास्पर्शमात्र है।

सूर्यः किरणपुञ्जो हि स्वयमेव प्रकाशते।
गत्वा प्रतिनिवृत्त्यायं न प्रकाशयते निजम्॥ २६३॥

सूर्य किरणपुञ्ज ही है। वह प्रकाशमान है। वह दूर जाकर वापस आकर सूर्य को प्रकाशेगा क्या?

वृत्त्याऽऽवरणभङ्गे हि चित्तादात्म्यं घटे स्फुरेत्।
प्रकाशते घटस्तर्हि ह्यपावृतचिदैक्यतः॥ २६४॥
स्वस्यनावरणं स्वस्मिन् अनावृतचिदेकता।
नित्यसिद्धे यतः स्वं हि स्वप्रकाशमुदीर्यते॥ २६५॥

वृत्ति से आवरणभङ्ग होने पर अनावृत चित्तादात्म्य होने से घट प्रकाशमान होता है। अपने आप पर कोई आवरण नहीं हो सकता। अतः अनावृतचिदैक्य नित्य होने से चित् को स्वयंप्रकाश कहते हैं।

न वेद्म्यहं घटमिति घटस्यावरणं स्फुटम्।
तद्वेदने पुनरियं प्रक्रिया स्वीकृता बुधैः॥ २६६॥
घटाद्याकारया चित्तवृत्त्या खलु घटा कृतिः।
आवृतिर्नाश्यते वृत्तौ चिदाभासश्च जायते॥ २६७॥
चिदाभासेन च घटो जडोप्येव प्रकाशते।
स्वाभासेना स्फुरत्यन्यः स्वयं किं न प्रकाशताम्॥ २६८॥
दीपप्रभायाः संयोगाद् घटादिश्चेत् प्रकाशते।
स्वयं दीपोऽनपेक्षः सन् कथं नैव प्रकाशताम्॥ २६९॥

अन्य विद्वान कहते हैं-मैं घट नहीं देखता हूं। ऐसा जानता हूं ऐसा घट का आवरण स्पष्ट है। उसके प्रकाशन में प्रक्रिया यह है कि घटाकार चित्तवृत्ति होने से घटाकार आवरण नष्ट होता है। तब घटाकार वृत्ति में जो चित्प्रतिबिम्ब पडता है उससे घट प्रकाशित होता है। चित्प्रतिबिम्ब से ही घट प्रकाशित होता है तो स्वयं चित् प्रकाशित क्यों नहीं होगा? दीपक की प्रभा घटादि को प्रकाशित करती है तो स्वयं दीपक प्रकाशमान कैसे नहीं होगा? अतः चित्त निरपेक्ष होकर प्रकाशित होने से स्वयंप्रकाश है।

स्वरूपलक्ष्यविधया व्याख्या तावदियं कृता।
प्रयोजनाख्यामितया पुनर्व्याख्यायतेऽधुना॥ २७०॥

आत्मबुद्धि प्रकाशं यह स्वरूप लक्षण के रूप में लेकर यह व्याख्या

हुई। अब प्रयोजनाख्यापन रूप में पुनः व्याख्या करते हैं।

स देवो ब्रह्मणे वेदानादौ प्रादान्महार्थतः।
प्रयोजनं महत्तावत् संप्रदायप्रवर्तनम्॥ २७१॥
साक्षात्कृपां चकारासौ ब्रह्मण्येव महेश्वरः।
पारम्पर्येण चास्मासु सम्प्रदायप्रवर्तनात्॥ २७२॥
साक्षादप्येव करुणा-मस्मासु कुरुतादयम्।
इत्याशयेन विशिनष्ट्यात्मबुद्धिप्रकाशतः॥ २७३॥

उस देव ने प्रथम ब्रह्मा को महा प्रयोजन सिद्ध्यर्थ उपदेश किया। महाप्रयोजन यही कि संप्रदाय प्रवर्तन हो। केवल संप्रदाय प्रवर्तन ही नहीं ब्रह्मा पर यह महती कृपा भी तो है उनको ज्ञान प्राप्त हुआ। हम पर सम्प्रदाय परम्परा से कृपा होती है। तथापि अब साक्षात् भी कृपा हो एतदर्थ विशेषण है आत्मबुद्धिप्रकाशम्।

प्रकाशयत्वयं देव आत्मानं मे कृपानिधिः।
तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं माययावृतम्॥ २७४॥
किं च देहेन्द्रियप्राणाद्यैक्याध्यासान्निजात्मनः।
स्वरूपं नैव जानामि तत्प्रकाशयतु प्रभुः॥ २७५॥

परमात्मा और निजात्मा दोनों का स्वरूप मेरे लिये प्रकाशमान नहीं है। परमात्मा दुर्दर्श गूढ है बुद्धि में अनुप्रविष्ट है। और मायावृत भी है प्रकाशित नहीं हो रहा। सो महादेव अपना स्वरूप मुझे प्रकाशित करे और निजात्मा भी देहेन्द्रिय प्राणादि तादात्म्याध्यास से प्रकाशमान नहीं हो रहा है। प्रभु उसे भी प्रकाशित करे।

नाहं देहो न च प्राणो नेन्द्रियादीत्यहर्निशम्।
चिन्तयाम्यापरोक्ष्येण न तु बद्धिः प्रकाशते॥ २७६॥
मलिना हन्त पुरुषा-पराधान्मम शेमुषी।
मालिन्यान्नापरोक्ष्येण शेमुषीयं प्रकाशते॥ २७७॥
तन्मालिन्यं विधूयैनां प्रकाशय दयानिधे।
आत्मबुद्धिप्रकाशं तमित्येतत्प्रार्थना परा॥ २७८॥

कश्चन श्रेष्ठिनं प्राह धनी त्वं धनदो महान्।
त्वं मे शरणामित्युक्तेर्धनं देहीति चाशयः॥ २७९॥

मैं देह नहीं प्राण नहीं इत्यादि हमेशा चिन्तन करता हूं, पर ऐसी अपरोक्ष बुद्धि नहीं होती। पुरुषापराध से मेरी बुद्धि मलिन है मैं शरणागत हूं। तुम आत्मबुद्धि प्रकाशक हो इस महिमोक्ति का तात्पर्य है-मेरा बुद्धिमालिन्य दूर कर बुद्धि को अपरोक्षंतया प्रकाशित करो। तुम सेठ धनदानी हो, महान हो। मैं शरणागत हूं बोलो तो आशय है मुझे कुछ धन दो।

मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये

तमादिमगुरुं देवं प्रपद्ये शरणं परम्।
आत्मनिक्षेपतोऽद्यैव मोक्षमात्रपरायणः॥ २८०॥

उस आदि गुरु देव के आत्मनिक्षेप से शरणागत हूं। मैं मुमुक्षु हूं।

अविद्या कार्यसहिता बन्धनं समुदाहृतम्।
बध्यन्तेऽविद्यया लोकास्तत्कार्यैश्च धनादिभिः॥ २८१॥
सुषुप्तौ यद्यपि जनै - र्बन्धो नैवानुभूयते।
तथापि सर्वदा सुप्तिं नैव कोऽप्यभिलष्यति॥ २८२॥
तस्माद्दुःखनिवृत्तिर्हि न मोक्षो बुधसम्मतः।
बिभ्यत्यज्ञानतो लोका अज्ञानं तेन बन्धनम्।
धनादिः केनचिन्नैव बन्धत्वेनानुभूयते॥ २८३॥
तथापि तद्विनाशादि - भयमाकुलयेन्नरान्।
तस्माद्धनादिकमपि बन्धनं स्याद्विवेकिनाम्॥ २८४॥
अतश्चाज्ञानतत्कार्य - निवृत्तिर्मोक्ष इष्यते।
असुखात्मकमज्ञानं दुःखमिश्रं धनादिकम्॥ २८५॥
वाञ्छन्ति तन्निवृत्तिं तु तत एव विवेकिनः।
युक्ता तदर्थं शरणा-गतिः प्रभवतः प्रभोः॥ २८६॥

अविद्या एवं तत्कार्य बन्धन है। (केवल दुःख नहीं) अविद्या एवं

तत्कार्य धनादि से लोग बन्धन अनुभव करते हैं। यद्यपि सुषुप्ति में बन्धनानुभव नहीं होता लेकिन सर्वदा सुषुप्ति में पडे रहना कोई पसंद नहीं करता। उस समय अज्ञान का बोलबाला है। अज्ञान से लोग डरते हैं। अतः अज्ञान बन्धन है। धनादि को बन्ध कोई नहीं समझता। पर धन नाशादि भय होने से विवेचकों को यह भी बन्धन दिखता है। इसलिये अज्ञान तत्कार्य निवृत्ति मोक्ष है। उसकी निवृत्ति के लिये ईश्वर की शरण में जाना आवश्यक है।

भयाद्धि लोकाः शरणं यान्तीशमभयप्रदम्।
निर्भयत्वं ततो मोक्ष इति संक्षिप्य कथ्यते॥२८७॥
अभयं वै जनक भो प्राप्तोऽसीत्याह भूपतिम्।
याज्ञवल्क्यो हि जनकं तद्धि स्याज्जीवतोऽपि हि॥२८८॥

परंतु लोग किसी की शरण में जाते हैं तो किसी भय से, डर के मारे। अतः संक्षेपतः निर्भयता ही मोक्ष है। **अभयं वै जनक प्राप्तोसि** ऐसा याज्ञवल्क्य ने भी कहा।

ननु चाऽभावरूपैषा निवृत्तिः शून्यलक्षणा।
न शून्यं कश्चन जनो वाञ्छतीह भुवस्तले॥२८९॥
न च वैनाशिकाः शून्यं वाञ्छन्ति किल बोधिनः।
इति वाच्यमिदं तावद् व्याहतं वचनं यतः॥२९०॥
प्राप्ये प्राप्तौ प्राप्तरि च सति वाञ्छा प्रवर्तते।
त्रयाभावे नैव वाञ्छा कथंचिदपि संभवेत्॥२९१॥
किं प्राप्तुं वाञ्छति भवान् वाञ्छा निर्विषया न यत्।
स्वयं नो चेत्तु कः प्राप्ता प्राप्यं किं शून्यवादिनः॥२९२॥
शून्यं नाम महत् किंचिन्मोदकं विद्यते दिवि।
इति बभ्रमुरल्पज्ञाः शून्यवादिप्रतारिताः॥२९३॥

पू. - भयादि निवृत्ति शून्यरूप है असत् है उसे कौन चाहेगा? कहो कि शून्यवादी चाहेगा, पर यह व्याहत वचन है प्राप्य, प्राप्ति और प्राप्त इन तीन के होने पर इच्छा होती है। आप क्या चाहते हैं? कुछ

नहीं। आप आगे प्राप्त समय रहेंगे? नहीं, आपको वाञ्छित प्राप्ति होगी? नहीं। अब बताईये इच्छा कैसे। अल्पज्ञ लोगों ने समझा कि स्वर्ग में शून्य नाम का एक बडा लड्डू है वह मिलेगा। उन्हीं को शून्यवादीयों ने ठगा।

अत्र ब्रूमोऽभयं तावत् पुरुषार्थप्रयोजकम्।
यतो हि परमानन्द स्वरूपप्राप्तिरिष्यते॥ २९४॥

उ. - इसका उत्तर यह है कि अभय ही मोक्ष नहीं है। वह मोक्ष प्रयोजक है। अभय से परमानन्दरूपी स्वरूप प्राप्ति होती है वही पुरुषार्थ है। अतः शब्द विषय भयाभाव को ही मोक्ष बताया।

अभये हि परानन्दः प्रादुर्भवति निर्मलः।
मेघापाये यथा सूर्यः प्रादुर्भवति पश्यताम्॥ २९५॥
प्राप्तिर्हि तस्यस्फुरणमात्मत्वाद् भेदवर्जितम्।
परमश्चाऽनतिशयो दुःखाऽसंभिन्न एव च॥ २९६॥
तस्य स्वरूपभूतत्वात्प्रार्थनीयो न विद्यते।
ततो भयनिवृत्तिर्हि प्रार्थ्यते शरणार्थिना॥ २९७॥
द्वितीयाद्वै भयमिति श्रुतेर्भीति प्रयोजकम्।
प्रार्थ्यते द्वैतमेवात्र निवर्तयितुमागमे॥ २९८॥

अभय होने पर परमानन्द प्रादुर्भूत होगा। जैसे मेघ हटने पर ही सूर्य प्रकट होता है आनन्द का स्फुरण ही तत्प्राप्ति है। आत्मस्वरूप होने से प्राप्य प्रापक भेद भी नहीं है। परम का अर्थ है निरतिशय। पर वह स्वरूप होने से प्रार्थनीय नहीं है। अतः बाधक भय की निवृत्ति ही प्रार्थनीय होने से वही मुमुक्षुता है। वस्तुतः 'द्वितीयाद्वैभयं' श्रुति से भय प्रयोजक द्वैत के छुटकारे की ही यह प्रार्थना है। शरणागति है।

इममेव जगौ योगं गीतायां भगवान् स्वयम्।
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगमित्यतः॥ २९९॥
यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥ ३००॥

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रितम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥३०१॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥३०२॥
इत्येवं दर्शयामास भगवांस्तस्य लक्षणम्।
जीवन्मुक्तिरपीहातः स्वीकृतो हरिणा स्वयम्॥३०३॥
दुःखेन गुरुणाप्येव न विचाल्यत इत्यतः।
विदेहमुक्ते पुरुषे दुःखप्राप्तेरभावतः॥३०४॥
मोक्षो मुमुक्षुशब्देऽपि जीवन्मुक्तिश्च सुग्रहा।
तदर्थं युज्यते देवशरणागतिरेव च॥३०५॥

इसी मोक्ष को गीता में योग शब्द से कहा है। योग जोडने को नहीं वियोग को कहते है। दुःख संयोग वियोग ही योग है। उसका विवरण प्रथम दिया-साधनयोगसेवन से निरुद्ध होकर चित्त उपरत होता है (बाहर भागता नहीं) जब अपने से आत्मदर्शन कर आत्मा में तुष्ट हो जाता है, जब अतीन्द्रिय बुद्धि मात्र ग्राह्य आत्यन्तिक सुख का अनुभव करते हैं और जहां स्थित चित्त चलित नहीं होता, जिस सुख को पाकर उससे अधिक कोई लाभ नहीं मानते, जिस में स्थित पुरुष भयंकर दुःख से भी विचलित नहीं होता वह है परमार्थ योग। इस वर्णन में भगवान ने जीवन्मुक्ति को भी मोक्षात्मक योग स्वीकार किया। क्योंकि विदेह मुक्ति में दुःख नहीं होता तो भारी दुःख से विचलित होने की बात ही कैसे उठती जिसका निषेध किया जाय। उस जीवन्मुक्ति के लिये देव शरणागति युक्त ही है। शरणं प्रपद्ये।

सूत्ररूपेण तदिदं श्रुतिः सर्वं न्यरूपयत्।
अहं मुमुक्षुः शरणं प्रपद्य इति वाक्यतः॥३०६॥

सूत्र रूप से मुमुक्षुर्वै शरण महं प्रपद्ये इस प्रकार श्रुति ने इन सब बातों को बता दिया है।

मन्त्रे वैशब्दतो मोक्षे ह्यविकल्पा मुमुक्षुता।
इतरेच्छानधीनेच्छाविषयत्वं तु सूच्यते॥३०७॥

अन्य फलेच्छानधीन मोक्षेच्छा बताने के लिये मन्त्र में वै पद है।

प्रकाशमानपरमानन्दो मोक्षस्ततः स्थितः।
पूर्वदर्शितयोगत्वं मोक्षस्य तत ईरितम्॥ ३०८॥

इसी के लिये हमने मोक्ष में पूर्वव्याख्यात योगत्व कहा।

यद्योगसेवयेत्युक्ते योगोऽयं साधनात्मकः।
शरणागतिरूपः स आत्मनिक्षेपलक्षणः॥ ३०९॥
संकल्पप्रभवान् कामानित्यादिकमशेषतः।
अन्तर्भवति तत्रैव ह्यन्येच्छाविरहादिति॥ ३१०॥

यद्योगसेवया इस गीतावचन में योग साधनात्मक शरणागति आत्म निक्षेप है। संकल्पप्रभवान् कामान् त्यक्त्वा इत्यादि सभी अन्येच्छा न होने से इसी में अन्तर्भूत है।

ऐक्यभावनया वा य आत्मनः परमात्मनि।
निक्षेपोऽब्धौ बिन्दुवत् स आत्मनिक्षेप इत्यपि॥ ३११॥

जैसे समुद्र में बिन्दु का निक्षेप कर एकीकरण होता है वैसे आत्मा को परमात्मा में भावना से एकात्मता लाना भी आत्मनिक्षेप है।

उपसर्गास्त्रयो ये स्युरस्मिन्नाध्यात्मिकादयः।
तच्छान्तये त्रिरत्रापि पठिता शान्तिरोमिति॥ ३१२॥

त्रिविधोपसर्ग शमनार्थ तीन बार शान्ति पठन ॐ इत्यादि से है ॐ।

इति श्रीकाशिकानन्दगिरिणा कृतिना कृतम्।
दशमं याजुषं वृत्तं शान्तिव्याख्यानवार्तिकम्॥ ३१३॥
वसुभूतखनेत्राब्दे पञ्चम्यां फाल्गुने रवौ।
पूर्णतामेतदगमत् शान्तिव्याख्यानवार्त्तिकम्॥ ३१४॥

ॐ तत् सत्





द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः
शान्तिरोषधयः शान्तिः वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः
शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वꣳ शान्तिः
शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ।।
।। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।

द्वादशदर्शनाचार्य - महामण्डलेश्वर अनन्त श्री स्वामी काशिकानन्दगिरिजी महाराज